

स्वर्गीय-श्री विनयकुमार 'रुइया' (मुम्बई) स्मारक—
श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज-ग्रन्थमालाया नवीनं कुसुमं
श्रीनारायणपण्डितविरचितः

हितोपदेशः

'अभिनवराजलक्ष्मी'-संस्कृत-टीकालङ्कृतः,
विस्तृत-भाषाटीका-विभूषितश्च ।

सम्पादकः, परिष्कर्ता च—

आचार्यः—श्रीसीतारामशास्त्री, एम्. ए.

'व्याकरणाचार्यः, 'साहित्यरत्नम्'

प्रिन्सिपल—श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, मीरघाट, काशी ।

संस्कृतटीकाकाराः—

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणः,

व्याकरणाचार्याः, न्यायाचार्याः, दर्शनाचार्याः,

भू० प्रिन्सिपल—श्रीराजस्थान-संस्कृत-कालेज, मीरघाट, काशी

प्रकाशक—भार्गवपुस्तकालय, गायघाट, बनारस १.

प्रां. च—कचौड़ीगली, बनारस ।

तीर्थ संस्करणम् १०००]

१९५५

[मूल

मुम्बई-नगर स्थित, भारत विद्या, दानवीर-‘रुइया’ परिवार के

सुप्रसिद्ध, विद्यानुरागी, उदारहृदय,

‘दानवीर’ सेठ रामनिवासजी ‘रुइया’

महोदय के

होनहार सुपुत्र, स्वर्गीय-

विनयकुमार ‘रुइया’

(जिनका २४ वर्ष की स्वल्प अवस्था में ही भाकस्मिक निघन
२३-११-१९५३ को मुम्बई हो गया)

की

कारुणिक-स्मृति में

संस्कृत-साहित्य का यह सुप्रसिद्ध महत्त्वपूर्ण नीति ग्रन्थ

सादर समर्पित—

—टीकाकार ।

१-१-१९५४ ई०

तृतीय संस्करणकी भूमिका

महामहोपाध्याय नारायणपण्डितविरचित 'हितोपदेश' नामक जगत्प्रसिद्ध नीतिशास्त्र और बालोपदेशशास्त्र का 'अभिनवराजलक्ष्मी' नामक सुन्दर, सरल, विस्तृत, संस्कृत टीका सहित, तथा विस्तृत, संशोधित, सरल भाषाटीका सहित यह परिचिद्धित परिष्कृत तृतीय संस्करण संस्कृत सेवी विद्वानों तथा परीक्षार्थी छात्रों के समक्ष उपस्थित करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता हो रही है।

हितोपदेश का परिचय—

हितोपदेश और पञ्चतन्त्र ये दोनों ही ग्रन्थ ऐसे हैं, जिनसे छोटे २ बालकों को संस्कृत भाषा का ज्ञान बढ़ी ही सरलता से कराया जा सकता है। क्योंकि—इन दोनों ग्रन्थों में छोटी २ रोचक कथाएँ—जो व्यावहारिक ज्ञान, लोक व्यवहार, आर्य सभ्यता, रीति, साधारणनीति, राजनीति आदि के हितकारी उपदेशों से परिपूर्ण हैं—रोचक और सरल तथा सुभाव भाषा में दी गई हैं, अतः बालक इनकी बढ़े चाव और प्रेम से पढ़ते हैं, और इस प्रकार कथाओं के पढ़ाने उत्तम उत्तम उपदेश बालकों के हृदय पट पर अनायास ही अङ्कित हो जाते हैं। और—उसके साथ ही साथ संस्कृत भाषा का मुटुद संस्कार और परिचय भी उन्हें सरलता से प्राप्त हो जाता है।

इसीलिए इस ग्रन्थ का 'हितोपदेश' (हितकारी उपदेश—शिक्षा देनेवाला) यह नाम भी ग्रन्थकार ने सार्थक ही रक्खा है।

हितोपदेश की विशेषता—

इस हितोपदेश में पुरातन नातिशास्त्रों से तथा पुराण और इतिहास आदि ग्रन्थों से नीति और व्यवहार शास्त्र के महत्त्वपूर्ण सुभाषित श्लोकों का कथाओं के प्रसङ्ग में ही बीच-बीच में सुन्दर रूप से आनवेश किया गया है, जिससे पढ़ने वालों को संस्कृत के सुमधुर सुभाषितों का रसास्वाद भी अनायास ही हो जाता है, तथा साथ ही साथ राजनीति और व्यवहार की सूक्ष्मतम निगूढ प्रथियों के विश्लेषण करने का प्रौढ ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो जाता है।

किं बहुना, इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण नातिशास्त्र का सारांश (निचेद) कूट २ कर भर दिया गया है, अतः एव यह हितोपदेश बालक, युवा एव वृद्ध सभी के

ए समान रूप से हितकारी तथा उपदेशप्रद है। इसकी संस्कृत मी इत
 ल और मुनोष है, कि संस्कृत भाषा का थोड़ा सा ज्ञान रखने वाले व्यक्ति
 से अनायास ही समझ सकते हैं। और कठिन स्थलों में हमारी संस्कृत टीका
 सहायता प्रदान करती ही है। भाषाटीका में भी मूल ग्रन्थ के भाव को सम
 का पूर्ण प्रयत्न किया गया है। अतः यह संस्करण सर्व साधारण के लिए बहु
 लाभ की वस्तु सिद्ध होगा। और परीक्षार्थी छात्रा को तथा छोटे २ या ३
 संस्कृत भाषा का अनुवाद सीखने में तथा संस्कृत भाषा में प्रवीणत
 करने में भी यह पूर्ण सहायक होगा।

हितोपदेश के निर्माण का समय—

हितोपदेश के निर्माता नारायण पण्डित बन हुए और उन्होंने हितोप
 बनाया—इस विषय में यद्यपि कोई पुष्ट प्रमाण तो नहीं मिलते हैं, परन्तु
 में विशुपाल वध (माघ) आदि काव्यों से भी अनेक श्लोक उद्धृत कि
 अतः यह कहा जा सकता है, कि माघ के बाद ही यह हितोपदेश बन
 अतः यह ग्रन्थ निम्न संवत् ७०० के निरुद्ध ही बना होगा—ऐस
 सकता है। कुछ विद्वान् इसको इससे भी पहिले का बना हुआ मानते हैं।

इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है, कि यह ग्रन्थ बहुत ही पुराना है, तथा
 और विदेशों में (इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मन, रूस, जापान, चीन, धर्मा, २
 अफगानिस्तान, लडा आदि में) इसका बहुत ही आदर और प्रचार है।
 हमारी टीका टिप्पणियों से निर्भूषित इस ग्रन्थ की (हमारे अन्यान्य
 तरह ही) उन देशों में भी बहुत माँग है। इससे उन्साहित होकर हमने इस
 (तृतीय) संस्करण में टीका और टिप्पणी पूरापूर्या और भी बहुत बढ़ा
 इससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

आशा है—छात्रगण तथा विद्वान् लोग हितोपदेश के इस सं
 नवीन संस्करण से अधिकारिक लाभ उठावेंगे।

श्रीगुरुदेव नारायण पण्डित
 मीरठ, बनारस
 -१९५५ ई०

निवेदक—
 आचार्य—श्रीसीतारामशाह



श्रीगणेशाय नमः । -

श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृतया-

अमिनवराजलक्ष्मीटीकया, भापाटीकया च विराजितो

हितोपदेशः ।

तस्य च मित्रलाभो नाम प्रथमं प्रकरणम् ।

❀ अथ मङ्गलाचरणम् ❀

सिद्धिः साध्ये सतामस्तु प्रसादात्तस्य धूर्जटेः ।

जाह्नवीकेनलेखेय यन्मूर्ध्नि शशिनः कला ॥ १ ॥

॥ श्रीः ॥

❀ श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिकृता-अमिनवराजलक्ष्मीः ❀

नुमोऽनवत्तसद्वन्द्वप्रियोद्भासितदिदृग्गान् ।

मधमण्डलमार्तण्ड-स्नेहिरामाभिधान् गुरुन् ॥ १ ॥

महागणपतिं प्यात्वा, गुरुव्रता सतां मुदे ।

हितोपदेशांगीर्या^१ राजलक्ष्मीर्नित्यते ॥ २ ॥

[अन्वयः] तस्य धूर्जटेः प्रसादात् सतां साध्ये सिद्धिरस्तु—यस्य (धूर्जटे.)
मूर्ध्नि शशिनः कला—जाह्नवीकेनलेखेय—(शोमते) ।

अथ भापाटीका ।

जिन महादेवजी के शिर पर शुकुण्ड की द्वितीया के चन्द्रमा की कला गङ्गा
के फेन की तरह शोभायमान होती है, उन (महादेवजी) के प्रसाद से सत्रनों
के सभी कार्य सिद्ध होंगे ॥ १ ॥

१. दिनः—दिनावहः—उपदेशः—हितोपदेशः । उपचारात्तत्प्रतिपादको ग्रन्थोऽपि
हितोपदेशः । यदा—दिन उपदेशो यत्राऽसौ हितोपदेश इति विमर्शो बोध्यः ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटोकाविराजिते •

❀ अथ कथामुखम् ❀

श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संसृष्टोक्तिषु ।
 वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं, नीतिविद्यां ददाति च ॥ २ ॥
 अजराऽमरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत् ।
 गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥ ३ ॥

सिद्धिः=अभीष्टलक्ष्मीः । साध्ये=इच्छन्त्ये कर्मणि । सतां=सज्जनानाम् ।
 प्रसादात्=इषान् । धूर्जटेः=शिवस्य । जाह्नव्याः=गङ्गायाः, केनाः=वारिकपाः,
 तेषां लेना=पङ्क्तिः । शशिनः=द्वितीया चन्द्रमसः । वला=रेखा
 शिखरमूर्धनिधतस्य रत्नधावदातस्य शुक्लवर्णद्वितीयाचन्द्रमसोऽत्र शिवशिरोगतगज
 केनरेखामात्र बाह्यम् ॥

अत्र—दिनः=दितावदः—उपदेशः—हितोपदेशः । उपचारादुपन्योऽपि,
 हितोपदेशः । यद्वा—दिता उपदेशो यत्राऽपी 'हितोपदेश' इति निमहो बोध्यः ॥१॥
 धृत इति । अथ—मया वक्ष्यमाणो हितोपदेशः=तत्रामा मन्थः, ससृष्टोक्तिषु=
 संसृष्टगान्थादिषु, पाटवं वीर्या—दशाणि । च=चिच=सर्वत्र=सर्वेषु विषयेषु,
 व्यवहारवीर्यलक्ष्म, दशनि=शिवपति ॥२॥
 प्राज्ञः=विद्वान्, अजराऽमरवत्=अमरवत्पुत्रजितमात्मान मन्वमान इ
 रितां=धर्मशास्त्रादिकं, कलाकलापरिष्ठान, शान्त्य, अर्थ=धनञ्च, चिन्तयेत् ।
 अमरवत्, उदारवदेव । धर्मन्तु—मृत्युना केशेषु गृहीत इव=हालकवर्षि

यद् हितोपदेशनामक मन्थ पढ़ने व ज्ञो को ससृष्ट होने से कुछलता
 है, और सब शिवो में नाना भाषाओं में पढ़ने की नाना प्रकार की सुन्दर
 शिष्टी मिलना है और नीति विद्या भी मिलना है ॥ २ ॥
 बुद्धिमान् मनुष्य को चिन्तयेत् (ध्याना) को ध्यान
 समझ कर शिव तथा पा को कर्ता । पात्र धर्मवत्पु के सा
 को करने दिर पर डेरी ही समझे । अथात्—शिव तथा धन

सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम् ।
 अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा ॥ ४ ॥
 संयोजयति विद्यैव नीचगाऽपि नरं सरित् ।
 समुद्रमिव दुर्घर्षं नृपं, माग्यमतः परम् ॥ ५ ॥

निम्न मान पश्यन् कालक्षेपमकुर्वन्सद्य एव—आचरेत्=सेवेत, पालयेद्य ॥३॥

सर्वदा=सर्वस्मिन्काले । अन्येन केनाऽपि-अहार्यत्वात्=इत्तुंपद्यन्त्यत्वात्,
 अनर्घत्वात्=अमूल्यत्वात्, बहुमूल्यत्वादिति यावत् । अक्षयत्वाच्च=दाना-
 दिनाऽप्यक्षीयमाणत्वाच्च-सर्वद्रव्येषु=सर्वधनापेक्षया, विद्यैव-अनुत्तमं=सर्वभेदं,
 द्रव्यं=जनमस्ति (-इति विद्वांसः-) आहुः=प्राहुः ॥ ४ ॥

नीचगाऽपि=निम्नगाऽपि, सरित्=नदी, समुद्रमिव=सागरमिव, विद्या
 एव=केवलं, नीचगाऽपि,=नीचजनस्याऽपि सती, दुर्घर्षं=दुरासदं, दुष्प्रापं,
 दुर्लभदर्शनं । नृपं=राजान, संयोजयति=तेन सह नरं सङ्गमयति । अतः
 परं=तेन सह समागमानन्तरं, भाग्यं=नरस्य भाग्यमेव-प्रमाणम् । भाग्या-
 नुसारेण ततो वनरत्नादिलाम इत्यर्थः । यथा निम्नगाऽपि कुटिलाऽपि च नदी-
 नीलावहिनादिना त्यागिनं सावानिकादिकं जन समुद्रं प्रति नयति, ततः परं
 भाग्यानुसारेण व्यापारिणस्ततो महोदये रत्नादिकं लभन्ते, एवमेव नीचवंशो-

में तो मनुष्यको कभी सन्तोष नहीं करना चाहिए, परन्तु धर्म के संपादन करने
 में कभी विलास भी नहीं करना चाहिए, क्योंकि न जाने कब मृत्यु शिर पर
 आजाए ॥३॥

ससार के सब द्रव्यों से उत्तम धन विद्या ही है, क्योंकि न यह छुटाई
 जा सकती है, न इसका कोई मोठ ही लगा सकता है और न इसका
 कभी क्षय (नाश, घटना) ही हो सकता है ॥ ४ ॥

जैसे नदी नीचे बहने वाली भी है तो भी स्वामितो को वह समुद्र से
 मिला देती है, उसी प्रकार यदि विद्या नीच के पास भी होवे तो भी वह

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम् ।

पात्रत्वाद्धनमाप्नोति, धनाद्धर्मं, ततः सुखम् ॥ ६ ॥

विद्या शस्त्रस्य शास्त्रस्य, द्वे विद्ये प्रतिपत्तये ।

आद्या हास्याय वृद्धत्वे, द्वितीयाऽऽद्रियते सदा ॥ ७ ॥

इत्यमरि कलानोदि पुत्र्य विद्या राजान्तिक प्रापयति, तत्रश्च भाष्यानुगारेण
ततो विद्वन्मूल्यादिलाभो भवतीत्यतो विद्योपासना सर्वस्यैव द्विजादेति भावः ॥५॥

विनयः = सौजन्यम् । पात्रता = बोधनाम् । धर्मम् । आप्नोतीति ज्ञेय ।
विद्याऽन्यासात् पुमान् विनीतो भवति । विनयेन च-वचनात् = राजनता, बोधनाच्च
सामने । पात्रभूत तानतो धर्मं लभते, धनाद्धर्मोपासनं शक्यं कर्तुम् । ततः =
धर्मार्थं, सुखम् = अनुत्तमसुखलाभो भवति । अतो विद्यैः सर्वसुखसाधन-
विपाठय ॥ ६ ॥

प्रतिपत्तये = ज्ञानाय, पशोलाभाय च-सम्बन्ध्या, शास्त्रविद्या चेति लोके
द्विविधा विद्या प्रतिष्ठा । तत्र आद्या = धनुर्वेदादिसस्त्रविद्या, वृद्धत्वे = वृद्धा
रणात् । पशुभ्ये मति । हास्याय = उपहासप्रदा । द्वितीया = शास्त्रविद्या तु,
सदा = सर्वालम्ब्यरथात् । आद्रियते = क्षीने-वृथये इत्यर्थः ॥ ७ ॥

विद्या उग मनुष्य को दुर्लभ राजा तरु पडुवा देती है । इसके बाद उक्त मनुष्य
वा जेवा भाग्य होगा है, पैसा ही उसे राजा मे ला र होगा है ॥५॥

और विद्या ज्ञान देती है, ज्ञान मे मनुष्य पात्र (बोध) वनता है राजा
(बोधना) मे धन विज्ञा दे, धन मे धर्म प्राप्त हो मकता है और धर्म मे सुख
प्राप्त होगा है ॥ ६ ॥

विद्या दो प्रकार की है । एक सस्त्रविद्या और दूसरी शास्त्रविद्या । दोनों
विद्याओं मे ही लोक मे प्रतिष्ठा होगे है । पर पु पठेजी विद्या (यज्ञ वा)
वृद्धास्था मे हीसी मकती है, पर-पु पुन । (शास्त्र) विद्या हा तो पशुसा प्राद
होग है ॥ • ॥

यन्नवे भाजने लग्नः संस्कारो नाऽन्यथा भवेत् ।
 कथाच्छलेन बालानां नीतिस्तदिह कथ्यते ॥ ८ ॥
 मित्रलाभः, मुहुःश्लेदो, विग्रहः, सन्धिरेव च ।
 पञ्चतन्त्रात्तथान्यस्माद्ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते ॥ ९ ॥

अस्ति भागीरथीतीरे पाटलीपुत्रनामधेयं नगरम् । तत्र सर्वैस्त्रामि-

यत् = यस्मात्कारणात्, नये = नवीने, अपके, बाले च । भाजने = शरा-
 वादी पात्रे, पुसि च । लग्न = मसक्तः, संस्कारः = गुणाधान, रेखादिकञ्च ।
 न = नैव कदाचिदपि । अन्यथा भवेत् = दूरीभवति; तत् = तस्मात्कारणात्,
 इह = द्वितीयदेशे, कथाच्छलेन = मास्कुर्मादिकथान्याजेन, बालानां = बालोप-
 देशार्थं, नीतिः = राजनीतिर्व्यवहारनीतिश्च, कथ्यते = नया निरव्यते । मयोपदिश्यते
 इति यावत् ॥ ८ ॥

इह ग्रन्थे—मित्रलाभादिनाम्ना प्रसिद्धानि चत्वारि प्रकरणानि पञ्चतन्त्राख्य-
 मन्थात्, तथैव, अन्यस्मादपि तादृशादेव मदाभारत-वृद्धकथादिनीतिग्रन्थात्,
 आकृष्य = आशय, उद्धृष्य च, लिख्यते = मयोरनिवच्यते ॥ ९ ॥

भागीरथीतीरे = गङ्गायास्तटे । तत्र = पाटलिपुत्रे । त्रामिनाः = रावः-

क्योकि नवीन पात्र में तथा छोटे-छोटे बालकों में स्थापित किया हुआ
 (दिया हुआ) संस्कार व शिक्षण आदि कभी नष्ट नहीं होना है, इस लिये इस
 ग्रन्थ में कथा के बहाने में मैं बालकों के लिए नीति शास्त्र का मार निहाल कर
 कदा हूँ ॥ ८ ॥

यह द्वितीयदेश चार प्रकरणों में विभक्त है । १ मित्रलाभ, २ मुहुःश्लेद,
 ३ विग्रह और ४ सन्धि । इन चारों प्रकरणों को सुप्रसिद्ध 'पञ्चतन्त्र' नामक ग्रन्थ
 से तथा और भी नीति के ग्रन्थों के आशय से लिखा हूँ ॥ ९ ॥

गङ्गा के तट पर पटना नाम का एक नगर है । यहाँ पर एक मुद्रण

गुणोपेतः सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् । स भूपतिरेकदा येन पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुभाव—

‘अनेकमंशयोच्छ्रेदि, परोचार्यस्य दर्शकम् ।
सर्वस्य लोचनं शास्त्रं, यस्य नाऽस्त्यन्व एव सः ॥ १० ॥
यौवनं, घनसम्पत्तिः, प्रभुत्वमविवेकिता ।
एकैरुमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् !’ ॥ ११ ॥

गुणाः—प्रभावशब्दादयः—स्वामिगुणाः । सर्वे च ते स्वामिगुणाश्च—तैरुपेत इति । सुदर्शनो नाम नरपतिरासीत् इत्यर्थः । नरपति = राजा । एकदा = एकदिना । केनाऽपि = अज्ञातनामप्रेयेन । श्लोकद्वयन्तादाह—अनेकेति । अनेक संशयान्—उच्छ्रेदि तच्छ्रीराम्—अनेकसंशयोच्छ्रेदि = नानावितर्कविनाशकः परोचार्यस्य = प्रतीपानागनाग्र्यस्य । दर्शकं = बोधकम् । शास्त्रं सर्वस्यापि ज्ञान लोचनं = लोचनमिदं मार्गप्रदर्शकमस्ति । यस्य—युस तच्छास्त्रं नास्ति, । लोचनमिदं श्लोऽपि एवेत्यर्थः ॥ १० ॥

यौवनं = युवावस्था । घनसम्पत्तिः = इन्द्रियसम्पत्तिः । प्रभुत्वम् = ऐश्वर्यम् । अविवेकिता = विचित्रैश्वर्यम् । मूढता । एतदेकैरुमपि पुस्तकान्—अनर्थाय = निषेधे अस्मिन् । यत्र तु पुनः तद्युक्त्य भवेत्, तत्र किमु = किं तु यत्कथम् ! । तत्र युवावस्था, घनसम्पत्तिः, प्रभुत्वम्, अज्ञानम्, इति चारुं च एकैरुमपि

नाम वा एक राजा राज्य करता था । उन राजा में अन्धे-अन्धे सभी गुण विद्वान्म थे । एक दिन उस राजा ने किसी अज्ञान व्यक्ति से पढ़े जाने हुए दो श्लोकों को सुना । वे श्लोक ये हैं—

मम प्रहार के संशय को दूर करने वाला, तथा परोक्ष अनुभूति को भी प्रत्यक्ष करने वाला शास्त्र ही सर्वज्ञा गता नेत्र है । जो विगने पर यह शास्त्र नेत्र नहीं है, पर मनुष्य त्रये के समान है ॥ १० ॥

युवावस्था, घनसम्पत्ति, प्रभुत्व, अज्ञान, इति चारुं च एकैरुमपि

—इत्याकर्याऽऽत्मनः पुत्राणामनधिगतशास्त्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनां
शास्त्राऽननुप्राप्तेनोद्विग्नमनाः स राजा चिन्तयामास—

कोऽर्थः पुत्रेण जातेन, यो न विद्वान् धार्मिकः ।

काणेन चक्षुषा किं वा, चक्षुःपीडैव केवलम् ॥ १२ ॥

आकर्य = भ्रूया । आत्मनः = स्वस्य । न अधिगतानि = न अधीतानि
शास्त्राणि यैस्तेषाम् । अनधीतविद्यानाम् । उन्मार्गं गच्छन्ति तच्छ्रीलास्तेषाम्-
उन्मार्गगामिनाम् = अपथप्रवृत्तानाम् । शास्त्रस्य = शास्त्रविहितकर्मणः, शास्त्रा-
ध्ययनादेर्वा-अननुष्ठानम् = अनादरः, अनाचरणं वा, तेन । उद्विग्नं मनो यस्यासौ
तथा—उद्विग्नमनाः = व्याकुलचित्तः ॥

कोऽर्थ इति । यः = पुत्रः, न-नैव, विद्वान्, न-नच, धार्मिकः = धर्मा-
चरणप्रसङ्गः, (तेन-) पुत्रेण जातेन = उत्पन्नेनापि, कोऽर्थः = किं प्रयोजनम् ।
काणेन = दर्शनशक्तिरहित्येन, चक्षुषा = नेत्रेण, किं वा = किं तु फलम् । न
किमपि फलमित्यर्थः । केवलम् = विनयीतम्, (उल्लस्य) । चक्षुःपीडैव भवति ।
काणं चक्षुर्नेत्रामयेन यदा कदाचन पीडितन्तु भवति, परन्तु तेन चक्षुषा
फलन्तु = चक्षुःफल दर्शनादिक—कदापि न भवति । एवं दुष्टपुत्रेण पीडैव
भवति, न तु सुखमित्याशयः ॥ १२ ॥

यस्तु हो यहाँ अनर्थ (जिस मनुष्य में) ही प्रायः होता है । फिर जहाँ वे चारों
एकत्र हों, यहाँ भी तो बात ही क्या है ? ॥ १२ ॥

इन श्लोकों को सुनकर यह राजा नुरे मार्ग पर चञ्चने वाले और मूर्ख
अपने लड़कों की मूर्खता को यादकर व्याकुल हो उठा और विचारने
लगा—

उस पुत्र के उत्पन्न होने में ही क्या हानि है, जो न विद्वान् ही है और
न धार्मिक ही है । क्योंकि कानी धर्म से कोई लाभ नहीं होता, वह तो केवल
पीडा ही देने के लिये होती है ॥ १२ ॥

अजात-मृत-मूर्खाणां वरमाद्यौ, न चाऽन्तिमः ।
सकृद्दुःखकरावाद्यावन्तिमस्तु पदे पदे ॥ १३ ॥

किञ्च—
वरं गर्भस्त्रावो, वरमृतपुं नैवाऽभिगमनं,
वरं जातः प्रेतो, वरमपि च कन्यैव जनिता ॥
वरं वन्ध्या भार्या, वरमपि च गर्भेषु वसति—
न चाऽविद्वान् रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि तनयः ॥

अजातेति । अजातः=अनुत्पन्नः, मृत=उत्पन्नोऽपि मृतः । मूर्खः=
उत्पन्नोऽपि, जीवन्नपि जहः । एषां विविधानां पुत्राणां मत्वे, आद्यौ=अजा-
तमृतौ पुत्रौ तु, वर=विशिष्टेऽर्थे । 'वर'मित्यवयवधीपदभिप्रेते । अन्तिमः=
मूर्खस्तु । नच=नैव वरम् । कुत्र एतदत आह—सकृदिति । सकृत्=एव
वारमेव । अभिनवस्तु=मूर्खस्तु । पदे—पदे=सर्वदैव, यावज्जीवं । दुःखकर=
ज्येष्ठपदः ॥ १३ ॥

गर्भस्त्रावः=गर्भपातः । वरम्=ईप्सुच्छेदः । मृतपुं=भार्याया मृतुश्ले-
षाभिगमनम्=उपसर्पणम् । जातः=उत्पन्नमात्र एव, प्रेतः=मृतः । पद्मा प्रेत
मृत एव । जातः=उत्पन्न इत्यर्थः । गर्भेषु=कुटुम्बावेव, वसतिः=निवासः । अ-
स्त एव बालस्य गर्भस्थानेऽवस्थाः । रूपद्रविणगुणयुक्तोऽपि=रूपबन्धुनो
अथ श्लोको न सर्वत्रोपलभ्यतेऽतः प्रथिनोऽवभिनि मन्व्यामहे ।

जो लक्ष्मी उत्पन्न ही न हो, अथवा उत्पन्न होकर भी मृत्यु ही मरः
या मूर्ख हो, इन तीनों में से पहले के दो अर्थों जो उपर ही नहीं हुए
कथना उत्पन्न होकर मर गया है, ये दोनों गो बुद्ध अर्थात् दे, परन्तु अ-
(मूर्ख) पुत्र तो कभी अर्थात् नहीं है, क्योंकि प्रथम दो पुत्र तो एक ही बार हुए
दो दे, अ-उ अन्तिम (मूर्ख) तो कदा न पदाई हो ॥ १३ ॥

और यदि गर्भपात हो जाए, अथवा पुत्रोपसर्पण के लिए मृतपुत्राल में
र्यों के वर मदन ही न दिया जाए, या अर्थात् ही पुत्र मर जाए, या

किञ्च—

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते ? ॥ १४ ॥

गुणिगणगणनाऽऽरम्भे न पतति कठिनी ^१सुसम्भ्रमाद्यस्य ।

तेनाऽप्या यदि सुतिनी । वद वन्ध्या कीदृशी ^२भवति ? ॥ १५ ॥

सः = ॥ एव पुत्रः । जातः = मुजातः । येन जातेन सता वशः = आत्मकुलं, समुन्नति = उचातिमौन्नत्यञ्च, यानि—भजते । परिवर्तिनि = परिवर्तनशीले, संसारे = अनादावस्मिन्संसारे, को न जायते, कश्च न जियते ? । कोटिशो जीवा अस्मिन्नागनि प्रत्यहमुत्पद्यन्ते, विलोपन्ते च, स एव तु मुजन्मा धन्यजीवितो यस्य जन्मना स्वकुलं महीयते इत्याशयः ॥ १४ ॥

गुणीति । गुणिनां = विदुषां ये गणाः = सङ्घाः, तेषां गणनायाः = सङ्कलनायाः, आरम्भे = प्रारम्भात्सरे, यस्य = यस्य पुत्रो नामनि, कठिनी = लटिनी, लेखनसाधनमिति यावत् । ('लटिया' 'कलम' 'पेंसिल' इति भाषा) । सुसम्भ्रमात् = सम्भ्रमनिशेषेण, सहसेवेति यावत् । न पतति = लेखाधारे काष्ठपट्टे, पत्राक्षी वा तन्नामोल्लेखाय न भटिति प्रसरति । तस्य = पुंसः अग्रा = माता, यदि = यदा, सुतिनी = पुत्रवतीति अयते लोके । यदा चा आत्मानं पुनरती यदि मनुते । (लटि-), वन्ध्या = अपुत्रा, कीदृशी = का एतु, भवति = भवति, इति धद ? = कथय तावत् ? । एवञ्च गुणिसमवाये यस्य पुंसः शोभनं यशो वर्तते, स एव मुजन्मनि हृदयम् । सैव तु खनु वन्ध्या—

वन्ध्या ही उपन्न हो, या सन्तान गर्भ में ही रहे, गर्भ से बाहर उपन्न ही न हो, यह सब ठीक है, पर भूरे पुत्र यदि सुन्दर भी हो तो भी वह ठीक नहीं है ।

और इस जगत् में उसी का जन्म लेना सरल है, जिसके जन्म से अपने वंश और जानि की उन्नति होती है । अन्यथा (इस तरह तो) ॥ परिवर्तनशील संसार में पौन नहीं जाता और मरना है ॥ १४ ॥

और गुणियों की गिनती के आरम्भ में जिसके नाम पर सबसे पहले सहसा

१. 'ससम्भ्रमा यस्य' पा० । २. 'कीदृशी नामे'ति पाठान्तरम् ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

पंच—

दाने, तपसि, शौचे च यस्य न प्रथितं यशः ।
विद्यायामर्थलामे च मातुरुच्चार एव सः ॥ १६ ॥

पररत्न—

वरमेको गुणी पुत्रो, न च मूर्खशतान्यपि ।
एकश्चन्द्रस्तमो हन्ति, न च तारागणोऽपि च ॥ १७ ॥

यस्य पुत्रस्य सत्समवाये श्राद्धी गणना न भवति, अथो यस्य नाम सफलजनाऽति-
शायि न भवति, न तु पुत्रदत्तैश्च केवलं दन्त्येति भावः ॥ १५ ॥
वायेति । तपसि = धर्माचरणौ । शौचे = वीर्ये । अर्थलामे = धनोपाजने
पाठः । स मातुः = जनन्याः, उच्चार एव = मूलमेव । नासौ पुत्रः, किन्तु
मातृश्रेष्ठे स इत्यर्थः । तादृशस्य पुंसो जन्म श्रेष्ठेऽप्यारयः ॥ १६ ॥
वामिति । एकोऽपि गुणी पुत्रो, वरं = भेदः । किन्तु मूर्खशतान्यपि =
मूर्खपुत्राणां शतमपि, न च = नैव वरम् । तथा हि—एकोऽपि स्वयं—तमः
नाशयितुं प्रभवतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

खीनो भी बलम न उठे, उस पुत्र के जन्म से भी यदि उसकी माता पु-
त्रदत्ताये, तो कदां फिर दन्त्या दिने कहेंगे ? ॥ १५ ॥
और भी—जिम मनुष्य का मन-दान, तपस्या, धीरता, निया तथा धनो
से न हता, यह मनुष्य केवल माता के मूल के स-दान है ॥ १६ ॥
और भी—१०० भी मूर्ख पुत्रों की अनेका एक ही पुत्र गुणी हो तो भी
घबरेना ही उसे दूर कर देंगे ॥ १७ ॥

१. 'न च मूर्खशतान्यपि' का० । २. 'न च तारागणोऽपि च' 'न च तारा-
गणोऽपि' इति न च-परम् । अथ 'न चोऽप्य' 'स्वयं कदा' इति जेतो बोध्यः ।

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः काऽप्यतिदुष्करम् ।

तस्य पुत्रो भवेद्दस्यः, समृद्धो, धार्मिकः, सुधीः ॥१८॥

अर्थाऽऽगमो नित्यमरोगिता च,

प्रिया च भार्या, प्रियवादिनी च ।

वश्यश्च पुत्रोऽर्थकरी च विद्या,

पट् जीवलोकस्य सुखानि राजन् ! ॥ १९ ॥

को धन्यो बहुभिः पुत्रैः कुशलाऽपूरणाऽऽढकैः ।

वरमेकः कुलाऽऽलम्बी, यत्र^१ विश्रूयते पिता ॥२०॥

पुण्येति । येन कापि पुण्यतीर्थे अति दुष्कर = कठिनं तपः कृतं, तस्य पुण्यफलम् पुत्रः—वश्यः = वरवद्, समृद्धः = सुखगणादलङ्कृतो धनी च, धार्मिकः = धर्मात्मा, सुधी = विद्वान् भवति । अतिमदतस्तपसः फलमेतद्युक्तो विद्वान् विनीतश्च भवतीति भावः ॥ १८ ॥

अर्थेति । राजन् = हे सुधिष्ठिर ! निर्यं = निर्वाणः, अर्थागमः = धनागमः, (निर्यम्—) अरोगिता = शरीरसौम्य, स्वास्थ्यम्, प्रियवादिनी = मधुरभाषिणी, प्रिया = हृद्य भार्या, वश्यः = अनुकूलः । अर्थकरी = धनकरी । एतानि पट् जीवलोकस्य = मर्त्यलोकस्य । जीवानामिति वा । सुखानि = सुखावहानि ॥ १९ ॥

क इति । कुशलाऽपूरणाऽऽढकैः = धान्यस्रोत्ररूपपूरणाऽऽसमर्थैराढकपात्रैरिय एव-

जिस मनुष्य ने किसी पुण्यतीर्थ में कठिन तपस्या की है, उसीका पुत्र-प्राणाकारी, धनी, धार्मिक तथा विद्वान् होता है ॥ १८ ॥

हे राजन् ! संसार में केवल छ ६ ही सुख हैं । १ नित्य धनप्राप्ति, २ आरोग्यता, ३ प्रियतमा भार्या, ४ मधुर बोलने वाली स्त्री, ५ प्राणाकारी पुत्र, तथा ६ धन देने वाली विद्या ॥ १९ ॥

जैने किसी ने कहा भी है—अन्न की कोठी (श्रोत्ररी, कोठळा) को भरने

१. 'सुरासो धार्मिक' इति पाठान्तरं शोभनम् । २. 'येन' पा० ।

अणकर्ता पिता शत्रुर्माता च न्यभिचारिणी ।
 भार्या रूपवती शत्रुः, पुत्रः शत्रुरपण्डितः ॥ २१ ॥
 अन्नभ्यासे विषं विद्यां, अजीर्णं भोजनं विषम् ।
 विषं समा दरिद्रस्य, वृद्धस्य तस्थी विषम् ॥ २२ ॥

ह्याशयैस्तुल्यैः, बहुभिः पुत्रैरपि, को धन्यः—भेष्टो धनबांध भवति । न कोऽ-
 पीत्यर्थः । मित्तु—एतः कुलालम्बो—कुलालम्बभूतः पुत्रः, वरं—भेष्टः, यत्र =
 यस्मिन् पुत्रे जाने सति (येन वा पुत्रेण), पिता विधूयते = लोके महीयते, 'धन्यः'
 इति लोके मण्यते ॥ कुरालं—धान्यपात्रम्; ('श्रीमती' 'बलारी' इति
 प्रसिद्धम्) । आदकम् = आदरपरिमितं धान्यपात्रम् (प्रायः अटाई सेरान् पत्र
 वर्तन) । धन्यः—धनवान्, भेष्टश्च ।

परे तु—कुलालाऽऽपुत्रणसमर्थः—श्रीमतीमाहादिवरिमिते, आदकरिमितेश्च
 पुत्रैः—पुत्रस्थानीयधान्यादिभिः, कः = कः पुमान्, धन्यः = 'धनी'नि मण्यते ।
 न कोऽपीत्यर्थः । कुलालादिमितेनावि धान्यपात्रिणा न कोऽपि धन्यतां लभते
 परन्तु—एकेन कुलालीपत्रेन रत्नादिना—श्रीशुभमणिना सागर इव—विता = जनकः
 रक्षकश्च—धनी भेष्टश्च नरातीत्यर्थमाहः ॥ २० ॥

अत्रेति । न्यभिचारिणी—वशयुक्तरता । शत्रुः—शत्रुरिव, अयस्योऽस्तुमात् ।
 भार्या—मुग्धी । भार्या = पत्नी, शत्रुः—शत्रुरिव, विनादेष्वादिहेतुत्वान् ।
 अपण्डितः—मूर्खः ॥ २१ ॥

अन्नभ्यासे सति—विद्या—विषं = विदुःप्रपदा, अन्नमाग्नयानवान्, जीरिता-

ये अन्नमयं चादकराशो (अट्टैवा, पमेरी आदि नार के व.शो) के समान बहुत
 से पुत्रों से बरा गाथ है, परन्तु जो सहायता करने वाला वो एक ही पुत्र अच्छा
 है, जिससे पिता को प्रसिद्धि और पर्यता होगी हो ॥ २० ॥

बहुत जाने वाला पिता शत्रुद्वय है, अभिचारिणी माता शत्रु दुःख है,
 भार्या भी शत्रुद्वय है और मूर्ख पुत्र भी शत्रुद्वय है ॥ २१ ॥

पिता अन्नमय से विना भी विदु है, अजीर्ण होने पर भोजन भी विष है.

यस्य^१ कस्य प्रसूतोऽपि गुणवान्पूज्यते नरः ।

^२धनुर्वंशविशुद्धोऽपि निर्गुणः क्रिङ्करिष्यति ? ॥ २३ ॥

हा हा पुत्रक ! नाऽधीतं गतास्वेतासु^३ रात्रिषु ।

तेन त्वं विदुषां मध्ये पङ्के गौरिव सीदसि । ॥ २४ ॥

पद्मरक्तत्वात्सन्ताम्रजनकत्वाच्च ॥ २२ ॥

वश्येति । यस्य कस्य=अज्ञातकुलशीलस्य, अकुलीनस्यापि । प्रसूतः=तत उत्पन्नः । संकम्बसामान्यविदक्ष्या पत्नी । पंशुविशुद्धिरहितोऽपीति यावत् । गुणवान्=गुणी तन्तुयुतो, भौषांयुतश्च । पूज्यते=सक्रियते, आद्रियते च । वंशविशुद्धोऽपि=श्रेष्ठवंशनिर्मितमपि, धनुः=शोदण्ड, निर्गुणः=न्यारहितम्, गुणशून्यश्च । किं करिष्यति=किं लक्ष्य हन्तु समर्थो भवति ?, नैव । अतो गुणा एव आशरस्थानमित्याशयः ॥ २३ ॥

अनुकम्पितः पुत्रः-पुत्रकः, तत्सम्बुद्धौ रूपम् । एतासु=इयाऽपयानासु । सीदसि=बके शमनुभवसि । शालाऽनभ्यासात् ॥ २४ ॥

दरिद्र मनुष्य के लिए सभी संसार ही विष तुल्य है और वृद्ध पुरुष के लिए उसकी पुत्री स्त्री भी विष के समान ही है ॥ २२ ॥

गुणी मनुष्य चाहे किसी कुल में उत्पन्न हो, सर्वत्र पूजित ही होता है, परन्तु यदि अशुद्ध कुल में उत्पन्न होकर भी मनुष्य निर्गुण हो, तो वह क्या कर सकता है, किस काम का है ? जैसे धनुष अशुद्ध बाँस का बना होने पर भी यदि उसमें गुण (ताँत या डोरी) न हो तो वह क्या काम कर सकता है ? कुछ भी नहीं । यहाँ वंश शब्द के दो अर्थ हैं, वंश और कुल ॥ २३ ॥

हे पुत्र ! गेद है कि तुमने बाल्यकालही बीजी हुई रात्रियों में कुछ नहीं पढ़ा, इसीलिए विद्वानों की मण्डली में आज तुम्हारी यह दशा हो रही है, जा दशा बीचड़ में पँसी हुई गाय की होती है ॥ २४ ॥

१. 'यत्र कुत्र' पा० । २. 'धनुर्वंशोऽपि' । ३. 'सुगतेजसु' इति पाठ. ।

तत्कथमिदानीमेते मम पुत्रा गुणवन्तः क्रियन्ताम् ? ।
 आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
 धर्मो हि तेषामधिको विशेषो, धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥ २५ ॥
 यतः—

धर्मार्थ-काम-मोक्षाणां यस्यैकोऽपि न विद्यते ।
 अजागलस्तनस्यैव तस्य जन्म निरर्थकम् ॥ २६ ॥

इदानीं = सधृति । गुणवन्तः = विद्याविनयवन्तः ॥

प्राहारश्च, निद्रा च, भयञ्च, मैथुन = रनिश्च-एषा समाहार-प्राहार-
 निद्राभयमैथुनम् । एतत् = नराणां = पुत्रा, पशुभिः = गवादिभिः पशुभिः,
 सामान्य = तुल्यमेव । हि = यतः । तेषां = नराणाम् । धर्मः = विद्याविनय-
 धर्माचारदिवेव, अधिका = अस्तदृष्टः, तत्राऽऽर्जमानः । विशेष = मेदकः । धर्मेण
 हीना = रहिताः, नराणु-पशुभिः समानाः = पशुतुल्या एतेत्यर्थः ॥ २५ ॥
 यतः = यत्माचारत्वात् । (सर्वो हि) । धर्मार्थकाममोक्षाख्यपुरुषार्थचतुष्टयस्य
 मध्ये । यस्य-पुत्रः एषोऽपि पुरुषार्थः-धर्मादिरूपो न विद्यते, तस्य पुत्रः-
 अजागलस्तनस्यैव = अजागल-विनयन-लक्ष्यमानचर्म-पटस्यैव, जन्म = जनन
 निरर्थकं = निरालम्बैव । धर्महीनस्यैव पुत्रो दुग्धादिरशिवर्कराजसर्प
 गवहाना मृगैश्च जन्मेत्याद्ययः ॥ २६ ॥

श्वः किम तरह मेरे ये पुत्र श्व भी गुणवन् और विद्वान् बनाय जायें ।
 सर्वो हि—भोजन, नीद, एव और मैथुन ये चार बातें तो मनुष्यों के
 पशुओं में समान ही हैं, मनुष्य में केवल धर्म (गुण) ही अधिक है,
 जिस परमहीन (जिस विनय प्रदि गुणों में रहित) मनुष्य पशु के
 समान है ॥ २५ ॥

इति—धर्म, धर्म, काम, मोक्ष—इन चारों में से जिसके पास
 भी नहीं है, उस मनुष्य का जन्म वैधर्मिक है, जैसे बरगी के मले
 का (या उसे कीटनासक मन्त्री के) ॥ २६ ॥

यथोच्यते—

‘आयुः, कर्म च, वित्तं च, विद्या, निधनमेव च ।
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः’ ॥ २७ ॥

विद्व—

अवरयं भाविनो भावा भवन्ति महतामपि ।
नग्नत्वं नीलकण्ठस्य, महाऽहिशयनं हरेः’ ॥ २८ ॥

अपि च—

यदभावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा’ ।
इति चिन्ताविपन्नोऽयमगदः किं न पीयते ? ॥ २९ ॥

पञ्च = पञ्च । ‘इत्थं कैश्चिदुच्यते’ इति शेषः । अस्य च ‘तलु कार्वाञ्चमस्य वचन’ मित्वाग्निमेणावयः ।

आयुरिति । आयुः = जीवितकालः, कर्म = जीवितकालात्कर्म, शुभाऽशुभ-
माचरण वा । वित्तं = धनम् । निधन = मृत्युः । गर्भस्थस्य = कुक्षिस्थस्य ।
देहिनः = प्राणिनः ॥ २७ ॥

विद्व = यद्य । ‘तदपि कार्वाञ्चमारामहासानामालस्यवचन’ मित्वाग्निमेणा-
ञ्चवयः । भावाः = भविष्यानि । नीलकण्ठस्य = शिवस्य । नग्नत्व = दिग्गम्भ-
राम् । हरेः = विष्णोः, महाऽहिशयन = शेषशय्या ॥ २८ ॥

यदिति । यत् = सुखादि, अभावि = न भावि, तन् = न भावि = प्रपन्न-

कुछ लोग जो कहा करते हैं कि—अब मनुष्य गर्भ में रहना है तभी उसकी
आयु, कर्म (व्यवसाय), धन, विद्या और मृत्यु का समय ये निश्चिन हो जाते
हैं ॥ २७ ॥

और भी—जो बात अचर्य होने वाली है, वह तो अचर्य ही होती है,
उसको तो कोई भी नहीं दृष्टा सकता है । इसमें शिवजी का नाम रहना और विष्णु
का शेषनाम की शय्या पर सोना ही प्रमाण है । अर्थात् यद्यपि ये दोनों संसार
के प्रभु हैं, तथापि इनके प्रारब्ध में यदा विदग्धना लिलो है ॥ २८ ॥

और भी—जो बात नहीं होने वाली है, वह कभी नहीं होगी और जो होने

—एतत् कार्याऽक्षमाणां केषाञ्चिदाक्षयवचनम् ।
 न देवमापि सञ्चिन्त्य त्यजेदुद्योगमात्मनः ।
 अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाऽऽप्तुमर्हति ॥ ३० ॥

उद्यमणाऽपि भक्तिं न शक्यते । चेत्=यदि, भावि=मुखदुःखादिक भां
 तत्—भक्तितादि । न अन्यथा=न दूरीकृतुं शक्यम् । इति=इत्ययं, चिन्ता
 एव विषय, तद्वन्तीति चिन्ताविषयः=चिन्तानिर्वापहायी, अगदः=श्रीगर्ध, कि
 न=कुतो न । पीयते=सेव्यते । यद्भावि तद्मद्विषयैः, एवञ्च न भावि तत्र
 मन्विष्यत्येव, देवाधीनमेव सर्वं, तत्र किं वृथा चिन्तयाऽऽवासेन चेत्याशयः ॥२९॥

एतत् = 'आप्तुः कर्म च' (श्लो० २७) इत्यारभ्य 'यद्भावि' (श्लो० २९)
 इत्यन्तेः श्लोकैर्युक्तं दैर्घ्यं चलनत्वं तत्, कार्याऽक्षमाणा=परिधमोद्योगज्ञेया-
 ऽनरिष्युनामलमानाम्, आलस्यवचनं वचनम्-आलस्यवचनम् = आलस्यवाक्य-
 नेव । एतच्च नैतत्प्रमाणं भवितुमर्हति । पुरुषसिद्धेन तु यथावदुद्योग एव कर्तव्य
 इत्याशयः । 'आलस्यवचन' भिति कुत एतदित्यत आह-नेति । देवमस्ति, तदेव
 सर्वं भाषमाणं भिति-सञ्चिन्त्य=विमान्य, आत्मनः=आत्माधीनम्, उद्योग =
 पुरुषार्थं, च स्वजेत् । यतः-अनुद्योगेन = उद्योगविकलेन, आलस्येन च
 यदकोणरिषतेभ्योऽपि तैलपूर्णेभ्योऽपि तिलेभ्यः-तैलानि-आप्तु = प्राप्तु,

वाञ्छा है, यह विगो प्रहार मित्र नहीं सक्ती है इस विचाररूपी श्रौष्य को—
 कि सब निताश्री को नाश करने वाञ्छी है—ज्ञेय क्यो नहीं पाने है ? ॥२९॥

—ये पूर्वोक्त आलस्यवचन वचन उन लोगों के हैं, जो कि कार्य करने में
 प्रमत्त हैं और आनसी हैं ।

यतः बुद्धिमान् मनुष्य को प्रयत्न उद्योग कभी नहीं छोड़ना चाये । क्योंकि
 बिना उद्योग के इत्ये तो निम्न में तैल भी नहीं निकल सकता है ॥३०॥

१. 'आलस्यवचनं वचन' भिति वाचिः वाक्यः वाक्यं शोभन एव ।
 २. 'देव' भिति' वा० ।

अन्यथ—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-

‘दैवेन देय’मिति कापुरुषा वदन्ति ।

दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या,

यत्ने कृते यदि न सिध्यति, कोऽत्र दोषः ? ॥३१॥

योग्यो भवति । उद्योगाऽभावे हि गृहकोणस्थनिलेभ्योऽपि वैश्रवणाभो न भवति, किं पुनरभ्युदयसम्पत्तिमुक्तादिलाभः । एवञ्च दैवस्य आशां विहाय, पुरुषेण उद्योगोऽनर्थं विधेय इत्यर्थः ॥ ३० ॥

अन्यथ—किञ्च (शौर भी) । ‘कैश्चिदुक्त’ मिति शेषः ।

उद्योगिनिमिति । उद्योगशीलं—(पुरुषः सिंह इव—पुरुषसिंहलं—)

पुरुषसिंहं=सिंहवदिक्रमशालिनं पुरुषभेद । लक्ष्मीः=सम्पत्तिः । सफलता ।

स्वयमेव=स्वत एव । उपैति=आगच्छति । ‘दैवेनैव देयं सर्वं मुलं दुःखं वे’नि तु-

कापुरुषाः=उद्योगशक्तिरह्याः कातरा एव, वदन्ति=कथयन्ति, न शूराः । अतो

दैवम्=अदृष्टं, निहत्य=तन्मुखप्रेक्षितां विहाय, तदुपेक्ष्येति वा । पौरुषम्=

उद्योगं—कुरु । अथ यत्ने=उद्योगे कृते सति, यदि=चेत्, कार्यं न सिध्यति,

तर्हि, अत्र=अग्निन् विषये, कः=को वा पुंसो दोषः, नैव कश्चिदोष इत्यर्थः ।

पद्मा—अत्र=यत्ने एव कः=कोऽपि दोषः=शुद्धिरस्तीति विभाव्यम्, अन्यथा

वक्ष्यति यत्ने सति अवश्यमेव कार्यं भवत्येवेत्यवश्यमित्यन्ये व्याचक्षते ॥ ३१ ॥

शौर भी—उद्योगशील पुरुषसिंह के पास स्वयं ही लक्ष्मी आती है । ‘यत्

माग्य से ही मिलता है’—यह तो कायर पुरुष ही कहा करते हैं । इसलिये मनुष्य

को माग्य का मरोसा छोड़कर अपनी शक्ति के अनुसार उद्योग करना चाहिये,

यदि उद्योग करने पर भी कार्यं ही सिद्धि न होवे तो इस उद्योग में क्या दोष है,

इसका विचार करो । अर्थात्—दैवो कि तुमारे इस उद्योग में क्या शक्ति है,

न कि उद्योग को ही छोड़ दो ॥ ३१ ॥

ॐ अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

यथा एकेन चक्रेण न रथस्य गतिर्भवेत् ।
एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति ॥ ३२ ॥

य—
पूर्वजन्मकृतं कर्म तदैवमिति कथ्यते ।
तस्मात्पुरुषकारेण यत्नं कुर्यादितन्द्रितः ॥ ३३ ॥
यथा मृत्पिण्डतः कर्चा कुरुते यद्यदिच्छति ।
एवमात्मकृतं कर्म मानवः प्रतिपद्यते ॥ ३४ ॥

यथा एकेन चक्रेण = रथाङ्गेन, रथस्य गतिर्न भवेत् = न भवति, ए
पुरुषकारेण = सदाभूतेन पौरुषेण विना, दैवम् = केषलमदृष्ट, न सिध्यति = नैव
प्राप्तीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

पूर्वेति । पूर्वजन्मनि कृतं यत् कर्म—तत् = तदेव, 'दैव'पदवाच्यम्, इतोऽ
भ्यदैवं नाम द्विदिवि नास्ति । तस्मात् = पुरुषकारेण विना दैवस्य सिद्धेरमानात्
पुरुषकारेण = पुरुषार्थमाशयात्—अर्त-द्रतः = आलस्यवर्जितः, सावधानः सन्
पुमान् यत्नं कुर्यात् ॥ ३३ ॥

यथेति । यथा मृत्पिण्डतः—कर्चा = कुलालः—यद्यत् = यथातोदयनयन-
दिक्कम्, इच्छति = कर्तुं चान्दति, कुरुते = स्वप्रयत्नेन सम्पादयति, एवं =

एके एक चक्र में रथ नहीं चल सकता है, उसी प्रकार उद्योग के बिना
पुरुष भाग्य से ही सिद्धि नहीं हो सकती है ॥ ३२ ॥

क्योंकि पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म ही हमारे जन्म में भाग्य बना जाता है
इसलिए मनुष्य को पुरुषार्थ (उद्योग, कर्म) करना ही चाहिए ॥ ३३ ॥

जैसे कुलाल मिट्टी के पिण्ड से जो जो कस्तुरी बनाता है, अरनी इच्छा

काकतालीयवत्प्राप्तं दृष्ट्वाऽपि निधिमग्रतः ।
 न स्वयं दैवमादत्ते, पुरुषार्थमपेक्षते ॥ ३५ ॥
 उद्यमेन हि सिध्यन्ति कार्याणि, न मनोरथैः ।
 न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः ॥ ३६ ॥

पादितया रीत्या, आत्मकृतमेव कर्म = कर्मफलम्, घटादिकञ्च, मानवः = कर्ता,
 ष्यते = क्षमते, प्राप्नोति ॥ ३५ ॥

काकेति । काकरयाऽऽगमनमिव, तालस्य पतनमिव—काकतालां, काकतालमिव
 तालीयं = सहस्रोपनतम् । तद्वत्—काकतालीयवत् = काकागमनेन तालपतनवद-
 त् = दैवशरत्—प्राप्तं = लब्धं, निधिम् = शेषधिम् = (खजाने को) । अग्रतः =
 १, इष्ट्वाऽपि, दैवं = मार्ग्यं, स्वतः = स्वयम्, न आदत्ते = न गृह्णाति, किन्तु—
 ने—पुरुषार्थं = हस्तचालनादिकं पुरुषन्यापारम्, अपेक्षते = आश्रयते एव ।
 मपेक्षते एव ॥ ३५ ॥

उद्यमेनेति । उद्यमेन = उद्योगेन । मनोरथैः = 'ममेदं भवतु' 'सिध्यतु ममेद'-
 ॥दिमनोरथमात्रेण । 'कार्याणि न सिध्यन्तीति शेषः । हि = यतः सुप्तस्य
 क्षेत्रस्यापि सिंहस्य, मुखे = घटने स्वयमेवागत्य—मृगाः = पशवः—न प्रविशन्ति,
 १ तदर्थं सिंहोऽपि यत्नं करोति । एवमेव सर्वैरपि यत्नो विधेयः ॥ ३६ ॥

सार बनाता है, उसी प्रकार मनुष्य अपने किये हुए कर्म के अनुसार ही
 पाता है ॥ ३५ ॥

काकतालीय न्याय से (अर्थात् शकस्मात्, भाग्य से) सामने प्राप्त हुए
 को भी उठाकर रखने में पुरुषार्थ की जरूरत रहती ही है ॥ ३५ ॥

क्योंकि—कार्य की सिद्धि उद्योग से ही होती है, केवल इच्छामात्र से नहीं ।
 कि सोये हुए भूसे सिंह के मुख में मृग रख्यं नहीं चले जाते हैं, किन्तु उसकी
 शिकार पकड़ने के लिए यत्न करना ही होता है ॥ ३६ ॥

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

मातापितृकृताऽभ्यासो गुणितामेति बालकः ।
 न गर्भच्युतिमात्रेण पुत्रो भवति पण्डितः ॥ ३७ ॥
 माता शत्रुः, पिता वैरी येन' बालो न पाठितः ।
 न शोभते समामध्ये हंसमध्ये वक्रो यथा ॥ ३८ ॥
 रूपयौवनसम्पन्ना, विशालकुलसम्भवाः ।
 विद्याहीना न शोभन्ते, निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥ ३९ ॥

मातेति । माता च पिता च कृतः=कारितः अभ्यासो येनासौ=मातापितृ-
 कृताऽभ्यासः=मातापितृभ्यां पारितभ्यासः । 'आनदृष्ट' इत्यानद् । 'मातृपित्रि'ति
 पाठस्तु न शोभनः । बालकः=पुत्रः—गुणिता=विद्वान्, गुणरत्नञ्च, पति=
 प्राप्नोति । लभते । केवलं गर्भच्युतिमात्रेण=जन्मप्रदणमात्रेणैव । पुत्रः=बालकः,
 पण्डितो न भवति ॥ ३७ ॥
 मातेति । येन=पित्रा । स बालः सभामध्ये=शिक्षया समयाये । हंसमध्ये
 वक्र इव । न शोभते=न प्रशिक्षितो लभते । 'वाग्धा' भिनि पाठान्तरम् ॥ ३८ ॥
 रूपेति । रूपेण=सौन्दर्येण, शरीररत्नया च, यौवनेन=युवकत्वेन ययुः-
 शरत्नारिणा च । सम्पन्नाः=शोभिना अग्नि, चिद्व—विशालकुलसम्भवाः=
 महाकुलप्रद्वेण अग्निः, विद्याहीनाः=मूर्खाः—निर्गन्धाः=गुरुणा अग्नि गन्धशून्याः,
 किंशुकाः=पलाशपुगुनानीन, न शोभन्ते=लोके न शिराजन्ते ॥ ३९ ॥

माता पिता के आश्रयण कराने से ही बालक गुणी होता है । जन्मते ही कोई
 पण्डित नहीं हो जाय है । अतः बालक को उत्तम शिक्षा देनी चाहिए ॥ ३७ ॥
 ये पिता माता शत्रु हैं, निर्दोष अग्नि बालक पुत्र को नहीं पढ़ाया । क्योंकि
 हंसों के बीच में बटुने को तब वर मूर्ख बनने को विद्वानों के बीच में कमी
 शोभा नहीं देता है ॥ ३८ ॥
 अर्थात् पुत्र में जन्म, सुन्दर, युवा मनुष्य भी विद्याहीन होने से निर्गन्ध
 पदार्थ (दाह) के पुत्र के समान शोभा नहीं पाता है ॥ ३९ ॥

मूर्खोऽपि शोभते तावत्समायां वस्रवेष्टितः ।

तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भापते ॥ ४० ॥

एतच्चिन्तयित्वा स राजा परिहृतसभां कारितवान् ।

राजोवाच—‘भो भोः परिहृताः ! श्रूयताम् । अस्ति कश्चिदेवम्भूतो विद्वान् यो मम पुत्राणां नित्यमुन्मार्गगामिनामनधिगतशास्त्राणामिदानीं नीतिशास्त्रोपदेशेन पुनर्जन्म कारयितुं समर्थः ? । यतः—

काचः काञ्चनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं धुतिम् ।

तथा सत्संनिधानेन मूर्खो याति प्रवीणताम् ॥ ४१ ॥

मूर्ख इति । समायां=विद्वद्गणनाम् । सान्त्=निश्चयेन । वास्रवेष्टितः=महादृष्टवस्त्रावृतः, (दुशाला श्रोटे दृष्ट) । भापते=वदति ॥ ४० ॥ ;

एवम्भूतः=ईदृशः । उन्मार्गगामिनाम्=मर्यादारहितानामवयप्रवृत्तानाम् ।

काच इति । काञ्चन=मुग्धम् । मारकतीं=मरकतमणिसम्बन्धिनीं, तत्तुल्या-मिति यावत् । [मरकतः=पन्ना] । प्रवीणता=कुशलता, पारिहृत्यञ्च ॥ ४१ ॥

विद्वानों की समा में अच्छा कपड़ा पहन कर कदाचित् मूर्ख भी शोभता है, परन्तु यह तभी तक शोभता है, जब तक वह कुछ बोलता नहीं है । अर्थात् उसके बोलते ही उसकी योग्यता (मूर्खता) मालूम हो जाती है ॥ ४० ॥

इस तरह विचार कर उस राजा ने परिहृतों की एक सभा की । और उसने सब परिहृतों से पूछा कि—आप लोगों में कोई ऐसा योग्य विद्वान् है, जो बुरे रास्ते पर चलने वाले मेरे इन मूर्ख पुत्रों को भी नीतिशास्त्र का उपदेश देकर इनका द्वितीय जन्म करा दे, अर्थात् इन्हें सुधार कर विद्वान् कर दे ।

क्योंकि—जैसे काच भी मुग्ध के सम्बन्ध से मरकतमणि (पन्ना) की सी शोभा को पाता है, इसी प्रकार सजनों के संसर्ग से मूर्ख भी चतुर हो जाता है ॥ ४१ ॥

एकतद्ध—

हीयते हि मतिस्तात । हीनैः सह समागमात् ।

समैश्च समतामेति, विशिष्टैश्च विशिष्टताम् ॥ ४२ ॥

अत्रान्तरे विष्णुशर्मणा महापण्डितः सकलनीतिशास्त्रतत्त्व
बृहस्पतिरिवाऽनयीत्—'देव ! महाकुलसम्भूता एते राजपुत्राः, तन्
नीतिं प्राहयितुं शक्यन्ते । यतः—

नाऽद्रव्ये निहिता काचित्क्रिया फलवती भवेत् ।

न व्यापारशतेनाऽपि शुक्लत्पाठ्यते वक्ः ॥ ४३ ॥

हीयते इति । 'तते'ति सम्बोधनम् । हे वत्स ! । हीनैः = अधमैः, *
समैः = श्रेष्ठैः, निशिष्टैः = अस्वभाविकैः । निशिष्टता = वैदुष्यं, महत्त्वञ्च ॥
अत्रान्तरे = अस्मिन्पत्रे । तत्त्वज्ञः = ब्रह्मविद् । बृहस्पतिरिव = बृहस्पति

देव = हे राजन् । प्राहयितुं = पाठयितुं, बोधयितुं ।

नैति । अद्रव्ये = अधोमे, अधोपे च । निहिता = योजिता, स्थापिता च,
निपा = संस्कारा, विद्या च । पञ्चमी = सहा । व्यापारशतेनापि = उपायशते-
नापि । वक्ः = न लक्षु-पाठ्यते = पाठयितुं शक्यते ॥ ४३ ॥

किरी मे बहा भी है कि—'हे वत्स । नीनों के सङ्ग-माय से मनुष्य की बुद्धि
दुगी हो जाती है, और अपने बरार बुद्धिमानों के साथ से बुद्धि साधारण रहती है,
और अपने से बड़े लोगों के सङ्ग से मनुष्य की बुद्धि उत्कृष्ट (उन्नत) होती
है' ॥ ४२ ॥

राजा की बातों से मुझ बृहस्पति के समान सब नीतिशास्त्र के तत्त्व को
जानने वाले भेड़ विद्वान् विद्वुग्मनां करने लगे कि हे राजन् ! ये राजदुमा
दण्ड युद्ध में उत्तम हुए हैं, हमारे हैं इन दुमरों को नीतिशास्त्र का उपदेश
देकर देना मरग है ।

बोहे—अधो-अधम में कोई भी मुझ मरग नहीं होता है ।
देगो—दुग्म-दण्ड करने पर भी कोई भी मुझे को शुक (युद्ध) की

अन्यथा—

अस्मिन्स्तु निर्गुणं गोत्रे नाऽपत्यमुपजायते ।

आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमयोः कुतः ? ॥ ४४ ॥

अतोऽहं यन्मासाऽभ्यन्तरे तव पुत्रान्नोतिशास्त्राभिहान्करिष्यामि' ।

राजा सविनयं पुनरुवाच—

'कीटोऽपि सुमनःसङ्गादारोहति सतां शिरः ।

अरमाऽपि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः' ॥ ४५ ॥

अस्मिन्निति । अस्मिन्=भवनां प्रसिद्धे । गोत्रे=वंशे । राजकुले । निर्गुणं=गुणरहितम्, अपत्यं=तोरु, पुत्र इति वाच्यम् । न उपजायते=नोत्पद्यते । यतः पद्मरागमयीनाम् (चुली) । आकरे=खनौ । काचमयोः=काचस्य, जन्म=उत्पत्तिः । कुतः=कस्मादेतोर्भवति, नैत्र संमन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अतः=यतः सत्कुलप्रसूता ह्येते अनायासेन शिद्यन्ति यस्या अतः ।

कीट इति । कीटः=मृदादिः । पामरश्च । सुमनःसङ्गात्=पुण्यसम्बन्धात् । विद्वत्सङ्गात् । सतां=सननानां, भद्राश्च । शिरः=मस्तकमपि । आरोहति=सत्सूयो भवति । अरमा=पापाणः । महद्भिः=विद्वद्भिः, भेद्वैश्च । सुप्रतिष्ठितः=श्यापितः ॥ ४५ ॥

यह कभी नहीं पदा सकता है ॥ ४३ ॥

परन्तु इस (आपके) वंश में मूल्य सन्तति हो ही नहीं सकती है । जैसे पद्मरागमयी ('खाल' 'चुली') की रान से कभी काच की उत्पत्ति नहीं होती है ॥ ४४ ॥

इसलिये हे राजन् ! तू: माम के भीतर ही मैं आपके इन पुत्रों को नीतिकुशल बना दूँगा ।

यह वह राजा नम्रतापूर्वक उनसे कहने लगा कि—

पुत्रों के साथ होने से कीड़ा भी बड़े खोनों के शिर पर चढ़ जाता है । और बड़े खोनों से आदर प्रतिष्ठा पाकर पत्थर भी देवता बन जाता है ॥ ४५ ॥

अन्यथा—

यथोदयगिरेर्द्रव्यं संनिर्णय दीप्यते ।

तथा सत्संनिधानेन हीनवर्णोऽपि दीप्यते ॥ ४६ ॥

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति,

ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ।

आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः,

समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ ४७ ॥

तदेतेषामरमत्पुत्राणां नीतिशास्त्रोपदेशाय भवन्तः प्रमाणम् ।

यथेति । उदयगिरेः = उदयपर्यंतस्य, द्रव्यं = पात्राण्युत्पादिक यस्तु ज्ञानमपि दीप्यते = एवं सम्पर्कतत्प्राप्तये । हीनवर्णः = नीचः । दीप्तिरहितोऽपि । दीप्यतेः शोभते, प्रकाशते च ॥ ४६ ॥

गुणा इति । गुणाः = दशादाविव्ययसमुच्चप्रसूतादयः । गुणज्ञेषु = गुणि-जनसमवधाने । गुणा भवन्ति = गुणत्वं वदन्ति । ते = गुणाः । निर्गुणं = गुण-शून्यम् । आसाद्य = प्राप्य । दोषा भवन्ति । आस्वाद्यं तोयं वासान्ताः = आस्वाद्य-तोयाः = सुपेयवानीयाः, समुद्रमसाः । प्रवहन्ति = प्रचरन्ति । 'प्रवहन्तीति पाठे-ऽपि स एवाऽर्थः । अपेयाः = क्षरोदकाः । ए. ऽन्व स्वत्संनिधानेन (भवसङ्गेन) मुहूर्त्तानां मनुष्या विद्वानो मन्दिभ्यन्तीन्प्राप्यः ॥ ४७ ॥

और भी— जैसे उदयाचल की तभी समुद्र एवं के समीप होने से चमकने लगता है, वही तरह सज्जनों के समीप से मूर्ख भी विद्वान् हो जाते हैं ॥ ४६ ॥

क्योंकि गुणी मनुष्य के सम्बन्ध से मूर्ख-गुण ही रहते हैं, अर्थात् उनका चारर होना है । पर ये ही मूर्ख निर्गुण मनुष्य के सम्बन्ध से दोष हो जाते हैं । देतो, नदियों का जल समाप्त हो ही रह-रिह होता है, परन्तु बड़ी जल जब समुद्र में जाकर वटना है, तो वह लारा हो जाता है ॥ ४७ ॥

इसप्रकार इन दोनों मूर्खों की नीतिशास्त्रों के उपदेश के लिये आप स्वतन्त्र

इत्युक्त्वा तस्य विष्णुशर्मणो बहुमानपुरःसरं पुत्रान् समर्पितवान् ।
 ❀ इति कथामुत्तमम् ❀

अथ मित्रलाभः ।

अथ प्रासादपृष्ठे सुखोपविष्टानां राजपुत्राणां पुरस्तात्प्रस्तावक्रमेण स
 परिहतोऽभवत्—

‘काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।

व्यसनेन च मूर्खाणां, निद्रया, क्लहेन वा’ ॥ १ ॥

प्रमाणम् = स्वतन्त्राः । यथा मन्त्रयो रोचते तथा पाठनीया इमे, नात्र
 मम किमपि वक्तव्यमस्तीत्याशयः । लक्ष्मीना इमे राजपुत्रा अचारभ्य मया कृता
 इति यावत् ।

मित्रस्य लाभः—मित्रलाभः । तमभिकृत्य कृतः परिच्छेदः—उपचारमित्रलाभः ।

‘इन्द्रार्पा स्पृष्टा—इन्द्र’ इति व्यवहारवत् । यद्वा—मित्रस्य लाभो यथेति विग्रहः ।
 प्रासादपृष्ठे = राजमवनोपरितले । (प्रासाद = महल, पृष्ठ = छत) । सुखेन
 उपविष्टाः = सुखोपविष्टास्तान्, तेषां = निराकुलं स्थितानाम् । पुरस्तात् = अग्रे ।
 प्रस्तावक्रमेण = कथामसंग्रहेन । (बातों की बातों में, ‘बातचीत के प्रसङ्ग में’) ।
 सः = विष्णुशर्मा ।

काव्येति । काव्यञ्च, शास्त्रञ्च—काव्यशास्त्रे, ताभ्यां यो विनोदस्तेन । यद्वा—
 काव्यमेव शास्त्रन्तेन विनोद इति विग्रहः । काव्यशास्त्रपर्यालोचनेनेत्यर्थः ।

धीमता = विदुषां । कालः = जीवितसमयः । गच्छति = मुरं याति । मूर्खाणाम्

॥ हे, बैठे चाहे बैठे इन्हें शिवा दें । ऐसा कहकर राजा ने बड़े भ्रातर से अपने
 सब बच्चों को विष्णुशर्मा को सौंप दिया ।

१। एक दिन वे राजपुत्र महलकी छत पर बैठे थे, उस समय बानचोत प्रमत्त में
 हँस विष्णुशर्मा उनसे बहने लगे, कि—हे राजपुत्रो ! मुनो ।

मुदिमान् मनुष्यों का समय काव्यों व शास्त्रों के विचार में ही बीतता है, परन्तु
 मूर्खों का समय ही व्यसन (बुरे काम) एवं निद्रा तथा भगदो में ही बीतता है ॥१॥

तद्भवतां विनोदाय काककूर्मादीनां विचित्रां कथां कथयामि ।
राजपुत्रैरक्षम्—आर्य ! कथयताम् ।'

विष्णुरामोवाच—'शृणुत ! सम्प्रति मित्रलामः प्रस्तूयते । यस्याऽय-
माद्यः श्लोकः—

'असाधना, विचहीना, बुद्धिमन्तः, सुदृढमाः ।

साधयन्त्याशु कार्याणि कारुकूर्ममृगाऽऽपुवत् ॥ २ ॥

राजपुत्रा उचुः—कथमेतन् ? ।

विष्णुरामो—कथयति—

अस्ति गोदावरीतीरे विशालः शाल्मलीवृक्षः । तत्र नाना-

ध्यस्तनेन = लीयुतमयशानादिभ्यमनेन । विञ्ज—निद्रया = द्रापेन, कलहेन = विवा-
देन च । कालो गच्छति ॥ १ ॥

विनोदाय = हर्षाय, काकक्षेपाय च । आर्यं = पूज्य । (आर्यं = भी, अमी) ।

सम्प्रति = इदानीम् । प्रस्तूयते = प्रारम्भ्यते । यस्य = मित्रलामस्य । अयं = वक्ष्यमाणः ।

असाधना इति । असाधनाः = उपकरणरहिताः । विचहीनाः = धनरहिताः,

(अवि—) बुद्धिमन्तः = मनीषिणः, सुदृढमाः = परस्परद्वैतविष्णुः, परस्परं

मित्रतां गताः सहृदयाः, आशु = शीघ्रम् । कारुकूर्ममृगाऽपुवत् = पायस-कच्छुप-

गुणवत् ॥ २ ॥

एतत् = असाधनैः आकूर्मादिभिराशु कर्षसाधनम्—कथम्—कथयति । ।

माः = विष्णुरामो ।

अतः आद्य श्लोका के मन को बरलाने के लिये मैं कीर्त्ता, कछुया इत्यादि
की विचित्र कथाओं को कहता हूँ ।

राजपुत्रों ने कहा—दे आर्य ! (जी), आप अक्षय कहिये ।

विष्णुरामो केने—मुझे, अब मैं पहले मित्रलाम की कथाओं को प्रारम्भ
करता हूँ । जिसका परला श्लोक (उपदेश पात्रय) यह है—

उगापरदिन, धनहीन पर बुद्धिमन् और दृढ मैत्री वाले पुत्र्य अपने कार्यों

१. 'सोऽर्थो'दि। पाठान्तरम् ।

दिग्देशादागत्य रात्रौ पक्षिणो निवसन्ति । अथ कदाचिदवसन्नायां रात्रावस्ताचलचूडावलम्बिनि भगवति कुमुदिनीनायके चन्द्रमसि, लघुपतनकनामा वायसः कृतान्तमिव द्वितीयमटन्तं व्याधमपश्यत् ।

तमवलोक्याऽचिन्तयत्—अथ प्रातरेवाऽनिष्टदर्शनं जातं, न जाने

विशालः = विस्तीर्णः । शाल्मलीतरुः = शाल्मलीपादपः (सेमल का वृक्ष) । तत्र = तस्मिन् तरौ । नानादिग्देशात् = नानादिगपरिचयतेभ्यो देशेभ्यः । कदाचित् = अस्मिन्दिने (किसी दिन) । अवसन्नाया-विगलिताया, रिशीर्णया । प्रमातृप्रायायामिति यावत् । अस्ताचलचूडावलम्बिनि = अस्तपर्वतशिखरारूढे सति । अस्तं प्राते इति यावत् । कुमुदिनीनायके = कैरविलीगल्लभे । चन्द्रमसि = इन्दौ । वायसः = वक्रः । मनुजः = मुमुक्षुः सन् । द्वितीयम् = अपरं । कृतान्तमिव = यमराजमिव । अटन्तं = जीवविनाशाय भ्रमन्तम् । पाशहस्त = जालहस्तम् । व्याध = लुब्धकम् । तं = व्याधम् । अथ = अस्मिन्दिने (आज) । प्रातरेव = उपस्थेव । अनिष्टदर्शनम् = अप्रियवस्तुदर्शनम् । अनभिमतम् = अनिष्टम् । दर्श-

को उसी प्रकार शीघ्र सिद्ध कर लेते हैं, जैसे कि उन बीया, कछुआ, मृग और चूहे ने किया था ॥ २ ॥

राजपुत्र बोले—यह क्या कैसे है ? । निम्णुशर्मा कहने लगे कि—

गोदावरी नदी के तट पर एक विशाल सेमर का पेड़ है । वहाँ रात्रि में चारों तरफ से आकर पक्षिण निवास करते हैं । एक दिन रात के नींद जाने पर कुमुदिनीनायक चन्द्रमा जब अस्ताचल पर चले गये, तब लघुपतनक नाम के एक पक्ष ने उठते ही यमराज की तरह मयङ्कर व सामने आते हुए एक व्याध (बहेलिय) को देखा ।

उसको देखकर वह सोचने लगा कि 'आज प्रातः काल ही यह अनिष्ट दर्शन हुआ है, न जाने आज क्या होगा' । ऐसा विचार कर वह बीया उसके पीछे-पीछे पनदाया हुआ चलने लगा ।

किमनभिमतं दर्शयिष्यति ?' । इत्युक्त्वा तदनुसरणकमेण व्याकुल
श्रलितः । यतः—

शोकस्थानसहस्राणि, भयस्थानशतानि च ।

दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति, न पण्डितम् ॥ ३ ॥

अन्यथ विपयिणामिदमवश्यं कर्तव्यम्—

उत्थापोत्थाप बोद्धव्यं महद्भयमुपस्थितम् ।

मरणव्याधिशोकानां किमद्य निपतिष्यति । ॥ ४ ॥

अथ तेन व्याधेन तण्डुलकष्यान्विषीर्यं जालं विस्तीर्णम् ।

पिप्यति = उपाशापिप्यति । अनिटदर्शनं—कचुं । अनुसरणकमेण = व्याघ्रा-
सारणपरिपाठ्या । तमनुमरान्ति यावत् । व्याकुलः = चिन्तातुरः ।

शोकेति । सहस्रस्यः शोकाकारणानि । शोकावसरा इत्यर्थः । भयस्थानशतानि-
शतशो भयद्वैतवः । दिवसे-दिवसे = प्रतिदिनमेव । मूढं = मूर्खमेव । आविशन्ति =
आध्वयन्ते, व्याकुलं भ्रुषन्ति । परन्तु पण्डित=विद्वान्मुद्गु, न=नैव आविशन्ति ॥३॥

विपयिणां = विपयानुरक्तानां । शहस्थानामिति यावत् । कर्तव्यमाह-उत्था-
पेति । उत्थापोत्थाप = मृदुः प्रतुष्य । उपस्थितं = प्राप्तं । महद्भयं = महाभीतिः
बोद्धव्यं = ज्ञातव्यम् । किं ज्ञातव्यमत आह—मरणेति । निपतिष्यति = आ-
निप्यति ॥ ४ ॥

बवोति—मूर्खं मनुष्य के सामने तो प्रतिदिन हजारों शोक के स्थान एवं शै-
भय के स्थान (अरसर) उपरिपाठ हुआ ही करते हैं । परन्तु उनसे मूर्ख ल
ही विचलित होते हैं, परिट्टा नहीं ॥ ३ ॥

और भी—सगरी जीने को प्रतिदिन ठठकर विचारना चादिसे और
सावधान रहना चादि कि आग मृगु शोक भय आदि विपत्तियों में से कौन
निपति जानेगयी है । अर्थात् न जाने कब कौन निपति आगाए, अतः मुद्गि
मनुष्य को उसके लिए सदा सावधान रहना चादि ॥ ४ ॥

स च प्रच्छन्नो भूत्वा स्थितः । तस्मिन्नेव काले चित्रमीवनामा कपोतराजः
सपरिवारो वियति विसर्पस्तांस्तण्डुलकणानवलोकयामास । ततः कपोत-
राजस्तण्डुलकणलुब्धान्कपोतान्प्रत्याह—‘कुतोऽत्र निर्जने वने तण्डुल-
कणानां सम्भवः ? तन्निरूप्यतां तावन्, भद्रमिदं न पश्यामि । प्रायेणा-
नेन तण्डुलकणलोभेनाऽस्माभिरपि तथा भवितव्यम्—

‘कङ्कणस्य तु लोभेन मग्नः पट्टे मुदुस्तरे ।

धृद्व्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः स मृतो यथा’ ॥ ५ ॥

विस्तीर्णं = विस्तारितम् । प्रच्छन्नः = सुगूढः । वियति = आकारो । विस-
न् = गच्छन्, उड्डीयमानः । तण्डुलकणलुब्धान् = तण्डुलकणलभमन्वेषितुवान् ।
सम्भवः = प्राप्तिः सम्भावना । निरूप्यता = सम्यग्विलोक्यताम् । तावन् = प्रथमम् ।
तथा भवितव्यं’ मित्यस्य—‘पथिकः स मृतो यथे’त्यनेन ‘कङ्कणस्ये’ति श्लोकेन
हान्वयः ।

कङ्कणस्येति । हस्तभूषणविशेषत्वर्थः । (हाथ कंगन) । मुदुस्तरे = अति-
दुस्तरे । पट्टे = कर्दमे । (‘कीचट’ ‘दलदल’) ॥ ५ ॥ सः = कपोतराजः ।

इसके बाद उस घरेलिये ने चावल के कणों (दानों) को छींट कर अपना
जाह्न देना दिया और पास में ही वहीं झिपकर बैठ गया । उसी समय अपने
परिवार के साथ आकार में जाते हुए चित्रमीन नामक क्यूतरो के राजा की
नजर उन चावल के कणों पर पड़ी । तब वह कपोतराज चित्रमीन तण्डुलकण
लोभी क्यूतरो से बोला कि—इस निर्जन वन में भला चावल के कणों की
सम्भावना क्यों ? अतः इसको अच्छी तरह देखना चाहिये । मैं तो इसमें
हल्लास नहीं समझता हूँ । प्रायः इन चावल के कणों के लोभ से हम लोगों
भी वैशाही दरा होगी,—

जैसे कि एक पथिक की कङ्कण के लोभ से गहरे कीचट में फँस जाने पर

कपोता उचु—कथमेतत् ? । सोऽप्रवीत्—

(१) वृद्धव्याघ्र-लुब्धविप्र-कथा

अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपरयम्—एको वृद्धव्याघ्रः स्नात्
 पुत्राहस्तः, सरस्तीरे ब्रूते—‘भो भोः पान्याः ! इदं सुवर्णकङ्कणं गृह्यताम्
 ततो लोमाऽऽहृष्टेन केनचित्पान्थेनाऽऽलोचितं—‘भाग्येनैतत्सम्भव/
 विन्त्वस्मिन्नात्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न विद्येया’ । यतः—

अनिष्टादिष्टलामेऽपि न गतिर्जायते शुभा ।
 यत्राऽऽस्ते विपसंसर्गोऽमृतं तदपि मृत्यवे ॥ ६ ॥

पुत्ररन्तः=दर्मपतिप्रपाथिः । आलोचितं=मनसि विचारितम् । भाग्येन
 =अनुकूलेन विधिना । एतत्=रत्नभरणलामादिकम् । अस्मिन्=सुवर्णकङ्कण
 प्रत्ये । आत्मसन्देहे=जीविनसंशयप्रदे ।
 अनिष्टादिति । अशुभोपायात्, अदुष्केन मार्गेण, दुष्टाद्वा पुंशः । गतिः
 परिणतिः । शुभा=कल्याणकरी । यत्रेति । विपसंसृक्तममृतमपि मृत्युमदं
 मयनीत्यर्थः ॥ ६ ॥

श्रीर उसे बूढे व्याघ्र के द्वारा पकड़ जाने पर हुई थी (यद् मारा गया वा) ॥५॥

ये बभूवर् भोक्ते-महाप्राण । यह कहानी कितने है ! । कपोतराज कहने लगा—
 एक समय मैं दक्षिण के जंगल में चर रहा था, तो मैंने देखा कि एक बू
 धर स्नान कर, हाथ में पुत्रा रोमर, तालाब पर बंद रहा है कि ‘हे पथिक
 इस भूने के बङ्गु को को’ । इसके बाद एक पथिक (परोदी) आया श्रीर वं
 ने आहूट हो सोचने लगा कि ‘येमी माँ वसे भाग्य से प्राप्त होती है’ । (:
 ओचहर-) पान्थ इहमे जील का भी सुन्दर है, इनलिये इहमे प्रवृत्
 नती चादिष्ट ।

कथेहि-प्रश्ने त्रिदिवारक-(यत्) से इष्ट वस्तु मिलाने पर भी उपाय
 न मिलेगी नही होगा है । ऐसे प्रश्न में त्रिदिव का संयोग हो तो यह अमृत

किन्तु सर्वत्रास्योऽर्जने प्रवृत्तौ सन्देह एव । तथा चोक्तम्—

‘न संशयमनारुह्य नरो मद्राणि पश्यति ।

संशयं पुनरारुह्य यदि जीवति, पश्यति’ ॥ ७ ॥

सन्निरूपयामि तावत् ।’

प्रकाशं व्रूते—‘कुत्र सव फट्कणम् ?’ । व्याघ्रो हस्तं प्रसार्य दर्शयति ।

न्योऽवदत्—‘कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः ? ।

व्याघ्र उवाच—‘शृणु रे पान्य ! प्रागेव यौवनदशायामहमतिदुर्घृत्त

ऽसम् । अनेकगोमानुपाणां घघान्मे पुत्रा मृता, दाराश्च । वंशहीनश्चाहम् ।

वः केनचिद्दार्मिकेणाऽहमादिष्टः—

इत्थं विमूर्य, पुनर्लोभाकृष्टः स पान्यः कट्कणं जिवृत्तुर्विभावयति—किरित्वति ।

‘पार्जने = घनोपार्जने, तदुपाये च । सन्देहः = जीवितसन्देहः ।

मेति । संशयं = सन्देह, प्राणसन्देहम् । अनारुह्य = अननुभूय, अनवाप्य च ।

द्राणि = भेषांसि, मुखं, धनादि सम्पत्तिमेति यावत् । पुनः = किन्तु । संशयं =

यौवनशुद्धाम् । जीवति = जीवन्नेव संशयशोलाया यदि उत्तरति तर्हि—पश्यति =

पश्यं मद्राणि पश्यतीत्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्मात् = जीवितसंशयमारुह्यैव शुभस्य, सम्पदाश्च लाभस्य सम्भवाद्धेतोः ।

‘वदत् = आदेश । निरूपयामि = विलोकयामि, तत्त्वमेतत् जानामि । प्रकाशं =

वर्धभाष्यं । स्पष्टतरमुखैः स्वरेणेति यावत् । दर्शयति = कट्कणं प्रदर्शयति ।

‘मारात्मके = मृत्युरूपे, मृत्प्राण्ये, हिंस्रत्वभावे । ‘मारेऽनङ्गे मृतौ विन्ने’ इत्य-

नी मृत्यु का ही कारण होता है ॥ ६ ॥

(पुनः मन ही मन क्रुद्ध विचारकर—) किन्तु सब जगह धन कमाने के उपाय

तो सन्दिग्ध ही होते हैं । कहा भी है—

मनुष्य बिना संशय में पड़े कभी लाभ नहीं उठा सकता है, यदि संशय में

पड़ कर भी जीता सब जाता है, तो वह (लाभ का) मुक्त योग्यता है ॥ ७ ॥

'दानधर्मादिकं चरतु भवान्' इति । तदुपदेशादिदानीमहं स्नानशीलो,
दाता, मुहूर्तो, गलितनलदन्तः कथं न विश्वासभूमिः ? । यतः—

इज्याऽप्ययनदानानि, तपः सत्यं, धृतिः, क्षमा ।

अलोम इति मार्गोऽयं धर्मस्याऽष्टविधः स्मृतः ॥ = ॥

जपः । प्रागेष = इतः पूर्वमेव । धीवन्दरायां = युवाऽनस्थापाम् । अतिदुर्बलः =
निजरां दुष्कर्मा । धर्मिदेष्य = केनापि चर्मापदेशकेन, सदाचारेण वा । आदिष्टः =
अनुशिष्टः, उपदिष्टो वा ।

आदेशमेवाह—इति । धर्मः = तीर्थसेवनादिरूपः । आदिष्टदेन-दयादानादिकं
प्राप्तम् । स्नानशीलः = नित्यं धीर्यलाभी । नलानि च-दन्ताश्च नलदन्तं । प्रापयद्ग-
त्यादेकरत्नायः । गलितं नलदन्तं यस्यासी—गलितनलदन्तः = विशीर्णनलदन्तः ।
विश्वासभूमिः = विश्वासपात्रम् ।

इज्या = यज्ञः । धृतिः = धैर्यम् । मार्गः = पन्थाः । धर्मोर्जने उपाय-
भूतः ॥ = ।

इस तरह विचार कर वह पथिक उस व्याप से कहने लगा कि—अरे ! तेरा
वह कष्ट क्या करी दे, देले ? । वास ने हाथ पमार कर कष्टव्य दिखला दिया । तब
पथिक बोला—'तुम तो दिग्विजय हो, गुप्तारा में कैसे विश्वास करूँ ?' । व्याप
बोला दे पथिक ! मुझे, पहले गुप्तारथा में तो मैं बहुत ही दुराचारी था । अनेक
तो मालग्य और मनुष्यों के मारने से मेरे गुप्त और श्री सगं मर गये और अब
मेरे गंध में कोई नहीं रह गया है ।

तब शिमी धार्मिक ने मुझे उपदेश दिया कि तुम दान व धर्म किया करो ।
छाः टको के कहने से मैं निय स्नान करता हूँ और दान देता हूँ । और मैं अब
मुहा भी हो गया हूँ, मेरे नर दाँड इत्यादि भी सब गिर गये हैं, क्या अब भी मैं
विश्राम का पत्र नहीं हूँ ? ।

करोति—धर्म के अष्ट मार्ग हैं, यज्ञ करना, पढ़ना, दान देना, तपस्या
करना, धार शेरन, धीरता, क्षमा, और निर्वीम होना ॥ = ॥

तत्र पूर्वश्चतुर्वर्गो दम्भाऽर्थमपि सेव्यते ।

उत्तरस्तु चतुर्वर्गो महात्मन्येव तिष्ठति ॥ ९ ॥

मम चैतावाँल्लोभविरहो—येन स्वहस्तस्थमपि सुवर्णकङ्कणं यस्मै कस्मै चिदातुमिच्छामि ! । तथापि—'व्याघ्रो मानुषं सादती'ति लोकप्रवादो दुर्निवारः । यतः—

गताऽनुगतिको लोकः कुट्टनीमृपदेशिनीम् ।

प्रमाणयति नो धर्मे, यथा गोघ्नमपि द्विजम् ॥ १० ॥

तत्रेति । तत्र = अष्टविधे पूर्वोक्ते धर्ममार्गं । पूर्वश्चतुर्वर्गः = इज्याप्यपनतपो-
दानात्मकः । दम्भार्थं = लोकसहस्रह—लोकजञ्चनाद्यर्थमपि । सेव्यते = आभीयते ।
लोकैरिति शेषः । उत्तरश्चतुर्वर्गस्तु = सत्य-धृति-दाना-ऽल्लोभात्मको धर्ममार्गस्तु
इहात्मस्त्वेव सम्भवति, न ह्युदाशयेषु ॥ ९ ॥

लोकविरहः = अल्लोमः । लोकप्रवादः = लोके रुढं दुर्यशः । जनकोलाहलः ॥
गतेति । लोकः = जनः । जात्यभिप्रायेणैकरचनम् । गतस्य = भूतपूर्वस्य
वर्तिः—अनुगतम् = अनुसरणम्—गतानुगतं, तेन व्यवहरति—गताऽनुगतिकः
= अनादिगतुरिकामवाहानुमारी । पूर्वाचरितानुसरणप्रवणः । उपदेशिनीम् =
देशपराम् । धर्मपराम् । कुट्टनीं = शम्भलीं, कुलधाम् । धर्मे = धर्मविषये । नो
प्रमाणयति = तथा नाद्रियते । यथा गोघ्नमपि = यद्येऽविधिसत्कारादौ च गवां
घ्नमपि, द्विजं = ब्राह्मणं, प्रमाणयति = विधिसिति, आद्रियते । पूर्वमनाचार-
विदानी धर्मोपदेशपरामपि कुट्टनीं लोको धर्मे न प्रमाणयति, किन्तु यद्ये गवादि-

इन आठों में से पहले के चारों को (यश, पढ़ना, दान, तप, इन चारों को)
वाको दिलवाने के लिये पाठपढ़ी लोग भी कर सकते हैं, परन्तु अन्तिम चार
त्य, धैर्य, दान, अल्लोम-सन्तोष) का अनुष्ठान तो महात्मा लोग ही करते हैं ॥ ९ ॥
और देखो, मैं कितना निर्दोष हूँ, कि अपने हाथ का सोने का कंठ्य भी
किसी को दे देना चाहता हूँ । तथापि 'बाध मनुष्य को ला जाता है' यह
क (झोठ प्रसिद्ध) निन्दा (बदनामी) तो हमारी मिट ही नहीं सकती है ।
क्योंकि—संसार तो अन्धपरम्परा से ही चलने वाला है, देखो, लोग धर्मोपदे-
(धर्मपरामर्श) कुट्टनी को भी कभी प्रमाण नहीं मानते हैं, परन्तु ब्राह्मण यदि

मया च धर्मराक्षाख्यधीतानि । शृणु—
 'मरुत्स्थल्यां यथा वृष्टिः, जुषार्चो भोजनं तथा ।
 दक्षिणे दीयते दानं सफलं पाण्डुनन्दन ! ॥ ११ ॥
 प्राणा यथाऽऽत्मनोऽमीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
 आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः' ॥ १२ ॥
 अपरञ्च—
 प्रत्याख्याने च, दाने च, 'सुखे, दुःखे प्रियेऽप्रिये ।
 आत्मौपम्येन पुरुषः प्रमाणमधिगच्छति ॥ १३ ॥

नानारिषिपशृणुतारं मरुत्स्थलमपि द्विजमेव प्रमाणत्वेनाश्रयतीत्यहो गतानुगतिं
 क्षीरस्येति भावः ॥ १० ॥
 मर्षिति । 'पाण्डुनन्दन = हे सुविष्टिर । मरुत्स्थलां = मरुभूमौ । यथा वृष्टिः =
 यथा वृष्टिः सफलता, निनासमुचिता, तथा = तथैव । दक्षिणे = दक्षिण, यद्दानं दीयते
 एतदपि सफलं गन्तव्यव्ययः ॥ ११ ॥
 आत्मनः = स्वयम् । अमीष्टाः = प्रियाः । भूतानां = स्वातिरिक्तानां सर्वेषु
 जीवानामपि । ते = प्राणाः, तथा = तथैव प्रियाः । अत आत्मौपम्येन = स्वात्मा
 सुवर्मानं वृत्ता । साधवः = दयालवः ॥ १२ ॥
 प्रत्याख्याने इति । प्रत्याख्याने = प्रार्थनामन्त्रे, परनिरत्कारे वा । सुखे

गोपायक भी हो ती भी उसको प्रामाणिक समझते हैं । अर्थात् ससार वास्तविक
 अर्थ का विचार नहीं करता है, वह तो केवल लकीर का पकीर ही है ॥ १० ॥
 और मैंने धर्मराज भी पढ़े हैं । मुने—
 हे सुविष्टिर ! जैसे मरुत्पत्र (मारुत) में वर्षा सफल है और भू
 भोजन देना गन्त है, वैसे ही दक्षिण को दिया हुआ दान भी सफल होता है
 और जैसे मनुष्य अपने प्राणों को प्रिय समझता है, वैसे ही दूसरे
 को भी अपने-अपने प्राण प्यारे हैं । इसलिये मरुत्ताना क्षीण अपनी ही तर
 और भी भयङ्कर कर ममी पीने पर समान रूप से ही दया करते हैं ॥ १२ ॥
 और भी—प्रमाणदान (हेरे बुद्ध करे तो उसको दात देना, नारी =
 उपाय प्रियेऽप्रिये' इति पाठान्तरम् ।

अन्वय—

मातृवत्परदारेषु, परद्रव्येषु लोष्टवत् ।

आत्मवत्सर्वभूतेषु यः पश्यति, स पण्डितः ॥ १४ ॥

त्वं धाऽतीव दुर्गतस्तेन वस्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम् । तथा चोक्तं—

‘दरिद्रान्मर कौन्तेय, ! मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।

व्याधितस्पोषधं पथ्यं, नीरुजस्य किमौषधैः’ ? ॥ १५ ॥

पुत्रप्रदाने, दुःखे=क्लेशदाने, दुःखोत्पादने च । प्रिये=इष्टाचरणे, अग्रिये=प्रतिष्ठाचरणे च । आत्मभोग्येन=आत्मानमेव निदर्शनं कृत्वा । प्रमार्गं=निश्चयम् । अधिगच्छति=लभते । ‘इष्टासुखमनिष्टादुःखञ्चोत्पद्यते’ इत्यादिकं स्यात्प्रमार्ग्येन शब्दं शक्यते इति यावत् ॥ १३ ॥

मात्रिति । परदारेषु=परकलत्रेषु, मातृवत्=मातृभावेन यः पश्यति । लोष्टवत्=मृतकवदवत् । ‘पश्यती’ति शेषः । पण्डितः=तत्त्वज्ञः ॥ १४ ॥

दुर्गन्तः=दरिद्रः । वत्=कङ्कणम् । सयत्नः=यत्नवान् । कौन्तेय=हे कुन्तीपुत्र मुनिष्ठिर ! । मर=पालय । ईश्वरे=धनिनि । धनं मा प्रयच्छ=तस्मै धनं मा देहीत्यर्थः । व्याधितस्य=रुग्णस्य । पथ्यं=हितकारकम् । नीरुजस्य=रीगरुजस्य स्वरयस्य तु । औषधैः=मेधवैः । किं=किं फलं ? । न किमपीत्यर्थः ॥ १५ ॥

दान, पुत्र और दुःख में अर्थात् किसी को सुखी या दुःखी बनाना, किसी को मला डूरा करना, इन बातों से लोगों को क्रिना सुख या दुःख होता है, इसका अनुमान मनुष्य को अपने ऊपर ही करना चाहिए ॥ १३ ॥

और भी—जो मनुष्य दूसरे की क्रियाओं को अपनी माता की तरह समझे, दूसरे के द्रव्य को मिट्टी का टेला (डूकड़ा) समझे और प्राणिमात्र को अपनी ही तरह समझे, वही सच्चा पण्डित है ॥ १४ ॥

और हे पण्डित ! तुम अतिदरिद्र मालूम होने दो, इसी लिये मैं तुमसे ही कुछ देने के लिये इनका प्रयत्न कर रहा हूँ । क्या भी है—

हे कुन्तीपुत्र मुनिष्ठिर ! दरिद्रों का ही पालन पोषण करो, धनियों को दान मत दो, क्योंकि रोगी के लिये ही औषध कामदायक होता है, पर जो नीरोग है,

अन्यच्च—

‘दातव्य’मिति यदानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे, काले च, पात्रे च, तदानं सात्त्विकं विदुः ॥ १६ ॥

तदत्र सरसि स्नात्वा सुवर्णकङ्कणं गृहाण ।
ततो यावदसौ तद्वचःप्रतीतो लोभात्सरः स्नातुं प्रविशति, तावन्महा

पट्टे निमग्नः पलायितुमक्षमः ।
(सं) पट्टे पतितं दृष्ट्वा व्याघ्रोऽवदत्—‘अहह ! महापट्टे पतितं

ऽसि, अतस्त्वामहमुत्थापयामि ।’—इत्युक्त्वा शनैः शनैरुपगम्य ते
व्याघ्रेण धृतः स पान्थोऽचिन्तयत्—

न ‘धर्मशास्त्रं पठती’ति कारणं,
न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः ।

दानञ्च = मया अग्रपमिदं कमी चन सत्यायाय देयम्, इति = इति बुद्ध्या,
देशे = तीर्थादी, काले = पूर्वे-दुमदयादी । पात्रे = सत्याये, विदुषि, यदानं दीयते
कल्पादिभिरित्यन्वयः ॥ १६ ॥

तत् = तस्मात् । सरसि = सरोवरे । अक्षी = शन्यः । तद्वचसि = व्याघ्रवचने ।
प्रतीतः = विश्रुतः । ‘अक्षय’ इत्यस्य—‘अभू’दिनि शेषः । उपगम्य = समी-
गत्वा । धृतः = आक्रान्तः । इति इति वाच्यं ॥
मेति । दुरात्मनः = दुष्टराजस्य । रामादपरिवर्तने, कारण = हेतुः

उनको शीघ्र (दात) की क्या आशयकता है ? ॥ १५ ॥

श्रीर भी—‘मुझे यह देना है’ इन बुद्धि से जो दान—देश, काल, व
समय कर अनुपकारी (जिससे अरना कुछ लाभ व स्वार्थ न हो) को वि
षय है, वही सात्त्विक (सत्या) दात है ॥ १६ ॥

इति श्रिये मुन इम तात्पर्य मे ज्ञान करके इम मुन्यं के वक्ष्य को से लो ।
प्रकार बाप की मंत्री व वाने मुनकर वद पमिद उसका निःसाग कर वयोरी व
करने के श्रिये तात्पर्य मे उक्त श्रिये की वद में वैन मदा श्रीर निकर न स
उमको की वद में निमा देगकर ‘अन्ना मे निद्वन्द्व ग दू’ येगा वदकर वं
उमके पास जाकर उम वन्द ने उम वदिक को पदद लिपा ।
एव वद वदिक करने मा मे विचरने उगा, इ—

स्वमात्र एवाऽत्र तथाऽतिरिच्यते,

यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥ १७ ॥

किञ्च—

अशोन्द्रियचित्तानां हस्तिस्नानमिव क्रिया ।

दुर्मंगाऽऽभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना ॥ १८ ॥

शास्त्ररठनं, वेदाध्ययनं वा दुष्टानां स्नानानां दुष्टात्मना स्वमात्रपरिवर्तने न शक्यं नि, स्वमात्रस्य सर्वतो बलवत्त्वात् । अतएव हि कटुकपायप्रायतृष्णादिभक्षणेऽपि, पयः = दुग्धं स्वभावेनैव मधुरं भवति, एव—मधुरस्य.पानेऽपि भुञ्जन्तानां गवतो नियमेव भवति, नाऽमृतमिति भावः ॥ १७ ॥

अथवा इति । अवशानि इन्द्रियाणि, चित्तं च येरन्ते, तेषाम्—अशोन्द्रिय-
चानाम् = निरवग्रहेन्द्रियस्वान्तानां पुंसाम् । क्रिया = धर्माचरणार्थिकं कर्म ।
स्नानमिव = गजस्नानमिव, —निष्कलम् । स्नानानन्तरमेव धूलिप्रक्षेपादिना पुन-
त्ननो मलिनतापादनात् । दुर्मंगाया आभरणानीव—दुर्मंगाभरणप्रायः = दुष्ट-
मांस्य—स्त्रीधारितभूषणयत्, ज्ञानं = विद्या, क्रियां विना = तद्विहिताचरण विना, भार
ः । दुर्मंगाभूषणमरणैः पत्त्यादिमनोरञ्जनाऽऽनानाद्भारवत्सर्वं तस्याः ह्येवमदमेव ।
या नानाभरणभूषिताऽपि ललु यन्ध्या, दुष्टा कुरूषा वा स्त्री न शोभते, न वा
॥ पशुमनः प्रीणानि, एवं नवनानपि तदुत्पाचारसत्यो नैव शोभते इत्याशयः ।
एव प्रायशब्दो बाहुल्येऽप्ययम् । अकारान्तो वा प्रायशब्दः पुंसि । दुर्मंगाया
रणं = पालन, तत्तुल्यं निष्कलमिति वाऽर्थः ॥ १८ ॥

धर्मशास्त्रे य वेद पदने से ही अथवा कया धार्ता, उपदेश आदि मुनने से ही
देई दुष्ट सत्रन नही हो जाता है, किन्तु सत्रन तो स्वमात्र ही है सत्रन होते हैं ।
तो, गाय का दूध स्वमात्र ही से मीठा होता है ॥ १७ ॥

• और भी देखो—जिन मनुष्यों की इन्द्रियाँ और चित्त वश में नहीं है, उनका
उपकार हाथी के स्नान की तरह ही निष्कल है । (हाथी स्नान करके भी अपने
प्रार धूल फेंक कर अपने को पुनः मलिन कर लेता है) । और जो लोग अपने
ज्ञान का उपयोग नहीं करते, उनका ज्ञान भी दुर्मंगा (परिपरित्यक्त अथवा
विधरा) स्त्री के भूषण की तरह भारमात्र ही है ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

३८

तन्मया भद्रं न कृतं यत्-अत्र मारात्मके विश्वासः कृतः । तथा
 भुक्तम्— नदीनां, शस्त्रपाणीनां, नखिनां, शृङ्गिणान्तथा ।

अपराध— सर्वस्य हि परीक्ष्यन्ते स्वभावा, नेतरे गुणाः ।
 अतीत्य हि गुणान्सर्वान्स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते ॥ १६ ॥

अन्यत्थ— स हि गगनविहारी, कल्मषघ्नंसफारी,
 दशशतकरधारी, ज्योतिषां मध्यचारी ।

नदीनामिति । नदीनाम् = आपगानाम् । शस्त्रपाणीनां = शरीरयस्त्राणाम् ।
 नखिनां = नखयुवानां तिहादीनाम् । शृङ्गिणां = शृङ्गायुवानां गोशृपमादीनाम् ।
 त्रीणु = पुत्रितु । रामकुलेषु च = रामकुलेषु च, विश्वासः = 'मदरागा इमे' इ'
 विश्रम्भो, नैव कर्त्तव्यः = न त्रिवेद्य इत्यर्थः ॥ १६ ॥
 सर्वंवेति । सकलस्वापि = गुणिलो, निर्गुणस्य वा, स्वभावाः = प्रद'
 सत्कारादयः । इतरे = निद्रान्दोषाद्युपश्रित्यादयो = गुणाः । 'न परीक्ष्यन्ते' इति ।
 रंगः । कुन पतदत आर = प्रतीयेति । सर्वान् गुणान्-प्रतीये = प्रतिप्रभ्य,
 रामाः = प्राप्तिरेव, मूर्ध्नि = सर्वेषां गुणानामुपरि, वर्त्तते = प्रपयतीत्यर्थः ॥ २० ॥
 स इति । सः = निहोरीप्रसिद्धः । गगनविहारी = आकाशयत्रारी । कल्मष

इस विषये मैंने यह प्रश्न नहीं दिया जो इस दिक्क जन्तु का विश्वास
 दिया । किमी ने कहा भी है—
 नदियों का, शस्त्रधारी मनुष्यों का, नख और शीत वाले जन्तुओं का, त्रियों
 का और रामकुल का (रामा, रानी, रामपुत्र आदि का-) विश्वास कभी नहीं
 करना चाहिए ॥ १६ ॥
 श्री श्री—मनुष्यों के नदियों को छोड़ प्यार न देकर उनको हमारा ही
 ही परीक्षा करनी चाहिए । कृष्ण कि गुणों को प्रदेहा रामा ही सबसे ऊपर रखा
 है । प्रद' का भाव ही सब में प्रपान है ॥ २० ॥
 और श्री—आकाश मार्ग में विश्वास करने वाले, अन्यकार को नाश करने

विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ,
लिखितमपि ललाटे प्रोज्झितुं कः समर्थः' ॥ २१ ॥

—इति चिन्तयन्नेवाऽसौ व्याघ्रेण व्यापादितः, रसादितश्च । श्वतोऽहं
प्रवीमि—'कङ्कणस्य तु लोभेन'—इत्यादि । ॐ ।

अतः सर्वथाऽविचारितं कर्म न कर्त्तव्यम् । यतः—

सुजीर्णमन्नं, सुविचक्षणः सुतः,

सुरासिता स्त्री, नृपतिः सुसेवितः ।

सुचिन्त्य चोक्तं, सुविचार्य यत्कृतं,

सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ २२ ॥

अन्नकारी—अन्नकारिणाऽशकः । इच्छतःकरधारी—सहस्रक्रियः । ज्योतिषां =
ताराणां । मध्यचारी = मध्यवर्ती । असौ विधुरपि—चन्द्रोऽपि । विधियोगात्—
दैवविपर्ययात् । किरितं = निघात्रा लिखितम् ॥ २१ ॥

असौ = पथिकः । व्यापादितः—इतः ।

अतः = लोभस्य सर्वापत्तिहेतुत्वात् । न कर्त्तव्यं = लोभात्सहसा कार्यं नाऽनुष्ठे-
यम् । अतीतरान्नचनमेतत् । सुजीर्णमिति । सुजीर्णं = सुवस्त्रम् । सुविचक्षणः =
निर्गतं सिद्धितो विद्वान् । सुतः—पुत्रः । सुरासिता—सुरां ताडनादिना वशे
स्थापिता । सुदीर्घकालेऽपि—गतेऽपि बहुतिथे काले । विनिषां—विकारम् । न
यानि—विद्वतं न भवति ॥ २२ ॥

वाले, हमारी किरणों वाले, तारागण के मध्य में विहार करने वाले चन्द्रमा
को भी माध्यम राहु ग्रह लेना है । ठीक ही है, माध्य में लिली हुई विधि को
रेखा को कोई भिन्न नहीं सकता है ॥ २१ ॥

यह पथिक ऐसा सोच ही रहा था, कि यह बाप उसको मार कर ला गया ।
इसी लिये मैंने (चित्रगोत्र ने) कहा है, कि—'कङ्कण के लोभ से' इत्यादि ।
इसलिये मर्ली मूर्खी विचारे बिना कोई काम नहीं करना चाहिए । क्वोकि—मर्खी
गौत्रि पका हुआ अन्न, बुद्धिमान् पुत्र, सिद्धि स्त्री, अन्धही तरह से सेवित राजा,

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

एतद्वचनं श्रुत्वा पश्चित्कपोतः सदर्पमाह—‘आः ! किमेवमुच्यते ?।
 ‘वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते ।

‘सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्तनम् ॥ २३ ॥

यतः—

शङ्कामिः सर्वमाक्रान्तमन्नं, पानञ्च भृतले ।

प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या ? जीवितव्यं कथं नु वा ? ॥ २४ ॥

ईर्ष्या, घृणी त्वसन्तुष्टः, क्रोधनो, नित्यशङ्कितः ।

परभाग्योपजीवी च, पडेते दुःखभागिनः ॥ २५ ॥

सदर्वे=सागृह्यं, सगर्वम् । आः—इति निररहारे । वृद्धस्येति । प्राक्षं =
 स्वीकार्यम् । आपत्काले = विपत्तिसमये । उपस्थिते=प्राप्ते सति । सर्वत्र = सर्वैः
 कार्येषु । एव विचारे = वृद्धवचनानुसारेणैव सुविचार्यैव प्रवृत्तौ नु । अप्रवर्तनम् =
 अप्रवृत्तिः स्यादित्यर्थः । ‘विचारेणे’ति पाठान्तरम् ॥ २३ ॥

भोजनादायप्रवृत्त्यापत्तिमेव द्रष्टवति—शङ्कामिति । अन्न = भक्ष्यम् । भोजनम्
 शङ्कामिः = यातचित्तकृत्वादिज्यरोगादिशङ्कामिः । कथं नु = केन प्रकारेण ? ॥ २४ ॥
 हर्षीति । ईर्ष्या = ईर्ष्यालुः । घृणी = घृणाशीलः । क्रोधनः = क्रोधी । नि

छेद्य कर कही हुई बात और विचार कर लिया हुआ काम,—ये सब कमी बिगड़ते
 नहीं है (कमी हानि कारक नहीं होते हैं) ॥ २२ ॥

यह गुणधर उनमें से एक कन्नूर बड़े यमरुड से बोलता—श्रोत ! यह आप
 क्या करने हैं ! ।

आरति के समय में ही वृद्धों का वचन मानना चाहिये । सब जगह ऐसा
 विचार करने से तो फिर भोजन में भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है ॥ २३ ॥

करोरि—गंगा में सभी बातें शङ्का से मरी हुई हैं, फिर कहीं प्रवृत्ति की
 जाय और कहीं प्रवृत्ति न की जाय और किसी प्रकार जीवन निर्वाह किया जाय ? ॥
 क्या भी है—दूसरों से ईर्ष्या करने वाला, घमन्तोषी, मोरी, सदा सन्देह

१. ‘वृद्धस्ये’ति ‘विचारे न भोजनेऽपि प्रवर्तन’िति च पाठान्तरम् ।
 २. ‘उत्प्रे’ ।

—एतच्छ्रुत्वा सर्वे कपोतास्तत्रोपविष्टाः ।

यतः—

सुमहान्त्यपि शास्त्राणि धारयन्तो बहुश्रुताः ।

छेतारः संशयानां च क्लिरयन्ते लोभमोहिताः ॥ २६ ॥

अन्यत्र—

लोभात्क्रोधः प्रभवति, लोभात्कामः प्रजायते ।

लोमान्मोहश्च नाशश्च, लोभः पापस्य कारणम् ॥ २७ ॥

शक्तिः=सर्वज्ञ, सर्वत्र शक्तिः । परमाम्बोपजीवी=परान्नभोजी, पराधीनः ।

दुःखभागिनः=एते पटु जनाः सर्वदा दुःखिता एव भवन्ति ॥ २५ ॥

सर्वे = चित्रमीनप्रमुखाः सर्वेऽपि । तत्र = जालोपरि निकीर्येणु तण्डुलकण्येणु ।

उपनिष्टाः = स्थिताः । जालोपरि स्थिता इति यावत् ।

ननु नीनिशास्त्रकुशलश्चित्रमीयोऽपि कथं तत्रोपविष्टोऽत आह—सुमहान्तीनि ।

सुमहान्ति = सर्वसंशयोन्धेदकानि, सुगूढत्वानि । बहुश्रुताः=व्यवहारपटवो, नीति-

विद्वश्च । संशयानां = परसंशयानां, छेतारः=निराकरिष्यन्वः । लोभमोहिताः सन्तः

—क्लिरयन्ते=दुःखमनुमनन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

लोभादिति । प्रभवति=प्रवर्तते, प्रयदते च । प्रजायते=उत्पद्यते, प्रयदते

च । लोभात्—मोहश्च, नाशश्च । 'उपजायते' इति शेषः । अतो लोभः पापस्य

कारणमित्यर्थः ॥ २७ ॥

करने वाक्ता, दूसरे के आभय से जीने वाक्ता, ये छः प्रकार के मनुष्य सदा दुःखी ही रहते हैं ॥ २५ ॥

पह मुनकर ये सब क्यूतर अपने राजा का यत्न नहीं मानकर उस जाल पर (दाना खाने) बैठ गये ।

दिली ने कहा मी है—वहे २ शास्त्रों को पढ़ने वाले, बहुत पापों को जानने वाले, सब प्रकार के धर्मों को दूर करने वाले लोग भी लोभ में पट कर दुःख भोगते हैं ॥ २६ ॥

और भी—लोभ ही से क्रोध उत्पन्न होता है, लोभ ही से काम उत्पन्न होता है और लोभ ही से मोह (भ्रमण) भी उत्पन्न होता है और लोभ ही से मनुष्य का नाश भी होता है, अतः लोभ ही सब पापों का मूल कारण है ॥ २७ ॥

अन्यच्च—

असम्मवं हेममृगस्य जन्म,
तथापि रामो लुलुभे मृगाय ।

प्रायः समापन्नविपत्तिकाले
धियोऽपि पुंसां मलिना भवन्ति ॥ २८ ॥

अनन्तरं ते सर्वे जालेन यद्वा बभूवुः । ततो यस्य वचनात्त्राडवल-
म्बितात् सर्वे विरस्तुर्वन्निव । यतः—
न गणस्याऽग्रतो गच्छेत्सिद्धे कार्ये समं फलम् ।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते ॥ २९ ॥

असम्मवमिति । हेममृगस्य = स्वर्णमृगस्य । जन्म = उत्पत्तिः । असम्मवयम् =
सम्माननादिपवीभूतमपि न भवति । तथापि रामः = सफलशाननिधिर्मंगलान् दारा
रथिरपि । मृगाय = स्वर्णमृगमादायुं । लुलुभे = लोभात्तं हन्तुं जगाम । प्रायः =
बाहुल्येन । समापन्नाः = सज्जिताः—या विपदा, तासां कालः = समयः, तस्मिन् ।
पुंसां = त्रिकिनामनि । धियोऽपि = नवयोऽपि । मलिनाः = गज्जानिकाः, कुशिताः ।
भवन्ति = भावन्ते । 'ही सर्वपापी'नि शेषः ॥ २८ ॥
अनन्तरम् = उपरोचनाभ्यन्तरम् । यस्य = क्वचित्शिशोपस्य । तत्र = जाले ।
अपनयिताः = उपजिताः, बडाश्च । तं = श्वेतम् ।
भेदि । गणस्य = सदास्य । अत्राः = अत्रे । कार्ये = कर्तव्ये कर्मणि । गिद्धेः
निलभे सति । समं = दुस्त्वम् । कार्यविपत्तिः = कार्यशक्तिः । मुखरः = अमणी
प्रसक्तश्च । हन्यते = कथ्यते । विगन्तयते च ॥ २९ ॥

कीर भी—मंते के मृग का होना बर्तन असम्मव है, तथापि मंगल
शमयन्त्रभी महाराज भी छोले के मृग के लोभ में पड़ गए थे। टीक ही है—
निश्चि काल सञ्चि होने पर मनुष्यों की बुद्धि भी मन्दिन हो जाती है ॥ २८ ॥
हम प्रकार के सब कष्टर लक्ष में पड़ गये। तब निश्च कष्टर के करने से थे
सब बर्तन बैठे दे, उमहो हां सब मज्जा-पुग करने लगे ।
कदा भी है—हिन्दी कार्य में सबके जाने कभी नहीं होना चाहिये, क्योंकि कार्य

तथा चोक्तम्—

आपदां कथितः पन्था इन्द्रियाणामसंयमः ।

तज्जयः संपदां मार्गो, येनेष्टं तेन गम्यताम् ॥ ३० ॥

तस्य तिरस्कारं श्रुत्वा चित्रमीव उवाच—नाऽयमस्य दोषः । यतः—

आपदामापतन्तीनां हितोऽप्यायाति हेतुताम् ।

मातृजहा हि वत्सस्य स्तम्भीभवति बन्धने ॥ ३१ ॥

आशामिति । इन्द्रियाणाम् = चक्षुरादीनाम्, असंयमः = अनिग्रहः, आपदां = विपदां, दुःखस्य च, पन्थाः = मार्गः । कथितः = नीतिविद्भिः प्रोक्तः । तज्जयः = इन्द्रियनिग्रहश्च । संपदां = सम्पत्तीनां, कल्याणस्य च, मार्गः = पन्थाः । येन = येन पथा, इष्टम् = अभीष्टसिद्धिः, तेन गम्यताम् । यदि विपत्तिरभीष्टा तर्हि इन्द्रियाऽसंयममार्गेण गम्यताम्, अथ सम्पदभीष्टा तर्हि इन्द्रियजयोऽनुशीयतामिति भावः । पदा—येन इष्टं = सुखं भवेत्, तेन = इन्द्रियजयमार्गेण, गम्यतामित्यर्थो बोध्यः ॥ ३० ॥

तस्य = तदपुत्रककथ्यमन्त्रयो प्रवर्तकस्य कपोतरय । अयम् = जालबन्धनरूपः । दोषः = अपराधः ॥

आशामिति । आपतन्तीनाम् = आगच्छन्तीनाम् । हितः = हितकारकः प्रियो-
गि, हेतुतां = कारणताम् । आयाति = प्राप्नोति । आगच्छतीति वा । हि =
यतः । मातृजहा = मातृगोत्रं जहाकारयम् । वत्सस्य = स्वबालवत्सस्य, स्तम्भी-
भवति = गोदोहनकाले तत्र प्रायो वत्सस्य बन्धनाद्बत्सबन्धनस्तम्भतां याति । बन्ध-

की सिद्धि होने पर तो पल में समानता ही रहनी है, परन्तु यदि देवात् कार्य में कोई विग्रह हो गया तो पहिले अगुश्रा ही मारा जाता है ॥ २६ ॥

कहा भी है—इन्द्रियों को अपने दम में न रखना विपत्ति का मार्ग है । और इन्द्रियों को दम में रखना ही सम्पत्ति का मार्ग है । जिस रास्ते से इच्छा हो पाओ ॥ ३० ॥

उस कबूतर का इस प्रकार अनादर होना देख कर कपोतराज चित्रमीव बोले, हि-गति दो, इसमें इस विचारे का कुछ भी दोष नहीं है ।

कपोति—विपत्ति जब आने वाली होती है, तब अपना धिर भी उस आने वाली आगति का कारण हो जाता है । जैसे बड़बड़े के बाँधने के लिये कभी २

अन्यथा—

स चन्वुर्यो विपन्नानामापदुद्धरणक्षमः ।

न तु भीतपरित्राणे 'यस्तूपालम्भपरिदहतः ॥ ३२ ॥

विपत्काले विस्मय एव कापुरुषलक्षणम् । तदत्र धैर्यमवलम्ब्य प्रतीकारश्चिन्त्यताम् । यतः—

विपदि धैर्यमथाऽभ्युदये क्षमा,

सदासि वाक्पटुता, युधि विक्रमः ।

नोरुत्तराण्यनुभावं भगनीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

स इति । यो विपन्नानां = विपद्ग्रस्तानाम्, आपदुद्धरणे = विपत्तिनिरासे, क्षमः = शक्तः, स एव चन्वुः = मुच्यते । यस्तु-भीतपरित्राणे = विपन्नरक्षणायसरे, उपानामपरिदहतः = नानारिपनत्तिरस्कारवाक्यप्रयोगविद्यारदः । न तु = नैव चन्वुः ।

अभ्युत्तान्नाम्भपरिदहत इति पाठे तु 'भीतपरित्राणमेव यस्तु = कार्ये, तरय अव-
सरे-उपानामपरिदहतः = 'त्वयेथं कुतः कृतम्, मूलोऽस्तीत्यादितर्जनपर' इत्येवं
व्याख्येयम् । यद्वा-भीतपरित्राणे-तदवसरे, यस्तूपालम्भे = स्तलानहेतूपालम्भे
परिदहत इत्यर्थः । (चन्वुः = कारणावलापः) ॥ ३२ ॥

विस्मयः = अचैर्यम्, म्याजुक्तम् । किञ्चर्तव्यमिन्दतेति यावत् । कापुरुष-
लक्षणं = कुत्सितपुरुषविहम् । कातरलक्षणमिति यावत् । तत् = तस्मात् । अय =
विरिदि । प्रतीकारः = अस्कारणोपायः । चिन्त्यतां = विभाषयात् ।

विरिदिति । महाप्रमादां = महापुरुषगणान्-इदं प्रवृत्तिदिदं = स्वभारगिदमेव ।

(दूष दूरी समय) उग्रही भागा (भाव) की उद्गा भी रट्टे (लम्भ) का
काम देती है ॥ ३१ ॥

श्रीर भी—निश्च यही है, जो विपत्ति में पड़े हुए प्राणियों को धारण से
सहाय्य में मगनां ही । श्रीर जो मयभीत य विपत्तिग्रस्त की रक्षा करने के समय स्वास्ती
उत्पन्ना देने में धरने चर्तव्य की मगनां समभता है पर निश्च नहीं, किन्तु
बद यत्तु है ॥ ३२ ॥

विरिदि में परवृत्ता उत्तर पुरुषों का लक्षण है । इमत्तिर भीरज धारण करके
इम विरिदि में लूटने का क्रम उदाय सोचना चाहिये ।

१. 'भीतपरित्राणम्भपरिदहत'ति पाठः न्येव एवमेव ।

यशसि चाऽमिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ,
प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥ ३३ ॥

सम्पदि यस्य न हर्षो, विपदि विपादो, रणे च धीरत्वम् ।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम् ॥ ३४ ॥

अन्यथ—

पङ् दोषाः पुरुषेणोह हातव्या भृतिमिच्छता ।
निद्रा, तन्द्रा, भयं, क्रोध, आलस्यं, दीर्घसूत्रता ॥ ३५ ॥

न्तदित्यत आह—विपदोति । धैर्यं=धैर्यमगलम्य तत्प्रतीकारचिन्तनम् । अस्मु-
दे=सम्पत्तौ । क्षमा=परानुग्रहः । अभिमानविरहश्च । सदसि=सभायां, वाक्-
श्रुता=वाक्याद्यं, यचनचातुरी । युधि=युद्धे, विक्रमः=परानुग्रहः यशसि=
कीर्त्तौ, इच्छा=अभिलाषः, यशोभनत्वमिति यावत् । श्रुतौ=शास्त्रे, व्यसनम्=
निर्हेतुसोऽनुरागः ॥ ३३ ॥

सम्पत्तीति । हर्षः=प्रमोदः, गर्वंश्च । विपादः=दुःखं, वैकृत्यं, तम्=अनु-
त्तिकमकातरं, निर्भयञ्च । भुवनत्रयतिलकं=लोकत्रयरत्नम् । विरलं=व्यभिदेव ।
एतन्मेष ॥ ३४ ॥

हातव्याः=परित्याग्याः, भृतिम्=ऐश्वर्यम् । इच्छता=वाञ्छता । तन्द्रा=
प्रमीला (कंघना) । दीर्घसूत्रता=चिरकृपता (टीलापन) । 'दीर्घसूत्रधिरक्रियाः'
इत्यमरः ॥ ३५ ॥

क्योकि—विपदि में धीरता, उन्नति होने पर नम्रता, समा में बोलने की
शक्ति, युद्ध में धीरता, कीर्त्ति की इच्छा और शास्त्रों के अभ्यास में व्यसन, ये सब
महात्माओं के स्वभावसिद्ध गुण हैं ॥ ३३ ॥

और जिसकी सम्पत्ति में विशेष हर्ष न हो, विपदि में विपाद न हो युद्ध में
धीरता हो—ऐसे भुवनत्रय के तिलकरूप पुत्र को निरली ही मातार्ये उत्पन्न
एतौ हैं ॥ ३४ ॥

और भी—निद्रा (अधिक सोना), तन्द्रा (कंघना) दर, क्रोध, आलस्य,
निर्दयता (योद्धे समय में होने लायक काम को बहुत देर में करना)
तो की अपनी उन्नति चाहने वाले अपने

इदानीमत्येवं कियतां,—सर्वैरेकचित्तीभूय जालमादायोद्दीयताम् ।
यतः—

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।
वृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तितः ॥ ३६ ॥

संहतिः श्रेयसी पुंसां स्वकुलैरल्पकैरेषि-
तुपेणाऽपि परित्यक्ता न प्ररोहन्ति तण्डुलाः । ॥ ३७ ॥

—इति विचिन्त्य पक्षिणः सर्वे जालमादायोत्पतिताः ।
अनन्तरं स व्याधः सुदूराज्जालाऽपहारकांस्तानवलोक्य पश्चाद्वाच-

नविन्दतान्—

इदानीमपि=ज्ञानेन वन्दे सर्वान् । विचिन्तिपातेऽपि । एवम्=इत्थं, वक्ष्य-
माणप्रकारेण । एकचित्तीभूय=एकमत्येन सङ्गीभूय । अल्पानां=त्वल्पानाम् ।
निर्वहानामपि, संहतिः=सङ्घः । गुणरामापन्नैः=संहत्या रगुणं प्राप्तेः । मत्त-
दन्तितः=मत्तदन्तितान् गन्नेन्द्रा अपि ॥ ३६ ॥

संहतिरिति । श्रेयसी = फलदायकप्रदा । अल्पकैरेषि = स्वल्पकैरेषि । वृणैरेषि
स्वकुलैः=स्वकुलैरेषि, गुणादिभिः हीनाः । तण्डुलाः = पान्यकणाः । न प्ररोहन्ति
नादुरिता मन्ति ॥ ३७ ॥

उत्पतिताः = गगने उद्भूयिताः । जालापहारकान् = जालमादायोत्पतिता-
तान् = वन्दे तान् ।

अ३: इस समय हम लोग ऐसा करें कि हम सब लोग एक साथ इस
को लेकर आवाय में उड़ चकें ।

बध्नेति—एक ही २ वस्तु भी एक साथ मिलने पर कार्य साधक हो जाती
देगी—गुण (पाप पुण) भी जब एकत्र होकर रहती बन जाने हैं, वन
एक ही भी बंध सको हैं ॥ ३६ ॥

और करने कुछ के लुटे २ लुगा की भी सगति अन्धी रोती है
पान्य भी अन्न के लुके (भूतो) से अन्न होने पर उग ही नती
(अन्न ही नहीं हो सको है) ॥ ३७ ॥

इसको लेकर वे सब पदी जात्र लेकर आवाय में उड़ गए । इससे

‘संहतास्तु हरन्त्येते मम जालं विहङ्गमाः ।

यदा तु विवदिष्यन्ति वशमेष्यन्ति मे तदा’ ॥ ३८ ॥

सतमतेषु चतुर्विंशत्यतिक्रान्तेषु पक्षिषु स व्याधो निवृत्तः ।

अथ लुब्धकं निवृत्तं दृष्ट्वा कपोता ऊचुः—‘स्वामिन् ! किमिदानीं कर्तुं-
मुचितम् ?’ चित्रप्रीय उवाच—

‘माता, मित्रं, पिता चे’ति स्वभावाच्चित्रतयं हितम् ।

कार्यकारणतश्चाऽन्ये भवन्ति हितबुद्धयः ॥ ३९ ॥

संहता इति । इमे विहङ्गमाः संहताः=मिलिताः सन्तो मे जालं यद्यपि
सम्प्रति हरन्ति, तथापि यदा तु विवदिष्यन्ति=परस्परं कलहं करिष्यन्ति, तदा
मे वशमेष्यन्तीत्यर्थः । ‘निपतिष्यन्ती’ति पाठेऽपि=कलहायमाना, अन्यथा वा
निपतिष्यन्तीत्यर्थो बोध्यः ॥ ३८ ॥

सतः=सदनन्तरम् । चतुर्विंशत्यं=त्रैविंशत्यम् । अतिक्रान्तेषु=अपगतेषु ।
त्रैविंशत्यं=त्रैविंशत्यम् इति यावत् । लुब्धकं=व्याधं, निवृत्तं=अपगतम् ।

स्वामिन्=प्रभो चित्रप्रीय । । इदानीं=व्याधे निवृत्ते सति । कर्तुंमुचितं=
विधातुं योग्यम् । स्वभावात्=प्रवृत्त्यै । हितं=हितकारकम् । अन्ये तु=एतच्चित्र-
तयातिरिच्यते । कार्यकारणतः=कार्यकारणप्रसङ्गेनैव । किमपि कार्यं, कारणं वा
उद्दिश्यैव । हितबुद्धयः=हितकारका भवन्ति ॥ ३९ ॥

व्याध उनको जाल से जाते देख कर उनके पीछे दौड़ा और सोचने लगा कि—
ये सब पक्षी इस समय तो मिलकर मेरे जाल को तो जाते हैं, पर जब वे
उड़ते हुए गिरेंगे तो मेरे हाथ अवश्य आवेंगे ॥ ३८ ॥

इसके बाद जब वे क्यूँतर उस व्याध की दृष्टि के चारों ओर हो गये (दूर चले
गये) तब वह व्याध निराश होकर लौट गया । उसको बापिस गया देख कर
क्यूँतर बोले ‘दे प्रभो ! अब हमें क्या करना चाहिए’ ? । तब वह चित्रप्रीय बोला—
माता पिता और मित्र ये तीनों स्वभाव ही से हित चाहते हैं, परन्तु दूसरे
को भी तो कार्यवश ही हितैरी तुम्रा करते हैं ॥ ३९ ॥

तदस्माकं मित्र हिरण्यको नाम मूर्धिका राजो गण्डकीतीरे चित्रवने
नेवसति, सोऽस्माकं पाशांश्चेत्यति ।' इत्यालोच्य सर्वं हिरण्यकविषर-
समीपं गताः ।

हिरण्यकश्च सर्वदाऽपायशङ्कया शतद्वारं विवरं कृत्वा निवसति ।

अनागतमयं दृष्ट्वा नीतिशास्त्रविशारदः ।

अवसन्मूर्धिकास्तत्र वृद्धः शतमुखे विले ॥

ततो हिरण्यकः कपोताऽवपातभयाच्छक्तस्तूर्णो स्थितः । चित्रप्रीव
उवाच—'सखे हिरण्यक ! किमस्मान्न संभाषसे ?' ।

ततो हिरण्यकस्तद्वचनं प्रत्यभिज्ञाय, ससम्भ्रमं यहिर्निःसृत्याऽप्रपीव-
'आः ! पुण्यधानसि, प्रियमुद्गन्मे चित्रप्रीवः समायातः ।

तद्व=तस्मात् । मित्र=मुहूर्त् । पाशान्=जातपाशान् । अपायशङ्कया =
निःशयशङ्कया । विवरं=विलम् । अनागतमयम् = अनागतामपि विपत्तिं, दृष्ट्वा=
निभाष्य । तत्र=चित्रवने ॥ कपोतावपातभयात्=कपोतभूमिनिपतनजनितं
शब्दं भुत्वा भयात् । तन् । अक्षितः=पतितः । तूर्णो=भीनमालम्ब्य । तद्वचनं=
नियम्य चित्रप्रीवस्य वचनम् । प्रत्यभिज्ञाय='मित्रस्यैव मे इदं वचनं'-मिति
रिज्ञाय । ससम्भ्रमं=सहस्रम् । आः=इति हर्षे । पुण्यशान्=माभयशान्ति ।

अनः—हमारा एक मित्र हिरण्यक नाम का गुरो का राजा गण्डकी नदी के तट
पर चित्रवन में रहता है । वह करने दोरी से हम लोगों के पास को काट देता
थेना पतागर्त कर में सब कनो । हिरण्यक पूरे के विवर (विश्व) के पास गये
रुद्ध हिरण्यक भी निपत्ति के मय से अपने मित्र में शो द्वार बनाकर यहाँ रह
गा । यह हिरण्यक गुरो के गिने के शब्द को सुनकर आश्चर्य में पड़ गया अ
मारे करके शुरके से दबक कर बैठ गया । तब चित्रप्रीव बोला—हे मित्र हिरण्यक !
हम लोगों से कहीं नहीं बँगते हो ? । तब हिरण्यक उसके वचन को परधान कर
शीर बदर काहर बोला—दोरो ! मैं पन्व हूँ, आज मेरे पुरर का उदय हुआ कि
--> मित्र चित्रप्रीव यहाँ द्वार है ।

यस्य मित्रेण सम्भाषा, यस्य मित्रेण संस्थितिः ।

यस्य मित्रेण संलापस्ततो नाज्ज्सीह पुण्यवान्' ॥ ४० ॥

पारावद्धांश्चितान्दृष्ट्वा सविस्मयः क्षणं स्थित्वोवाच—

'सखे ! किमेतत् ?'

त्रिप्रभ्रीवोऽवदत्—'सखे ! अस्माकं प्राक्तनजन्मकर्मणः फलमेतत् ।

यस्माच्च, येन च, यथा च, यदा च, यच्च,

यावच्च, यत्र च शुभाऽशुभमात्मकम् ।

तस्माच्च, तेन च, तथा च, तदा च, तच्च,

तावच्च, तत्र च, विधातृवशादुपैति ॥ ४१ ॥

यस्येति । यस्य मित्रेण—सम्भाषा=शालापः । संस्थितिः=सहायस्थानम् ।

लापः=मुहुर्मुहुः कथा, गोशीघ्रम् । ततः=तदपेक्षया । इदं=जगति ॥ ४० ॥

एतान्=इवोतान् । सविस्मयः=साश्चर्यः । प्राक्तनजन्मकर्मणः=पूर्वजन्मोपाजि-

विपापकर्मणः । एतत्=जालनचनम् ।

यस्मादिति । यस्मादेतोः, येन=करणेन हस्तादिना, यथा च=येन च प्रकारेण,

दा च=यस्मिन् काले च, यत्=शुभाशुभं=शुभम् अशुभं वा, आत्मकर्म=इत्यस्य

पुण्यपुण्यदुःखादिकं, यावत्=यावन्मित, यत्र=यस्मिन्देशे च भावि, तत्=तस्मात्

रथात्, तेनैव=उपकरणेन, तथा=तेनैव प्रकारेण । तदा च=उत्तमिन्नेव काले च ।

क्योकि,—जो अपने मित्र के साथ सम्भाषण (मधुर भाषण) करता है

और जो अपने मित्र के साथ रहता है और जो अपने मित्र के साथ प्रेम पूर्वक

संलाप करता है, उससे बढ़कर इस पुण्यवान् संसार में दूसरा कोई नहीं

॥ ४० ॥

तब इन कथूतरो को जालपाश में पड़े हुए देख कर हिरण्यक को बड़ा ही

अश्चर्य हुआ और यह बोला—कि हे मित्र ! यह क्या बात है ? ।

त्रिप्रभ्री बोला—हे मित्र ! यह मेरे पूर्व जन्म के कर्म का ही फल है ।

क्योकि जो प्राणी—पुण्य अथवा पाप कर्म जिस कारण से, जिस उपाय से,

जिस प्रकार से, जिस समय में, जैसा, जितना, जिस स्थान पर करता है, वह प्राणी

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च ।

आत्माऽपरावृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥ ४२ ॥

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकशिपुः प्रीवस्य बन्धनं ह्येतुं सत्वरमुपसर्पति स्म ।
चित्रप्रीव उवाच—‘मित्र ! मा मैवम् । अस्मदाश्रितानामेषां ताव-
त्पाशांश्छिन्द्य, तदा मम पाशं पश्चाच्छेत्स्यसि ।

हिरण्यकशिपुः—‘अहमल्पराक्तिः, दन्ताश्च—मे कीमताः, तदेतेषां
पाशांश्छेत्तुं कथं समर्थः ? । तद्यावन्मे दन्ता न युज्यन्ति, तावत्तव पाशां
छिन्नामि, तदन्तरमेषामपि बन्धनं यावच्छ्रम्यं छेत्स्यामि ।’

तव=तव ज्ञम् । तारय=तारयमाणमेव, तत्रैव देहो—विषादुरगाल्=भाष्यरगाल् ।
उर्ध्वेति=शुभाऽशुभमात्मरत्नं स्वयमेव नरमुपपाति ॥ ४१ ॥

रोमेति । देहिनां=शरीरिणाम्—परितापः=सन्तापः । बन्धनं=कारादि-
मातिः । तान्येव—व्यसनानि=विषयः । तानि च व्यसनं=विषयिणेति वा ।
एतानि=आत्मना कृता ये अयतपाः=पापानि, तान्येव वृक्षास्तेषां=स्वकर्म
वृक्षाणां, पश्यानि=पक्षभूतान्येव । स्वकृतेरेव पापैर्दुःखानि जनो लभते, नान्यैरि-
मानः ॥ ४२ ॥

तार=भक्तिः । उपसर्पति स्म । उपसर्पते=वर्षः । एवं=मदीपपाशच्छेदनमाशी
मा मा=मा कर्माः । मा-मेति संभ्रमे दित्यम् । अस्मदाश्रितानां=मदधीनानाम्
अल्पराक्तिः=रत्नपतः । कीमताः=मृदरः । एतुं=तस्मात् । पा-
शच्छि=वशाशक्तिः । एवं=तत्र निर्द्वन्द्वं, कीमलवन्तस्तत्र । अतुं=मयत्
एतेषां=मदाश्रितानाम् । तवहव=द्विषि । आत्मवर्तिमानेन=स्वशरीराने

उनी कारण मे, उनी उपाय से, उनी प्रहार मे, उनी ममय, देता ही, उतना ही
उनी एतान पर, उम पाश पुरुष के नश को कारण ही (भाष्यरग) पाता है ॥४१

हीर भी—रोग, शोक, शान्त, बन्धन, विपत्ति, ये सब मनुष्य के अपने पि
दुःख कारण (पर) कर्मा वृक्षा ने ही कट है ॥ ४२ ॥

पर दुःख पर हिरण्यकशिपु ने बन्धनों को कटने के लिये मया

चित्रप्रिय उवाच—‘अन्वेवम् । तथापि यथाशक्त्येतेषां बन्धनं सएहय’ । हिरण्यकेनोक्तम्—‘आत्मपरित्यागेन यत्—आश्रितानां परि-
रक्षणं, तत्र नीतिविदां समतम् । यतः—

‘आपदर्थे धनं रचेदारान्चेद्धनैरपि ।

आत्मानं सततं रचेदारैरपि धनैरपि ॥ ४३ ॥

अन्यथा—

‘धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।

तन्निध्नता किं न हतं ? रक्षता किं न रक्षितम्’ ? ॥ ४३ ॥

इत्येन, आत्मानं संशयशेतामारोप्य च । परिरक्षणं = परिपालनं, नीतिवेदिनां =
नीतिनिपुणानाम् । न संमतम् = न अनुमतम् ।

आपदर्थे = आपत्प्रतीकाराय । रचेत् = अर्जयेत् । निभृतं स्थापयेत् । दारान् =
कलत्रम् । धनैः = धनदानादिभिः, रचेत् = गोपायेत् । आत्मानं = स्वशरीरम् ।
दारैरपि = दाराऽपेक्षयाऽपि, धनैरपि = धनापेक्षयाऽपि च, तद्व्ययेनापि च । रचेत् =
पालयेत् ॥ ४६ ॥

संस्थितिहेतवः = यथाऽनुपालनादिहेतवः । तान् = प्राणान् । स्वशरीरमिति
धारत् । निध्नता = विनाशयता । रक्षता = पालयता । धर्मार्थकाममोक्षाख्या-
भ्यानां पुरुषार्थाः ॥ ४४ ॥

तब यह चित्रप्रिय बोला—हे मित्र ! यह ठीक नहीं है । पहिले इन मेरे आभितो
के बन्धन काठो, पीछे मेरे बन्धन काटना । तब हिरण्यक बोला—मैं कमजोर हूँ,
मेरे दौन भी कमजोर है, इसलिए सबका बन्धन कैसे काट सकता हूँ ? अतः जब
तक मेरे दौन नहीं दृढ़ें, तब तक आप का बन्धन तो मैं काटता हूँ, पीछे यथाशक्ति
इनका भी बन्धन काटूंगा । चित्रप्रिय बोला—यह ठीक है, पर यथाशक्ति इनके
ही बन्धन तुम काटो । तब हिरण्यक बोला—‘अपने को निरिच्छि में डाल करके
अपने आभितो की रक्षा करना’ यह तो नीति जानने वालों के समत भी नहीं है ।’

इति—आत्मिकात् के लिये धन की रक्षा करनी चाहिए, और धन की रक्षा
कर के भी स्त्री को रक्षा करनी चाहिए, और स्त्री और धन दोनों में भी (उनकी
बिना छोड़कर, या उनको देख भी) सदा अपनी रक्षा करनी चाहिए ॥ ४३ ॥

और भी—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चारों पुरुषार्थों के मूल कारण प्राण
ही हैं । अतः निश्चय अपने प्राणों का नाश किया ठहरे इस चीज का नाश नहीं

चित्रप्रीय उवाच—'सखे ! नीतिस्तावदीदृश्येव, किं त्वहमस्मदादि
दानां दुःखं मोदु सर्वथाऽसमर्थः, तेनेदं ब्रवीमि । यतः—

'धनानि, जीयितञ्चैव परार्थे प्राज्ञ उत्सृजेत् ।

सन्निमित्ते वरं त्यागो, विनाशे नियते सति' ॥ ४५ ॥

अयमपरश्चाऽसाधारणो हेतुः—

'जातिद्रव्ययत्नानाञ्च साम्यमेपां मया सह ।

मत्प्रभुत्वफलं ब्रूहि कदा किं तद्भविष्यति ? ॥ ४६ ॥

ईदृशी एव = 'सर्वा स्वात्मा रक्षणीय' इत्येवमेव । इदं = 'मां विहाय भ
भित्तानां पारासिद्धिर्नचि' इतीदम् । ब्रवीमि = कथयामि ।

धनानीति । जीयितं = प्राणान् । परार्थे = परोपकाराय । प्राज्ञः = विद्वान्
उत्सृजेत् = दद्यात् । विनाशे = मरणे, नियते = निमित्ते सति । सन्निमित्तेः
एवार्थसिद्धये, परोपकाराय । त्यागः = प्राणपरित्यागः । वरं = किञ्चिच्छ्रेयः ॥ ४५

अपरः = द्वितीयः । असाधारणः = सर्वतो यत्नवान् । हेतुः = मद्दुः
कारणम् । हेतुनेवाद—जलतीति । एपां = मदाभित्तानां कर्षितानाम् । मया सह =
मया साहा सह । जातिद्रव्ययत्नानाञ्च = पदित्यादिजाति-प्रायिकव्ययीर-तामर्प्यानाम् ।
'गुणाना'मिति वाटान्तरम् । साम्यं = तुल्यत्वम् । 'सत्ते' इति शेषः । मत्प्रभुत्व-
फलं = मत्प्राप्तिफलम्, अमदाभयफलं, किन्तु = किन्तु, तन्न = कदा =

दिया ? । अर्थात् सबही नाश दिया । और दिखने ठन प्राणों की रक्षा की तो
दहने दिखने रक्षा नहीं की ? । अर्थात् सबही रक्षा की ॥ ४५ ॥

चित्रप्रीय केका-चित्र । टीका है । नीति तो यही है, पर मैं अपने आभितों के
क्य को नहीं देना मरगा दूँ, इसीलिए देना पड़ा है ।

दिया ने टीका ही कहा है, कि—विद्वान् लोगों को अपने धन तथा प्राणों को
दूसरों के उपकार के लिए समर्पण कर देना चाहिए । क्योंकि धन ठन प्राणों
का ही धन का नाश होना निमित्त ही है, तो उन्हें समुत्प्रेषण में देना देना ही
पड़ता है ॥ ४५ ॥

और दिखने कारण यह है—मे कब (कथन) जाति, द्रव्य, गुण, (या बल)-

अन्यथा—

‘विना वर्त्तनमेवैते न त्यजन्ति ममाऽन्तिकम् ।

तन्मे प्राणव्ययेनाऽपि जीवयैतान्मदाश्रितान्’ ॥ ४७ ॥

किञ्च

मांसमृत्रपुरीपाऽस्थिनिमित्तेऽस्मिन्कलेवरे ।

विनश्वरे विहायाऽऽस्यां यशः पालय मित्र ! मे’ ॥ ४८ ॥

अपरञ्च परम—

‘यदि नित्यमनित्येन, निर्मलं मलवाहिना ।

यशः कायेन लभ्यते, तन्न लब्धं भवेन्तु किम् ?’ ॥ ४९ ॥

कस्मिन् काले, किं = किंवा भविष्यति । इति त्वमेव ब्रूहि = बह । (तन् = तस्मा-
त्कारणादिति वा बोध्यम्) । इदमेव हि मदाश्रयणफलं यदेषां सर्वथा परिरक्ष्याम् ।
एवञ्च आदावेपामेव पाशाश्लिष्टधीन्याशयः ॥ ४६ ॥

विनेति । वर्त्तनं = जीविका, वेतनञ्च-विनिय, वेतनादिग्रहणं विनाऽपि ।
ममाऽन्तिकं = मत्सान्निध्यं, न त्यजन्ति = न परित्यजन्ति । तत् = तस्मात् । प्राण-
व्ययेनाऽपि = मत्प्राणोपयोगेनापि । जीवय = पाशब्देदेनैतान् परिपालय ॥ ४७ ॥

मासेति । पुरीष = विद्या । अस्थि = कौटुम्बम् । निमित्ते = विरचिते,
परिपूर्णे च । विनश्वरे = विनाशशक्ते । कलेवरे = शरीरे । आस्यां = पालय ।
‘आप्यानीपत्नयोरास्ये’त्यमरः ॥ ४८ ॥

हमी मे मेरे बरानर ही हूँ, तो फिर मेरे राजा होने का इनको क्या फल होगा ।
और यह वन इन्हें मिलेगा—? यह आप ही बतलाइये ॥ ४६ ॥

और भी—विना किसी प्रकार की जीविका और वेतन के भी वे मेरा साथ
नहीं छोड़ते हैं, इसलिये मेरे प्राणों की पर्वाह न करके भी आप परिते इन (मेरे
प्राणियों) को ही बचाइए ।

और भी—दे मित्र ! मौस, मूत्र, विद्या, दृष्टी आदि से बने हुए मेरे इस नाश-
शील शरीर के बचाने की इच्छा को छोड़कर आप मेरी कौर्तिकी शौरदा करो ॥ ४८ ॥

१. ‘ममाश्रितान्’ इति पाठान्तरम् ।

अतः—

‘शरीरस्य, गुणानां च दूरमत्यन्तमन्तरम् ।

शरीरं क्षणविधांसि, कल्पान्तस्थापिनो गुणाः’ ॥ ५० ॥

—इत्याख्ये द्विरुच्यकः प्रहृष्टमनाः, पुलकितः सन्नप्रवीत्—

‘साधु मित्र । साधु, अनेनाऽऽश्रितवात्सल्येन श्रेयोभ्यस्यापि प्रभुत्वं त्वयि युज्यते । एवमुक्त्वा तेन सर्वेषां बन्धनानि निच्छन्ति ।

ततो द्विरुच्यकः सर्वान्त्सादरं सम्पूज्याऽऽह—‘सरो विप्रमीध !

नित्यं=चिरस्थायिपथः । अन्तयेन=नक्षरेण । निर्मलं=स्वच्छं—यस्य, मज्जरादिना=मज्जनूत्रपरिपूर्णेन । । कायेन=शरीरेण । तत्र ‘तु’—इति चित्तं । किं ह्यत्र न भवेत्=सर्वमेव लब्धं भवेदित्यर्थः ॥ ४९ ॥

अत्यन्तं दूरं=निर्गतां विप्रवृष्टम् । अन्तरं=प्रभेदः । क्षणविधसि=अनिरतिनाशि । क्षणमद्भुम् । गुणाः=दवादाविषवादयः । यत्र इति पादत् । कल्पान्तरस्थापिनः=प्रलयपर्यन्तस्थापिनः ॥ ५० ॥

प्रहृष्टमनाः=मग्नप्रमानसः । पुलकितः=जानरोमाद्यः । साधु=शोभनम् । सुखं वरीणि । आश्रितवात्सल्येन=राश्रितसेवादिषु प्रदर्शितया रूपया । प्रभुत्वम्=देश्यते, स्वामित्वम् । सुखी=सुखिनि । साम्राज्ये । जालम्बनविधौ=

शरीर भेदो—अभिप्राय शरीर मूल रिता आदि मन्त्रो को पदम करने वाली शरीर के बन्धों में यदि निर्मल शरीर नित्य पथ भिडे, तो फिर कही क्या नहीं निम्ना । । अर्थात् मन सुख मित मया ॥ ४९ ॥

इति—शरीर में शरीर गुणों में बहुत बड़ा भेद है, शरीर तो क्षण ही में नष्ट हो जाता है, परन्तु गुण अथवा बाल्य तब रहते हैं ॥ ५० ॥

पर मन्त्र गुण पर उभय दिग्गज (मूः) को जानपति से रोनाच हो गया श्री प्रान्त होकर वह देग, दे निव । गुण पर हो, भ-य हो । श्रितियों के रूप दर्शारे हम प्रेम से कल्प गुण तीनों लोह के समान होने के योग्य हो । देगा क

सर्वथाऽत्र जालबन्धनविधौ दोषमाशङ्क्याऽऽत्मन्यवज्ञा न कर्तव्या । यतः—

‘योजधिकाद्योजनशतात्पश्यतीहाऽऽमिपं स्वगः ।

स एव प्राप्तकालस्तु पाशबन्धं न पश्यति !’ ॥ ५१ ॥

अपरञ्च—

शशिदिवाकरयोर्ग्रहपीडनं,

गजभुजङ्गमयोरपि बन्धनम् ।

मतिमताञ्च विलोम्य दरिद्रतां,

‘विधिरहो बलवा’निति मे मतिः ॥ ५२ ॥

लक्षणनव्यापारे । दोष=लोभादिक्र हेतुम् । आशङ्क्य=निमाष्य ।
स्था=तिरस्कारः ।

य इति । यः स्वगः=ग्रहादिः । योजनशतात्पथिकात्=पारेयतमपि
जनानाम्, आमिपं=स्वमह्यं मांसं, पश्यति । स एव=दूरदृष्टिः स्वगः, प्राप्त-
कालः=प्राप्तमृत्युः सन्,—पाशबन्ध, न पश्यति =नैव-सहयति ॥ ५१ ॥

धरतीति । शशिदिवाकरयोः=सूर्याचन्द्रमसोः । ग्रहपीडनं=राहुणा ग्रहणम् ।
दः, सूर्यादी पतनादौ च संहिकेयोपराणयोःरिति मेदिनी । गजभुजङ्गमयोः=
नैसर्गयोः । बन्धनं=निग्रहं च-विलोम्य । च=पुनः । मतिमतां=रिदुषां,
द्वितां=दारिद्र्यवय विलोम्य । अहो—इति आश्चर्ये स्तेदे वा । विधिः=दैव,

र उसने पहिले उस बन्धन के बन्धन काट दिए । इसके बाद सन्या आदरपूर्वक
चित्त सहार कर यह हिरण्यक बोला—मित्र चित्रमीव ! इस जाल के फँस जाने
अपना दोष समझ कर तुम्हें अपनी निन्दा कभी नही करना चाहिए ।

क्योंकि—जो ग्रह आदि पत्नी, सौ योजन (५०० कोस) से अधिक की दूरी
। भी मांस को देत सज्जा है, वही पत्नी बुरा समय आने पर अपने फंसाने के
लिए बिरागे गए जात्र को भी नहीं देगता है और उसमें फंसकर अपने प्राण
। देता है ॥ ५१ ॥

घाँस भी—चन्द्रमा और सूर्य को ग्रहण की पीड़ा, अर्थात् ग्रहण लगना, हाथी

अन्यथ—

‘व्योमैकान्तविहारिणोऽपि विहगाः सम्प्राप्नुवन्त्यापदं,
 बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि ॥
 दुर्नीतं किमिहास्ति, किं सुचरितं, कः स्थानलाभे गुणः, ?
 कालो हि व्यसनप्रसारितकरो गृह्णाति दूरादपि’ ॥ ५३ ॥
 —इति प्रबोध्याऽऽनिर्य्यं श्रुत्वाऽऽल्लिङ्ग्य च चित्रमीवस्तेन ‘सम्प्रेषितो
 यथेष्टदेशान्तपरिवारो ययौ ।

बलवान् = बलवदिति । मे = मम । मतिः = निश्चयः ॥ ५२ ॥

व्योमेति । व्योमैकान्तविहारिणोऽपि = दूरतरगगनाग्नयुविहारिणोऽपि । विहगाः
 = पक्षिणः । आपदं = जालबन्धनादितिपदम् । सम्प्राप्नुवन्ति = लभन्ते । निपुणैः
 = पुरालैः । अगाधसलिलात् = अतल्लक्षणं जलपूर्णात् । समुद्रादपि = सागरादपि, मीनाः
 = महामत्स्याः, बध्यन्ते = बद्ध्वा गृह्यन्ते । लोभैरिति शेषः । दुर्नीतं = दुश्चरितं, सुचरितं
 = शोभनमाचरणं वा—इत्थम् । स्थानलाभे = दुर्धर्मनिरापददुरासददुर्गमस्थानलाभे
 वा । को गुणः = किं बलम् । कालः = मृत्युः । व्यसनप्रसारितकरः = विपदप्रसरे
 करी प्रसाधैव । दूरादपि = दुर्गमादपि स्थानात् । गृह्णाति = आदत्ते ॥ ५३ ॥

प्रबोध्य = तान्त्वगात्रयैर्मनः समाधाय ।

श्रीर शौरो का बन्धन, परिहारी की भी दृष्टिता, इन सब बातों को देगकर मैं तो
 समझता हूँ कि भाग्य ही सबसे प्रबल है ॥ ५२ ॥

श्रीर भी—आकाश के एकान्त और अशुभ प्रदेश में विदार करने वाले पक्षी
 भी आपत में पंग आते हैं । बहुत लोग अथाह जल वाले समुद्र से भी मछलियों
 को पकड़ लेते हैं । इसलिये इस संसार में क्या अशुभा है ? श्रीर क्या पुरा है ?
 श्रीर क्या योग स्थान को प्राप्ति में भी लागू है ? । अर्थात् कुछ नहीं । क्योंकि
 बालक्यी शत्रु भयानक—(विपत्ति) लयी हाथ पतारें बैठा है, श्रीर वह भीका पाते
 ही दूर से भी प्राप्ति को बकह लेता है ॥ ५३ ॥

इस प्रकार दिख्यवने कनेऽगम विप्रमीर की समझ-शुभ्यकर एवं अनिधि

१. ‘तेव मेवित्प्रिदोऽपि परिहारी यथेष्टदेशान् ययौ’ इति पाठान्तरम् ।

हिरण्यकोऽपि स्वचिबं प्रविष्टः । अतः—

‘यानि कानि च मित्राणि कर्त्तव्यानि शतानि च ।

परय मूपिरुमित्रेण कपोता मुक्तबन्धनाः’ ॥ ४५ ॥

अथ लघुपतनकनामा काकः सर्ववृत्तान्तदर्शी साऽऽश्चर्यमिदमाह—

‘अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि । अनोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि,
प्रतो मां मैत्र्येणाऽनुग्रहीतुमर्हसि ।’

एतच्छ्रुत्वा हिरण्यकोऽपि विचाराभ्यन्तरादाह—‘कस्त्वम् ?’ ।

स ब्रूते—‘लघुपतनकनामा वायसोऽहम् ।’

हिरण्यको विहस्याऽऽह—‘का त्वया सह (मम) मैत्री ?’ ।

यानीति । यानि कानि = निर्जलानि, सखलानि वा, शोण्यानि, झपोण्यानि वा ।

शतानि = असङ्ख्यातानि । (सैकदो) । मुक्तबन्धनाः = कृताः ॥ ५४ ॥

सर्ववृत्तान्तदर्शी = इष्टकपोतमूत्रकसकलव्यापारः । श्लाघ्यः = प्रशंसाऽर्हः, धन्यः ।

मैत्र्येण = सौहार्देन । अनुग्रहीतुम् = अनुग्रह कर्तुम् । विचाराभ्यन्तरात् = विलम्ब्यादेव । सः = काकः । वायसः = काकः ।

संसार कर विदा किया । वह कपोतराज विप्रमीव भी वहाँ उसे जाना था, वहाँ अपने परिवार सहित चला गया । और हिरण्यक चूहा भी अपने बिल में चला गया ।

इसलिए मनुष्य को सभी प्रकार के अपने बहुत से मित्र करने चाहिये । दैली विप्रमीव के मित्र चूहे ने कबूतरो को बन्धन से छुड़ा दिया था ॥ ५४ ॥

इसके बाद लघुपतनक नाम का वह कौआ यह सब वृत्तान्त देतकर प्राधर्य में पड़ गया । और हिरण्यक (चूहे) के बिल के पास जाकर बोला—‘हे हिरण्यक ! तुम धन्य हो । इसलिए मैं भी तुम्हारे साथ मित्रता करना चाहता हूँ । अतः मुझे भी घनना मित्र बनाकर अनुग्रहीत करो ।’

पर मुनकर वह हिरण्यक (चूहा) बिल के भीतर से ही बोला—‘तुम कीन हो !’ । वह बोला—‘मैं लघुपतनक नाम का कौआ हूँ’ । तब हिरण्यक हंसकर बोला—‘बाद ! तुम्हारे साथ हमारी मित्रता वैसी !’ ।”

यतः—

‘यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत् ।

अहमन्नं, भवान्भोक्ता, कथं प्रीतिर्भविष्यति’ ? ॥ ५॥ ॥

अपरञ्च—

‘मदय-भक्षकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।

शृगालात्पाशान्दोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः’ ॥ ५६ ॥

पायसोऽन्नधीन्—‘कथमेतत् ?’ । हिरण्यकः कथयति—

(२) मृग-शृगाल-कथा ।

अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नामाऽरण्यानी । तस्यां चिरान्महता स्नेहेन मृगकाकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया धाम्यन् इष्टपुष्टान्नः केनचिच्छृगालेनाऽवलोकितः ।

वदिनि । यत् = छोट्टादि । येन = येन सह । युज्यते = युक्तं भवति । अन्नं = भक्ष्यभूतः । भोक्ता = भक्षकः । प्रीतिः = मैत्री, स्नेहश्च ॥ ५५ ॥

विपत्तेः = आवृत्तेः । शृगालात् = मद्यराजम्बुकात् । पाशमदः = प्राप्तगाल-बन्धनः । काकेन = समुहदा पायसेन ॥ ५६ ॥

चम्पकवती = चम्पारखनाम्नी । (चम्पारन) । अरण्यानी = महदरण्यम् । गिरात् = निरन्धनेन । इष्टपुष्टान्नः = प्रहृष्टयंपुष्टपीरतनुः । शृगालेन = जम्बुकेन ।

वर्षेदि—वसिष्ठन को चाहिये कि जिसके साथ खेल (निवृत्ता) हो सकता है, उसके ही साथ खेल करे । परन्तु मैं तो आवृत्ता अन्न (भक्ष्य) हूँ, और आवृत्ते भक्षक हूँ । मना हमारी तुम्हारी मित्रता कैसे हो सकती है ? ॥ ५५ ॥

श्रीर भी—मदय और भक्षक की प्रीति तो मित्रता का ही कारण होती है । देखो, उग गिरार के वृक्षों में आकर पर बिचारा मृग जंगल में फँस गया था । परन्तु उसके निरन्धने ने ही उगभी रक्षा की थी ॥ ५६ ॥

कैसा बोझा,—यह क्या बँडे है ? । हिरण्यक करने लगा—

मगध देश में चम्पकवती (चम्पारन) नाम का एक बहुत बड़ा जंगल है, परन्तु बहुत ही एक मृग और कैसा बडे प्रेन से मित्रतापूर्क रहते थे । और वह

तं हृष्टा शृगालोऽचिन्तयत्—‘आः ! कयमेतन्मांसं सुललितं भक्ष-
यामि । भवतु । विश्वासं तावद्रुत्पादयामि ।’—इत्यालोच्य उपमृत्या-
ऽब्रवीत्—‘मित्र ! कुशलं ते ? !’

मृगेषोक्तम्—‘कस्त्वम् ?’ ।

स ब्रूते—‘क्षुद्रबुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्, अत्राऽरण्ये बन्धुहीनो
मृतवशिवसामि । इदानीं त्वां मित्रमासाद्य, पुनः सवन्धुर्जीवलोकने
प्रयष्टोऽसिम् । अधुना तवाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम् ।’

मृगेषोक्तम्—‘एवमस्तु ।’

ततः पश्चादस्तङ्गते सवितरि भगवति मरीचिमालिनि, तौ मृगस्य
यासभूमिं गतौ । चम्पकवृक्षशाखायां सुबुद्धिनामा काको मृगस्य चिर-

अवज्ञोक्तिः = हट्टः । एतन्मांसं = मृगमांसं । सुललितं = सुमधुरं (चटपटा) ।
उपमृत्यु = समीपं गत्या । कुशलं = मङ्गलम् । अरण्ये = मदाराने । बन्धुहीनः =
सुहृदरहितः । सवन्धुः = मित्रसहितः । जीवलोकं = संसारम् । पुनरुद्गीर्णोऽस्मीति
पाठः । अनुचरेण = सहचरेण । एवमस्तु = अस्तेवम् । (अश्वा) । सवितरि =
एवं । मरीचिमालिनि = मयूखमालिनि । किरण-माला-विराजिते । सहसकिरणे ।

मृग बहुत ही हृष्ट पुरुष था, और जङ्गल में स्पष्टन्द इधर उधर घूमा करता था ।

एकदिन एक सियार ने उसे देखा और देखकर यह सियार सोचने लगा कि-
प्रायः इसका मीठा मुस्ताहु मांस मैं किस प्रकार खाऊँ ? । (झुड़ विचार कर)
अच्छा पहिले इससे मेल जोल बढ़ाऊँ और विश्वास उत्पन्न करूँ । ऐसा विचार
कर उस मृग के पास जाकर यह शृगाल बोला—

दे मित्र ! कदिय, आप सजुशल तो है ? । मृग ने कहा—‘हाँ, ठम बीन
हो ? । यह बोला—‘मैं सियार हूँ, मेरा नाम क्षुद्रबुद्धि है । इस वन में मैं मित्रों
से रहित होने के कारण मृतक की तरह पड़ा रहता था । इस समय आर एमे
सबन निय को पाकर धरने बन्धु बान्धवों के साथ मानों मैं पुनः जीवलोक में
मरिष्ठ हुआ हूँ । अब मैं सदा आपके साथ ही रहूँगा । मृग ने कहा—अच्छा, पैली
दुमारी अच्छा । इसके बाद मरीचिमाली भगवान् एवं जब अस्ताचल पर चल
गये, और जय सन्धा हो गई, तब ये दोनों (मृग और शृगाल) मृग की निराश
भूमि पर गये । वहाँ चम्पक (चम्पा) वृक्ष की शाखा पर उस मृग का पुराना

यतः—

‘यद्येन युज्यते लोके बुधस्तत्तेन योजयेत् ।

अहमन्नं, भवान्भोक्ता, कथं प्रीतिर्भविष्यति’ ? ॥ ५॥ ॥

अपरश्च—

‘मन्व्य-मद्यकयोः प्रीतिर्विपत्तेरेव कारणम् ।

शृगालात्पाशवद्वोऽसौ मृगः काकेन रक्षितः’ ॥ ५६ ॥

पायसोऽनवीन्—‘कथमेतत् ?’ । हिरण्यकः कथयति—

(२) मृग-शृगाल-कथा ।

अस्मिन् मगधदेशे चम्पकवती नामाऽरण्यानी । तस्यां चिरान्महत् स्नेहेन शृगालकौ निवसतः । स च मृगः स्वेच्छया भ्राम्यन् हृष्टपुष्टाङ्ग केनचिच्छृगालेनाऽवलोकितः ।

वदिति । यत् = सौहृदादि । येन = येन सह । युज्यते = युक्तं भवति । अन्नं = भक्ष्यभूतः । भोक्ता = भक्षकः । प्रीतिः = मैत्री, स्नेहश्च ॥ ५५ ॥

विपत्तेः = अपारतेः । शृगालात् = मद्यपात्रशुक्रान् । पाशवदः = प्राणजाल बन्धनः । काकेन = हनुमुहदा पायसेन ॥ ५६ ॥

चम्पकवती = चम्पारण्यवनाम्नी । (चम्पारण) । अरण्यानी = महदरण्यम् । चिरान् = चिरकालेन । हृष्टपुष्टाङ्गः = प्रहृष्टपुष्टपीरतनुः । शृगालेन = जम्बुकेन

कथयति—वनिवृत्त को चादिये कि जिमके साथ मेल (मित्रता) हो सकत है, उमके ही साथ मेल परे । परन्तु मैं तो आनन्दो अन्न (मद्य) हूँ, और अन्न मरे मद्यक हूँ । भडा हमारी दुमारी मित्रता कैसे हो सक्ती है ? ॥ ५५ ॥

और भी—मद्य और मद्यक की प्रीति तो विपत्ति का ही कारण होती है । देखो, उस गिद्धर के कदमे में आकर यह बिजारा मृग जाल में पँस गया था । परन्तु उमके निज बीरे ने ही उमकी रक्ष की थी ॥ ५६ ॥

बीबा बोडा,—यह क्या रँग है ? । हिरण्यक वरने लगा—

मगध देश में चम्पकवती (चम्पारण) नाम का एक बहुत बड़ा जंगल है, वहाँ बहुत बड़े बड़े मृग और बीबा वदे प्रेम से निवासायुक्त रहते थे । और क

तं दृष्ट्वा शृगालोऽचिन्तयत्—‘आः ! कथमेतन्मांसं मुललितं भक्ष्यामि । भवतु । विश्वासं तावदुत्पादयामि ।’—इत्यालोच्य उपमृत्याऽऽसीत्—‘मित्र ! कुशलं ते ? !’

मृगोक्तम्—‘कस्त्वम् ?’ ।

स ब्रूते—‘छुद्रमुद्धिनामा जम्बुकोऽहम्, अत्राऽऽरण्ये बन्धुहीनो मृतवन्नियसामि । इदानीं त्वां मित्रमासाद्य, पुनः सवन्धुर्जावलोके प्रविष्टोऽस्मि । अधुना त्वाऽनुचरेण मया सर्वथा भवितव्यम् ।’

मृगोक्तम्—‘एवमस्तु ।’

ततः पश्चादस्तङ्गवे सवितरि भगवति मरीचिमालिनि, तौ मृगस्य पासभूमि गतौ । चम्पकवृक्षशाखायां सुमुद्धिनामा काको मृगस्य चिर-

अपज्ञोक्तिः = दृष्टः । एतन्मांसं = मृगमांसं । मुललित = सुमधुरं (चटपट) । उपमृत्यु = समीपं गत्वा । कुशल = मङ्गलम् । अरण्ये = महाजने । बन्धुहीनः = सुदूरहितः । सवन्धुः = मित्रसहितः । जीवलोके = संसारम् । पुनर्जीविनीऽग्नीनि । इत् । अनुचरेण = सदचरेण । एवमस्तु = अस्तमेवम् । (अन्त्या) । सवितरि = सौ । मरीचिमालिनि = मयूखमालिनि । किरण-माला-विराजिते । सदृशकिरणे ।

एग बहुत ही दृष्ट पुष्ट था, और जङ्गल में स्वच्छन्द इधर उधर घूमा करता था । एकदिन एक सियार ने उसे देखा और देखकर यह सियार सोचने लगा कि—रहा ! इतना मीठा मुन्वाडु मांस मैं किस प्रकार खाऊँ ? । (कुछ विचार कर) पन्ध्या पहिले इससे मेल जोल बढ़ाऊँ और विश्वास उत्पन्न करूँ । ऐसा विचार कर उस मृग के पास जाकर यह शृगाल बोला—

हे मित्र ! कदिष्ट, आप सजुशल तो है ? । मृग ने कहा—भार्य, तुम कौन हो ? । यह बोला—मैं सियार हूँ, मेरा नाम छुद्रमुद्धि है । इस जन में मैं निश्री से रहित होने के कारण मृतक भी तरह पटा रहता था । इस समय आप ऐसे एबन निय को पाकर अपने बन्धु बान्धवों के साथ मानों मैं पुनः जीवलोके में प्रविष्ट हुआ हूँ । अब मैं सदा आपके साथ ही रहूँगा । मृग ने कहा—अन्त्या, वैसी दुनारी इन्त्या । इसके बाद मरीचिमाली भगवान् एणं जब अस्ताचल पर चक्ष गये, और जन सन्ध्या हो गई, तब वे दोनों (मृग और शृगाल) मृग की निवास भूमि पर गये । वहाँ चम्पक (चम्पा) वृक्ष की शाखा पर उस मृग का पुराना

• अभिनवराजलक्ष्मीमापाटीकाविराजिते •

मित्रं निवसति । तौ दृष्ट्वा काकोऽवदत्, —सखे चित्राङ्ग ! कोऽयं द्वितीयः ? । मृगो व्रूते—जम्बुकोऽयम्, अस्मत्सख्यमिच्छन्नागतः । काको व्रूते—मित्र ! अकस्मादागन्तुना सह मैत्री न युक्ता । तत्र भद्रमाचरितम् । तथा चोक्तम्—

‘अत्रातङ्गुलशीलस्य वासो देवो न कस्यचित् ।
मार्जारस्य हि दोषेण हतो गृध्रो जरद्गवः, ॥ ५७ ॥

तावाहवुः—‘कथमेतत् ?’ । काक कथयति—

(३) जरद्गव-चिडाल कथा ।

अस्ति भागीरथीतीरे गृध्रकूटनाग्निं पर्वते महान् पर्कटीपृष्ठः ।

तौ = मृगजम्बुकी । चित्रमित्र = पुरातनः मुहूर्त् । आगन्तुना = अपरिचितेन । भद्रम् = उचितम् । आचरितम् = अनुष्ठितम् ।

अशतेति । अशतं मुहूर्त्, शीलञ्च यस्यासौ = अशतकुलशीलः, तस्य = अनिदितवंशरत्नास्य, अपरिचितस्य । दोषेण = अपराधेन । जरद्गवः = जरद्गवनामा गवः ॥ ५० ॥

तौ = मृगजम्बुकी । भागीरथीतीरे = गङ्गातीरे । गृध्रकूटनाग्नि = ‘गिदौर’

मित्र मुञ्चति नाम का एक बीवा रहना था । उन दोनों को देव कर यह बी...
बीवा—मित्र मित्राङ्ग !, तुमारे साथ यह दूसरा बीन है ! । मृग बोला—यह सियार है, हमनेजों से मित्रता करने के लिये आया है । बीवा बोला—मित्र ! बिना जाने अनानक आये हुए व्यक्ति से मित्रता नहीं करनी चाहिये ।
किमी ने क्या भी है कि—जितना कुछ और हमारा मालूम न हो, उसको करने पाम टरने भी नहीं देना चाहिये । क्तोकि देरों, पिली के दोप से पर सिपारा जाट्ट नाम का एक मारा गया था ॥ ५० ॥

मृग और गृगाउ करने लगे कि—वद कथा कैसे है-? ।
बीवा करने लगा—

गङ्गा ती के किनारे पर गृन्ट (गिदौर) नाम का एक पर्व है । उ

कोटरे दैवदुर्विपाकाद्गलितनखनयनो जरद्ववनामा गृध्रः प्रतिवसति । अथ
कृपया तज्जीवनाय तद्गृध्रवासिनः पक्षिणः स्वाहारात्किञ्चिद्गृधृत्य तस्मै
ददति, तेनासौ जीवति, तेषां शावकानां रक्षाञ्च करोति ।

अथ कदाचिर्दोषकर्मणामा मार्जारः पक्षिणावकान्मच्छयितुं तत्राऽऽगतः।
ततस्तमायान्तं दृष्ट्वा पक्षिणावकैर्मयात्तैः कोलाहलः कृतः । तच्छ्रुत्वा
जरद्वेनोक्तम्—‘कोऽयमायाति ?’ ।

दोषकर्मणो गृध्रमवलोक्य सभयमाह—‘हा ! हतोऽस्मि’ । यतः—

नामा प्रसिद्धे । पर्वते—गिरौ । (पटना के पास के गिद्धौर नामक पर्वत व नगर में,
पर्वतीवृक्षः—द्वल्लतकः (पाकर) । कोटरे = निष्कूहे । (खोटासमें) । दैवदुर्विपाकात्
= दुःखदृग्मयात् । नखानि च नयने च नखनयनम् । गलितं नखनयनं यस्यासौ—
गलितनखनयनः = विशीर्णनखलोचनः । आहारोपार्जनाऽसमर्थः । कृपया=दयया ।
तज्जीवनाय=गृध्रजीवनाय । उद्गृह्य=निकाल्य (निकाल कर) । असौ =
३ जरद्ववः । तेषां = पक्षिणां, शावकानां—रक्षां=पक्षिशिशुरक्षाम् । मार्जारः =
बेहालः । (मिजा) । पक्षिणावकान्=पक्षिशालकान् । तत्र=पर्वतीवृक्षकोटरे ।
नयात्तैः = भयवस्तैः । व्यापादविव्यति = हनिष्यति ।

रुंउ पर एक बड़ा पाकड़ का वृक्ष था । उसके खोखले में जरद्वव नाम का एक
गिद्ध रहता था । दुर्भाग्यवश वृद्धावस्था के कारण उसके नख और दाँत इत्यादि
सब गिर गये । उसने इस प्रकार असहाय देख कर उस वृक्ष पर रहने वाले
पक्षीगण दया करके अपने-अपने भोजन में से कुछ निकाल कर उसे दे दिया
करते थे, जिससे उसकी प्राण रक्षा होती थी । और वह गृध्र भी इसके बदले में
उन पक्षियों के बच्चों की रखवाली क्रिया करता था ।

एक दिन दीर्गमर्त्य नाम का एक बिलाव पक्षियों के बच्चों को खाने के लिये
यहाँ आया । उसने आते देख कर पक्षियों के बच्चों ने डर के मारे हल्ला मचाया ।
उनका कोलाहल सुन कर जरद्वव (गृध्र) ने दृष्ट कर पूछा—‘यह कौन था
रहा है ?’ उस गिद्ध को देख कर डरता हुआ वह विशाव मन हो मन करने
लगा कि—हा ! अब तो मैं बिना भौत ही मारा जाऊँगा ।

‘ताम्रद्वयस्य भेतव्यं याम्रद्वयमनागतम् ।

आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद्यथोचितम्’ ॥ ५८ ॥

अधुनाऽस्य^१ सनिधाने पलायितुमक्षम । तत्रया भवितव्य तद्वचतु ।
ताम्रद्विधासमुत्पाद्याऽस्य समीपमुपगच्छामि ।

—इत्यालोच्योपसृत्याऽप्रतीत्—आर्य । त्वामभिवन्दे ।’ गृध्रोऽपदत्—
‘कन्वम् ? ।’ सोऽपदत्—‘मार्जारोऽहम् ।’ गृध्रो ब्रूते—‘दूरमपसर, नो
चेद्वन्तज्योऽसि मया ।’ मार्जारोऽवदत्—‘श्रूयता ताम्रदरमद्वयचनम् । ततो
यद्यद् वक्ष्यस्तदा हन्तव्य’ । यत —

तापद्विति । मयस्य=मयजनकस्य शील्पाघादे । भेतव्य=भीति काया ।
भय=भयप्रद शौर्याप्रादिकम्, आगतम्=उपस्थितम् । वीक्ष्य=दृष्ट्वा तु ।
यथोचित=यथायोग्य तत्प्रतीकारोपायम् । कुर्यात्=विदधीत ॥ ५८ ॥

अधुना=सम्प्रति । अतिसनिधानेन=ग्रहस्य नितरां सनिहिततया । पला-
यितु=प्रधारितुमपि । अराक्यम्=असम्मति । अस्म—एतस्य । आलोच्य=
मनसि विचार्य । उपख्य=तत्रिकटे गथा । आर्य=पुरुष । साधो ! । अभि-
वन्दे = नमस्करोमि । अपसर = पलायत । वक्ष्य = वपाहं ।

(निर मन ही मन कुछ सोच कर—) जब तक विपत्ति नहीं आये तभी तक
उससे दूरना चाहिये । पर यदि विपत्ति आ ही पड़े, तो मनुष्य को निर्भय होकर
उसका यथोचित प्रतीकार करना चाहिए ॥ ५८ ॥

शौर इस समय मैं इस ग्रह के पास में हूँ, यहाँसे मैं भाग भी नहीं सकता हूँ ।
इसके दे अब तो जो होगा वै सी हो । देना जाएगा । अच्छा ! तब तक विधास
दिलाकर मैं इस ग्रह के समीप चलाता हूँ । ऐसा विचार कर उस ग्रह के पास
जाकर यह विचार देना—दे आर्य ! (अमी !) । अरसे प्रणाम करता हूँ ।
मैं दे देना—तुम कौन हो ? । यह बोला—मैं पिताप हूँ । तब गिर बोला—
मैंने भागे, दूर हो, यही तो मैं तुम्हें मार जानूँगा । बिनार बोला—‘वदिते मेरा
करना मुन ही कि’, निर यदि मैं मार देकर होवे तो कुछ मारिदेगा ।’

१. ‘प्रिकुर्वदयेवत्तु’ । ‘प्रदत्तं यम’ उर गिति च पाठान्तरम् ।

२. ‘अधुनाऽस्या’ सनिधानेन पलायितुमक्षमम् इति पाठान्तरम् ।

‘जातिमात्रेण किं कश्चिद्धन्यन्ते, पूज्यते क्वचित् ? ।

व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः, पूज्योऽथवा भवेत् ॥ ५६ ॥

गृध्रो ब्रूते—‘ब्रूहि किमर्थमागतोऽसि ?’। सोऽवदन्—‘अहमत्र गङ्गातीरे
नित्यस्नायी, निरामिपाशी, ब्रह्मचारी, चान्द्रायणव्रतमाचारंतिष्ठामि ।
‘प्रं धर्मज्ञाः प्रेमविश्वासभूमय’ इति पक्षिणः सर्वे सर्वदा ममाऽप्रे प्रस्तु-
न्ति । अतो भवद्बन्धो विद्यावयोवृद्धेभ्यो धर्मं श्रोतुमिहागतः । भवन्तश्चै-
दृशा धर्मज्ञा यन्मामतिथिं हन्तुमुद्यताः ! । गृहस्थधर्मश्चैवः—

जातोति । कश्चिदपि कश्चित् = कस्मिंश्चित्पक्षेऽपि, जानिमात्रेण = ‘अयम-
कजातीय’ इत्येतावन्मात्रेणैव । किं वध्यते = किं हन्यते, किं पूज्यते = किं सज्जियते ।
रेत्यर्थः । व्यवहारं = तदाचारम्, परिज्ञाय = दृष्ट्वा । अत्रुक्त्यैव ॥ ५६ ॥

अथ = चम्पकारण्ये । नित्यस्नायी = नित्यमभियवपरः । निरामिपाशी = परि-
श्रितमांसभोजनः । ब्रह्मचारी = निगृहीतेन्द्रियः । वेदमधीयानः । चान्द्रायण-
व्रतं = तप्तमकर्मनम्—‘एकैकं हासयेत्कृष्णे, शुक्ले च परिवर्दयेत्’ इत्युक्तलक्षणम् ।

पूयं = भवन्तः । धर्मज्ञानरताः = धार्मिकाः, शानिनश्च । प्रेमविश्वासभूमयः =
रीतियोग्याः, विश्वासाहाश्च । इति = इत्येवम् । प्रस्तुवन्ति = तव स्तुतिं कुर्वन्ति,
अशंसन्ति । कथयन्ति च । विद्यावयोवृद्धेभ्यः = विद्यावृद्धेभ्यः, वयोवृद्धेभ्यश्च ।
इदः = प्रेषः । एतादृशाः = ईदृशाः । (ऐसे) । (यत् = किं) । अतिथिं =

क्योंकि—कोई भी व्यक्ति जातिमान ही से मारने वा पूजने लायक नहीं होता
है, किन्तु उनका व्यवहार देख कर ही उसे मारना वा पूजना चाहिए ॥ ५६ ॥

गिद्ध बोला—‘अच्छा पक्षी, तुम यहाँ क्यों आये हो ?’। तब वह बिलाल बोला—
‘मैं यहाँ पर गङ्गाजी के किनारे ही प्रतिदिन स्नान कर, पलाहारी हो, ब्रह्मचर्य से
रक्षित हूँ और चान्द्रायण व्रत करता हूँ । ‘आप वड़े शानी तथा प्रेम-विश्वास के पात्र
हैं,’ ऐसा प्रतिदिन पक्षीगण मेरे से कहा करते हैं । इसलिये आपको विद्यावृद्ध
तथा वयोवृद्ध जान कर ही मैं आपसे कुछ धर्मशास्त्र के उपदेश सुनने परा आपा
या । परन्तु आश्चर्य है कि आप तो ऐसे धर्मज्ञ हैं, कि मुझ अनिथि को भी मारने
लिये तैयार हैं ! । घरियों का तो धर्म यह है, कि—

‘अरात्रप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते ।

छेतुः पार्श्वगतां छायां नोपसंहरते द्रुमः’ ॥ ६० ॥

यदि धा घनं^१ नास्ति तदा प्रीतिवचसाऽतिथिः पूज्य एव ।

यतः—

‘वृषानि, भूमिरुदकं, वाक् चतुर्थी च स्रजृता ।

एताऽन्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन’ ॥ ६१ ॥

एतागतम् । अरात्रिति । अरो=रात्रौ-अपि । गृहमागते सति—उचितं = योग्यम्, अतिथ्यम् = अतिथिसत्कारः । द्रुमः=वृक्षः । पार्श्वगतात्=निकटस्थितात्, छेतुः=संश्लेषकत्वात् सङ्घ-सकारादपि । स्वच्छायां-नोपसंहरते = न सङ्कोचयति ॥ ६० ॥

घनम् = अतिथिसत्काराय घनम् । मुनीनेन = मधुरेण । तान्त् = केवलम् ।

वृषानीति । वृषानि = आस्तरणार्थं पलाशकुशादीनि । भूमि = निवास स्थानम् । उदकं = पानार्थं शीतलं पयः । एतभिस्तप, किञ्च—चतुर्थी-एतत्ता = प्रिया, सत्या च । वाक् = वाणी । ‘स्रजृतं मन्त्रक्षेत्रि स्याद्विषसत्ये वचस्यपी’ति मेदिनी । एतानि = एतादि, अपि = च । सतां = साधूनां । गेहे = गृहे । नोच्छिद्यन्ते कदाचन = न कदाचन निरक्षीभवन्ति । सदैव मुचमान्येवेत्याशयः ॥ ६१ ॥

रात्रौ मी यदि अपने घर पर आ जाए तो उसका भी उचित अतिथ्य सत्कार करना चाहिये । देखो—वृक्ष अपने कान्धे वाले पदर, गुवार आदि की ओर से भी अपने गुरुतीक्ष्ण छाया को कभी नहीं हटाता है ॥ ६० ॥

ओर यदि पास में देने को कुछ अन्न पत्र आदि न भी हो तो भी प्रेमपूर्वक ढीठे वचन बोल कर ही अतिथि का सत्कार करना चाहिये ।

बसोहि—विद्वान् के सिवा ओर वैद्वान् के सिवा पुत्राल आदि पास पूज्य, रहने को स्थान, पत्न-ये तीन स्त्रीय और स्त्रीया मीठा वचन, इन ४ स्त्रीयों की कर्म तो सत्रनों के घर में कभी भी नहीं होगी है । अर्थात् द्रुम भी पर में देने को ही तो भी इन चार वस्तुओं से ही अतिथि का सत्कार करना चाहिये ॥ ६१ ॥

१. ‘घनम्’ इति पाठान्तरम् । २. ‘एतानि तु’ पा. ।

अन्यघ—

‘घालो वा, यदि वा वृद्धो, युवा वा गृहमागतः ।

तस्य पूजा विघातव्या, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः’ ॥ ६२ ॥

अपरञ्च—

‘निगुर्येष्वपि सत्त्वेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ।

न हि संहरते ज्योत्स्नां चन्द्रश्चाण्डालवेश्मनः’ ॥ ६३ ॥

अन्यघ—

‘अतिथिर्यस्य भग्नाऽऽशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते ।

स तस्मै दुष्कृतं दत्त्वा पुण्यमादाय गच्छति’ ॥ ६४ ॥

गृहमागतः = स्वगृहद्वारि समुपस्थितः । अतिथिः । तस्य = अतिथेः । अभ्या-
गः = अनिथिः, गुरुः = पूज्यः ॥ ६२ ॥

निगुर्येष्वपि = अयोग्येष्वपि, नीचेष्वपि च । सत्त्वेषु = भूतेषु । साधवः = सन्तः ।
यतः । चन्द्रः = इन्द्रः । चाण्डालवेश्मनः = पतिताऽन्तारस्ताधिगेहात् ।
पेरत्ना = स्वचन्द्रिका, न संहरते = न सङ्गोचयति ॥ ६३ ॥

अतिथिरिति । यस्य = पुंसः, गृहान्—अनिथिः—भग्नाशः = निराशः सन्,
तिनिवर्त्तते = पुराद्भूलो गच्छति । सः = अतिथिः, तस्मै = गृहस्वामिने । दुष्कृतं =
दण्डान् । दत्त्वा । पुण्यं = गृहस्वामिनः पुण्यम् । आदाय गच्छति = अपहरति ॥ ६४ ॥

अनिथि यदि घालक हो या वृद्ध हो या जवान हो यह यदि अपने घर पर आ
जाय, तो उसकी पूजा अवश्य करनी चाहिये । क्योंकि अनिथि सभी का गुरु और
पूज्य होता है ॥ ६२ ॥

और भी—मनुष्य लोग गुणहीन (साधारण पानर, दुष्कृत) जीवों पर भी
सः दया ही करते हैं । देवो, चन्द्रमा चाण्डाल के घर से भी अपनी शिरों को
नहीं टांता है । अर्थात् चन्द्रमा की शीतल किरण गुप्ती व निगुर्य सभी के ऊपर
सनान ही पड़ती हैं ॥ ६३ ॥

और भी—जिस गृहस्थ के घर से अनिथि निराश होकर लौट जाता है, तो

१. वेश्मनि’ पा० ।

अन्यथ—

‘उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।
पूजनीयो यथायोग्यं, सर्वदेवमयोऽतिथिः’ ॥ ६५ ॥

गृध्रोऽवदन्—‘मार्जारो हि मांसरुचिः, पक्षिरावकाश्चाऽत्र नियसन्ति,
तेनाऽहमेवं प्रवीमि’ ।
सन्दुल्या मार्जारो भूमिं स्पृष्ट्वा कर्णो स्पृशति । मृते च—‘मया धर्म-
शान्त्रं श्रुत्वा वीतरागेषु दे दुष्करं व्रतं चान्द्रायणमध्यवसितम् । परस्व-
विवदमानानामपि धर्मशास्त्राणाम्—‘अहिंसा परमो धर्म’ इत्यत्रैकमत्यम्
यतः—

उत्तमस्याऽपि वर्णस्य = भेदस्याऽपि ब्राह्मणादेर्वर्णस्य । गेहे = गृहे । नीचोऽपि-
= स्वतो निरुद्धभाष्यशालादिरपि । यथोयोग्यं = यथोचितम् । पूजनीयः = पूज्यः ।
व्रत एतदत्र श्राद्ध-मंत्रेति । सर्वदेवमयः = सर्वदेवस्वरूपः ॥ ६५ ॥

मांसरुचिः = मांसमिषः । अत्र = इच्छकोटरे । एवं = कूरं वाक्यम् । क-
स्पृशति = निनान्तमशरूपत्वमात्मनो दर्शयन्, कर्णो स्पृशन् शयथमाचरति
(कान् पफङ्कर सौगन्ध लाता है) । वीतरागेषु = रिगतस्पृहेषु । अस्व-
किल = शीघ्रतम् । विवदमानानामपि = कलहायमानानां परस्परं विद्वदं निर्दिश्य

यद अतिथि उत्तम वर्ण की अपनी पाप देकर और उसका पुण्य लेकर चला जाता
है । अर्थात् अतिथि को निराश करने से बड़ा पाप होता है ॥ ६४ ॥

और नी—उत्तम वर्ण (ब्राह्मण आदि) के पर में यदि नीच वर्ण (चाण्डाल-
सारिक) भी अतिथि होकर आये तो उसका भी यथायोग्य सत्कार करना चाहिये,
वर्णों के अतिथि सब देना ही का रूप है ॥ ६५ ॥

सब पर गिद्ध के आ—बिल्ली को मांस खाने की बड़ी रुचि होती है, और
यहाँ पक्षियों के बसे रहते हैं । इभीड़िये मने ऐसा कहा था । (तुमको मारा या)
आजः तुम हमने मुझ मत मानना । यद मुन कर यह बिलाल भूमि को छूट कर
पकड़ने लगा और बोला कि मैं तो धर्मशास्त्रों को मुनकर निकट होकर इन कठिन
कान्द्रायण को नष्ट कर रहा हूँ । यत्रि और विवदां पर धर्मशास्त्रों में भाषेद भी
है, पर हिंसा नहीं करना ही मरने बड़ा धर्म है’ इन बात पर तो सभी राज्यों की
सन्धि है ।

‘अहिंसा परमो धर्मस्तथाऽहिंसा परो दमः ।
 अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः’ ॥ ६६ ॥
 अहिंसा परमो यागस्त्वहिंसा परमं बलम् ।
 अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं श्रुतम् ॥ ६७ ॥
 सर्वहिंसानिवृत्ता ये नराः, सर्वसहाय्यं ये ।
 सर्वस्याऽऽश्रयभूताश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः ॥ ६८ ॥
 एक एव सुहृद्दमो, निघनेऽप्यनुयाति यः ।
 शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यत्तु गच्छति ॥ ६९ ॥

तानपि । धर्मशास्त्राणां = मन्वादिस्मृतीनाम् । ऐकमत्य = परस्परमविरोधः ॥
 परमः = सर्वोत्कृष्टः । दमः = इन्द्रियविनिग्रहः ॥ ६६ ॥

मित्र = हिनकारकम् । श्रुतं = विद्यां तत्फलमिति यावत् ॥ ६७ ॥

सर्वसहाः = तितिक्षापरायणाः । आश्रयभूताः = सर्वाऽऽश्रयप्रदाः ॥ ६८ ॥

धर्म — एव एकः = केवलः, लोकाणां—सुहृत् = मित्र, यः—निघनेऽपि = मरुतेऽपि,
 अनुयाति = प्राप्तिभिः सह गच्छति । सम = तार्क्ष्यम्, अन्यत् = घनादिकम् ।
 गच्छति = याति ॥ ६९ ॥

क्योकि अहिंसा ही परम धर्म है । अहिंसा ही सबसे बड़ा दम (इन्द्रिय निग्रह)
 है । अहिंसा ही परम उत्कृष्ट दान है । अहिंसा ही सबसे बड़ा तप है ॥ ६६ ॥

और अहिंसा ही सबसे बड़ा बल है । अहिंसा सबसे बड़ा श्रुत है । अहिंसा ही
 सदा मित्र है । अहिंसा ही सबसे बड़ा भूत—शान (उपदेश) है । अर्थात्
 अहिंसा ही सब वेदों का व स्मृतियों का सार है ॥ ६७ ॥

क्योकि—जो लोग सब प्रकार की जीव हिंसा से निवृत्त हैं, और जो मनु कुट्ट घरन
 करते हैं, तथा सबको अपनाशक्ति आश्रय देते हैं, वे ही लोग स्वर्ग में जाते हैं ॥ ६८ ॥

और धर्म ही केवल एक ऐसा मित्र है, जो मरने पर भी साथ देता है । और
 सब सम्पत्ति तो शरीर के साथ ही नष्ट हो जाती है ॥ ६९ ॥

किञ्च—

योजति यस्य यदा मांसमुभयोः परयताञ्तरम् ।
 एकस्य क्षणिका प्रीतिरन्यः प्राणैर्त्रिमुच्यते ॥ ७० ॥

शक्यते नाञ्जुमानेन परेण परिवर्णितम् ॥ ७१ ॥

शृणु पुन—

‘स्वच्छन्दवनजातेन शाकेनाऽपि ग्रह्यते ।
 अस्य दग्धोदरस्याऽर्थे कः कुर्यात्पातकं महत् ॥ ७२ ॥

यः = पुमान् यस्य = गृहादेः । यदा = परिभन् समये । अति = भक्षणा-

त्मयोः = भक्ष्यभक्षकयोः । अन्तर = मेदम् । परयत = विलोकयन् । एकस्य-
 भक्षकस्य पुंसस्य । क्षणिका = क्षणमात्रस्यापिन्धेन । प्रीतिः = तृप्तिर्भवति । परम्-

अन्यः = मृगादिर्भक्ष्यभूतः पशुस्य ॥ ७० ॥

‘मया मर्चयमिदानी’मिति शक्यं, यत् = यादृशं दुःख = क्लेशः—पुरुषस्य,

जन्तोः, उपजायते = मवति, तेन = तदेतुकेन, अञ्जुमानेन = अनुनि ना, परोऽपि =

मृगवद्व्याधिरिति । परिवर्णितम् । शक्यः = शक्यः । ‘मरणाद्यथा मम दुःख, तथैव

परवपारी’ति निरुपय परोऽपि एतान्नदेव रक्षणीव इत्याद्ययः ॥ ७१ ॥

स्वच्छन्दजनजातेन = स्वल्पवनोद्भूतेन मुनभेन । शाकेन = ललनूतशाकादिना ।

ग्रह्यते = पत्वारिपूर्वा भवति । त-व दग्धोदरस्य = उदरहनस्य, अर्थे = निमित्तं,

कः = कः तयोः पुमान् । महत् = निराशं दुःख । पातकं = प्राप्तिरूपत्वात्पान्-

मुपात्तम् । न वभिः ति गट्टस्य, मुपात्ति-वर्षः ॥ ७२ ॥

एव प्राण्यी जव दूधरे प्रादा का मांस लागा है, सो उन समय उन दोनो-

भेद देणिये । एक (लाने वाले) को तो क्षणिक ही आनन्द (आस्वाद) भिजा

है, दूसरे दुःख (भक्ष्य भक्षक) प्राण के त्रिदेह ममारसे चला जाता है ॥ ७० ॥

‘मुनयो मरणा रोगः’ यह सोच कर मरने वाले मनुष्य को जो दुःख रोग है,

उसको दूसरा मनुष्य केंपत अञ्जुमान से वर्जन नहीं कर सकता है ॥ ७१ ॥

द्वोर मुनो—जिना दोनो-भेदो करव इन में उपज दुःख काटसे भी जब यह दे-

—एवं विश्वास्य स मार्जारस्तदुकोटरे स्थितः ।

ततो दिनेषु गच्छत्सु—असौ पक्षिशावकानाक्रम्य कोटरमानीय प्रत्यहं
खादति । येषामपत्यानि खादितानि तैः शोकार्तैर्विलपद्भिरितस्ततो
जिज्ञासा समारब्धा । तत्परिहाय मार्जारः कोटरान्निःसृत्य वहिः पलायितः ।
पश्चान्पक्षिभिरितगततो निरूपयद्भिरत्र तरुकोटरे शावकाऽस्थीनि प्राप्तानि ।
अनन्तरम्—‘अनेनेव जरद्गवेनाऽस्माकं शावकाः खादिताः’ इति सर्वैः
पक्षिभिर्निश्चित्य स गृध्रो व्यापा दितः ।

अतोऽहं प्रयीमि—‘अज्ञातकुलशीलस्य’ इत्यादि ॥ ६४ ॥

दिनेषु गच्छत्सु = कतिपु चिद्विषयेष्वपयातेषु सत्सु (कुछ दिन भीत जाने पर) ।
असौ = मार्जारः । आक्रम्य = विधृत्य (पकड़कर) । प्रत्यह = प्रतिदिनम् । अ-
पत्यानि = शावकाः । खादितानि । तैः = पक्षिभिः । शोकार्तैः = शोकापुलैः ।
विलपद्भिः = वदद्भिः । जिज्ञासा = गणेषणा, समारब्धा = आरब्धा । (पता लगाना

भरा जा सकता है, -तो इस पापी पेट के लिये इतना बड़ा पाप कौन समझदार
मनुष्य करेगा ? । अर्थात् इस पापी पेट के लिए किसी को भी ऐसा जघन्य काम
नहीं करना चाहिये ॥ ७२ ॥

इस प्रकार विश्वास उत्पन्न कराके वह बिलाय गध के साथ ही उस वृक्ष
के लोखले में रहने लगा ।

श्रीर कुछ दिन भीत जाने पर वह प्रतिदिन पक्षियों के बच्चों को पकड़ पकड़
कर अपने लोखले में ले जाकर खाने लगा । जिन पक्षियों के बच्चों को उस बिलाय
ने गा लिया था, वे पक्षी शोकार्त होकर रोते हुए अपने बच्चों को इधर-उधर खोजने
लगे । इस बात को जानकर वह बिलाय वृक्ष के लोखले से निकल कर भाग
गया । इसके बाद पक्षियों ने इधर-उधर खोजते खोजते उस पेड़ के लोखले में—
जिममें गध और बिलाय रहते थे—अपने अपने बच्चों की हड्डियों को देखा । तब
उन सबों ने कहा कि ‘इस जरद्वय गध ने ही हम लोगों के बच्चों को खाया है’
ऐसा सब पक्षियों ने निश्चय कर उस बेचारे निर्दोष गीध को चौचोंसे मार डाला ।

इसीलिये मैं कहता हूँ कि—बिना किसी का शीन आदि जाने किसी को अपने
स्थान में रहने नहीं देना चाहिये ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

—इत्यारुप्यं स जम्बुक; सक्रोपमाह—‘मृगस्य प्रथमदर्शनदिने भवानप्य-
 श्रावकुलशील एव, तत्कथं भवता सहैतस्य स्नेहाऽनुवृत्तिरुत्तरोत्तरं वर्द्धते ?।

‘यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राऽल्पवीरपि ।
 निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते’ ॥ ७३ ॥

अन्यथा—

‘अयं निजः’, ‘परो वे’नि गणना लघुचेतसाम् ।
 उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥ ७४ ॥

— (मारभ क्रिया) । तत् = पतिषः कुटुम्बकम् । निरस्तपादः = जिहासमानः । व्यासा-
 दितः = हतः ।

सक्रोपं = सक्रोपम् । आह = काहं प्रत्याह । भवानपि = काकोऽपि । एतस्य =

मृगत्य । स्नेहानुवृत्तिः = स्नेहसम्बन्धः । यत्रेति । अल्पवी. = मन्दबुद्धिः, वृच्छमति-
 रपि । निरस्तपादपे = वृक्षरक्ष्ये । एरण्डः = पत्राटलः । द्रुम इव आचरति—द्रुमायते =
 वृक्षान्धं पते । एवञ्च मगान् काकोऽपीदानीमुग्रदेशकपदं पते । मित्र भव-
 काकोऽपीदानीं मृगावाश्रयं मुदुद्भान् पते इत्याशयः ॥ ७३ ॥

अयं जनः = निजः आत्मीयः, अय पर = अय जनः अपरः, यत्रुर्नां । इति = इत्येवं,
 लघुचेतसाम् = लघुचित्तचित्तानां, वृच्छानामेव । गणना = विचारो भवति । उदार-
 चरितानां = महागुणानां, महत्तान् । वसुधैव = सकलं जगदिति । कुटुम्बकम् =
 कुटुम्बकान्वयेव । तत्रैव तेषामन्तर्नीवमाय इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

यद गुनहर यद गियार मुदु होहर बोला—‘जब धारना (बोने का) श्रीरमृग
 पदिले पदल दराने दुआ या तर आप भी तो मृग के लिए अमानुलशांल है
 तो निर बसो आत का श्रीर इन (मृग) का प्रेम उत्तर बदना ही जाग है !।
 श्रीर है—वहाँ कोई वंशय नि. जान् नहीं है, वहाँ अल्प बुद्धि काले पुत्रय भी भी
 जा होती है। मित्र जगह वृक्ष नहीं है, वहाँ रेंद भी वृक्ष कहा जाग है ॥ ७३ ॥
 श्रीर भी—‘यद मेव है’, ‘यद दूमय है’ यद विचार हो छूटे लोगों का ही
 है। वदें लोगों का ही अन्तर ही अन्तना कुटुम्ब है ॥ ७४ ॥

यथाऽयं मृगो मम बन्धुस्तथा भवानपि ।

मृगोऽब्रवीत्—किमनेनोत्तरोत्तरेण ? । सर्वैरेकत्र विश्रम्भाऽऽलापैः

मुसमनुभवद्भिः स्वीयताम् । यतः—

‘न कश्चित्कस्यचिन्मित्रं, न कश्चित्कस्य चिद्रिपुः ।

व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते, रिपवस्तथा’ ॥ ७५ ॥

काकेनोक्तम्—‘एषमस्तु’ । अथ प्रातः सर्वे यथाऽभिमतदेशं गताः ।

एकदा निभृतं शृगालो ब्रूते—‘सखे ! अस्मिन्वनैकदेशे सस्यपूर्णं

क्षेत्रमस्ति । तदहं त्वां तत्र नीत्वा दर्शयामि ।’

तथा कृते सति मृगः प्रत्यहं तत्र गत्वा सस्यं खादति ।

भवान्=काकोऽपि । मम मित्रं=मुहूर्त् । उत्तरोत्तरेण=उत्तरप्रत्युत्तरेण ।

विश्रम्भाऽऽलापैः=शीतिगर्भैर्विश्वाससूचनैर्भाषणैः । नेति । मित्रं=स्वभावतो मित्रम् ।

रिपुः=सहजो रिपुः । व्यवहारेण=हिताऽहिताचरणेन, कार्यकारणभावेन च ॥ ७५ ॥

यथाऽभिमतदेशं = एतन्नाभिलषितं स्थानम् । निभृतम् = एकान्ते । वनैकदेशे =

वनैकभागे । वनप्रदेशे । तथाकृते सति = सस्यपूर्णं क्षेत्रे तेन प्रदर्शिते सति ।

वैसे यह मृग मेरा मित्र है, वैसे ही आप भी मेरे मित्र हैं । तब मृग बोला—रहने दो, इस उत्तर-प्रत्युत्तर से क्या लाभ है ? । सब लोग प्रेम से घातचीत करते हुए एक जगह मुसपूर्वक रहें-वही श्रन्द्या है ।

कपे'दि—स्वभाव से तो न कोई किसी का मित्र है और न कोई किसी का शत्रु ही है । शत्रुता और मित्रता तो व्यवहार (कार्य) से ही होती है ॥ ७५ ॥

तत्र ठम बीवे ने कहा कि—श्रन्द्या वान है । इसके अनन्तर प्रातःकाल होने पर वे सब अपनी अपनी इच्छा से इधर-उधर वन में चरने की चले गए । इस प्रकार वे तीनों आनन्दपूर्वक उन वन में रहने लगे ।

एक दिन उस सिंघार ने मृग से एकान्त में कहा कि हे मित्र ! इसी वन के एक स्थान में घान का हरा भरा क्षेत्र है, चलो मैं चलकर तुमको दिलाता हूँ । ऐसा कहकर उस शृगाल ने वह रोम मृग को दिखा दिया ।

तब तो यह मृग नित्य उस क्षेत्र में जाकर घान खाने लगा ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

अथ दिनकृतिपयेन क्षेत्रपतिना तद्दृष्ट्वा पाशा योजिताः । अनन्त
 पुनरागतश्च चरन् मृगस्तत्र पार्श्वद्वोऽचिन्तयत्—'को मामितः कालपाशा
 दिव व्याघपाशाञ्चानु मित्रादन्यः समर्थः ?' । तत्राऽन्तरे जम्बुकस्तत्राऽऽ-
 गन्योपस्थितोऽचिन्तयत्—'फलितस्तावदस्माकं कपटप्रबन्धः, मनोरथसिद्धि-
 रपि प्रायो मे भविष्यति । एतस्योत्कृत्यमानस्य मांसाऽसृग्लिप्तान्यस्यीनि
 मयाऽधर्यं प्राप्तव्यानि, तानि बाहुल्येन (मे) भोजनानि भविष्यन्ति ।'
 मृगात् हृष्टोऽज्ञासितो ब्रूते—'सरे ! द्विन्धि तावन्मम चन्धनम्,
 सत्यं त्रायस्व माम् । यत्—

आपत्सु मित्रं जानीयाद्युद्धे शूरमृषे शुचिम् ।

तत्र = क्षेत्रे । सत्यं = मोक्षियवादिक्म् । क्षेत्रपतिना = क्षेत्राधिपेन । (क्षेत्र = क्षेत्र)

तत् = मत्समक्षयम् । योजना = यदाः । इतः = अस्मात् । कालपाशादिय =
 यमपाशद्वयात्, व्याघपाशात् = मृगपाशात् । पाश = रश्मिम् । अनन्तरे =
 अन्तरे । कपटप्रबन्धः = छलप्रयोगः । बाहुल्यात् = प्रायः । मनोरथसिद्धिः =
 मृगमांसाऽऽहरादनाऽभिप्रायसिद्धिः । उत्कृत्यमानस्य = द्विजमानस्य, लक्ष्यः
 क्रियमाणस्य । (चमडा उतारे जाते समय) । मांसाऽऽग्लितानि = मांसदधिर-
 त्रिप्तानि । उच्छामितः = प्रसन्नमानसः । द्विन्धि = तद्वद्वय । आपत् = रव ।

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर, रीत के हमामी ने मृग को छाता जाता
 देलकर एक दिन रीत में जाल लगा दिया । यह मृग भी प्रतिदिन की तरह
 रीत के मुख्य व्याघरात् से नित्र को हृष्ट कर मुझे दूधवा बीन बना सहना है
 भी बीन में यह गिराव रहा छाया और मन ही मन सोचने लगा कि,—
 भी बाहारी तो कान कर गई, अब मेरी कानना गिद्ध होगी, क्वंकि जब इत
 का चमडा उतारा जावगा, तो कुछ मांस व दधिर लगी हुई दृष्टियाँ तो
 चपरव ही निरोगी । और उनमे मेरा भरभूर नोशन होगा ।
 दर मृग उगे देवावर प्रकभ होकर बीन—दे 'नित्र ! मेरे चन्धन की शीघ
 और मुझे बधाओ ।

भार्यां क्षीणेषु विक्षेपु, व्यसनेषु च वान्धवान् ॥ ७६ ॥

अपरञ्च—

‘उत्सवे, व्यसने चैव, दुर्भिक्षे, राष्ट्रविप्लवे ।

राजद्वारे, श्मशाने च यस्तिष्ठति, स वान्धवः’ ॥ ७७ ॥

जन्मुको सुहुर्मुहुः पाशां विलोक्याऽचिन्तयत्—दृढबन्धननद्धोऽस्ति वायदयं मृगः । ब्रूते च—‘सखे ! स्नायुनिर्मिता एते पाशाः । तदद्य भट्टारपरविचारे कथमेतान्दन्तैः स्पृशामि ? । मित्र ! यदि चित्ते नाऽन्यथा मन्यसे तदा प्रभाते यत्त्वया वक्तव्यं तत्कर्तव्यम् ।’ इत्युक्त्वा तत्समीपे आत्मानमाच्छाद्य स्थितः सः । अनन्तरं स काकः प्रदोषकाले मृगमनागतमव-

आगच्छति । जानीयात्=परीक्षेत । शुचि=शुद्धव्यवहारम् । क्षीणेषु=विनष्टेषु ।

विक्षेपु=वनेषु । व्यसनेषु=विपत्तिषु । ‘जानीया’दिति शेषः ॥

उत्सवे=विवाहादारानन्दसमये । व्यसने=विपत्ती । दुर्भिक्षे=अनावृष्टा-

वज्रकटे, अकाले । राष्ट्रविप्लवे=राज्यमन्त्रे, राजपरिवर्तनावसरे । राजद्वारे=

कन्यागारे, पर्माधिकरणे वा । (‘कचहरी’ और ‘जेल’ में) । श्मशाने=पितृवने ।

(मसान में) । प्रियमरणे । तिष्ठति=साहाय्यमाचरति ॥ ७७ ॥

सुहुर्मुहुः=शरंवारम् । स्नायुनिर्मिताः=नाडीनिर्मिताः (पशु की अंतही की तान

के बने हुए हैं) । भट्टारकरविचारे=असमत्वामिनः सूर्यस्य दिने । चित्ते=मनसि ।

अन्यथा=दुर्घ मित्रमयमिति । प्रदोषकाले=सायंकाले । तपाविधे=पाशवद्धम् ।

क्योंकि धारति में-मित्र की, मुद में-गीर की, श्रृण्य में-साक और निष्पट

की, निर्धनता में-स्त्री की, दु. (त पटने पर-भाई बन्धुओं को पहचानना चाहिये ॥ ७६ ॥

और भी—हर्य में, शोक में, दुर्भिक्ष पटने पर, राज्य अन्ति के समय, राज-

द्वार (कचहरी) में और श्मशान में जो साथ देता है, वही सच्चा मित्र है ॥ ७६ ॥

यह शृंगार बार-बार उस नाँस की देखकर मन ही मन बड़ा प्रसन्न हुआ,

और सोचने लगा कि यह मृग आस बड़े मजबूत बन्धन में फँसा है । और प्रकट

में करने लगा कि—दे मित्र ! यह भाँस तो तँव (अंतही) का बना हुआ है । और

○ अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

लोभयेतस्ततोऽन्विष्य तथाविधं तं दृष्ट्वाच—‘सखे ! किमेतत् ?’
सृगेणोक्तम्—‘अप्रधीरितसुदृढास्यस्य फलमेतत् । तथा चोक्तम्—

‘सुदृढां हितकामानां यः शृणोति न भाषितम् ।
निपत्संनिहिता तस्य, न नरः शत्रुनन्दनः ॥ ७८ ॥

पाको मूत्रे—‘स वञ्चक फाऽऽस्ते ? । सृगेणोक्तं ‘मन्मांसार्थी विद-
त्यत्रैव । काको मूत्रे—‘मित्र ! उक्तमद्य मया पूर्वम्—

तं = मृगम् । अप्रधीरितसुदृढास्यस्य = मित्रवचनानादस्य । एतत् = पार्श्वेयं नम् ॥
हितकामानां = दिनेष्विणाम् । भाषितम् = उपदेशम् । शत्रुनन्दनः = शत्रुहर्षप्रदः ।
निपत्संनिहितं तद्गुणं शत्रुनन्दनः । ७८ ॥

स = दुष्टः, वञ्चकः = जम्बुकः । ‘शृगाल-वञ्चक-जोष्टु फेर-फेर-जम्बुकाः’—
मरः । वञ्चको धृत इति वा । मन्मांसार्थी = मदीयमासभक्षणभितापी ।

आज तो रविवार का दिन है । आज इनको मैं रातों से कैसे छूँऊँ ? । सो मित्र
बढ़ि तुम मन में कुछ दूसरा न ख्याल करो, तो कल प्रातःकाल जो तुम कहों
बढ़ी मैं कहूँगा । अर्थात् इस काल को कल जरूर काट दूँगा । ऐसा कहकर व-
दुष्ट शृगाल उसके पास ही करी द्विगुण बैठ गया ।

इसके बाद सार्पकाल में जब मृग अपने स्थान में नहीं आया तो उसका मित्र
बढ़ कीरा उसे हथर-हथर सोजता हुआ वहाँ आया और मृग की ऐसी दशा देख
कर बोला—मित्र ! यह क्या बात है ? । तब उस मृग ने कहा—मित्र ! तुम्हारी
बल का आनादर करने का ही यह फल है ।

किन्तीने कहा भी है—

जो लोग अपने दि। वादने वाले मित्रों का कहना नहीं सुनने हैं, उनके ऊपर
निर्दिष्ट कारण आगे है और ये करने शत्रुओं के आनन्द के कारण ही
होते हैं ॥ ७८ ॥

एव बढ़ कीरा कहने लगा—यह दुष्ट शृगाल कहाँ है ? । मृग ने कहा कि मेरे
मौजूबो रातों की आठाने वहाँ कहाँ द्विगुण बैठा होगा । कीरा बोला—
मैंने तो तुम्हें बड़ो ही बड़ दिया था, दि— •

‘अपराधो न मेऽस्ती’ति नैतद्विद्यामकारणम् ।

विद्यते हि नृशंसेभ्यो भयं गुणवतामपि ॥ ७६ ॥

दीपनिर्वाणगन्धश्च, सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम् ।

न जित्रन्ति, न शृण्वन्ति, न पश्यन्ति गताऽऽद्युषः ॥ ८० ॥

परोक्षे कार्यहन्तारं, प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।

वजयेत्तादृशं मित्रं, विपकुम्भं पयोमुखम् ॥ ८१ ॥

ततः काको दीप निःश्वस्य आह—‘अरे वध्वरु ! किं स्वया वापकर्माणा

मे=मम । अपराधः=दोषः । ‘नाऽस्य मया किमप्यपराध, कर्मादय मा
विपिपती’ति कृत्या द्रुष्टे विश्वासो न विधेयः । गुणवतां=साधूनाम्, सर्वोपर-
तापणानामपि, नृशंसेभ्यः=नरेभ्यः, अकारणवैरिभ्यः, तसेभ्यः । भयं=
भयः । अस्त्वयेति भावः ॥ ७६ ॥

दीपनिर्वाणगन्ध=प्रदीपनिष्पापनोक्तियुक्तं गन्ध-न जित्रन्ति । सुहृद्वाक्यं=
न्यायावयवम्, न शृण्वन्ति । अरुन्धती=सतपिसमीपस्थं सूक्ष्म नक्षत्रमिच्छेयञ्च
परपन्तीत्यन्वयः ॥ ८० ॥

पयोमुखं=दुग्धयन्मधुरमायिणं, दुग्धसम्भृतं च, विपकुम्भम्=अन्तर्विषपूर्णं
निर ॥ ८१ ॥

‘मैंने किसी का कुछ अपराध तो किया नहीं है, अतः मुझे दूसरों से क्या
भय है’ यह समझ कर दुर्जनों से निर्भय नहीं होना चाहिए, क्योंकि सज्जनों को
दुर्जनों से भय तो सदा ही रहता है ॥ ७६ ॥

दीपक के बुझाने पर जो तेल की गन्ध उठती है उसको जो लोग नहीं सूंघ
सके हैं, या जो लोग मित्रों के हित वाक्यों पर ध्यान नहीं देते हैं, या उत्तर
दाता में निहित सात ऋषियों के पास के छोटे अरुन्धती नक्षत्र को आकाश में
देख मन्ने हैं, उनको मृत्यु निश्च ही समझनी चाहिए । अर्थात् वे ज्यादा
दूर इस सगर में नहीं रहेंगे, शीघ्र ही नष्ट हो जाएँगे ॥ ८० ॥

परोक्ष में कार्य को सिगाहने वाले पर सामने मोठी मोठी बात करने वाले मित्र
को दूर से टके दूर मित्र के घड़े की तरह ही जानकर उसने अलग रहना
चाहिए ॥ ८१ ॥

पर मुनर पर कीग लगी सांत सेरर बेला कि—अरे दुष्ट शृगाल !

कृतम् । यत्—

‘मंलापितानां मधुर्गर्वचोभि—

मिथ्योपचारैश्च वशीकृतानाम् ।

आशानतां, शब्दघतां च लोके,

किमर्थिनां वञ्चयितव्यमस्ति’ ? ॥ ८२ ॥

उपकागिणि, विश्वन्वे, शुद्धमती यः समाचरति पापम् ।

तं जनमसत्यसन्धं भगवति वसुधे ! कथं वहसि ? ॥ ८३ ॥

दुर्जनेन समं मख्यं, प्रीतिश्चाऽपि न कारयेत् ।

वशक = हे धूर्त, जम्बुक । पापकर्मणा = नीचकर्मणा, दुष्टेन । किं कृतम् : अनुध्यामाचरितम् ।

लोके = जगति । मधुरः = मिष्टः । चोभिः = वानयैः । सलापितानां = रिदिशालापानाम् । विश्वस्तानामिति वान् । मिथ्य मिथ्या = कथयूर्यैः । उपचारैः = सेवा-मत्कारादिभिः, वशीकृतानां = वशे स्थापितानां वा । आशावतान् = आशुपापदानाश्च । च = मिथ्य, भद्वावतां = भद्गतां वा । अर्थिनां = पाचरानां, प्रणयिनाम् । किं वञ्चयितव्यम् = किं वञ्चनीयम् । अस्ति = अस्तित्वप्यते । निश्चयं वञ्चने किं वीरलनि-पर्यः ॥ ८२ ॥

वपकारिणि = उपहारपरे । विश्वन्वे = विश्वासपुत्रगते । अतएव—शुभरी = सरलाऽश्रयै, अश्रुद्विते । वसुधे = विश्वासपातेन अनिष्टम् । अस्तत्वसन्धम् अस्तयमसिद्धं, मिथ्याभाषिणम् । वसुधे = हे वृष्णि । कथं वहसि = त्वं कथं धारयसि ? ॥ ८३ ॥

मौनि = संदं, मैत्रीया । अन्तारः = कोविलः (कोपना) । उभयः = प्र...

तुने वद क्या दिया ? ।
 कपोदि—मैत्री-मैत्री बातों से तथा कथयत मकारो मे वसुध में दिए गए त
 प्राया रगने वा भद्वातु लोको व वानको को टगना कौन वती वा है ? ॥ ८२
 हे भगवति वृष्णि ! जो प्रान्ती-उपहारी, विश्वासी, एव निश्चय प्राणो
 माय भी विश्वासपात्र काय है, उस वशी भूटे नीच पुरुष को तुम कैने धारय
 करोगे ? ॥ ८३ ॥
 और दुर्जन के साथ मिथ्या और प्रीति दोनों ही नहीं करनी चाहिये । कपोदि

उष्णो दहति चाऽङ्गारः, शीतः कृष्णयते' करम् ॥ ८४ ॥
अथवा स्थितिरियं दुर्जनानाम्—

'प्राग्पादयोः पतति, सादति पृष्ठमासं,
कर्णे कलं किमपि रौति शनैर्विचित्रम् ।

छिद्रं निरूप्य सहसा प्रविशत्यशङ्कः,
सर्वं सलस्य चरित मशकः करोति ॥ ८५ ॥

दुर्जनः, प्रियवादी च, नैतद्विधामकारणम्' ।

मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे, हृदि हालाहलं विपम्' ॥ ८६ ॥

३३ । दरति = प्रदहति । शीतः = अनुष्णः (शुभा हुआ कोयला) कृष्ण करोनि-
कृष्णयते = मलिनीकृतते । करं = हस्तम् ॥ ८४ ॥

स्थितिः = आचरण, स्वभावश्च । दुर्जनानां = खलानाम् ॥

प्रागिति । प्राग् = पूर्वम् । पादयोः पतति = नीचैर्गच्छति । (सलपत्ते-)

रूपयोः प्रणमति च । पृष्ठमासं सादति = पृष्ठे दद्यति (सलपत्ते-पृष्ठो निन्द्यं
करोति च) । कलं = पुमधुरम् । विचित्रं = नानाप्रकारम् । किमपि = अनिश्च-
नीयम् । रौति = हूमति, कथयति च । छिद्रं = निरम् । अरसरञ्ज । निरूप्य = दृष्ट्वा ।
मशकः = निर्भयः सन् । सलस्य = दुष्टस्य । मशकः = दशः (मच्छर) ॥ ८५ ॥

अशङ्कः = निर्भयः सन् । सलस्य = दुष्टस्य । मशकः = दशः (मच्छर) ॥ ८५ ॥
विपमकारणं = विश्रामदेष्टुः । दुर्जनः, प्रियवादी चेत्तयाऽपि तत्र विश्वासो

अज्ञानं गरम (जङ्गल) हो तो हाथ जलना है, और वही यदि शीतल हो तो हाथ
को ही जलना कर देता है ॥ ८४ ॥

मच्छर पक्षी देर पर गिरता है, फिर पीठ का मांस खाता है, पुनः धीरे-धीरे
कान में कुछ गुनगुनाता है, फिर धीरे-धीरे मौका देखकर सहसा निर्भय होकर
भेरे प्रवेष्ट कर जाता है । इस प्रकार मच्छर दुर्जनों के सब चरित्रों का अनुकरण
करता है । दुष्ट भी—पक्षी देर पर गिरता है, फिर परोक्ष में (पीछे से) काम को
खाता है, फिर कान के पास आकर दूसरो की चुगली करता है, और मौका
पै ही आनन्द ही करता है ॥ ८५ ॥

१. 'कृष्णयते'—इति पाठान्तरम् ।

अथ प्रभाते क्षेत्रपतिर्लगुहस्तमत्तं प्रदेशमागच्छन्काकेनाऽधलोकितः
तमालोऽय काकेनोक्तं—‘सखे मृग ! त्वमात्मानं मृतवत्संदर्श्य, घातेनोदय
पूरयित्वा, पादान्स्तन्वीकृत्य तिष्ठ । यदाऽहं शब्दं करोमि, तदा त्वमुत्थाप्य
सत्वरं पलायिष्यसे ।’

मृगस्तथैव काकवचनेन स्थितः । ततः क्षेत्रपतिना हर्षोत्फुल्ललोचनेन
तथाविधो मृग आलोकितः । ‘आः स्वयं मृतोऽसि’—इत्युक्त्वा मृगं वन्धना
न्मोचयित्वा, पाशान्संघरीतुं’ सयत्रो यमूव ।

ततः कियद्दूरमन्तरिते क्षेत्राधिपे काकराब्दं श्रुत्या स मृगः सत्वरं

न विषेयः, यतस्तस्य जिज्ञप्से एव मधु = माधुर्यं वचते, हृदये तु तस्य हलारलं =
मुनीक्षणं विषमेव तिष्ठतीति भावः ॥ ८६ ॥

लगुहस्त = दण्डपाणिः । प्रदेशं = क्षेत्रप्रदेशम् । स्तन्वीकृत्य = जडीकृत्य
विलिप्तमि = धर्यामि । तथैव = मृतवत् । हर्षोत्फुल्ललोचनेन = हर्षविकसितलोच
नेन, प्रसन्नेन । तथाविधः = मृतरत्विजः । वन्धनात् । संघरीतुं = संहतुं
‘मही’मिति पाठान्तरम् । सपल = चलान् । (इकट्ठा करने लगा) । घन्तरिते
= व्यनक्तिने । दूरगते सति । लगुहेन । व्याकथितः = इतः ॥

दुर्जन भी कमी सखा प्रियवादी (मोटा बोलनेवाला शिष्यी) हो सकना है,
यह कभी विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि दुर्जन की जिता पर ही मधुरता
रहती है, परन्तु हृदय में तो उसके हलाहल विष ही भर चुका है ॥ ८६ ॥

इसके बाद कीड़े ने उस गेत के रगामी को हाथ में दण्डा लिये उसी तरह
छाने हुए देगा । उसको देगकर कीड़े ने मृग से वश हि—मित्र मृग । तुम
मृगक की तरह पैद गुल्लारर पैरों को निभेष्ट करके पड़ जाओ । जब मैं बोर्नूंगा तो
तुम भट उठ कर भाग जाना । कीरा के करने से यह मृग बेते ही पद गया ।

इसके बाद गेत का रगामी मृग को देगारर प्रमत्त होकर बोला—अरे ! यह
तो आग ही भर गया है । येमा कह कर उस जाल को मोदकर जाल को समेटने
लगा । और यह जब कुछ दूर चला गया, तब उस कीड़ेने शब्द किया । यह मृग

१. ‘मही’मिति । ‘सन्धी’मिति च पाठान्तरम् ।

मुत्याय पलायितः । तमुद्दिश्य तेन क्षेत्रपतिना क्षिप्तेन लघुडेन शृगालो हतः । तथा चोक्तम्—

‘त्रिमित्रपक्षिभिर्मासैस्त्रिमिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।

श्रत्युत्कटैः पाप-पुण्यैरिहैव फलमश्नुते’ ॥ ८७ ॥

अतोऽहं श्रयामि—‘भक्ष्य-भक्षकयोः प्रीतिः’—इत्यादि ॥ • ॥

काकः पुनराह—

‘भक्षितेनाऽपि भयता नाऽऽहारो मम पुष्कलः ।

त्वयि जीवति जीवामि चित्रग्रीव इवाऽनघ !’ ॥ ८८ ॥

अन्यथा—

तिरश्चामपि विश्वासो दृष्टः पुण्यैककर्मणाम् ।

‘सर्ता’ हि साधुशीलत्वात्स्वभावो न निवर्तते ॥ ८९ ॥

श्रत्युत्कटैः = उच्छ्रुतैः । इहैव = अस्मिन्नेव जन्मनि । अश्नुते = भुङ्क्ते ॥ ८७ ॥

श्रय = शिष्यको नाम सूत्रिकः ।

हे-अनघ = हे साधो । ‘अनघः’ इति पाठान्तरम् । भयता = मूढकेन ।

पुष्कलः = प्रचुरः । आहारः = भोजनं । न-भवति । त्वयि पुनर्जीवति सति—

रक्षणीयः = कपोतराज—इय । अहं जीवामि = जीवन् स मे ॥ ८८ ॥

तिरश्चो = पशुपदवादीनामपि । पुण्यमेक कर्म येषां-तेषां पुण्यैककर्मणां=

एवात्मनाम् । साधुशीलत्वात् = शुभाऽऽचारत्वात् । स्वभावः = साधुता ।

ये का शब्द सुन कर शीघ्र ही उठकर भागा । तब खेत के हामी ने उसके लिये फेंके लाठी पेंकी, परन्तु वह लाठी भृगु को न लगकर पास में ही छिपे : उस सिपार को लगी और वह शृगाल मर गया ।

कहा मो है—उच्छ्रुत पापो व पुण्यो का फल इसी लोक में—तीन वर्ष में, या १ महीने में, या तीन पक्ष में, या तीन दिन के भीतर ही मनुष्य को मिल जाता ॥ ८७ ॥

इसी छिये मैंने कहा था कि ‘भक्ष्य और भक्षक की प्रीति वैसी’ इत्यादि ।

तब वह कीना बोला कि—

माई ! तुम्हें राा लेने पर भी मेरा देह तो पूरा मरेगा नहीं । पर हे साधो ! हे भीतिव रहने से तो चित्रग्रीव की तरह मैं भी कभी दुहायी सहायता से गुंथा ॥ ८८ ॥

विद्य—

साधोः प्रकोपितस्याऽपि मनो नाऽऽयाति विक्रियाम् ।

न हि तापयितुं शक्यं सागराऽम्भस्तृणोल्कया ॥ ६० ॥

हिरण्यगो व्रूते—'चपलस्थं । चपलेन सह स्नेहः सर्वथा न कर्तव्यः
तथा चोक्तम्—

'भार्जारो, महिषो, मेघः, काफः, कापुरुषस्तथा ।

विद्यामात्प्रमथन्त्येते, विश्वासस्तत्र नोचितः' ॥ ६१ ॥

न निरतने = जन्माऽन्तरेऽपि जापयाति ॥ ८६ ॥

साधोः=सन्नस्य । प्रकोपितस्य=कोपं प्रापितस्यापि, परिरपकारयतेन कोपि
स्याऽपि । विक्रिया=विकारम् । नाऽऽयानि = न गच्छन्ति । साधु. कोपितोऽर्था
साधुना न जहातीति भावः । हि = यतः । सागराऽम्भः=समुद्रजलं, तृणोल्कयेन
तापयितुं = सन्तापयितुम् । न शक्यम् = नैव शक्यते ॥ ६० ॥

च = पापसः । चपलः = चञ्चलवृत्तिः । चपलेन = चञ्चलमतिना । स्नेहः
प्रीतिः ॥ भार्जारः = विटालः । मेघः = उरभः (मैत्रा) । कापुरुषः = नीचपुरुषः

श्रीर भी-पुण्य मा पशुपतियो का भी परस्पर मे विश्वास देना गया है
क्योंकि पुण्यवान् सन्नो का समान साधुशील (सदाचार्य) होने के कारण
हिंसा भी वेनि (जन्म) में नहीं परव्रता है ॥ ८६ ॥

श्रीर भी-सन्न का चित्त शीघ्र दिलावे जाने पर भी विश्वास को प्राप्त नहीं
होता है । जैसे समुद्र के जल को याग दूम को अग्नि (लुहाटी) से गरम नहीं
करता या मरका है । (उत्सुफ = लुहाटी) ॥ ६० ॥

तत्र हिरण्यगो व्रूता-भाई ! तुम चञ्चल समाप्त काले हो । श्रीर चञ्चल
समाप्त होने के साथ स्नेह (मित्रता) क्यों नहीं करना चाहिये ।

किसी ने कहा भी है—

विद्या, मैत्रा, मैत्र, कोस श्रीर जात्र पुण्य, इनका विश्वास करने से इनका शीघ्रता

क्रिद्वाऽन्यत्—शत्रुपक्षयो भवानस्माकम् । सक्तञ्चैतत्—

‘शत्रुणा नहि सन्दध्यात्सुश्लिष्टेनाऽपि सन्धिना ।

सुतप्तमपि पानीयं शमयत्पेव पावकम् ॥ ६२ ॥

दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन् ।

मथिना भूपितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ? ॥ ६३ ॥

यदशक्यं न तच्छक्यं, यच्छक्यं शक्यमेव तत् ।

नोदके शकटं याति, न च नोर्गच्छति स्थले’ ॥ ६४ ॥

एते—प्रमदन्ति = अनयां चरणे समयां, घृष्टाश्च भवन्ति । तत्र = एतेषु । उचितः = योग्यः ॥ ६१ ॥

(अन्यत् = और भी) । शत्रुपक्षयः = शत्रुकोटिप्रविष्टः । अस्माकं = मूरगाणाम् । सन्धिः = मैत्री । सुश्लिष्टेन = सुदृढेन, स्वहिताऽऽपदेन च । पावकं = रहिम् । शमयति = विनाशयति ॥ ६२ ॥

दुर्जनः = राजः । विद्यया = विद्याविनयादियुगेः, अलङ्कृतोऽपि = भूपितोऽपि । प्रसो = सर्पः । ‘किं न भयङ्करं’ इति कावुः । किन्तु भयङ्कर एवेत्यर्थः ॥ ६३ ॥ यत् = पक्षार्थम् । अशक्यं = कर्तुमशक्यम् । यच्च शक्यं—तच्छक्यमेव = वपमेव अनापासेनैव भवति । उदके = जले । शकटं = गन्त्री । (गाड़ी) । पले = भूमी । नोः = नौका ॥ ६४ ॥

१ जाना है । इसलिये इनका कभी विश्वास नहीं करना चाहिये ॥ ६१ ॥

और दूसरी बात यह है, कि—आप तो हमारे शत्रु पक्ष के हैं । अतः आप हमारी मित्रता कैसे हो सकती है । क्योंकि किसीने कहा भी है—

उत्तम से उत्तम सन्धि के द्वारा भी शत्रु से कभी सन्धि (मेल) नहीं करना चाहिये । क्योंकि यदि पानी गरम होगा तो भी वह अग्नि को तो बुझा ही देता ॥ ६२ ॥

यदि दुर्जन विद्या से विभूषित भी हो तो भी उससे दूरही रहना चाहिये । कि सन्धि से विभूषित होने पर भी क्या सर्प भयङ्कर नहीं होता है ? । अक्षय भयङ्कर होता है ॥ ६३ ॥

जो कार्य नहीं होने लायक है, वह नहीं हो सकता है, और जो होने लायक पर संशय हो ही सकता है । जैसे गाड़ी जलमें नहीं चल सकती है और भूमि

अपरश्च—

‘महताऽप्यर्थसारेण यो विश्वसिति शत्रुषु ।

भार्यासु च विरक्तासु, तदन्तं तस्य जीवनम्’ ॥ ६५ ॥

लघुपतनको श्रुते—‘श्रुत मया सर्वं, तथाऽपि मम चैतावान् सद्गुण्यः—
यथा सह मौह्यमवश्यं करणीय’मिति । नो चेदनाहारेणाऽऽत्मानं
प्रापादधिष्यामि । तथा हि—

मृद्घटवत्सुखमेधो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।

मुजनस्तु कनरुपटवद् दुर्मेघश्चाऽऽशु सन्धेयः’ ॥ ६६ ॥

महताऽपि=रिपुलेनापि । अर्थसारेण = घनादिबलेन । ‘समन्वितोऽपी’
रिः । यद्वाऽयं सिद्धपादिकारण्यपर्यनेत्वर्थः । यः = यो जनः । च = पुनः । विरक्ताः
= अलग्नरक्षासु, परपुदपरतासु च । ‘विश्वसिती’ निर्येपः । तदन्तं = तद्विश्रवास
पर्यन्तमेव । जीवितं—जीवनम् । केचित्तु—महताऽप्यर्थसारेण = गुणव्यापि प्रयोजनेनै
पर्यमाहुः ॥ ६५ ॥

लघुपतनकः = तत्रामा पावसः । मौह्यं = मैत्री । अनाहारेण = अन्नयनेन
जीवनपरित्यागेन । आत्मानं = शरीरम् ।

मृद्घटवत् = मृदुगुणवत् । सुखमेधः = सुकरमेधः । दुःसन्धानः = दुःसो-
पन्धेयः । कनरुपटवद् = गुणव्यापिगुणवत् । दुर्मेघः = अमुकरमेधः । आशु =
अनापामेन ॥ ६६ ॥

पर नाथ नहीं बत सफती है । अर्थान्-जो कार्य होने लायक हो यही करन
कारिए, अगम्यव कार्य के लिए प्रयत्न करना मूर्खता है ॥ ६५ ॥

श्रीर भी—जो पुरुष विद्वेग लायक भी शत्रुओं का, या विरक्त स्त्री (या
पुरुषानुपासनी) का विधास करता है, उस पुरुष के जीवन का अन्त ।
गम्यता कारिए ॥ ६५ ॥

तत्र पर लघुपतनक बीजा बोला—जिने सब मुन जिहा । परन्तु मेरा तो वा
मृदुशर है, रि—या तो अन्न के माथ भित्रा बसेगा, नहीं तो अन्न के द्वार
ही जिना भोजन के (अन्नयन द्वारा) अन्नया शरीर स्थाप दुंगा । जेमे—

दुर्जन प्राणी मर्दा के बडे की तरह अनापाम ही विश्व हो (मृदु-मृदु
प्राडे है श्रीर उनका पुनः मेत (अंशना) कदिनता से होता है । परन्तु सभ
योग मुता के पर बी तरह मृदु ही सिद्धते (दृश्ये) नहीं है, श्रीर यदि सिद्ध

किञ्च—

‘द्रवत्वात्सर्वलोहानां, निमिचान्मृगपक्षिणाम् ।

मयाष्टोमाच्च मूर्खाणां सङ्गतं, दर्शनात्सताम्’ ॥ ६७ ॥

किञ्च—

‘नारिकेलसमाऽऽकारा दृश्यन्ते हि सुदृज्जनाः ।

अन्ये बदरिकाऽऽकारा बहिरेव मनोहराः ॥ ६८ ॥

स्रग्ध्रेदेऽपि साधूनां गुणा नाऽऽयान्ति विक्रियाम् ।

भङ्गेऽपि हि मृणालानामनुपच्यन्ति तन्तवः’ ॥ ६९ ॥

सर्वलोहानां = सब लोहानां, द्रवत्वान् = द्रवत्वेन, सङ्गतं = मेलन, मैत्री च-
रति । मृगपक्षिणां = पशुपक्षिणां, निमिचान् = भोजनादिदानान्, कार्यकारण-
त्वात् । ‘सङ्गतं भवती’ति शेषः । मूर्खाणां सङ्गतं तु मयेन, लोभेन वा भवति ।
अन्तु-दर्शनादेव = प्रेक्षणमात्रादेव, सङ्गतं = मैत्री-भवति ॥ ६७ ॥

नारिकेलेति । नारिकेलफलवद्बहिः कठिनाः, अन्तर्मुदयश्च मन्तो भवन्ति ।
अन्ये = ललाटु । बदरिकाकाराः = बदरीफलवद्बहिरेव मृदवोऽन्तस्तु कठिना,
खटा, रोगकराश्च भवन्ति ॥ ६८ ॥

अतएव = वक्ष्यमाणहेतोः । सङ्गतिः = मैत्री । इष्यते = अभिलष्यते ।

नी है, तो शीघ्र ही पुनः टीक दिए (जोड़े) जा सकते हैं ॥ ६६ ॥

श्रीर भी—सब धातुओं का परस्पर मेल गलाने से ही होता है, पशु पक्षियों
का मेल किसी निमित्त (कारण) से ही होता है, मूर्खों का मेल मय और लोभ
से ही होता है, परन्तु सज्जनों का मेल (मैत्री) तो केवल दर्शनमात्र से ही हो
जाता है ॥ ६७ ॥

श्रीर भी सज्जन लोग नारियल के फल के [समान ऊपर से ही होते व कड़े
देख सकते हैं, परन्तु भीतर उनके मधुरता ही होती है । अर्थात् बाहर से तो ये
कठोर मालूम पड़ते हैं, परन्तु भीतर से बड़े ही दयालु होते हैं । पर दूसरे लोग
(अर्थात् दुर्जन लोग) बैर के फल की तरह बाहर से ही मुन्दर देख पड़ते हैं,
परन्तु भीतर उनके कठोरता (कड़ी गुठली) ही रहती है ॥ ६८ ॥

श्रीर सज्जनों के साथ प्रीति टूट जाने पर भी उनका चित्त निरुत्र नहीं होता है,

अन्यत्र—

‘शुचित्वं, त्यागिता, शौर्यं, सामान्यं सुखदुःखयोः ।

दाक्षिण्यं, चाऽनुरक्तिश्च, सत्यता च सुहृद्गुणाः’ ॥ १०० ॥

पतेर्गुणैरुपेतो भवदन्यो मया कः सुहृत्प्राप्तव्यः ? ।

—इत्यादि तद्वचनमाकर्ण्य हिरण्यको बहिर्निःसृत्याऽऽह—‘आप्यायितोऽहं भयताऽनेन वचनाऽमृतेन ।’ तथा चोक्तम्—

‘धर्मात्तै—न तथा मुशीतलजलैः स्नानं, न मुक्तावली,
न श्रीखण्डविलेपनं—सुखयति प्रत्यङ्गमप्यपितम् ।

स्नेहेति । स्नेहश्चेदेऽपि = प्रणयमन्नेऽपि । गुणाः = सरलत्वादिभ्यः । विक्रिया = विकारम् । मन्नेऽपि = हृदेऽपि । गुणालानां = स्मलदण्डानाम् । स्यावः = गुणाः । विभक्तान्तः । अनुरप्नन्ति = सम्बन्धं न परिहरन्ति ॥ ६६ ॥

शुचित्वं = स्वच्छता । त्यागिता = शीघ्रम् । सुखदुःखयोः = गुणे, दुःखे च । सामान्यं = समता । दाक्षिण्यं = दक्षिणता । अनुरक्तिः = स्नेहः ॥ १०० ॥

पतीः = शुचित्वादिभिः । उपेतः = पुत्रः । बहिः = विलाद्बहिः । भयत आप्यायितः = मन्तोदिनः । ‘मयन’ इति षाटान्तरम् । तत्र—आप्यायितः—सन्नुः इत्यर्थः । अनेन = एवायना प्रोक्तेन ।

धर्मात्तै = निदायसन्ततमदि । मुशीःखलजलैः स्नानं तथा न हर्षयति, किञ्चित्तु उनका साधारण सम्बन्ध बनाही रहता है । जैसे गुणाली (कमल के बरतों) के बीच में से दूढ़ जाने पर भी उनके तन्तु परस्पर में जुड़े रहते हैं । ॥ ६६ ॥

और भी—विषय शुद्धि, त्याग, योग्यता, गुण और दुःख में एकमात्र मात्र लक्षण, प्रेम, गुणों से सब विषय के गुण हैं ॥ १०० ॥

और इन सब गुणों से पुत्र प्राप्त है (चूँ) निराप पुत्रको (कौरे को) दुःख निवृत्त बोन निनेगा । इस प्रकार उम कौरे के वचन सुनकर हिरण्यकेशु आनन्दोक्ति में बाहर आकर देखा, कि आज के इस वचन, गुण से तुम हैं गया । क्या भी है—

आजके वचन की तरह मन की सींचने वाली, अच्छी २ सुविधों से पुत्र

प्रीत्या सज्जनभाषितं प्रभवति प्रायो यथा चेतसः,
सद्यस्तथा च पुरस्कृतं मुकृतिनामाकृष्टिमन्त्रोपमम्' ॥१०१॥

अन्यथा—

'रहस्यमेदो, याञ्जा च, नैष्टुर्यं, चलचित्ता ।

क्रोधो, निःसत्यता, घृतमेतन्मित्रस्य दूषणम्' ॥ १०२ ॥

नेन वचनक्रमेण सदेकमपि दूषणं त्वयि न लक्ष्यते । यत्.—

'पदुत्वं, सत्यवादित्वं कथायोगेन युष्यते ।

अस्तब्धत्वमचापल्यं प्रत्यक्षेणाऽवगम्यते' ॥ १०३ ॥

पुष्पावली=मुक्तामाला तथा न श्यंयति, च=चिह्न प्रत्यङ्ग=प्रत्यक्षयवम्-
वेन=दत्तं, धीलण्डरिलोपनं च तथा न मुत्रयति । यथा—सद्यस्तथा=शोभन-
त्या, क्लृप्तकविधिरिधानेन च, परिष्कृत=शोभितम्, आकृष्टिमन्त्रोपमम्=
दृष्टमन्त्रतुल्यं, सज्जनभाषितं—चेतसः प्रीत्यै प्रभवति=शकं भवति ॥१०१॥

रहस्यमेदः=मित्रमन्त्रमेदः, याञ्जा=द्रव्यादिप्रार्थना । नैष्टुर्यं=कृता ।
चित्ता=चाक्षर्यम् । निःसत्यता=मिथ्याभाषित्वम् ॥ १०२ ॥

घनेन=एतावतोपन्यस्तेन, वचनक्रमेण=वाक्यप्रणयेन । तत्=रहस्य-
रादि । सद्ययते=शायते ॥ पदुत्वं=कुशलत्वम् । कथायोगेन=वार्ताप्रसङ्गेन ।
यने=सर्वैर्हातुं शक्यते । मया च शायते । अस्तब्धत्वम्=अमीतत्वम्,
गहत्वम् । प्रत्यक्षेण=साक्षाद्दर्शनेन । साक्षात्पन्मुखदर्शनादेव च मया शायते
नि मारः ॥ १०३ ॥

जनी की वार्ता चित्त की जितना शानन्द देती है, उतना मुत्र घाम से सन्तप्त
पुष्पों की—शीतल जल का स्नान, मोती की माला और शरीर में लगा
घा चन्दन भी नहीं देता है ॥ १०२ ॥

श्रीर मी—गुन वार्ता की प्रगट कर देना, मांगना, निष्टुरता, चित्त की
गिरफ्तार, क्रोध, फूट खोलना, जुझा खेलना ये सब मित्र के दोष हैं, परन्तु
श्रीर वार्ता को सुनने से इन दोषों में से एक भी दोष तुम्हारे में मुक्ति नहीं
लाते है ॥ १०२ ॥

स्तेरि—मनुष्य की चतुराई और सचाई तो बात चीन करने से मालूम होनी
है, पर मनुष्य की नग्नता और गम्भीरता तो उसे देखने से ही मालूम हो
जाती है ॥ १०३ ॥

अपरश्र—

‘अन्यथैव हि सौहार्दं भवेत्स्वच्छाऽन्तरात्मनः ।

प्रवर्ततेऽन्यथा वाणी शाब्दोपहतचेतसः ॥ १०४ ॥

मनस्यन्यद्वचस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्’ दुरात्मनाम् ।

मनस्येकं, वचस्येकं, कर्मण्येकं, महात्मनाम्’ ॥ १०५ ॥

तद्वदतु भवतोऽभिमतमेव ।’—इत्युक्त्वा हिरण्यको मैत्र्यं विष
भोजनविरोधार्थायसं सन्तोष्य, विचरं प्रयिष्टः । वायसोऽपि स्वस्थानं गतस्वच्छान्तरात्मनः = शुद्धचेतसः । अन्यथैव = अन्यप्रकारेणैव । सौहार्दं
स्नेहः । शाब्दोपहतचेतसः = शीर्षनिष्ठुरचेतसः । शठस्येति यान्त् । अन्यथैव
अन्यादरथेन कपटपूर्णा । वाणी = वाक् । प्रवर्तते = प्रसरति ॥ १०४ ॥दुरात्मनां = पारिनाम् । मनसि = अन्यद्वदति । ते हि अन्यथा भावन्ते
कर्मणि = क्रियापान्, अन्यद् = अन्यदेव । महात्मनान् तु यदेव मनसि, तदे
तेषां वचसि, तेषां क्रियापाशोत्तर्यः ॥ १०५ ॥तद् = तस्मात्, भवतः शुद्धगुणोपेतत्वात् । अभिमतम् = अभीष्टम् । मया
सह मैत्री । मैत्र्यं = मैत्रीम् । ततोः = वायसमूहयोः, अन्योन्यं = परस्परं यत्श्रीर भी—शुद्ध हृदय वाले सभ्रम की सहृदयता तो कुछ श्रीर ही प्रकार
की होती है, श्रीर कुशल हृदय भूत की बोलचाल कुछ श्रीर ही तरह की होती
है । अर्थात्—सभ्रम श्रीर दुर्जन का भेद तो बातों से ही मन्सु हो जाता है ॥ १०४ ॥श्रीर दुर्जन लोग मोठो कुछ श्रीर हैं, करते कुछ श्रीर हैं, करते कुछ श्रीर हैं ।
परन्तु सभ्रम लोगों के मन में जो है वही वे करते हैं और वही वे करते भी हैं ॥ १०५ ॥अर्थात्, जैसी धारणा अर्थात् है वही उठ है । आरही निश्चय मुझे स्वीकार
है । ऐसा कर कर हिरण्य ने उस श्रीर को अपना मित्र बनाकर उसे अर्थात् २-
पदां भोजन कराये श्रीर उसे सम्पुष्ट कर विश करके अपने मित्र में बना गया ।
श्रीर वह श्रीर भी अपने स्थान को पड़ा गया ।

२ ‘वायस्येति’ पाठान्तरम् ।

ततः प्रभृति तयोरन्योन्याऽऽहारप्रदानेन, कुशलप्रभ्रैर्विश्रम्भाऽऽलापैः
कालोऽतिरचते ।

एकदा लघुपतनको हिरण्यकमाह—‘सखे ! कष्टतरलभ्याऽऽहारमिदं
यानं परित्यज्य, स्थानाऽन्तरं गन्तुमिच्छामि । हिरण्यकोऽवदत्—

‘स्थानप्रथा न शोभन्ते दन्ताः, केशा, नखा, नराः ।’

—इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत् ॥ १०६ ॥

काको ब्रूते—‘सखे ! कापुरुषचनमेतत् । यतः—

‘स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति सिंहाः, सत्पुरुषा, गजाः ।

तत्रैव निधनं यान्ति काकाः, कापुरुषा, मृगाः’ ॥ १०७ ॥

आहारप्रदानं=भक्ष्यभोज्यादिप्रदान, उत । विश्रम्भालापैः=प्रत्ययगमैरालापैश्च ।
कष्टेन हृष्य आहारो यत्र तत्—कष्टजन्याहारम् । एतत्=इदं स्थानम् । यन-
मेतदित्यर्थः ।

स्थानप्रथाः=स्वस्थानचलिताः । न शोभन्ते=शोभा, भियं च न
लभन्ते ॥ १०६ ॥

श्रीर उस दिन से उन दोनों (श्वेते श्रीर चूहे) का आपस में प्रीति पूर्वक
एक साथ भोजन, आदान प्रदान, कुशलप्रभ्र और प्रेमपूर्वक बातचीत आदि के
समय आनन्दपूर्वक बीतने लगा ।

एक दिन उस लघुपतनक कौत्रे ने हिरण्यक चूहे से कहा कि—हे मित्र ! त्रन
तो इस जङ्गल में भोजन भी कठिनार्द से मिळता है । इस लिये इस स्थान को
छोड़कर मैं श्रब क्रिमी दूसरे स्थान में जाना चाहता हूँ ।

हिरण्यक बोला—मित्र ! कहाँ जाओगे ? । कहा भी है—

दाँत, केश, नाग, मनुष्य, ये चारो स्थानप्रथ होने पर शोभते नहीं हैं । ऐसा
विचारकर बुद्धिमन् मनुष्य को अपनी स्थान कभी नहीं छोड़ना चाहिये ॥१०६॥

श्रीर बोला—मित्र ! यदि तो कापर मनुष्यो का वाक्य है ।

किञ्च—

‘को वीरस्य मनस्विनः स्वविषयः, को वा विदेशः स्मृतो,
 यं देशं श्रयते तमेव कुरुते बाहुप्रतापाऽर्जितम् ॥
 यदंग्रानखलाद्गुलप्रहरणः सिंहो वनं गाहते,
 तस्मिन्नेव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्त्वृष्णां द्विनत्यात्मनः’ ॥१०८॥
 हिरण्यको म्रूते—‘मित्र ! क्व गन्तव्यम् ?’ । यथा चोक्तम्—

स्थानं=निवासयोग्यं स्वस्थानमपि । उत्सृज्य=विहाय । तत्रैव=निवासा-
 ऽपेक्षयेऽपि स्थाने । निषर्नं=मृत्युम् ॥ १०७ ॥

मनस्विनः=वीरस्य, गम्भीराशयस्य । स्वविषयः=स्वदेशः । श्रयते=
 आश्रयते । बाहोः-प्रतापेन बलेन = अर्जितं = स्थायीनम् । अंग्रानखलाद्गुलप्रहरणः=
 अंग्रानखपुच्छामुषः—सिंहो—यत् वनं गाहते = प्रविशति; तस्मिन्नेव वने हतद्विपेन्द्र-
 रुधिरैः = व्यापादितगजेन्द्ररुधिरैः, आत्मनः—तृष्णां = विषासां । वृषुक्षाम् ।
 द्विनति = अवनयति ॥ १०८ ॥

क्योंकि सिंह, सपुत्र्य, और हाथी ये तीनों तो अपना-अपना स्थान छोड़कर
 जहाँ चाहते हैं, वहाँ (अच्छे स्थान में) चले जाते हैं । परन्तु हीरा, फायर मनुष्य
 और मृग, ये तीनों तो अपने स्थान पर ही पड़े-पड़े मर जाते हैं ॥ १०७ ॥

और भी—वीर एवं मनस्वी पुत्र्य के लिये कौन अपना देश है और कौन
 विदेश है ? । यदि तो जिस देश में जाता है, उसी को अपने बाहुबल से अपना
 कर लेता है । जैसे (दौंग, नग, और पँख ही आसुय जिसके हैं, ऐसा वीर)
 सिंह जिस वन में जाता है, उसी वन में हाथियों को मारकर, उनके रुधिर से ही
 अपनी प्राण गुनाहता है ॥ १०८ ॥

तब यह पूरा बँटा—अच्छा तो मित्र ! कसो गुम कहीं जाना चाहते हो ? ।
 जहाँ जाना हो उस स्थान के गुनगुनों को पहिले ही निन्दार लो । क्योंकि किसी ने
 यरा भी है कि—

‘चलत्येकेन पादेन, तिष्ठत्येकेन बुद्धिमान् ।

नाऽसमीक्ष्य परं स्थानं, पूर्वमायतनं त्यजेत्’ ॥ १०६ ॥

वायसो ब्रूते—‘अस्ति सुनिरूपितं स्थानम् । हिरण्यकोऽवदत्—‘किं तत् ?’ । वायसो ब्रूते—‘अस्ति दण्डकाऽरण्ये कर्पूरगौराऽभिधानं सरः । तत्र चिरकालोपार्जितः प्रियसुहृन्मे मन्यराऽभिधानः कच्छपः सहज-
धार्मिकः प्रतिवसति । यतः—

‘परोपदेशे पाण्डित्यं सर्वेषां सुकरं नृणाम् ।

धर्मं स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः’ ॥ ११० ॥

ए च भोजनविशेषैर्मा संवदंयिष्यति । हिरण्यकोऽप्याह—‘तत्किम-
प्राऽयस्याय मया कर्त्तव्यम् ? । यतः—

असमीक्ष्य=सम्यक्प्रकारेण अविलोक्य । आयतनं=स्थानम् ॥ १०६ ॥
सुनिरूपितं=सुपरिनिश्चितम् । सरः=सरसी (भील) । चिरकालो-
पार्जितः=पूर्वसुहृत् । कूर्मः=कच्छपः । (कछुवा) । सहजधार्मिकः=स्वभावेनैव
धर्माचरणशीलः । परोपदेशे=परशिक्षणे । सुकरं=सुलभम् । स्वीयं=स्वकीयम् ।
अनुष्ठानम्=आचरणम् ॥ ११० ॥

ए च = कूर्मश्च । भोजनविशेषैः = नानाविधैर्मत्स्यादिमत्सिः । संवदंयिष्यति =

बुद्धिमान् मनुष्य यही है, जो एक पैर में चलता है, अर्थात् एक पैर बढ़ आगे
रखता है, और एक पैर पूर्व स्थान पर ही रखे (जमाए) रहता है । इसलिए
दूसरे स्थान को पहिले से निर्धारित किये बिना ही पहले स्थान को नहीं छोड़ना
चाहिये ॥ १०६ ॥

कौरे ने कहा—एक स्थान मेरा पहिले से ही देना हुआ है, जो बहुत ही
समशील है । हिरण्यक बोला—बढ़ कौन स्थान है ? ।

कौवा बोला—दण्डकारण्य में कर्पूरगौर नाम एक तालाब (भील) है । यहाँ
मेरा पुराना मित्र रामाय से ही धार्मिक मन्यर नाम का कछुवा रहता है ।

क्योकि—धर्म के नियम में दूसरे को उपदेश देने के लिये परिदृष्टादं दित-
स्थाना तो सभी के लिए सदा है, परन्तु धर्म का स्वयं आचरण तो किसी ही
मनुष्यना हीन किया करते हैं ॥ ११० ॥

यस्मिन्देशे न संमानो, न वृत्तिर्न च वान्ववः' ।

न च विद्याऽऽगमः कश्चित्तं देशं परिवर्जयेत् ॥१११॥

किञ्च—

'धनिकः, श्रोत्रियो, राजा, नदी, वैद्यस्तु पञ्चमः ।

पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न कुर्यात्तत्र संस्थितिम्' ॥११२॥

अपरञ्च—

'लोरुपात्रा, भयं, लज्जा, दाघिण्यं, त्यागशीलता ।

पञ्च यत्र न विद्यन्ते, न कुर्यात्तत्र संस्थितिम् ॥११३॥

पल्लविभ्यति, सत्करिभ्यतीति वा ।

लृ = यदि त्वया मन्तव्यं तर्हि । अत्र = अस्मिन् स्थाने ।

समानः = सत्कारः । वृत्तिः = जीविका । विद्यागमः = विद्याज्ञानः ॥ १११ ॥

धनिकः = श्रद्धादिदाता भेटी । (सेठ-बोहरा) । श्रोत्रियः = वेदपारगः ।

पञ्च = एते पञ्च । अस्ति = निगमन् ॥ ११२ ॥

लोरुपात्रा = शीतनोपायः । भयं = राज-लोह-घर्म-भयम् ॥ ११३ ॥

ध्याः यह मन्वरक कण्डूना अन्ध्या-अन्ध्या भोजन देकर मेरी (कीचे की) रक्षा करण ही करेगा । तब हिरण्यक चूहा बोला-तो मैं भी यहाँ रहकर क्या करूँगा ? मैं भी तुम्हारे साथ ही यहाँ चरूँगा ।

क्योंकि—गिरा देश में—संमान न हो, कोई जीविका न हो, कोई मित्र न हो, और न किसी प्रकार की विद्या की प्राप्ति ही हो, उस देश को छोड़ देना चाहिये, उसमें कभी नहीं रहना चाहिये ॥ १११ ॥

और भी—धनी, श्रोत्रिय, (वेदपत्री), राजा, नदी और वैद्य, ये पाँच जरूरी नहीं हैं, यहाँ मनुष्य को एक दिन भी नहीं रहना चाहिये ॥ ११२ ॥

और त्रिम देश में जीविका का माधन, शौरभय, लंघन्यता, साहसा, त्याग, (उदारता) ये पाँच बातें न हों, यहाँ कभी नहीं रहना चाहिये ॥ ११३ ॥

तत्र मित्र ! न वस्तव्यं यत्र नास्ति चतुष्टयम् ।

ऋणदाता च, वैद्यश्च, श्रोत्रियः, सजला नदी' ॥ ११४ ॥

'ततो मामपि तत्र नय ।' अथ वायसस्तत्र तेन मित्रेण सह विचित्रा-
ऽऽलापिः सुरेण तस्य सरसः समीपं ययौ । ततो मन्यरो दूरादवलोक्य
लघुपवनरुस्य यथोचितमातिथ्यं विधाय, मूषिकस्थाऽतिथिसत्कारं
घकार । यतः—

'बालो वा, यदि वा वृद्धो, युवा वा गृहमागतः ।

तस्य पूजा विधातव्या, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११५ ॥

गुरुरग्निद्विजातीनां, वर्णानां ब्राह्मणो गुरुः ।

पतिरेको गुरुः स्त्रीणां, सर्वस्याऽभ्यागतो गुरुः ॥ ११६ ॥

'सजला नदी' इत्यत्र 'सुजले'ति गौडाः पठन्ति ॥ ११४ ॥

तेन=दिरण्यकेन । विचित्रालापिः = मनोहरभाषणैः । नानाविधा कथा कुर्वन् ।
मन्यरः=तन्नामा कन्दुपः । यथोचितं=यथायोग्य, सत्कारम्=आतिथ्यम् ॥

द्विजातीनां=ब्राह्मणादीनां त्रैवर्णिकानाम् । अग्निः=वैश्वानरः । गुरुः=
पुण्यः । वर्णानां=ब्राह्मणादीनां चतुर्णां वर्णानां । गुरुः=भेदः । एकः=केवलः,
नाम्यः । सर्वस्य=सर्वस्यापि लोकस्य । अभ्यागतः=आतिथिः-गुरुः=पुण्यः ॥

हे मित्र ! जहाँ ऋणदाता घनी, वैद्य, श्रोत्रिय (वैदिक विद्वान्) और जल
से पूरा नदी, ये चार चीजें नहीं हों, वहाँ कभी नहीं रहना चाहिए ॥ ११४ ॥

इस निवे मुझे भी यहीं ले चलो ।

तब षीवा बोला—अच्छा ऐसा ही सही ।

इसके बाद वह षीवा अपने मित्र (घृहे) के साथ अनेक प्रकार की बात
चीत करता हुआ मुखपूर्वक उस तालाब के पास पहुँचा । इसके बाद लघुपवनरु
की ओर दूर ही से दौटकर मन्यर कटुभा ने उसका अनिथिसत्कार करके, दिरण्यरु
का भी यथोचित सत्कार किया । क्योंकि—

बालक, या वृद्ध, या जवान कोई भी हो, वह यदि अपने घर पर आजाये तो
उत्सव भोजन आदि से सत्कार और श्रान्तिपूजन अवश्य करना चाहिए, क्योंकि
आतिथि सर्वदा पुण्य है ॥ ११५ ॥

अग्नि—द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनों) का गुरु (पुण्य)

उत्तमस्याऽपि वर्णस्य नीचोऽपि गृहमागतः ।

पूजनीयो यथायोग्यं, सर्वदेवमयो हि सः ॥ ११७ ॥

वायसोऽवदत्-‘सखे मन्थर ! विशेषपूजामस्मै विधेहि, यतोऽयं पुण्यकर्मणां धुरीणः, पारुण्यरक्षाकरो हिरण्यरुनामा मूर्धिराजः । एतस्य शुण्णमुक्तिं जिह्वासहस्रद्वयेनाऽपि सर्पराजो न कदाचित्कथयितुं समर्थः । स्यात् ।’ इत्युक्त्वा चित्रप्रीवोपाख्यानं वर्णितवान् ।

मन्थरः सादरं हिरण्यरुं सम्पूज्याऽऽह-‘मद्र ! आत्मनो निर्जनधनाऽऽगमनकारणमार्यातुमहंसि ।’

हिरण्यरुोऽवदन्-‘कथयामि’ । श्रूयताम्-

वक्तव्य = ब्राह्मण्युक्तिपादेरपि । नीचोऽपि = शूद्रादिरपि । द्रुत एतदत्र प्राद-सर्वेति । मरुतदेवस्यस्यः । सः = अनिधिः ॥ ११७ ॥

विशेषपूजा = विच्छिद्यमनिधिसंस्कारम् । पुण्यकर्मणां = पुण्यपात्मनां, धुरीणः = श्रेष्ठः । पारुण्यपरत्नारः = कष्टपावक्यालयः । जिह्वेति । सर्पराजस्य शेषस्य सहस्रमुत्तमस्य दिग्भिन्नेन च द्विसहस्रजिह्वत्वम् । उपाख्यानं = वृत्तान्तम् । आख्यातं = वक्तव्यम् । अहंसि = योग्योऽसि ।

६ । वर्णो (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन चारों) का ब्राह्मण गुरु है । स्त्री का पति ही गुरु है और श्रम्यागत (अनिधि) गभी का गुरु है ॥ ११६ ॥

और उत्तम वर्ण (ब्राह्मण आदि) के घर पर यदि अपने से नीच (क्षत्रिय वैश्य या शूद्र आदि) भी कोई आये तो भी उसकी भी यथायोग्य पूजा करनी चाहिये, क्योंकि अनिधि में सब देवताओं का निवास रहता है ॥ ११७ ॥

एव कौरव बोधा-दे निव मन्थर ! हम हिरण्यरुक पूरे की तुम विशेषरूप से पूजा करो, क्योंकि यह पुरुषानो में श्रेष्ठ, दया का समुद्र, चूरी का राजा हिरण्यरु है । हमके पुत्रों की प्रशंसा ले खेचनाम करनी दो हमारे जिह्वाओं से भी नहीं कर सकते हैं ।

६२ वद कर उमने कथोभ्यज निवदं र की पूरे-पूरी कथा (पाल का काटना आदि) करी । हमके वद मन्थर ददे आर दे साथ हिरण्यरु को पूजाकरके बोधा-दे महत्त्व । अतः हम निर्वन बन में अपने अपने का कारण इन लोगों को कहिये ।

(४) मूयक-परिव्राजककथा ।

अस्ति चम्पकाऽभिधानायां नगर्यां परिव्राजकाऽवसथः । तत्र चूडा-
कर्णो नाम परिव्राट् प्रतिवसति । स च भोजनाऽवशिष्टभिक्षाऽन्नसहितं
भिक्षापात्रं नागदन्तकेऽवस्थाप्य स्वपिति । अहञ्च तदन्नमुत्प्लुत्योत्प्लुत्य
त्यहं भक्षयामि । अनन्तरं तस्य प्रियसुहृद्बीणाकर्णो नाम परिव्राजकः
मायातः । तेन सह कथाप्रसङ्गाऽवस्थितो मम आसार्यं जर्जरवशस्त्रण्डेन
चूडाकर्णो भूमिमताडयत् । बीणाकर्णं उवाच—‘सखे ! किमिति मम
व्याधिरक्तोऽन्यासक्तो भवान् ? ’ यतः—

चम्पकाभिधानायां=चम्पानाम्नी । नगर्यां=पुर्याम् । परिव्राजकस्य = भिक्षोः ।
(भिक्षु = संन्यासी, साधु) । आवसथः = निवासः (मठ) । परिव्राट् = संन्यासी ।
भोजनारशिष्टं = भोजनोपरिहितम्, यत्—भिक्षात्र, तेन सहितं = समुत्, भिक्षापात्रं
= भिक्षापात्रं (घसनं, भोजी) । नागदन्तके = भित्तिकाष्ठे (रूटी पर) । तदन्नं =
भिक्षाऽन्नसहितम् । उत्प्लुत्य = कूर्दयित्वा (उछल कर) । प्रत्यहं = प्रतिदिन-
मेव । अनन्तरं = यातेषु बहुषु दिनेषु एकदा । तस्य = परिव्राजकस्य । परिव्राजकः =
संन्यासी । तेन = स्वप्रियसुहृदा । कथाप्रसङ्गावस्थितः = वार्ताप्रसङ्गावस्थितोऽपि ।
आसार्यं = भयार्थम् । जर्जरवशस्त्रण्डेन = जीर्णवस्त्रेण । व्याधिरक्तः = व्यापारान्तर-
प्रसक्तम् । मन्त्रव्याधिरक्तः = मन्त्रवशात्प्रवणपरान्तरः । अन्याऽऽसक्तः = तर्पा-
णान्यासक्तः ।

दिल्लयक बोझा—अन्ना, मैं अपनी कहानी आप लोगों से कहता हूँ, मुझिये ।
चम्पा नामक नगरी में संन्यासियों का एक मठ है । वहाँ पर चूडाकर्ण नाम
का एक संन्यासी (साधु) रहता था । वह प्रति दिन अपने भोजन से बचे हुए
अन्न में पूर्ण अपने भिक्षापात्र, (घसनं, भोजी) को रूटी पर टोंग कर सोता था ।
श्रीर में प्रतिदिन उछल-उछल कर उस अन्न को खा जाता था । एक दिन वहाँ
उसका दिव्य मित्र बीणाकर्ण नाम का संन्यासी उससे मिलने को आया । चूडाकर्ण
उसके साथ बातचीत करता जाता था श्रीर मेरे दराने के लिये शीत के एक फटे
दुए दरजे से पृथ्वी को पीठवा जाता था । वह देख कर यह बोयासर्ग बोझा,

‘मुखं प्रसन्नं, विमला च दृष्टिः, कथाऽनुरागो, मधुरा च वाणी
स्नेहोऽधिकः, सम्भ्रमदर्शनञ्च, सदाऽनुरक्तस्य जनस्य लक्ष्म ॥११ः
थदृष्टिदानं, कृतपूर्वनाशनममाननं, दुश्चरिताऽनुकीर्तनम् ।
कथाप्रसङ्गेन च नामविस्मृतिर्विरक्तभावस्य जनस्य लक्षणम्’ ॥११६

ब्रूहाकर्णेनोक्तं-मित्र ! नाऽहं विरक्तः । किन्तु परयाऽयं भूपिको मम
ऽपकारी, सदा पात्रस्यं भित्ताऽन्नमुत्प्लुत्य भक्षयति ।’

घोषाफणो नागदन्तकं विलोस्याऽऽह—‘कथं भूपिकः स्वरूपयत्नं

मुग्रमिति । विमला=स्वच्छा, रागरत्या । कथाऽनुरागः=रात्तांभयखादर
सम्भ्रमदर्शनं=आगमने, सत्कारादिषु च—स्वरादर्शनम् । लक्ष्म=लक्षणम् ॥११८

थदृष्टिदानम्=अभिलोकनम् । कृतपूर्वनाशनम्=पूर्वकाराद्यचिन्तनम्
अमाननम् = निरस्कारः, सत्काराऽभावश्च । दुश्चरितानुकीर्तनं = दोषवर्णनम् । कथ
प्रसङ्गेन = कथावस्तरेणाऽपि । नामविस्मृतिः=नामाभ्रमणम् । विरक्तभावः=
निरक्तस्य ॥ ११६ ॥

अपकारी = हानिकारकः । स्वरूपयत्नः=स्वोद्देशोऽपि । एतान्दूरम् =
दूरम् । उत्प्लुत्य = उत्प्लुत्य गच्छति ॥

कि-दे मित्र । यह क्या बात है ? । आपका मन मेरी बातों में क्यों नहीं लग
है ? । आपका प्यान तो मुझे दूसरी तरफ ही मालूम देता है !

बदोष्टि—प्रसन्न मुख, विमल नेत्र, वाणी में प्रेम, मधुर वाणी, अधिक स्नेह
आने पर संभ्रम से (हृष्टकाकर, उत्सुकापूर्वक) देलना—ये सब अनुरा
गनुष्यो के लक्षण हैं ॥ ११८ ॥

श्रीर—असन्नुष्ट होकर देलना, पूर्वहन वाणी (उपरारो) को भूल जान
कर न करना, दोषों को प्रकट करना, अक्षर (श्लोक) पर नाम तक भी भू
लाना, ये सब विरक्त मनुष्य के लक्षण हैं ॥ ११६ ॥

ब्रूहाकर्ण ने कहा—मित्र ! मैं तुमसे विरक्त नहीं हूँ । किन्तु देवो, यह ब्रू
हंसा येती है, यह सदा मेरे निद्यासन का अन्न ठहर कर रहा जाता है । व

ऽप्येतावद्दूरमुत्पतति ? । तदत्र केनाऽपि कारणेन भवितव्यम् । तथा
चोक्तम्—

‘अकस्माद्युवती वृद्धं केशेष्वकृष्य जुम्बति ।

पतिं निर्दयमालिङ्ग्य, हेतुरत्र भविष्यति’ ॥ १२० ॥

चूहाकरणः पृच्छति—‘कथमेतत् ?’ । धीणाऽणः कथयति—

(५) लोलावती-वणिकपुत्र-कथा ।

प्रसिद्धी गौडीये कौशाभ्यो नाम नगरी । तस्यां चन्दनदासनामा
राज्याहाधनो निवसति । तेन (च) पश्चिमे वयसि वर्तमानेन कामाऽधिष्ठित-
वसा धनदर्पास्त्रीलावती नाम वणिकपुत्री परिणीता । सा च मकरकेतो-
जययैजयन्तीव यौवनवती वभूव । स च वृद्धपतिस्तस्याः सन्तोषाय
ऽभयत् । यतः—

अकस्मात् = विनाऽपि हेतोः । वृद्धं = अयसीर्णमपि, पतिम् = त्यागिनम् ।
पतिं = अन्मुखं जुम्बति । हेतुः = किमपि कारणम् ॥ १२० ॥

गौडीये = गौडदेशे । (गौड-बंगाल में) । महापनः = नितरां धनाढ्यः ।
धमे वयसि = वृद्धावस्थाम् । कामाधिष्ठितचेतसा = मद्नाऽऽधिष्ठमानसेन कामाह-
र । धनदर्पात् = धनगर्वात् । नाम = इति प्रसिद्धी । वणिकपुत्री = वैश्यपत्न्या ।
रेणीता = विवाहिता । सा च = स्त्रीलावती च । मकरकेतो = रामदेवस्य । विजय-

। यारण्य लूरी की छोरे देलकर थोला कि—चूहा तो एक बहुत अल्पशक्ति का
वै होता है, यह इतनी दूर ऊँचे पर कैसे उड़ले सकता है ? । इसमें कुछ कारण
व्यप होगा । कहा भी है—

वृद्धपति की जयान (युवती) श्री सहसा अपने वृद्धपति के केशों को
बद्धर उसका गाँठ थालिङ्गन कर उसके मुख का जुम्बन करती है, तो इसमें
कर कुछ कारण होगा ॥ १२० ॥

चूहाकरण ने पूछा कि—यह क्या कहे है ? । धीणाकरण कहने लगा—

गौड (बंगाल) देश में कौशाभ्यो नाम की एक नगरी है । वहाँपर चन्दनदास
नाम का एक धनी वैश्य रहता था । उसने वृद्धावस्था में कामातुर होकर धन के
धनरह से स्त्रीलावती नाम की एक बनिये की लड़की से विवाह किया । कुछ काल

१. इयं स्त्रीलावती-कथा (६५ पृष्ठात् १०२ पृष्ठपर्यन्तम्) अस्तीति वाक्यादि-
कादिस्त्रीलावती परिभूता ।

‘शशिनीय हिमार्त्तानां, धर्मात्तानां रवाविव ।

मनो न रमते स्त्रीणां जराजीर्णेन्द्रिये पती’ ॥ १२१ ॥

अन्यथ—

‘पलितेषु हि दृष्टेषु पुंसः का नाम कामिता ! ।

भैषज्यमिव मन्यन्ते यदन्यमनसः स्त्रियः’ ॥ १२२ ॥

(परन्तु)—स च वृद्धपतिस्त्वस्यामतीयाऽनुरागवान् । यतः—

नैजयन्ती = रिजयपताकेन शोभमाना । यौवनवती = युवतिः । तस्याः = स्त्री
यस्याः । सन्तोषाय = कामोपतापशान्तये ।

हिमार्त्तानाम् = शीतपीडितानाम् । शशिनि = चन्द्रे इव । धर्मात्तानां = प्रीति-
पञ्जरतप्तानाम् । जराजीर्णेन्द्रिये = जराविकलेन्द्रियप्राप्ते । पती = पत्नी । छान्दोग्ये
प्रयोगः । पत्याविवुचितम् । ‘वने’ इति पाठान्तरम् ॥ १२१ ॥

पलितेषु = शुक्लेषु केशेषु । पेशरीकल्पे । दृष्टेषु = जातेषु । का नाम =
कस्तु ? । कामिता = कामोपयोगपरायणता । सा निवोचितेत्यर्थः । यत् = यस्मात्
अन्यमनसः = विरक्ताः, अन्यासत्ता वा, स्त्रियः = कामिन्यः । भैषज्यमिव = कटु-
पषण्डि, मन्यन्ते = न परिहार्यं मन्यन्ते, अभिच्छ्रया च तं सेवन्ते ॥ १२२ ॥

तस्या = तस्मिन् अननुरक्त्यापामपि ।

अनुरागवान् = आशुकः ।

के बाद यह मुन्दरी कामदेव की रिजय पताका के समान यौवनवती (जवान
हो गई । और उसे उस वृद्ध पति से पूर्ण सन्तोष नहीं होता था । क्योकि—

भैषजे—द्विम (बरुं जाड़ा) से पंडित प्राणी को चन्द्रमः अशुद्धा नही लग
है, धूर में पीड़ित मनुष्य को शर्ष अशुद्धा नहीं लगता है, वैगे ही निम की स
इन्द्रियों जीर्ण हो गयी हो ऐसा वृद्धपति युवति स्त्रियों को फभी अशुद्धा न
लगता है ॥ १२१ ॥

और जब वृद्धपति से सच बात पट्ट गये हो तो फिर वही उमकी कामुकता फेरी ।
यहाँ वृद्धपत्या में कामोपयोग की शुद्धा व्यर्थ है । क्योकि—वृद्ध पुरुष की
दुमरे से आशुक हो जातो है और यत् करने उम वृद्ध पति को औरप (दया
की तरह ही कटुया मन्यन्ती है ॥ १२२ ॥

प-उ १६ वृद्ध पति से उम हीउम ने पर अशुद्ध आशुक हो रहा था ।

‘धनाऽऽशा, जीविताऽऽशा च गुर्वी प्राणमृतां सदा ।
 वृद्धस्य तरुणी भार्या प्राणोभ्योऽपि गरीयसी ॥ १२३ ॥
 नोपमोक्तुं, न च त्यक्तुं, शक्नोति विषयाञ्जरी ।

अस्थि निर्दशनः श्वेव जिह्वया लेडि केवलम् ॥ १२४ ॥

अथ सा लीलावती यौवनदर्पादतिष्ठान्तकुलशीलमर्यादा केनाऽपि
 धिक्पुत्रेण सदाऽनुरागवती यभूव । यतः—

‘स्यात्तन्व्यं, पितृमन्दिरे निवसतिर्यात्रोत्सवे सङ्गति-
 गौष्ठी पूरुपसंनिधायनियमो, वासो विदेशे तथा ।

धनरोति । यद्यपि—प्राणमृतां=प्राणिनां, धनाऽऽशा, जीविताऽऽशा च सदा
 गुर्वी=महती, अधिक भयति । तथापि—वृद्धस्य तरुणी भार्या ॥ तस्य प्राणोभ्योऽपि
 गरीयसी=प्राणाऽपेक्षयाऽपि नितरा गुर्वी भवति । प्राणोभ्योऽप्यधिकान्तां वृद्धो मनुते
 इत्यर्थः ॥ १२३ ॥

सती=जराजीवी वृद्धः । विषयान्=कामिन्यादीन् । उपमोक्तुं=पथावदुप-
 मोक्तुम् । निर्दशनः=दन्तशून्यः । अस्थि=कीकृतम्, केवल खेडि=आत्मादय-
 यैर जिह्वया केवलम् ॥ १२४ ॥

यौवनदर्पार=तारुण्यमदात् । अनिष्ठान्तकुलमर्यादा=उल्लङ्घितकुलमर्यादा ।
 अनुरागवती=अनुरक्ता । मैयुनपरा । आसक्ता च ।

स्यात्तन्व्यमिति । स्यात्तन्व्य=स्वतन्व्यता । पितृमन्दिरे=रितृगृहे । निवसतिः=
 निवासः । उत्सवे=विवाहादी । यात्रा=गमनम् । यात्रायां=देवयात्रायां, (मेला
 पूजा आदि) । उत्सवे=विवाहादी च, सङ्गतिः, गमनमित्यन्वयो वा । सङ्गतिः=

स्वीडि—अपनी प्राणियों को धन की आशा और जीवन की आशा (लालसा)
 स्वमाननः अधिक होती है । परन्तु वृद्ध पुरुष को तो अपनी युवती की अपने प्राणों
 से भी अधिक प्यारी होती है ॥ १२३ ॥

और वृद्ध मनुष्य न तो विषयों (स्त्री आदि) को भोग ही सकता है, और न
 उन्हें छोड़ ही सकता है किन्तु जिस प्रकार दन्तहीन कुत्ता इष्टी को केवल जीमसे
 चून्ना खाता है, किन्तु उसे चबा नहीं सकता है, वही दशा उस वृद्ध मनुष्य
 की भी होती है ॥ १२४ ॥

कुछ काल के बाद यह लीलावती जवानी के मद से अपने कुल की मर्यादा का
 उल्लंघन कर एक बनिसे के लड़के से पस गई ।

स्वीडि—स्वतन्व्यता, निरा के घर (पीर में) रहना, यात्रा (देवता आदिके
 दर्शनों के मेले एवं विवाह-उत्सव इत्यादि में लोगों से मिलना, पुरुषों के साथ

संसर्गः सह पुंश्रलीभिरसकृद्दत्तेर्निजायाः क्षतिः,
पत्युर्वाद्धैरुमीषितं, प्रवसनं, नाशस्य हेतुः स्त्रियाः ॥१२५॥

अपरञ्च—

‘पानं, दुर्जनसंसर्गः, पत्या च विरहोऽष्टनम् ।

स्वप्नश्चाऽन्यगृहे वासो, नारीणां दूषणानि पट् ॥ १२६॥

‘स्थानं नास्ति, क्षणो नास्ति, नास्ति प्रार्थयिता नरः ।

तेन नारद ! नारीणां सतीत्वमुपजायते ॥ १२७ ॥

दुष्टजनसंसर्गः । यद्वा = याप्रोक्तये = जनमेलापके, देवयानादी, विवाहादी च
सत्तः = सुदुर्षानमित्यर्थः । पुरुषसर्निर्घा = पुरुषाणां सन्निधे । गोष्ठी = घात
बन्धः । (भेटना य मर- शन करना) । अनियमः = निरोधाऽभावः । रिदे
पातः = परदेशनिर्गमः । पायुरात्मनश्चेति शेषः । पुंश्रलीभिः = कुलधमिः । असकृत्
दुष्टमुंश्रुः । संसर्गः = सम्पर्कः । निजायाः = आत्मनः । श्रुतेः = शौरिकायाः । क्षति
अभावः, विनाशश्च । पत्युर्वाध = पत्युर्वाधः । ईषितं = पत्युर्वाधानुत्तम
राम्य या । प्रवसनं = पत्युर्वाधे प्रवसनः । अक्षरं दसमं च नांशस्य = पतनस्य
शीलपरदन्त्य । हेतुः = हेतवः ॥ १२५ ॥

पानं = मद्यपानम् । अष्टनं = अगणम् । अन्यगृहे = अन्य- = शयनम्
अन्यगृहे वासोऽपि सम्बन्धः ॥ १२६ ॥

स्थानमिति । अनिचाराय एवात्मन्यानिवर्धनः । क्षणः = अक्षरः ।

विना शौच-श्री भेटना और उनसे मेल लगाना, शिरीही शौच-श्री दृष्टा न रहना, रिदे
में रहना, रानिचारिणी क्रियो का साथ देना, शौरिका (पाने-पीने) का अमा
पति का श्रुद होना, पति का श्रुतु होना, और पति का परदेश में रहना,
सब श्रियो के विगड़ने के कारण हैं ॥ १२५ ॥

और भी—शराब पीना, दुष्टों का साथ, पति का रिह, शहर उधर घूम
दुष्टों के घर में रहना या सेना, अक्षर्य होना, दृष्टी-दृष्टा ये क्षः कारण क्रियो
दृष्टा होने (विगड़ने)के होते हैं ॥ १२६ ॥

‘न स्त्रीणामप्रियः कश्चित्प्रियो वाऽपि न विद्यते ।

गावस्त्रयमिवाऽरण्ये प्रार्थयन्ति नवं नवम्’ ॥ १२८ ॥

अपरश्र—

‘घृतकुम्भसमा नारी, तप्ताङ्गारसमः पुमान् ।

‘तस्माद् घृतञ्च, वह्निञ्च, नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥ १२९ ॥

‘मात्रा, स्वस्वा, दुहित्रा वा न विविक्ताऽऽसनो भवेत् ।

पलावानिन्द्रियग्रामो महान्तमपि कर्षति ॥ १३० ॥

मार्थयिना = शीलतरहनाय लोभादिप्रदर्शनेनोत्तेजकः । कामयिता-कामी । दे
नारदेति सम्बोधनपदम् । तेन = तेनैव । नान्ययेत्यर्थः ॥ १२७ ॥

तासां स्त्रीणां प्रियः, अप्रियो वा कश्चिन्नास्ति । अरण्ये=जने । गावो-नवं नवं=
प्रत्ययं नृणामिव, नवं-नवं = नूतनं नूतनं पुरुषं । प्रार्थयन्ति = इच्छन्ति ॥ १२८ ॥

घृतकुम्भसमा = घृतपूर्णपट्टतुल्या । तप्ताङ्गारसमः = ज्वलदङ्गारतुल्यः । बुधः=
बुद्धिमान् ॥ १२९ ॥

मात्रेति । स्वस्वा=भगिन्या । विविक्तासनः = निर्जनप्रदेशस्थितः । एकान्त-
स्थितः । कर्षति=तापे नियोजयति ॥ १३० ॥

हे नारद ! निर्याँ पतिप्रता सभी तक रह सकती हैं, जर तक या तो उनके लिये
एवनिचारका कोई स्थान ही नहीं हो, या समय (व्यवहार के लिये मौना)
ही न मिले, या उनके चाहने वाला कोई पुरुष ही न हो ॥ १२७ ॥

श्रीर भी-प्रियो का न तो कोई प्रिय है और न उनका कोई अप्रिय ही है ।
किन्तु जैसे गाव दान में नया नया नृण (घास) ढूँढती रहती हैं, वैसे ही प्रियाँ
श्री नये नये पुरुषों को खोजा करती हैं ॥ १२८ ॥

श्रीर श्री-श्री से भरे घड़े के समान है, पुरुष—जलते हुए अन्नार (अग्नि)
के मनान है, इस लिए बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये कि घृा और अग्नि को एक
ठाप धमो न रहे ॥ १२९ ॥

बुद्धिमान् पुरुष को-अपनी माता, वहिन तथा अपनी लक्ष्मी के साथ भी धमो

न लज्जा, न विनीतत्वं, न दाक्षिण्यं, न भीरुता ।
 प्राथनाऽभाव एवैकं सतीत्वे कारणं स्त्रियाः ॥ १३१ ॥
 पिता रक्षति कौमारे, मर्चा रक्षति यौवने ।
 पुत्रश्च स्थात्रिरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ १३२ ॥
 स्त्रियो हि चपला नित्यं देवानामपि-विश्रुतम् ।
 ताथाऽपि रक्षिता येषां ते नराः सुखमाग्निः' ॥ १३३ ॥

नेति । लज्जा = गुर्भारिलज्जा । विनीतत्वं = विनयः । सिद्धेति यावत्
 दाक्षिण्यं = मनोऽनुकूलता, अनुरोधः, (मुलादिजा), चातुर्यं वा । भीरुता =
 तादृनादिभयाऽऽत्रुता । मुखता वा । प्राथनाऽभावः = कामुकपुरुषकृतप्राथनाऽभा
 एव । 'प्राथनाऽभाव' इति पाठान्तरम् ॥ १३१ ॥
 रित्नेति । स्थात्रिरे भावे = वृद्धाऽवस्थायाम् । अतः—स्त्री कदाऽपि स्वातन्त्र्य-
 नाऽर्हति = नैराहति ॥ १३२ ॥

स्त्रिय इति । न चपल मानुषाणामेव, किन्तु देवानामपि, त्रिवः = लक्ष-
 मन्वयः त्रिवः । 'वयशा'—इति विश्रुत = पुराणादी प्रसिद्धमेव । ताः = मह-
 क्वरजाः त्रिवः । देवा = देवी पुमां, येषां पुरुषैः, रक्षिताः = सुरदिताः, स्त्री
 रक्षिताः, ते एव नराः सुखमाग्निः = लोके मुनिः ॥ १३३ ॥

परान्त मे मही भेटना चाहिये, क्योंकि इन्द्रियों वही प्रवक्ष है, वे (इन्द्रियों) विद्व
 को भी अपने वश में कर ले सकती हैं ॥ १३० ॥

श्रीर स्त्री के मनी होने का कारण-न तो लज्जा है, न नम्रता है, न दा
 शीनता है, और न दर ही है, किन्तु हममें यदि कोई कारण है, तो वह के
 प्राथना करने वाले पुरुष का पाल में नहीं होना ही है ॥ १३१ ॥

श्रीर बह्मराज्या में स्त्रीकी रक्षा मित्रा को करनी चाहिये, जगनी में पति
 रक्षा करनी चाहिये श्रीर वृद्धराज्या में पुत्र को उनकी रक्षा करना चाहि
 हम महार स्त्री को कभी स्वतन्त्र नहीं देदनी चाहिये ॥ १३२ ॥

क्यापि—स्त्रियों लज्जा पावता है—वद का महनी आदिके त्रिवमें देवा
 में भी प्रसिद्ध है । अतः स्त्रिय पुरुषों की स्त्रियों सुखोत्पन्न व सुखिण है,
 सुखद राज्य में सुखी है ॥ १३३ ॥

एकदा सा लीलावती रत्नावलीकिरणवर्चुरे पर्यङ्के तेन वणिक्पुरेण सह विश्रम्भाऽऽस्तापैः सुराऽऽसीना तमलक्षितोपस्थितं पतिमवलोक्य, सहस्रोत्थाय, केशोत्पाकृत्य, गाढमालिङ्गय धुम्बितवती । तेनाऽवसरेण जारश्च पलायितः । उच्छ्र—

‘उशना वेद यच्छास्त्रं, यच्च वेद बृहस्पतिः ।

स्वभावेनैव तच्छास्त्रं स्त्रीबुद्धौ सुप्रतिष्ठितम्’ ॥ १३४ ॥

तदालिङ्गनमपलोक्य समीपवर्तिनी कुट्टन्यचिन्तयत्—

‘अस्मादियमेनमुपगूढवती [नूनं कोऽपि हेतुरत्र भविष्यति]— इति । ततस्तया कुट्टन्या तत्कारणं जारं परिज्ञाय, सा लीलावती गुप्तेन

रत्नावलीकिरणवर्चुरे = नानारत्नपङ्क्तिरश्मिचित्रिते । नानारत्नौघघटिते इत्यर्थः । पर्यङ्के = मञ्चके । तेन = उपपतिना सह । विश्रम्भाऽऽस्तापैः = प्रणयगर्भमुरवचनैः—उपलक्षिता । सुराऽऽसीना = सुखमुपविष्टा । तमलक्षितोपस्थितम् = अकस्मादुपागतम् । सहसा = भ्रष्टिति । जारः = उपपतिवणिक्पुत्रः । पलायितः = अपसृतः ।

वशास्त्रेति । उशनाः—शुभाचार्यः । यच्छास्त्रं = यज्ञोपनिषदादिकम् । वेद = अध्ययनादिना वेत्ति । तत्—शास्त्रसारं, स्वभावेनैव=प्रकृत्यैव । ननु शिष्यादेस्त-शास्त्रपक्तेति भावः ॥ १३४ ॥

समीपवर्तिनी = निकटस्थिता । कुट्टनी = शम्भली काचित् । (कुट्टनी) ।

एक समय वह लीलावती नाना प्रकार के रंग विरगे रत्नों की किरणों से सुशोभित पलंग पर मुलापूर्वक बैठी हुई उस बनिये के लड़के से प्रेमपूर्वक बात-चीत कर रही थी, कि—एकाएक अपने बृद्ध पति को आते हुए देखकर भ्रष्ट उठकर उसने विपट कर उसका चुम्बन करने लगी । इसी समय मौका पाकर वह बनिये का लड़का भी भाग गया ।

वशा मो है—शुभाचार्य श्रीर बृहस्पति भी जिन शास्त्रों को अपने गुरुसे पढ़कर ही जानसके हैं, वे सत्र शास्त्रान्वियों की बुद्धि में स्वभाव से ही रहते हैं ॥ १३४ ॥

इस प्रकार बृद्ध पति को अपनी युवती पत्नी द्वारा आलिङ्गन किया जाता था देखकर देवान् उसी जगह सटो हुई एक कुट्टनी विचारने लगी कि सहसा पर इस बृद्ध पति से क्यों लिपट गई । जस्त्र इसमें कुछ कारण है । इसके बाद उस कुट्टनी ने इसके कारण (उसके पार का उसके पासमें उपस्थित रहना)

१. ‘नास्मादिति । ततस्तया’ पा० ।

दण्डिता' । अतोऽहं ब्रवीमि—'अरुमाद्युवती वृद्धम्' इत्यादि^१ । ० ।

(एवं) मृषिकवल्लोपष्टम्भेन केनाऽपि कारणेनाऽत्र भवितव्यम् ।
क्षुण्णं विचिन्त्य परिग्राजकेनोक्तम्—'कारणं चाऽत्र धनवाहृत्यमेव
भवितव्यम् । यतः—

'धनवान्वल्लोके सर्वः सर्वत्र सर्वदा ।

प्रभुत्वं धनमूलं हि राज्ञामप्युपजायते' ॥ १२५ ॥

ततः एतन्निर्मादाय तेन परिग्राजकेन विवरं खनित्वा, चिरसञ्चि
मे धनं गृहीतम् । ततः प्रभुत्वं निजराशिहीनः, सखोत्साहरहित

इय=गुणनिर्वाणिकपती । एन=इह पतिम् । उपगूढ गती = आलिङ्गितवती
ताः = विविदिचारानन्तरम् । गुप्तेन दण्डितेति । 'महाभियत्प्रमाणं धनं दे
नोपेत्तर रक्ष्य तत्र पशुः पुरतो वक्षामी' इति भाष्ये सा लीलावती गूढदण्डिता
अर्थात् सा कुट्टिनी गूढमेव ततो विपुलं धनं लोभे इत्यर्थः ।

मृषिकवल्लोपष्टम्भेन=मृषिकवल्लोपष्टम्भेन । (अष्टम्भः=आपातः) । कारणेन
हेतुना । अत्र = अत्र स्थाने ।

धननिर्वाणिक । राज्ञामपि प्रभुत्वं=राज्यं, धनमूलमेव=धनेनैव, प
ट्टम्भेन ॥ १२५ ॥

राशिर्धनं = भूनिष्पन्नसाधनं—(तनवी-कारण) । विवरं=मद्विलम्बम् । निजराशि
को जान कर, उम लीलावती को डरा धमका कर उससे बहुत मा धन (कथवा
उम कुट्टिनी ने दौड लिया (धन लूट लिया) ।

इहो निवे भी कहता है कि 'एकएक मुनी को वृद्धपति का यदि आलिङ्ग
करती है, तो इसमें अक्षय्य कुछ कारण है' इत्यादि ।

इसी प्रकार हम चूदे के अमापाण्य धन का भी कोई कारण अक्षय्य ही रोग
ऐसा कुछ देर सोचकर उम संयागीने पुनः कहा,—इसका कारण कुछ इस
पाग अति धन का होना ही मान्य पड़ता है ।

कथं—संगर में सभी उम, सदा ही, धनी लोग ही पतन गिने ज
रि । राजा रोग भी धन ही के कारण सदा ही शायी बने रहो है ॥ १२५ ॥

१. 'एतन्निर्मादाय धनं विवरं खनित्वा, चिरसञ्चिमे धनं गृहीतम्' । पा.

२. 'मृषिकवल्लोपष्टम्भेन कारणेनाऽत्र भवितव्यम्' । पा.

स्वाहारमप्युत्पादयितुमक्षमः । सवासं मन्दं मन्दमुपसर्पञ्चूडाकर्णेनाऽवलोकितः । ततातेनोक्तम्—

‘धनेन बलवाँछोके, धनाद्भवति परिडतः ।

परयैनं मूषिकं पापं स्वजातिसमतां गतम्’ ॥ १३६ ॥

किञ्च—

‘अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याऽल्पमेघसः ॥

क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति, ग्रीष्मे कुसरितो यथा’ ॥ १३७ ॥

१: = स्वधरीरपलेनापि हीनः । सत्तो-साहरहितः = परारुमो-सादृशकिरण्यः । णरुं = भ्रमपम्, उपसर्पन् = इतस्ततो भ्रमन्, प्रचलन्वा । चूडाकर्णेन = तन्नाम्ना प्राग्वेन ।

धनेनेति । लोके पुमान् धनेन बलवान् भवति, धनाद्य परिडतो भवति, एतन् = ररहित । पापं = दुष्टम्, मूषिकं । स्वजानिसमतां = मूषिकजातितुल्यतां । गतं = तं—परयेत्यर्थः ॥ १३६ ॥

अर्थेन = धनेन । विहीनस्य = रहितस्य । अतएव—अल्पमेघसः = अल्पमतेः । वाः क्रियाः = सर्वाणि कर्माणि, विनश्यन्ति = हीयन्ते । कुसरितः = स्वल्प-ज्ञानयः ॥ १३७ ॥

इसके बाद उस संन्यासी ने तन्वी (‘कसी’-भावदा) लेकर मेरे (चूहे) बिल में छोड़ डाला और मेरा बहुत दिन का एकत्र किया हुआ सब धन ले लिया ।

उसी दिन से मैं अपनी शक्ति से हीन हो गया और बल उत्साह से रहित होकर अपनी भोजन उपाजन करने में भी मैं असमर्थ हो गया । और एक दिन मैं मेरे दर के धारे धीरे जा रहा था, कि मुझे उस चूड़ाकर्ण संन्यासी ने देखा और कहा कि—

धन के प्रभाव से सब कोई बली होते हैं, धन से ही परिडत होते हैं, देरों पर के चले जाने में वह पापी चूहा फिर अपनी जानि वालों के सरावर हो गया । पर्याप्त इसका यह असाधारण बल जाता रहा ॥ १३६ ॥

और मैं—धनहीन (दरिद्र) हो जाने से अल्पबुद्धि वाले माग्यहीन मनुष्य के सभी काम उन्ही प्रकार बिगड़े जाते हैं, जिसे गर्भी में सब छोटी छोटी नदियाँ एक आती हैं ॥ १३७ ॥

अपरद्व—

‘यस्याऽर्थास्तस्य मित्राणि, यस्याऽर्थास्तस्य वान्धवाः ।
यस्याऽर्थाः सपुत्रोऽङ्गोके, यस्याऽर्थाः स च पण्डितः’ ॥ १३८ ॥

अन्यत्र—

‘अपुत्रस्य गृहं शून्यं, सन्मित्ररहितस्य च ।
मूर्खस्य च दिशः शून्याः, मर्वशून्या दरिद्रता ॥ १३९ ॥
दारिद्र्यान्मरणाद्वापि दारिद्र्यमवरं स्मृतम् ।
अल्पयत्नेन मरणं, दारिद्र्यमतिदुःसहम्’ ॥ १४० ॥

यत्वेति । यत्स्य=पुंसः । अर्थाः—यनानि सन्ति । तस्य=तस्यैव । मित्राणि=
गृहदेशे भवन्ति । पुमान्=पुरुषभेदः । स च=स एव । ‘स ही’ति पाठान्तरम् ॥ १३८ ॥

अपुत्रस्य=पुत्ररहितस्य—पुत्र-शून्यं=गैरं, शून्यं=शून्यमिव भवति ।
सन्मित्ररहितस्य च=भेदमित्ररहितस्य च, यत् शून्यमित्यन्यथा । मूर्खस्य च,
दिशः=दिक्प्रदेशाः शून्याः । कश्चिदपि स गन्तुमशक्तः, मूर्खत्वात् । दरिद्रता तु-
सारंशून्या । दरिद्रस्य संपत्तेः शून्यनिर्णयः ॥ १३९ ॥

अपरं=न्यूनम् । कुठ एतद्वत् आह—अयेति । मरणे तु रत्नः=क्षणान्तर-
रथापी । दारिद्र्यं=दारिद्र्योत्थितं दुःखम्—अतिदुःसहम्=निराशा सोढुमशक्यत्वं,
तस्य सारंशून्यत्वेन अतिदुःसहत्वात् ॥ १४० ॥

घोर भी—जिसके पास धन है, उसीके सब लोग मित्र हैं, उसी के भाई
बन्धु हैं, वही भेद पुरुष है और वही सच्चा पण्डित है ॥ १३८ ॥

घोर भी—जिसको सद्का नहीं है उसका, तथा जिसके सच्चा मित्र नहीं है
उसका तो पर ही शून्य है । घोर शून्य के जिसे सब दिशाएँ ही शून्य हैं । (समी-
चेष्ट शून्य ही है), परन्तु दरिद्र के जिसे तो सभी दुःख शून्य है, अर्थात् दरिद्र के
जिसे सब दुःख शून्य ही तरह ही है ॥ १३९ ॥

घोर भी—दरिद्रता और मरणा इन दोनों में से मरना ही अच्छा है, क्योंकि
मरण में तो कोई देर ही नहीं है, पर दरिद्रता में तो सदा बुर ही बुर है ॥ १४० ॥

अपरञ्च—

‘तानीन्द्रियाण्यविकलानि, तदेव नाम,
सा बुद्धिरप्रतिहता, वचनं तदेव ।

अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव,

‘अन्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत्’ ॥ १४१ ॥

एतत्सर्वमाकर्ण्य मयाऽऽलोचितं—‘मयाऽप्रावर्यानमयुक्तमिदानीम् ।

यथाऽन्यस्मै एतद्बुद्धान्तकथनं तदप्यनुचितम्’ । यतः—

‘अर्थनाशं, मनस्तापं, गृहे दुश्चरितानि च ।

घञ्जनं, चाऽपमानं च, मतिमान्न प्रकाशयेत्’ ॥१४२॥

तानीति । यानि पूर्वमासन् तान्येव अविकलानि = दोषानुपहतानि, अकुण्ठित-
तानि च, इन्द्रियाणि = चक्षुरादीनि, पुंसो घनविगमेऽपि सन्ति । तदेव = एतद-
सत्त्वसमये आसीत्, तदेव च—नाम = नामवेपथुः । अप्रतिहता = अकुण्ठिता सा
निर्मला एव—बुद्धिः । तदेव वचनं = वाक्यम् । अर्थोष्मणा = शिथोष्मणा (घन
की गर्मी से) । स एव = यो घनसत्त्वसमये आसीत् एवास्ति । अन्यः=अन्य इव,
घनापगमेन प्रभावराज्यः । इत्येतत्=इदं, विचित्रम् = आश्चर्यजनकम् ॥ १४१ ॥

आकर्ण्य = ध्रुत्वा । आलोचित = मनसि विचारितम् । अत्र = मठे । अन्-
र्यानं = निरासः । एतद्बुद्धान्तकथनं = स्वघनापहारवार्त्तिकरूपनम् ।

अप्येति । अर्थनाशं = घननाशम् । मनस्तापं = मानसं क्रोशम् । गृहे = गृहे

श्रीर भौ—यद्यपि दरिद्र होने पर भी पुरुष की वे ही अविहृत इन्द्रियां रहती हैं,
वही नाम है, वही पहिले की तरह ही तीक्ष्ण बुद्धि है, वही वाणी है, परन्तु जब
उसमें घन की गर्मी नहीं रहती है, तो क्षण भर में ही उसकी दशा बदल जाती
है, यह कैसी विचित्र और आश्चर्य की बात है ॥ १४१ ॥

यह सब मुन कर मने सोचा कि, अब यहाँ मेरा रहना ठीक नहीं है । श्रीर
दुखरे से अपनी दुर्दशा का यह हाल कहना भी उचित नहीं है ।

अपि च—

‘आयुर्वित्तं, गृहच्छिद्रं, मन्त्र-मैथुन-मेयजम् ।

तपो, दानाऽपमानञ्च नर गोप्यानि यत्नतः’ ॥ १४३ ॥

तथा पौत्रम्—

‘अत्यन्तविमुक्ते देवे, व्यर्थं यत्ने च, पौरुषे ।

मनस्विनो दग्द्रिष्य वनादन्यत्सुतः सुखम्’ ॥ १४४ ॥

अन्यथा—

‘मनस्वी म्रियते कामं, कार्पण्यं न तु गच्छति ।

अपि निर्वाणमायाति, नाऽनलो याति शीतताम्’ ॥ १४५ ॥

गगनि, दुग्धरिगनि = दुराचरणानि व्यभिचारदीनि । यजन = दुर्ययंजनम् ।
(टगा जाना) । अपमान = शिरसाघ्न । मतिमान् = बुद्धिमान् । न प्रकाशयेत् =
कायाव्यये न प्रकटीकुर्वीत् ॥ १४२ ॥

आयुर्वित्तं । आयुः = जीवितकालः । वित्तं = धनम् । गृहच्छिद्रं = गृहे भर्त्सा
दुग्धरिगनि । मन्त्र-मैथुन-मेयजम् = मन्त्र-सुरत-मेयजानि । तपो, दानमपमान-चेति
नर गोप्यानि = मुग्धं स्थान्यानि, न प्रकाशनीयानि ॥ १४३ ॥

अत्यन्तः विमुक्ते देवे = अत्यन्तं विमुक्ते देवैः । व्यर्थं यत्ने च = व्यर्थं यत्नैः च । पौरुषे
= प्रपणे च । मनस्विनो दग्द्रिष्य वनादन्यत्सुतः = मनस्विनोः प्रतिभूले सति । प
= प्रपणे च । पौरुषे = वीर्ये च, व्यर्थं = व्यर्थं यत्नैः च । मनस्विनः = मानपत
उपप्रतिष्ठः । नर गोप्यानि = तदर्थं विहाय यनगमाग्निः, कुतः सुखं = क
त्वात् । नर गोप्यानि सुखविषयः ॥ १४४ ॥

करीन्द्र— बुद्धिमान् मनुष्यः, अग्रे धनं वा नाथ, अग्रे धनं वा सताप, प
दुरादः, टगा जाना और अपने अपमान को किसी के सामने प्रकाशित न करे ॥

और भी— आयु, धन, गृह का बहक, मन्त्र, मैथुन, शौर्य, तप, दान
अपमान, इन नौ बातों को सदा बहुत गहरी नीचे दियाना चाहिये ॥ १४३ ॥

और भी बड़ा है— अब विवाह प्रकृत हो और जब सब धन भी
हो जाय, तो विना मनस्वी मनुष्य के जिये धन को छोड़ कर और करीबन हो
दे । अर्थात् उसे देव छोड़ कर अन्य कहीं धन में चला जाना चाहिये ॥ १४४ ॥

मित्र—

'कुसुमस्तवकस्येव द्वे वृत्ती तु' मनस्विनः ।

'सर्वेषां मूर्ध्नि वा तिष्ठद्विशीर्येत वनेऽथवा' ॥ १४६ ॥

यथाऽत्रैव याञ्चया जीवनं, तदतीव गह्रितम् । यतः—

'वरं विभवहीनेन प्राणैः सन्तर्पितोऽनलः ।

नोपचारपरिभ्रष्टः कृपणः प्रार्थितो जनः' ॥ १४७ ॥

मनस्वीति । मनस्वी=उन्नतचेताः, काम=यथेच्छं, क्षिपते=स्वप्राणान् जहाति ।

मिन्दु—कार्पण्यं=दैव्यम् । निर्वाणं=शान्तिम् । (बुझ जाता है) । शीतता=

शीत्यन् । अनलः=बुद्धिः ॥ १४५ ॥

कुसुमस्तवकस्येव=पुष्पगुच्छरूपेण । वृत्ती=व्यवस्थिती, विशीर्येत=विशी-
र्यताङ्गुल्यति । (बिलर जाता है । नष्ट हो जाता है) ॥ १४६ ॥

अथैव=प्रतिमन्त्रेण मठे । याञ्चया = भेदयेण, गह्रितं = निन्दितम् ।

वामिति । विभवहीनेन=धनरहितेन पुंसा । अनलः=बुद्धिः, प्राणैः सन्तर्पितः=

शरीरं शरीरं हुतयेत्, गरं=किञ्चित्, भेद्यन् । उपचारपरिभ्रष्टः=सत्कारवर्जितः ।

पणो जनः=कदर्यः (कंजूस) । प्रार्थितः=पाचितः—न धरन् ॥ १४७ ॥

श्रीर मी—मनस्वी मनुष्य मर मले ही जाता है, परन्तु वह किसी के सामने
निता कभी नहीं प्रगट करता है । देखो, अग्नि बुझ तो जरूर जाता है, परन्तु वह
भी शीतल नहीं होता है ॥ १४५ ॥

श्रीर मी—फल के गुच्छे की तरह मनस्वी मनुष्य की भी दो ही वृत्तियाँ होती
। या तो वह सग के (शिर के) ऊपर ही रहता है, अथवा वह यन में ही पहा-
ड़ा नष्ट हो जाता है ॥ १४६ ॥

श्रीर पदी पर (मठ में) रह कर मेरा भिक्षा माँग कर जीवन बिताना—यह तो
त्यक्त ही निन्दित है । स्वोक्ति—द्विद्वि मनुष्य अपने प्राण की अग्नि में समर्पण
रहे, तो यह बहुत अच्छा है, परन्तु विचाररहित्य वृपण मनुष्यो से प्रार्थना करना
उन्ते निदा माँगना) यह तो अच्छा नहीं है ॥ १४७ ॥

१. 'द्वे वृत्तीः' इति, 'वृत्ती च' इति च पा० । २. 'सर्वेणोऽस्य वा मूर्ध्नि' पा० ।

‘दारिद्र्याद्धियमेति, हीपरिगतः सच्चात्परिभ्रश्यते,
 निःसत्त्वः परिभूयते, परिमवान्निर्वेदमापद्यते’ ।
 निर्विण्णः शुचमेति, शोकनिहतो बुद्ध्या परित्यज्यते,
 निर्बुद्धिः क्षयमेत्यहो! निधनता सर्वापदामास्पदम्’ ॥१४८॥

श्लोक—

‘वरं मौनं कार्यं, न च वचनमुक्तं यदनृतं,
 वरं फलैर्व्यं पुंसां, न च परकलत्राऽभिगमनम् ।
 वरं प्राणत्यागो, न च पिशुनवास्येष्वभिरुचि-
 र्वरं भिक्षाऽशिल्पं, न च परधनाऽऽस्वादनसुरम्’ ॥१४९॥

दारिद्र्यवदिति । दिय = लज्जाम् । हीपरिगतः = लज्जितः, सच्चात् = शक्य
 एवार्, भ्रोगसः, पीडनात्, पीडय। परिभूयते = तिरस्क्रियते । निर्वेदं = स्थानि
 मनलास्य । निर्विण्णः = निप्रः । शुच = शोकम् । एति = गच्छति । शोकनिह
 = शोकाकुलः, क्षयं = विनाशम् । निधनता = निधनता, दरिद्रता । सर्वापदाः
 सखलविपत्तीनाम् । स्वापदं = स्थानम्, कारणम् ॥ १४८ ॥

वचनमिति । अरुतं = निष्ठा । फलैर्व्यं = नपुंसका । परकलत्राभिगमनं = प
 दात्तावमयः । पिशुनवास्येषु = दुर्जनपक्षवचनेषु । (पिशुन = शुगलखोर)
 अभिरुचि = प्राणः । भिक्षाशिल्पं = भिक्षामोक्षनादरः । परधनाऽऽस्वादनसुरं = स्वर्ण
 पभोगक्षयना ॥ १४९ ॥

बुद्धि-दरिद्रता से मनुष्य लज्जित-ता हो जाता है । लज्जित मनुष्य तेज
 हीन हो जाता है । तेजहीन मनुष्य का सर्व निरादर होता है । अनादर से वं
 (दहाही) होता है । निप्र मनुष्य शोक से व्याप्त हो जाता है । शोकग्रस्त मनु
 की बुद्धि मूढ़ हो जाती है । शोक बुद्धिहीन मनुष्य का नाश निश्चित है । अनादर
 दान ही सब आरम्भों का आधार स्थान (मूल कारण) है ॥ १४८ ॥

और भी—गुरु रहना कही अन्दा है, परन्तु भूट योग्यता अस्वादा नहीं ।

१ 'मागस्य' । २ 'परिभ्रश्यते' । ३ 'वतिः' । 'वदन्' ।

‘वरं शून्या शाला, न च खलु वरो दुष्टवृषभो,
 वरं वेश्या पत्नी, न पुनरविनीता कुलवधुः ।
 वरं चासोऽरण्ये, न पुनरत्रिवेकाधिपपुरे,
 वरं प्राणत्यागो, न पुनरधमानामुपगमः’ ॥ १५० ॥

अपि च—

‘सेवेव मानमखिलं, ज्योत्स्नेव तमो. जरेव लावण्यम् ।
 हरिहरकथेव दुरितं, गुणशतमप्यर्थिता हरति’ ॥ १५१ ॥

वार्तिक । श्रेष्ठेत्यर्थः । शाला=गोशाला, एवं च । अविनीता=अशिक्षिता ।
 त्रिवेकाऽधिपपुरे=त्रिवेकाद्यनरपतिनगर्याम् । उपगमः=याचना । अधमाना=
 भवानाम् ॥ १५० ॥

सेवेवेति । सेवा यथा अखिलं मानं हरति, ज्योत्स्ना च यथा तमो हरति, जरा च
 यथा पुंस्त्वं लावण्यं च हरति, हरिहरकथा च यथा दुरितं=पापं हरति, तथा अर्थिता=
 याचना, गुणशतमपि=अनन्तानपि गुणान्, हरति=विलोपयति । नाशयति ॥ १५१ ॥

पुसुक्ता अन्धो है, परन्तु परस्त्रीगमन अन्ध्या नहीं । मर जाना अन्ध्या है,
 परन्तु दुष्ट व निन्दक के वचन में विश्वास करना अन्ध्या नहीं । भिक्षा माँगकर
 जाना अन्ध्या है, परन्तु दूसरे के धन पर आनन्द (भोज) करना कभी अन्ध्या नहीं
 है ॥ १५० ॥

और भी—गोशाला का सूना रहना अन्ध्या है, परन्तु उनमें दुष्ट बैल रतना
 अन्ध्या नहीं है । वेश्या को पत्नी रूप से रत लेना अन्ध्या है, परन्तु कुलीन स्त्री
 यदि दुश्चरिणी हो, तो वह अन्ध्या नहीं । धन में रहना अन्ध्या है, परन्तु अविनीतो
 राजा के राज्य में रहना अन्ध्या नहीं । प्राण का त्याग कर देना कहीं अन्ध्या है,
 परन्तु नीचों की सेवा और उनका संग साथ कभी अन्ध्या नहीं है ॥ १५० ॥

और भी—बैते दूसरे की सेवा-मान को, प्रणय—अन्धकार को, श्रद्धा—
 धी-रस को और भगवत्कथा—पाप को-हरण करती है, वैते ही याचना
 (माँगना) भी मनुष्यों के सभी गुणों को हर लेती है, (यह सभी गुणों का नाश
 कर देती है) ॥ १५१ ॥

—इति विमृश्य 'तत्—किमहं परपिण्डेनऽऽत्मानं पोषयामि' ? । वयं
भो । तदपि द्वितीयं मृत्युद्वारम् । यत् —

‘पल्लवग्राहि पाण्डित्यं, क्रयक्रीतश्च मैथुनम् ।

भोजनश्च पराधीनं, तिस्रः पुंसां विदम्बनाः ॥ १५२ ॥

रोगी, चिरप्रवासी, पराञ्चनमोजी, पराश्वमथशायी ।

यज्जीवति तन्मरणं, यन्मरणां सोऽस्य विधामः’ ॥ १५३ ॥

—इत्यालोच्योऽपि लोभात्पुनरप्यर्थं मदीतुं महामकरयम् ।

इति विमृश्य = इत्युच्यते । पुनरपि प्रकारान्तरेण विचारयति—तस्मिन्
मिति । परपिण्डेन = परदत्तेन भोजनकथनेन । सेवये-पर्यः । पोषयामि = पोषयामि
मि । मैथुनमिति पाठ-कथमिति । तदपि = परपिण्डेन भोजनम् । द्वितीयम् =
प्रथमम् । मृत्युद्वार = मृत्युद्वारम् ।

पल्लवेति । पल्लवग्राहि = नानाशाखेभ्यः स्त्रियोऽप्यस्य विशकलितस्य महते
समुद्रान् । (इतर उच्यते का शोभ-मृत्तु भोगेन) । क्रयक्रीतं = वैश्यादिनां
भाष्येन कथ्यम् । मैथुनं = मृत्युम् । विदम्बनाः = कथं नानि, उपशामयैव ॥ १५२ ॥

पराश्वमथशायी = पराश्वशायी । तस्य जीवितं-मरणद्वारम् । मरणञ्च-तस्य
विधामः = वनेत्यभिधीयते ॥ १५३ ॥

इह प्रकार विचार करके फिर मने इस प्रकार पुनः विचार किया, कि-क्या
मिरी राधा, सीठ मादृकार आदि की सेवा (नौकरी) करके दूसरे के अन्न से अपने
पालन पोषण करूँ ? । परन्तु हाथ ली बंद ही कष्ट की बात है, दूसरे की नौकरी
करना तो मरण के ही दृश्य है ।

इति विमृश्य मदीति पाण्डित्यं—(पेठा शोभा सब कुछ करना, परन्तु मिमीति
की पूरा पूरा न जानना), द्रव्य देकर मैथुन करना, दूसरे के आधीन होकर के
पचना (भोजन करना) ये तीनों बातें तो अन्वय कष्ट देने वाली और उपशाम
करती हैं, अर्थात् विचार (धर्म) ही है ॥ १५२ ॥

और रोगी, मग परदेश रहने के भे, दूसरे का अन्न खाने वाले, और दूसरे
पर मे रहने वाले पुत्र का जीवन भी खाने के दृश्य है, और उमड़ा मरना उस
विध विधाम के ही समान है । अर्थात् जीने में कष्टका मरना ही अन्वय है ॥ १५३ ॥

धनलुब्धो ह्यसन्तुष्टो नूनमात्मद्रोही भवति ।

तथा चोक्तम्—

'लोभेन बुद्धिश्चलति, लोभो जनयते तृषाम् ।

तृषाऽऽर्त्तो दुःखमाप्नोति परत्रेह च मानवः' ॥ १५४ ॥

तत्रोऽहं मन्द-मन्दमुपसर्पस्तेन योषारुर्णेन जर्जरवंशरुण्डेन ताडित-
श्चाऽचिन्तयम्—

'धनलुब्धो, ह्यसन्तुष्टोऽनियतात्माऽजितेन्द्रियः ।

सर्वा एवाऽऽपदस्तस्य, यस्य तुष्टं न मानसम्' ॥१५५॥

तथा च—

'सर्वाः सम्पत्तयस्तस्य सन्तुष्टं यस्य मानसम् ।

उपानद्गूढपादस्य ननु चर्माऽऽवृतेव भूः' ॥१५६॥

अर्थ—मिहारादिकं द्रविणम् । ग्रहम्=ग्रामग्रहम् ॥ लोभेनेति । चलन्=नश्यति ।
तृषाम्=तृष्याम् । तुष्टः=तृष्यादितः । चनादि तृष्याकुलः । परत्र=परलोके ।

रर=अस्मिन् लोके ॥ १५४ ॥ उपसर्पन्=इतस्ततो ध्रमन् ।

धनेति । लोभाकान्ता-अनिपनात्मा=चञ्चलमानसः, अजितेन्द्रियः=
अनिकितेन्द्रियः ॥ १५५ ॥

ऐसा विचार कर मी, मैंने मारे लोभ के निर भी उस संन्यासी के अन्न को
लाने का प्रयत्न किया । क्योंकि धन का लोभी और असन्तोषी मनुष्य अपनी
आमा के साथ भी द्वेष (विरोध) करने वाला ही होता है । किसी ने कहा भी है—
लोभ से मनुष्य की बुद्धि चञ्चल हो जाती है, और लोभ से मनुष्य को तृष्या
उत्पन्न होती है और तृष्या से ही मनुष्य इस लोक में तथा परलोक में भी दुःख
पाना है ॥ १५४ ॥

इसके अनन्तर उस संन्यासी का अन्न लाने को मैं धीरे-धीरे जारी रदा था
तब उस हीनार्थ संन्यासी ने मुझे एक पटे हुए बाँन के टुकड़े से मारा । तब मैं
छोचने लगा—

ओ मनुष्य धन का लोभी, असन्तोषी, चञ्चल चित्तगद्गा, इन्द्रियो के बर में
राने बड़ा है, तथा किसका मन कन्तुष्ट नहीं है, ऐसे मनुष्य को सब प्रकार की
आपत्तियाँ आकर घेर लेगी है ॥ १५५ ॥

अपरञ्च—

‘मन्तोपाऽमृतवृक्षानां यत्सुखं शान्तचेतसाम् ।

दुतस्वद्वनलुब्धानामितश्चेतश्च धारताम्’ ॥ १५७ ॥

छिन्न—

‘तिनाऽर्षीतं, श्रुतं तेन, तेन सर्वमनुष्ठितम् ।

येनाऽऽशाः पृष्ठतः कृत्वा नैरारपमवलम्बितम्’ ॥ १५८ ॥

अपि च—

‘असेवितेश्वरद्वारमदृष्टिगृह्ययम् ।

अनुक्तङ्गीवचनं, घन्यं कस्याऽपि जीवनम्’ ॥ १५९ ॥

सर्वा इति । उपानद्गूढपादस्य = कादुकावद्वपादस्य । घर्मादृतेव = य-
ऽऽरुतेव । भू. = कष्टदृष्टादिगुणाऽपि-परिणो-निष्कष्यतेव ॥ १५६ ॥

सन्तोषेति । सन्तोष एव अमृतं, तेन गुमानामित्यर्थः । अत एव-यान-
योता = शान्तनिष्ठानाम् ॥ १५७ ॥

अर्षी = शान्तं पठितम् । धुतम् = आश्रितम् । सर्वं = यथादिकं शुभं कर्म
अनुष्ठितं = इति । नैरारपं = सन्तोष ॥ १५८ ॥

असेवितेश्वरद्वारम् = असेवितेश्वरादिपनिष्कष्यद्वारम् । अदृष्टा विरदव्यथा यमि-
त्तु-अदृष्टविदम्बनम् = अनुक्तङ्गीवचनम् । अनुक्तङ्गीवचनम् = प्रकृतिवरी-

श्रीर भो-जिम्बो मन सन्तोष दे, उतसे पात सब सन्त्यति दे । येते मि-
मनुष्य के देर मे दूषादे, उतसे त्रिये मा ॥ सव दूषो ही चर्न से अन्नादि दे ॥ १५६ ॥

श्रीर भो-म-भेत्तनी अमृत मे सुम एव शान्त निवसानो को जो गुण दे, व-
गुण मन व एते मे इत-उपर दीदने गाने को बर्षो सेरो मो महता दे ॥ १५७ ॥

श्रीर भो-जिम्बो आता को एता मर कर नैरारप (निराशा) का
अरुतम्बो विपा है, उतसे सब शापों को टोड र पटा दे, श्रीर उतो ने शा-
पों को टोड र गुना है श्रीर उतने सब सुदु कर्म उद्यम विपा दे ॥ १५८ ॥

श्रीर भो-जिम्बो चर्नको से द्वार की सेज नदी की, जिम्बो विर-

पतः—

‘न योजनशतं दूरं बाह्यमानस्य’ तृण्यया ।

सन्तुष्टस्य करप्राप्तेऽप्यर्थे भवति नाऽऽदरः’ ॥ १६० ॥

सद्ग्राह्यस्योचितकार्यपरिच्छेदः श्रेयान् ।

‘को घर्मा, भूतदया, किं सौख्यमरोगिता जगति जनेःत ।

फः स्नेहः, सद्भावः, किं पाण्डित्यं, परिच्छेदः’ ॥ १६१ ॥

बाह्यम् । जीवनम् = जोचितम् । कस्यापि = सन्तुष्टस्य, निरक्तस्य च ॥

नेति । तृण्यया = आशया, बाह्यमानस्य = प्रेयमाणस्य । योजनशतमपि न दूरम् । तृण्यार्थो योजनशतमपि गच्छतीत्यर्थः । सन्तुष्टस्य तु करप्राप्ते = हस्तगतोऽपि । अर्थ = फलनि-आदरो न भवतीत्यर्थः ॥ १६० ॥

सन् = तस्मात् । अर्थस्योचितकार्यपरिच्छेदः = दरिद्राऽवस्थापोग्यः सुखो-भोगसङ्कोचः, उपभोगपरित्यागश्च । केचित्तु-परिच्छेदः = निश्चय इत्यर्थ इत्याहुः । श्रेयान् = भेदः ।

क इति । भूतदया = जीवदया । सौख्यम् = सुखम् । अरोगिता = आरोग्यं । परिच्छेदः = सङ्कोचः, रत्नो व्ययः, निश्चयो वा ॥ १६१ ॥

मया नहीं सही, और जिसने कहीं अपनी दीनता प्रगट नहीं की, उसी मनुष्य का जीवन घन्य है ॥ १५६ ॥

क्योकि—जो मनुष्य तृण्या के वश में हो रहा है, उसके किये तो १०० ही योजन (चार ही पोथ) भी दूर नहीं है, पर जो प्राणी मन्तुष्ट है, उसको तो हाथ में चाप हुए घन पर भी आदर नहीं होता है, किन्तु उसमें भी उसे उपेक्षा ही होती है ॥ १६० ॥

इसलिये यहाँ अब अपनी अवस्था (दरिद्रता) के अनुसार ही कर्त्तव्यकार्य का निर्वाह कर लेना ही अच्छा है । क्योकि—

धर्म क्या है ?, प्राणियों पर दया । सत्कार में सुग क्या है ?, नीरोग रहना । श्रेय क्या है ?, सद्भाव = अनुराग, प्रेम । पाण्डित्य क्या है ?, सत् असा का विवेक । अर्थात्—उचित अनुचित का ठीक ठीक समझना ॥ १६१ ॥

१. ‘बाह्यमानस्ये’तु पाठान्तरम् ।

तथा च—

‘परिच्छेदो हि पाण्डित्यं यदाऽऽपन्ना विपत्तयः ।
 अपरिच्छेदवर्तुणां विपदः स्युः पदे पदे’ ॥ १६२ ॥
 ‘स्वजेदं कुलस्वार्थे, ग्रामस्वार्थे कुलं त्यजेत् ।
 ग्रामं जनपदस्वार्थे, म्यात्मास्वार्थे पृथिर्ना त्यजेत्’ ॥ १६३ ॥

अपरश्र—

‘पानीयं वा निरापामं, स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
 निचार्य खलु पश्यामि, तत्सुरं यत्र निर्धृतिः’ ॥ १६४ ॥

परिच्छेदः = विनाश, निश्चय, सन्तोषो वा । पाण्डित्यं = चातुर्यं, वीर्यलक्ष्णं ।
 अपरिता = प्राता । अपरिच्छेदवर्तुणां = अविचार्यं कार्यनाचरताम् अविचिन्विताम् ।
 अस्त्युत्तराणां वा ॥ १६२ ॥

पदम् = एक जनम् । ग्रामस्वार्थे = ग्रामसमिगारुचनोरक राय । कुलं =
 जामाय । स्वस्वार्थे = स्वस्वमाय तु । पृथिर्ना = तस्मै—स्वस्वधनपुत्रादिकमपि ।
 यत्रापि न स्यात्स्वार्थे मन्—दुर्दिनि भा० ॥ १६३ ॥

एकत्र गते तु—निरापामं = प्रथमं विचार्य, पानीयं = निर्भरादिजलम्, इ
 मन्ते तु—भयोत्तरं = भयमन्तरं, स्वादु = मधुम्, अन्नं = भक्ष्यभोग्यादि ।
 मणि, तत् = तस्योक्तं चकार्त्तुं भवेत् । अत्राऽऽपन्ना प्रश्ने—यद्यत्र चरमाः

श्रीरानी—विपत्तयः आने पर, विनाश पर कार्य करना ही पाण्डित्य (पुनिक
 है । विना विचार के काम करने वाले प्राणियों पर तो पशु-वदमे विपत्तयों का
 है ॥ १६२ ॥

श्रीरानी के लिए एक को, गौरव के लिए कुत्रको, देश के लिये गौरव को,
 श्रीरानी के काम के लिये मूलों पृथी को ही छोड़ देना चाहिये ॥ १६३ ॥
 श्रीरानी—यदि अपना काम करने में विचार नहीं है, श्रीरानी नाश करने को मे
 काट लिये अथ भी लिये, त्रिगुणे श्रीरानी वदते हैं की सम्मानना हो तो, इन दोनों में
 से ही तो वदते हैं ही मुक्त मान पाएँ । वदते ही मुक्त वदी है, विगने विपत्तयों को शान्ति हो,

—इत्यालोच्याऽहं निर्जनवनमागतः । यतः—

‘वरं वनं ’व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं,

द्रुमाऽऽलयं पक्कलाऽम्बुमोजनम् ।

तृणानि शय्याः, परिधानवल्कलं,

न वन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्’ ॥ १६५ ॥

गोत्रमत्पुत्रयोदयादनेन मित्रेणाऽहं स्नेहानुवृत्त्याऽनुगृहीतः । अधुना पुत्रपरम्परया भवदाश्रयः स्वर्ग एव मया प्राप्तः ।

वैति । पश्यामि=प्रयचार्यामि । वनं निर्जनिः = मनसः शान्तिः, सन्तोषः, सुख, नाग्यदिनि भागः ॥ १६४ ॥

• व्याघ्रगजेन्द्रसेवितं=तिहादिशय्याद-गजादिवन्यजन्तु-सङ्कुल । द्रुमा एव आलयात्-द्रुमालय=रूपादिनिर्मिताऽऽवासम् । पक्कानि पल्लानि, अम्बु च भोजन यत्र-वन्धुमोजन=पक्कान्यपल्लजलभोजन, वनं=वनवासः, वर=प्रेष्टम् । दि बने तृणान्येव शय्यास्थानीयानि, वल्कलमेव च परिधान=वस्त्राणि, तत्र । भेदः, परन्तु वन्धुमध्ये धनहीनजीवनम्=निर्धनजनजीवन, नीचिन-वर्धः ॥ १६५ ॥

अनेन=रावसेन । स्नेहानुवृत्त्या = स्नेहदानेन । पुत्रपरम्परया=पुत्रपरिपाट्या,

पर्वत-शापीन जल का मिलना-कटलम्प स्वादु अत्र से-प्रबिद्ध अचन्द्रा हे ॥ १६४ ॥

ऐसा हीन वर मैं (पूडा) मट को छोड़ कर निर्जन वन में चला आया ।

हि—

एक घोर शक्ति से भरे हुए वन में वृक्षों के नीचे टहरना कहीं अच्छा

पके हुए पत्तों से तथा जल से भी निर्वाह करना अच्छा है, तृण की

जा घोर रहने को मक्कड़ ही तो भी अच्छा है, परन्तु अपने वन्धुओं के

सम में रहित हो कर रहना कभी अच्छा नहीं है ॥ १६५ ॥

एक ही धनपार मेरे पुत्रों के उदय से मुझे इस मित्र (कीरे) ने अपनी

१ 'गजादि' पा० ।

यतः—

‘संसारविपवृक्षस्य द्वे एव रसवत्फले’ ।

काव्याऽऽमृतसंसाऽस्वादः, सङ्गमः ‘सज्जनैः सह’ ॥१६६॥

मन्थर उवाच—

[‘सत्सङ्गः, केशवे भक्तिर्गङ्गाभ्रमसि निमज्जनम् ।

असारे रसु संसारे त्रीणि साराणि भावयेत्’] ॥

‘अर्थाः पादरजोपमा, ‘गिरिन्दीवेगोपमं यौवन-
मायुष्यं जललोलविन्दुचपलं, फेनोपमं जीवितम् ।

धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गाऽर्गलोद्घाटनं,

‘पथात्तापयुगो जरापरिगतः शोकाऽग्निना दहते’ ॥१६७॥

मरुता भीभादेन । भवभावः = भयतः कच्छुयस्याभयः, स्वर्गः = स्वर्गदुःखः ।
संसारंति । संसाररूपविषयवृक्षस्य । रसवत्फले = रसयुक्ते—फलौ । काः =
मृतरससंगतः = काव्यरूपमृतरसांगत इत्येवम् । सुजनैः सह—सङ्गमः = समागम
द्वाररसलम् ॥ १६६ ॥

अर्था इति । अर्थाः = धनानि, पादरजोपमः = चरमपूतितुल्याः । अस्मा
न्दीर्घे रजसोऽपि, ‘रजसा च रजं विदुः’ इति द्विरूपशेषामाएषात्

श्लेषार्थं इति इति से अगुदीति इति । और अब लोभरे पुस्तक की परंपरा से (श्री
भाग से) स्वर्ग के समान सुखद अवस्था आभय सुखे मिल गया है ।

‘सोऽहं—समात्परीति वृक्ष के दो ही रसयुक्त (मीठे) फल हैं, एक है
अमृतमय काव्यो का रसास्वाद, और दूसरा मरुतों की संगति ॥ १६६ ॥

एत मन्थर वसुधा यो करने लगा—

[इस अमृत समार में तीन ही वस्तु मार समझनी चाहिए । एक तो मन्थर
का संग, दूसरी भगवान् की भक्ति और तीसरी योग सद्भागे का आन] ॥

मन्थर वंशः—धन लोभ की धृष्टि के ममान है, और दीर्घ भी परंतिवर्त

१. ‘सुखे वने’ इति वं० । २. ‘सुजनैः’ इति पाठान्तरम् ।

३. ‘विन्दुचपलं’ वं० । ४. ‘पथात्पयुगो जरापरिगतः’ इति पाठान्तरम् ।

युष्माभिरतिसञ्चयः कृतस्तस्याऽयं दीपः । शृणु—

‘उपाजितानां वित्तानां त्याग एव हि रक्षणम् ।

तडागोदरसंस्थानां परीवाह इवाऽम्मसाम्’ ॥ १६८ ॥

अन्यत्र—

‘यदधोऽधः चित्तौ वित्तं निचलान मितम्पचः ।

तदधोनिलयं गन्तुं चक्रे पन्थानमग्रतः’ ॥ १६९ ॥

श्रायुषं = जीवितकालः । जललोलविन्दुचपलम् = चञ्चलजलविन्दुवदचिरविनाशि ।
 केनोरमं = जलशुद्धीदीपमम् । रम्यं स्य या-श्रगंला = नपाविक्रमः, तस्या
 उदादनम् = निराकरणत्वम्, धर्म—यो न करोति=नाऽऽचरति । ॥ जराजीर्णः=
 वृद्धः सन्, पश्चात्पश्यतः = पश्चात्पसन्ततः । द्वाप-धात्=अन्ते, तापयुतः=सन्त-
 तमानस’ इत्यर्थः । शोकाग्निः=शोकवह्निः । दहते=अग्निश्च बलति ॥१६७ ॥

युष्माभिः=मरता मूलशेष । अनिसञ्चयः=नितरां सञ्चयः । अर्थः=उदपहार-
 ५३ दीपः । उपाजितानां=सदृशज्ञानानाम् । त्यागः=दानम् । तडागोदरसंस्थानां=
 तडागमध्यस्थितानाम् । अम्मसां = जलानाम् । परीवाहः = ततो निष्कासनमेव ।
 चेशो योजनमेव च । रक्षणमित्यर्थः ॥ १६८ ॥

चित्तौ=शुद्धियाम् । मितम्पचः=कदर्यः । वित्तं=धनम् । निचलान=

के पैग के समान ही चणमहर है, और श्रायु-जल के चञ्चलविन्दुओं के समान है,
 जीवन भी केन शुद्ध के ही तुल्य है । इसलिये जो निश्चित बुद्धिवाला मनुष्य
 रम्य के कपाट की श्रगंला (श्रगल) का उदादन करने वाले धर्म का सेवन
 नहीं करता है, वह पीछे वृद्धावस्था में सन्तापरूपी अ॥ से जलना रहता है ॥१६७॥

और श्राप (वृद्धे) ने धन का अधिक संचय किया था, उसीका यह दीप
 - ५४, कि यह नष्ट हो गया और आपको भी यह कष्ट हुआ । क्योंकि मुने—

अर्जन (पैश) बिये हुए धन को सत्पात्र में देना ही उत्तरी रवा है ।
 जैसे तालाब के भीतर के बड़े हुए जल को निकाल देने से ही उसके जल की
 शुद्धि होती है ॥ १६८ ॥

और भी—जिस रूपण ने अपने धन को पूर्यी के भीतर गाद दिया है, उसने

अन्यच्च—

‘निजमौख्यं निरुन्धानो यो घनाऽर्जनमिच्छति ।

पराऽर्थं भाग्वाहीव क्लेशस्यैव हि भाजनम्’ ॥ १७० ॥

अपरञ्च—

‘दानोपभोगहीनेन घनेन घनिनो यदि ।

भगवतः किं न तेनैव घनेन घनिनो वयम्?’ ॥ १७१ ॥

अन्यच्च—

‘दानोपभोगहीनाथ दिवसा यान्ति यस्य वै ।

स कर्मकारमस्त्रेव श्वसन्नपि न जीवति’ ॥ १७२ ॥

निजागच्छ (गच्छता हुआ) तत् = निम्नजनम । अथ = नीचे । निज्यं = स्थान, नरकमिति यावत् । अधोभित्तय = पानाभिति वा ॥ १६६ ॥

नितेति । स्वमुखा परिपक्वाणि यः केवल भनमेव अर्जयितुमिच्छति, सः परार्थम् = अन्वार्थं, भारवाहीव = भारवाहक इव, केवलं क्लेशमेव लभते, मुनम् । भाजनम् = भागम् ॥ १७० ॥

दानोपभोगहीनेन भूमौ रथादिनेन घनेन यदि कर्मणि घनि-
भगवति, तर्हि तेनैव भूमिदिपत्रेन तेनैव घनेन यद्वा उदासीना अपि घनिनः कुतो
भगवतः ? । दानोपभोगहीनस्य न-धेनया मुन्य-गति वाशय ॥ १७१ ॥

पृथगे मे ही म नो अरने त्रिये नीचे (नरक मे) जाने के लिये म ग (सीटी
ही बगवा है ॥ १६६ ॥

धीर भी—भी प्राणी अरने बी कष्ट मे दान कर भन का उपार्जन कर
है, यह दूसरे के लेक बी दोने वगैरे कुनी की तरह केवल मुन ही वा पाप
कर्मों पर केवल उपासी पा ॥ है—मुन नहीं ॥ १७० ॥

धीर भी—जिम घन वा उपभोग नहीं निदागया धीर जो न रिदागया, र
घन मे यदि प्राणी अरने बी घनी मदनता है, तो पूर्यो के भीर गदे हुए र
पर मे बसा इन रोग भी खनी नहीं बसा मरते है, कर्मों अरन्य बसा म
है ॥ १७१ ॥

‘धनेन किं, यो न ददाति, नाश्नुते,
वलेन किं, यो न रिपून् वाघते ।

श्रुतेन किं, यो न च धर्ममाचरेत्,
किमात्मना, यो न जितेन्द्रियो भवेत्’ ॥ १७३ ॥

‘असम्भोगेन सामान्यं कृपणस्य धनं परैः ।

‘अस्येद’मिति सम्बन्धो हानां दुःखेन गम्यते’ ॥ १७४ ॥

दानोपेत । दाय=दय्य पुंसः । याति=गच्छति । कर्मकारमन्त्रेव=
सोहकारमन्त्रेव । (लोहार की भाषी की तरह) । असन्नपि=श्वास मुद्गपि, न
वीरिनि=किन्तु मृतक एव । मृतकतुल्य एव ॥ १७२ ॥

धनेनेति । तस्य धनेन किं=किं फलम् । यो नाश्नुते=नोपभुङ्क्ते । वलेन
=तस्य पुंसो वलेन । किं=किं फलं,—यः पुमान् बलवानपि, रिपून्=शत्रून्, न
वाघते=नोन्मूलयति । श्रुतेन=शास्त्रेण । आत्मना=शरीरेण, जीवनेन ॥ १७३ ॥

कृपणस्य धनम्—असम्भोगेन=अनुरभोगेन । तान्—परैः सामान्यं
=परधनतुल्यमेव । परन्तु अस्य=कदर्यस्य, इदं=धनम्,—इति सम्बन्धाऽनुमयात्,
—दाना=तस्य धनस्य नारो सति । दुःखेन=कदर्यदुःखेनैव, ‘गम्यते=
अनुमीयते ॥ १७४ ॥

और जिस मनुष्य के दिन दान और उपभोग के बिना निपल ही बीतते जाते
हैं, वह मनुष्य लोहार की भाषी की तरह साँव सेना हुआ मी मरे हुए के
समान ही है ॥ १७२ ॥

और उस धन से क्या लाभ है, जिस धन से दान न दिया जाय । और उस
बल से भी क्या लाभ है, जिससे शत्रुओं को न दबा सके । और शास्त्र को गुनने से
भी क्या लाभ है, यदि तदनुसार धर्म का आचरण न किया जाय । और
जमके आत्मा (शरीर) से भी क्या लाभ है, जो जितेन्द्रिय न हो ॥ १७३ ॥

और भी—कृपण का धन उसके काम में नहीं आने से दूसरे के धन के
परावर ही है । ‘परन्तु वह धन इस कृपण का है’ । यह बात तो केवल इतनेसे ही
मन्त्रुम होती है, कि उग धन के नष्ट होने पर वह दुःखी होकर रोता है ॥ १७४ ॥
१. ‘चाभुं’ पा० ।

‘न देवाय, न विप्राय, न बन्धुम्पो, न चाऽऽत्मने ।
 कृपणस्य धनं याति वह्नि-तस्कर-पार्थिवैः ॥ १७५ ॥
 दानं, भोगो, नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
 यो न ददाति, न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ॥ १७६ ॥
 दानं प्रियवाक्साहिनं, ज्ञानमगर्भं, क्षमाऽन्वितं शौर्यम् ।
 पित्तं त्यागनियुक्तं, दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके’ ॥ १७७ ॥

पद्य—

‘कर्त्तव्यः सञ्चयो नित्यं, कर्त्तव्यो नाऽतिसञ्चयः ।
 पर्य सञ्चयशीलोऽसौ धनुषा जम्बुको हतः’ ॥ १७८ ॥

नेति । कृपणस्य धनं न-देवाय=न देवगुणादाउपभुङ्क्ते, न विप्राय=न
 रोम ब्राह्मणाय दीयते । याति=नश्यति । तस्करः=चोरः । पार्थिवः=राजा ॥ १७५ ॥

प्रियवाक्=धनदाय, तृतीया गतिः = नाशः ॥ १७६ ॥

दानमिति । प्रियवाक्कृतं=प्रियवचनान्वितम् । अगर्भं=गर्भरहितम्,
 अभिमनश्शून्यम् । त्यागनियुक्तं = दानप्रयुक्तम्, दानाऽन्वितं वा ॥ १७७ ॥

श्रीमत्सयः=केवल सञ्चय एव । सञ्चयशीलः = सञ्चयपरायणः ॥ १७८ ॥

श्रीर—इत्यत्र धन न देवता के काम (यश आदि) में आता है, श्रीर न
 ब्राह्मणों के काम में आता है, श्रीर न यह बन्धुओं के ही काम में आता है,
 न करने ही काम में आता है, किन्तु यह धन या तो अग्नि में जल जाता है, या
 उसे चोर ही चुरा लेते हैं, या उसे गन्ना ही हर (छीन) लेता है ॥ १७५ ॥

श्रीर भी—धन की तीन तरह की गति होती है, १ दान, २ भोग श्रीर
 ३ नाश । परन्तु ओ क रूप मनुष्य न देता है, न गाना है श्रीर उसके धन की
 भोगही हो गई (नाश) होती है, अर्थात् उनका यह धन नष्ट ही हो जाता
 है ॥ १७६ ॥

श्रीर—प्रियवचन पूर्वक दान, मिना ॥३॥ का दान, क्षमा युक्त शर-वीरता, धन
 होने पर दान देना, ये चारों बातें संसार में यही दुर्लभ हैं ॥ १७७ ॥

वह भी है—प्रतिदिन मनुष्य को बुद्ध न बुद्ध गणव अदर्य करना पारिये,

सावाहृतः—'कथमेतत् ?' । मन्यरः कथयति—

(६) सञ्चयशीलजम्बुककथा ।

आसीत्कल्याणकटकवास्तव्यो भैरवो नाम व्याधः । स चैकदा मांसलुब्धो धनुरादाय मृगमन्विष्यमाणो विन्ध्याऽटवीं गतवान् । ततस्तेन व्यापादितं मृगमादाय गच्छता घोराऽऽकृतिः शूकरो दृष्टः ।

तेन व्याधेन मृगं भूमौ निधाय, शूकरः शरेणाऽऽहतः । शूकरेणाऽपि घनघोरगर्जनं कृत्वा, स व्याधो मुक्तदेशे हतः सन्, 'द्विभ्रदुम' इयं भूमौ निपपात । यतः—

'जलमग्निर्विषं, शस्त्रं, जुद्ध'व्याधिः, पतनं गिरेः ।

निमित्तं किञ्चिदासाद्य देही 'प्राणैर्विमुच्यते' ॥ ७६ ॥

ती=वायसमूयकौ । मन्यरः = कच्छपः ।

कल्याणकटकवास्तव्यः=कल्याणकटकनामकपर्वतनितम्बनिवासी । 'कटकोऽग्नी निमम्बोऽद्रे'रित्यमरः । व्याधः=जुघ्नकः । विन्ध्याटवी=विन्ध्याखण्डम् । व्यापादितं =हतम् । घोराकृतिः=भयङ्करस्वरूपः । आहतः=ताडितः । घनघोरगर्जनं=मेषगम्भीरं भीषणं गर्जनम् । मुक्तदेशे=अरुणकोशे । हतः=दन्तेन ताडितः ।

परन्तु अधिक सञ्चय भी नहीं करना चाहिये । क्योंकि देखो, ज्यादा सचय करने वाला वह सियार उस धनुष से मारा गया था ॥ १७८ ॥

तबन्वे दोनों (शैवा और चूहा) बोले—यह क्या कैसे है ! । तब मन्यर कछुआ इस प्रकार कहने लगा—

कल्याणकटक नामक किसी स्थान में भैरव नाम का एक व्याध रहता था । एक दिन वह मांस (शिकार) की इच्छा से धनुष लेकर मृग (शिकार) को खोजता हुआ विन्ध्याचल के जङ्गल को गया । इसके बाद उसने एक मृग को मारा और उसे लेकर चला । चलते २ उसने एक भयङ्कर सूअर को मार्ग में देखा । तब उसने मृग को भूमि पर रखकर सूअर को पाण से मारा । सूअर ने भी जोर से गर्ज कर उस व्याध के अरुणकोश में अपने दन्त से आघात किया, तब यह व्याध कटे हुये टुक की तरह ही भूमि (जमीन) पर गिर पड़ा और मर गया ।

१. 'हतः संद्विभ्र' इति पा० । २. 'विमुच्यते' पा० ।

अथ तयोः पादाऽऽस्फालनेन सर्पोऽपि मृतः । अथाऽनन्तरं दीर्घरावो
 नाम जम्बुकः परिध्रगन्नाहारार्थं तान्मृतान्मृग-व्याध-सर्प शूकरानपरण् ।
 अचिन्तयन्—‘अहो ! अद्य महद्भोज्यं मे समुपस्थितम्’ । अथवा—

‘अचिन्तितानि दुःखानि यथैवाऽऽयान्ति देहिनाम् ।

मुत्सान्यपि तथा, मन्ये दैवमत्राऽतिरिच्यते’ ॥ १८० ॥

तद्वत्तु । एषा मानेमांमत्रय मे सुखेन गमिष्यति ।

‘भागमेकं नरो याति, द्वौ मासां मृग-शूकरौ ।

अहिरकं दिनं याति, अद्य भक्ष्यो घनुर्गुणः’ ॥१८१॥

१। १८१। दुःख इव = दिनदृष्ट इव ।

लक्ष्मिनि । घुर्=लुषा । गिरे=रागादेः । आसाद्य=लब्ध्वा । देही=परीरी ।
 प्र. गैरि. सुखने=सुखते ॥ १७६ ॥

तयो = व्याधसर्पयोः । पादभ्रालनेन=पादलाहनेन । (देर पटकने से) ।
 आहारार्थं = भोजनार्थं, परिध्रगन् = पर्वण् ।

अचिन्तितानि = अचिन्तितानि । तथा = अचिन्तितान्येव-आयान्ति । दैव =
 भाग्यम् । अतिरिच्यते = अतिभ्रमति । तदिनाऽप्र देवुः । विशिष्यते इति या ॥१८०॥
 नर = इन्द्रायः । द्वौ = द्वौ मासौ । मासद्वयं यादृ । याति = चलिष्यति ।

बभोस्ति—भय, क्रान्ति, निव, शब्द, भूय, भोग, पर्वत आदि से गिरना आदि, इनमें
 से किसी भी निमित्त क प्रान्ति अने प्रान्ति की क्षोभता (अर्थात् मरता) है ॥ १७६ ॥

इसी प्रान्तिन उभी जगद एक छत्र भी उन दोनों के पैर पटकने से मर गया ।
 इन्हीं दोय में दांवाय नाम का एक निवार अने भोजन की भोज में वहाँ आ
 निर्या और उन में हुए व्याध, सर्प, मृग और शूकर को देल गद बहा ही प्रसन्न
 हुआ और भी उने लगा, अथा । मेरा भव्य भाग्य है, आज तो मुझे गुर भोजन निजा ।

उपगत—उने प्रान्तिवो के ऊपर दुःख निजा मृत्तना के ही एकारक आवा
 बने हैं, उभी प्रकार मुन भी अनायास ही आयो हैं । इसमें पैदल भाग्य ही
 मरता है ॥ १८० ॥

उपगत उीह है । इन्हीं मांन मे तीन ३ महिने मेरा नाम अथ उपगत ।

वरेक एक महिने तो मेरा भोजन इस मनुष्य मे (व्याध) मे गयेता, दो

सतः प्रथममुभुञ्जायामिदं नि स्वादु कोदण्टाऽटनीलग्नं स्नायुबन्धनं
ग्नादामि—इत्युक्त्वा तथा कृते सति, छिन्ने स्नायुबन्धने, द्रुतमुत्पतितेन
घनुषा हृदि निर्भिन्नः स दीघरावः पञ्चत्वं गतः ।

अतोऽहं प्रवीमि—'कर्तव्यः सन्नयो नित्यम्' इत्यादि । ३।

तथा च—

'यद्ददाति, यदश्नाति, तदेव धनिनो घनम् ।

अन्ये मृतस्य क्रीडन्ति, दारैरपि, घनैरपि' ॥१=२॥

अथ=अग्निम् दिवसे ॥ १८१

कोदण्डलम्=घनुषि प्रतिरोपितम्, स्नायुबन्धनम्=अग्निनिमित्तं गुणम् ।
तथाकृते=स्नायुबन्धनं भोक्तुं प्रवृत्ते सति । उत्पतितेन = ऊर्ध्वमुत्प्लुतितेन (उद्धले
हृए) । निर्भिन्नः = विद्धः । पञ्चत्वं गतः = मृतः ।

यद् = यदनम् । अश्नाति = उपभुङ्क्ते । अन्ये = जामातृभ्रातरादयः । क्रीडन्ति=
सस्य शरघनादिकमुपभुञ्जते इति भावः ॥ १८२ ॥

महीने यह सूअर चलेगा, और एक दिन यह सोंब चलेगा, और श्राव के दिन के
लिए तो यह घनुष की तोंब ही मुझे गहन है ॥ १८१ ॥

अनः श्राव परिले फलेया में भूख शान्त करने के लिए घनुष के अग्र-
भाग में रागी हुई स्वादरहित इस तोंब को ही खाता हूँ । ऐसा कहकर जब उमने
घनुष में चढ़ी हुई तोंब को दाँतों काटा तो उसके टूटने पर घनुष उड़ना और
उस निवार के हृदय में जाकर लगा और इन प्रकार दीरराव नाम का वह
नेवार मर गया ।

इसी से मैं करता हूँ, हि—'नित्यं बुद्धमशय करना अशरय चाहिये, पर
प्रथिम मशय भी नहीं करना चाहिये' इत्यादि । कथोकि कदा भी है—

ओ घनी अपने धन को किसी को देता है और उसका उपभोग करता है,
ही उनका धन है । मरने पर तो उसके धन और स्त्री आदि से दूसरे ही लोग
गानन्द करेंगे ॥ १८२ ॥

निश्च—

‘यद्दासि त्रिशिष्टेभ्यो, यथाऽश्नासि दिने दिने ।
तत्ते त्रित्तमहं मन्ये, शेषं कस्याऽपि रक्षसि’ ॥ १८३ ॥

यानु, त्रिमिदानीमतिमान्तोपवर्णनेन । यत् —

‘नाऽप्राप्यमभिराञ्छन्ति, नष्टं नैच्छन्ति शोचितुम् ।
आपन्स्वपि न मुगन्ति, नराः पण्डितपुद्गयः’ ॥ १८४ ॥

तत्सत्ते ! सर्वदा त्वया सोत्साहेन भवितव्यम् । यतः—

‘शास्त्राण्यधीन्याऽपि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान्पुरुषः स विद्वान् ।
मुचिन्तितं चौपधमातुराणां, न नाममात्रेण करोत्यरोगम्’ ॥ १८५ ॥

त्रिशिष्टेभ्यः = महद्भयं तपात्रेभ्यः । शेषम् = अत्रशिष्ट धनम्, कस्यापि =
कस्यापि उत्तराभिरागिण्यः कृते ॥ १८३ ॥

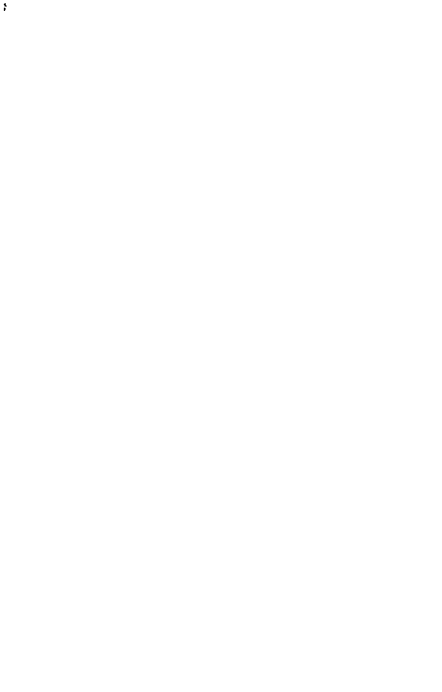
यानु = मन्यु (जाने भी दो) । अतिमान्तोपवर्णनेन = पूर्वाभिन्नकथया ।

नामाप्यभिमिति । अलम्ब्यं नैच्छन्ति, नष्ट = ना च—न शोचन्ति, निपचित्वि
न मुगन्ति=भोद न प्राप्नुवन्ति । पण्डितपुद्गयः=निमित्तपुद्गयः ॥ १८४ ॥

शो गारुन = उत्साहनता । मूर्खा = कुण्डितपुद्गय । निराशान् = कम

श्रीर भी—जो धन मरताच में दिया जाता है, या तिनका नि य उपभोग
मिना जाता है, वही धन मुन'ध है, बाकी धन तो द्विषी दुमरे का है, धन तो
उमरे केपस रमशले माय ही हो ॥ १८३ ॥

यन्नु, जाने दो, वीं दे की बातों को याद करे दु ली होना मोठीक नहीं है ।
करोदि—विद्वान् संग अनाप्य यन्नु को नहीं चाहते हैं श्रीर नष्ट यन्नु के
निदे शोक भी नहीं करते हैं, तथा आरति में पढ़ावो नी नहीं हैं ॥ १८४ ॥
धन दे निव ! धन अरुहोप्रमप्रगपूरुं क श्रीर उलाह से यहाँ रहना चाहिये ।
करोदि वट्टा में संग शायरी को पढ़हर भी मूर्ख ही रह जाते हैं, किन्तु जो
करोते को जाने में कुण्डल है, वही मध्ये विद्वान् है । करोदि—प्रत्यक्ष तद्व निष्प



‘स्थानभ्रष्टा न शोभन्ते, दन्ताः, केशा, नखा, नराः’ ।
 —इति विज्ञाय मतिमान् स्वस्थानं न परित्यजेत् ॥१८॥

—किन्तु कापुरुषपचनमेव ।
 यत —

‘स्थानमुत्सृज्य गच्छन्ति, मिंहाः, सत्पुरुषा, गजाः ।
 तत्रैव निधनं यान्ति, काकाः, कापुरुषा, मृगाः’ ॥१८६॥
 ‘को योग्य मनश्चिनः स्वविषयः, को वा विदेशस्तथा,
 यं देशं श्रयते तमेव कुरुते याहुप्रतापाजितम् ।
 यद्भ्रान्तगलाङ्गुलप्रहरणः मिहो यनं गाहते,
 तन्मिन्नैव हतद्विपेन्द्ररुधिरैस्सृष्ट्वां छिनत्पात्मनः’ ॥१८७॥

अपराध—

‘निपानमिव मण्डकाः, सरः पूर्णमिवाऽण्डजाः ।
 सोऽयं नरमायान्ति विवशाः सर्वसम्पदः’ ॥१८९॥

तत्र=दुर्गच्छे, दुःखप्रदेशवि देशे । निपन=निनाश यान्ति ॥ १८६ ॥
 मनश्चिनः=मनुनचित्तत्व । स्वविषयः=स्वदेशः । तस्मिन्=तत्र । सृष्ट्वां=

विराजन्तम् ।

अपने स्थान से छट्ट हुए—दौं, केश, नाख और पुरुष के मुछोमित नहीं होते हैं । इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य को चादिए कि पर अपने स्थान को कभी न छोड़े ॥ १८८ ॥

—वस्तु से दोनों ही आपसों के वाक्य हैं । कवेदि—
 गिर, दुर्गी पुरुष, हाथी—ये अपने स्थानों को छोड़कर भी अन्यत्र जाकर
 निपान प्राप्त करने हैं । वस्तु बीग, कापुरुष, दण्डि—ये एक जगह रहकर ही
 स्थान विना देते हैं और यही मर भी जाते हैं ।
 और उपासी दीरपुरुषके लिए स्वदेश और परदेश क्या है । पर तो जहाँ भी
 जाते, उधो जगह को अपने बाहुज्ज में करने अपोन कर लेता है । क्योंकि दौं, न,
 न, दौं ही जगहके स्थान (घर) हैं, ऐसा सिद्ध-विम यन में जाता है,
 ही में हादिसी का टिकार कर के ही अपनी दुधा शान्त कर ॥ १८९ ॥

अन्यथ—

‘मुखमापतितं सेव्यं, दुःखमापतितं तथा ।

चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च, सुखानि च’ ॥ १६२ ॥

अन्यथ—

‘उत्साहमम्पन्नमदीर्यसूत्रं, क्रियाविधितं, व्यसनेष्वसक्तम् ।

शूरं, कृतज्ञं, दृढसौहृदं च, लक्ष्मीः स्वयं याति निवामहंतोः’ ॥ १६३ ॥

निरागन्तु=उपकृपजलाशयम् । ‘आशरन्तु निरागन्तुं स्यादुपकृपजलाशये’ इत्यमरः । अयद्वजाः=दंसकारणद्वयादय पक्षिणः । सौशोगन्=उद्योगिनन् । निरशाः=प्राग्गृष्ट इव, स्वयमेव ॥ १६१ ॥

आरनिनन्=प्रागतन् । तथा=येनन् । यतः=चरन्—परिवर्तन्ते=प्रागन्वृत्ति, वान्ति च ॥ १६२ ॥

उत्साहंति । उत्साहपरिपूर्णेभ्यस्त्वयः । प्रदीर्यसूत्रम्=अचिरकियम् । क्रिया-विहितं=निपात्रिषानकुशलन् । दृढसौहृदं=भिरानुसंग, स्तिरसद्वृत्त्य वा । वानि=गच्छन्ति ॥ १६३ ॥

श्रीर—जिस प्रकार हुए के वाम के छोटे-छोटे जलाशयों (गोल, कोटों) में नदक स्वयं चले आते हैं, श्रीर पूर्ण सरोवरों में पक्षी भी स्वयं चले आते हैं, उसी प्रकार उद्योगी पुरुष के वाम भी सब प्रकार की सम्पत्तियाँ स्वयं ही चली जाती हैं ॥ १६१ ॥

श्रीर भी—जब मुझ आते तो उसको भी भोगना चाहिये, श्रीर वैने ही दुःख ही अब आ पड़े तो उसको भी सहना चाहिये । क्योंकि मुझ श्रीर दुःख तो चक्र (परिण) की तरह घूमा करते हैं । अर्थात् स्वयं ही आते-जाते रहते हैं ॥ १६२ ॥

श्रीर भी—उत्साह, धातुपरहित, कार्य करने के उपायों को जानने वाला, एतों में अनासक्त, श्रीर श्रीर कृतज्ञ, तथा जिसकी मित्रता दृढ़ है—ऐसे मनुष्य पास रहने की इच्छा में लक्ष्मी स्वयं ही आती है ॥ १६३ ॥

विशेषतश्च—

‘विनाऽप्यर्थवीरः’ स्पृशति बहुमानोन्नतिपदं,
समायुक्तोऽप्यर्थः परिभवपदं याति कृपणः ।

स्वभावादुद्धृतां गुणसमुदयाऽस्वाप्तिविषयां,

धृतिं महीं किं आ धृतकनकमालोऽपि लभते ? ॥ १६४

‘धनरा’निति हि मदस्ते, किं गतविभवो विपादमुपयासि ? ।

परनिहतस्फुटसमाः पातोत्पाता मनुष्याणाम् ॥ १६५ ॥

वितेति । अर्थो विनाऽपि धीरो वीरः, बहुमानोन्नतिपदं=समुन्नत स्थानं, स्पृशति
स्पर्शति । अर्थः समायुक्तोऽपि=अर्थः समन्वितोऽपि । परिभवपदं=वराभरणान्
उद्धृतां=प्राप्तां, प्रकटिताञ्च । गुणसमुदयाऽभिप्रेया=अनेकगुणगणमायां, सर्व
सिद्धगणविनीम्, धृतिं=दृढि, प्रमाञ्च । धृता कनकस्य माला येनाभी-धृतकन
माञ्च=सर्वदिनसर्गुणरत्नमण्डोऽपि । आ=युक्तुरः । किं लभते ?=किं प्राप्ते
नैव लभते इत्यर्थः ॥ १६४ ॥

धनरानिति । ‘अर्थं धनी’ति मः=दर्थं, एवं तव आसीत्, इदानीन्तु गतविभव
विगतिः सत्यतिर्दिशोऽऽमिति, विपाद=रोद । किं=किमिति । उपयासि
गच्छसि । अत्र तव विपादो नोपि इत्यर्थः । पुन एतत्त आह—करोति । इ
त इति स्फुटसुभ्याः, चण्डिकाः । पातोत्पाताः=पानोन्नतवः ॥ १६५ ॥

विशेषतश्च—वीर हीन विना धन के भी मान और उन्नति को पावे
और वृत्त मनुष्य धन होने पर भी अनाहत ही होते हैं । क्या कुछ सोने
माला पहिने में ही मिह की स्वानविक और शरता आदि गुणसमुदायो से
हृद सोना को पा सकता है ? । अर्थात् नहीं पा सकता है व १६४ ॥

‘मैं धनी हूँ’ ऐसा गर्व पहिने जुझे ना, अब धन के नाश होने पर
क्या मेरा स्वयं है । क्योंकि मनु मे का धननि (गिरना) और उन्नति (वद
दोनी हो-हाय से मने हुए में व समन हो चण्डिक है, और देना मे स्वयं
हृदा करने है ॥ १६५ ॥

१ ‘अर्थ’ इति पाठ-सम् ।

२ ‘मते मे’ वा० ।

३ ‘उपयासो’ति पाठः ।

अपरञ्च—

‘अम्भच्छाया, खलप्रीतिर्नवसस्यानि, योषितः ।

किञ्चित्कालोपभोग्यानि, यौवनानि, धनानि च ॥ १६६ ॥

वृत्त्यर्थं नाऽतिचेष्टेत, सा हि धात्रैव निर्मिता ।

गर्भादुत्पतिते जन्तौ मातुः प्रसवतः स्तनौ’ ॥ १६७ ॥

अपि च—सखे !

‘येन शुक्लीकृता हंसाः, शुकाश्च हरितीकृताः ।

‘मयूराश्चित्रिता येन, स ते वृत्तिं विधास्यति’ ॥ १६८ ॥

अपरञ्च सतां रहस्यं शृणु—मित्र !

‘जनयन्त्यर्जने दुःखं, तापयन्ति विपत्तिषु ।

मोहयन्ति च सम्पत्तौ, कथमर्थाः सुखावहाः ?’ ॥ १६९ ॥

अम्भच्छाया=मेघच्छाया । एतानि पञ्च किञ्चिन्नालमेव उपभोग्यानि, एषाम-
स्यादिनात् ॥ १६६ ॥

वृत्त्यर्थं=जीविकार्थम् । अति=अत्यन्तम् । न चेष्टेत = न प्रयतेत । हि = यतः,
=वृत्तिः, धात्रैव=प्रदाणैव । तथाहि—गर्भादुत्पतिते=प्रसूने । जन्तौ=प्राणिनि ।
वतः=हरयमेव हरतः ॥ १६७ ॥

येन=विधात्रा । सः=विधाता । वृत्तिः=जीविकाम् ॥ १६८ ॥

श्रीर भी—मेघों की छाया, दुर्जनो की प्रीति, नया अन्न, कामिनी बुनती स्त्री,
यौवन श्रीर बन,— ये सब छोड़े ही काल तक भोगने लायक रहते हैं, क्योंकि—ये
सदा एक से नहीं रहते हैं ॥ १६६ ॥

श्रीर मनुष्य को अपनी जीविका के लिये अधिक चेष्टा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि
जीविका तो प्रदा ने पहिले ही से बना दी है । देखो इसी लिये प्राणी के गर्भ से
निकलते ही माता के स्तनों से स्वयमेव दूध निकलने लगता है ॥ १६७ ॥

श्रीर हे मित्र ! जिसने हंसों को सफेद किया, मुष्कों को हरा किया, मयूरो को
चित्र चित्र रङ्ग का बनाया, वही ईश्वर तुम्हारी जीविका (भोजन आच्छा नद) की
चिन्ता भी स्वयं करेगा ॥ १६८ ॥

श्रीर भी सबनों का गूढ़ तात्त्विक उपदेश सुनो—

अपरश्र—

‘धर्मार्थं यस्य वित्तेहा चरं तस्य निरीहता ।

प्रचालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्’ ॥ २०० ॥

यतः—

‘यथा ह्यामिपमाकाशे पक्षिभिः, श्वापदैर्भुवि ।

मद्ध्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र विचगान् ॥ २०१ ॥

राजतः, सलिलादग्नेश्चोरतः, स्वजनादपि ।

मयमर्थवतां नित्यं, मृत्योः प्राणभृतामिव’ ॥ २०२ ॥

रक्ष्य = गुण्ट हितारक्षमुपदेशम् ॥ अजने = उपाजने । तापयन्ति = होर
यन्ति । मोहयन्ति = बुद्धि च नाशयन्ति ॥ १९९ ॥

धर्मार्थं = धर्मस्वरणार्थं, वित्तेहा = धनेच्छा । निरीहता = निरभिलाषता । मा
रुद्रा पादप्रक्षालनापेक्षया पङ्के पादनिक्षेपाभ्यां एव भेद्य इत्याशयः ॥ २०० ॥

आमिप = मांसम् । श्वापदैः = तिशदिभिर्निर्दिष्टे । नक्रैः = मृगादिभिर्जलवै-
वित्तवान् = धनी ॥ २०१ ॥

राजतः = भूपारु । राजनारु = वनधनेभ्यः । अर्थवतां = धनिनाम् । प्राणभृतां
प्राणिनाम् ॥ २०२ ॥

धन—अर्जन (पैश) करने में दुःख होता है, विपत्ति में (धन खला जाय तो)
सन्तान देता है, शीर सम्पत्ति (धन की वृद्धि) में वह भोद को उत्पन्न करना है,
अतः धन-मुक्त का देने वाला कैसे हो सकता है ? । (अर्थात् धन से तो शरीर
दुःख ही होता है) ॥ १९९ ॥

शीर भी—जो मनुष्य धर्म करने के लिये धन चाहता है, उसका तो धन की
नहीं चाहना ही अच्छा है । क्योंकि पैर में कीचड़ लगा कर उठे घोले की अर्थात्
॥ पैर को कीचड़ में नहीं साजना ही अच्छा है ॥ २०० ॥

शीर धेने मॉन को आकाश में पड़ा गान्ते हैं, पृथिवी में सिद्ध व्याप्य आ
गान्ते हैं, जग में मगर छाति ला जाते हैं, उन्नी प्रकार धनी के धन की
रहा है । अर्थात् जो धन है, परी धनी के धन को ला जाता है ॥ २०१ ॥

शीर धेने मृत्युको जो धन से भय है, धेने ही धनी मृत्युको भी राजा से

तथा हि—

‘जन्मनि क्लेशबहुले किं नु दुःखमतः परम् ।

इच्छासम्पद्यतो नास्ति, यच्चेच्छा न निवर्तते’ ॥ २०३ ॥

अन्यथा—भ्रातः ! शृणु—

‘धनं तावदसुलभं, लब्धं कृच्छ्रेण रक्ष्यते ।

लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ २०४ ॥

तृष्यां चेह परित्यज्य को दरिद्रः, क ईधरः ।

तस्याश्चेत्प्रसरो दत्तो, दास्यं च शिरसि स्थितम्’ ॥२०५॥

क्लेशबहुले = दुःखमाये । नु इति पितकं । अतः परम् = इतोऽधिकम् । किन्तु-
त आह—इच्छेति । इच्छासम्पत् = मनोज्ञुल्ला सम्पत्तिः । तथापि इच्छा न
ति, किन्तु अधिकं वर्द्धते—इत्यहो कष्टम् ॥ २०३ ॥

तावत् = प्रथमम् । अमुलभम् = दुर्लभम् । लब्धं चेत्—कृच्छ्रेण = दुःखेन । लब्धाय
स्तु—मृत्युरेव । अतः—एतत् = धनम् । न चिन्तयेत् = नैच्छेत् ॥ २०४ ॥

तृष्यामिति । तृष्यात्यागे को दरिद्रः ? । क ईधरः = को धनी ? । ‘इम्य आढ्यो
परः’ इत्यमरः । न कोऽप्येत्यर्थः । तस्याः = तृष्यायाः । प्रसरो = स्थानम्,
प्राभयः । शिरसि = मस्तके ॥ २०५ ॥

वस्तु से, अग्नि से और चौरों से तथा अपने कण्ठ-शान्धरो, (दायाद, पट्टीदार आदि)
भी सदा मय रहता है ॥ २०२ ॥

और भी—दुःखों से भरे हुए इस मनुष्य जन्म में इससे अधिक दुःख और क्या
सकता है, कि—अपनी इच्छा के अनुकूल धन मिलता भी नहीं है, फिर भी
मनुष्य की इच्छा की निवृत्ति नहीं होती है ॥ २०३ ॥

और भी माई ! सुनो, पहले—तो धन मुलम नहीं है, दूसरे—मिलने पर भी
की रक्षा कठिनाई से होती है, फिर मिले हुए धन का नाश तो मरण के बरा-
री कष्ट देने वाला होता है इसलिये धन के उपार्जन आदि की चिन्ता कभी
रनी ही नहीं चाहिये ॥ २०४ ॥

केवल एक तृष्या की छोट देने पर कीन दरिद्र है, और कीन धनी है ? ।

अपरञ्च—

‘धर्मार्थं यस्य विचेहा वरं तस्य निरीहता ।

प्रचालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्’ ॥ २०० ॥

यतः—

‘यथा क्षामिपमाकाशे पचिमिः, श्वापदैर्भुवि ।

मच्च्यते सलिले नक्रैस्तथा सर्वत्र वित्तवान् ॥ २०१ ॥

राजतः, सलिलादग्नेश्वोरतः, स्वजनादपि ।

मयमर्घवतां नित्यं, मृत्योः प्राणमृतामिव’ ॥ २०२ ॥

रस्य = सुगुणं दिवारसमुपदेशम् ॥ अर्जनं = उपाखनं । तापयन्ति = तौद
यन्ति । मोक्षयन्ति = बुद्धि च नाशयन्ति ॥ १९९ ॥

धर्मार्थं = धर्मं चरणार्थं, विचेहा = घनेच्छा । निरीहता = निरामिलायता । पङ्क
राश्या पादप्रकाशनापेक्षया पङ्के पादनिक्षेपाभार एव धेष्ट इत्याशयः ॥ २०० ॥

क्षामिषं = मांसम् । श्वापदैः = तिक्षादिभिर्जलचरैः । नक्रैः = मन्त्रादिभिर्जलचरैः
वित्तवान् = धनी ॥ २०१ ॥

राजतः = भूपार । रामनान् = वरवधेभ्यः । अर्घवतां = धनवान् । प्राणमृताः
प्राणिनान् ॥ २०२ ॥

धन—अर्जन (पैसा) करने में दुःख होता है, निपति में (धन खहा जाय तो
सन्तान देता है, और मर्यादा (धन की बुद्धि) में रह दोर को उत्पन्न करना है
अतः धन-गुण का देने वाता कैसे हो सक्ता है ? । (अर्थात् धन से धो का
दुःख ही होता है) ॥ १९९ ॥

और भी—जो मनुष्य धर्म करने के लिये धन चाहता है, उसका तो धन न
मही पारना ही अर्जना है । क्योंकि पैर में कीचड़ लगा कर उसे भोजी की अर्पण
से पैर को कीचड़ में नही डालना ही अर्जना है ॥ २०० ॥

और येने माँग को अर्पण में पली गायने है, पृथिवी में गिह व्याप्य छा
ताता है, जब में मगर छाति गा गाते हैं, उसी प्रकार धनी के धन की
दत्ता है । अर्थात् जो पता है, वही धनी के धन को गा जाना है ॥ २०१ ॥

और येने अर्पणों को धन से भय है, येने ही धनी मनुष्यों को भी राजां

तथा हि—

‘जन्मनि क्लेशग्रहणुले किं नु दुःखमतः परम् ।

इच्छासम्पद्यतो नास्ति, यच्चेच्छा न निवर्तते’ ॥ २०३ ॥

अन्यच्च—भ्रातः ! शृणु—

‘घनं तावदसुलभं, लब्धं कृच्छ्रेण रञ्यते ।

लब्धनाशो यथा मृत्युस्तस्मादेतन्न चिन्तयेत् ॥ २०४ ॥

तृष्णां चेह परित्यज्य को दरिद्रः, क ईश्वरः ।

तस्याश्वेतप्रसरो दत्तो, दास्यं च शिरसि स्थितम्’ ॥ २०५ ॥

क्लेशग्रहणुले = दुःखप्राये । नु इति वितर्कं । अतः परम् = इतोऽधिकं । चिन्त-
दित्तव आह—इच्छेति । इच्छासम्पत् = मनोऽनुकूला सम्पत्तिः । तथापि इच्छा न
निवर्तते, किन्तु अधिकं वर्द्धते—इत्यहो कष्टम् ॥ २०३ ॥

तावत् = प्रथमम् । असुलभं = दुर्लभम् । लब्धं चेत्—कृच्छ्रेण = दुःखेन । लब्धस्य
नाशो—मृत्युरेव । अतः—एतत् = घनम् । न चिन्तयेत् = नैच्छेत् ॥ २०४ ॥

‘तृष्णामिति । तृष्णात्यागे को दरिद्रः ? । क ईश्वरः = को घनी ? । ‘इम्य आद्र्यो
घनीश्वरः’ इत्यमरः । न कोऽपीत्यर्थः । तस्याः = तृष्णायाः । प्रसरो = स्थानम्
आश्रयः । शिरसि = मस्तके ॥ २०५ ॥

जल से, अग्नि से और चोरो से तथा अपने कंधु-शान्धवों, (दायाद, पट्टीदार आदि)
से भी सदा भय रहता है ॥ २०२ ॥

श्रीर भी-दुःखों से मरे हुए इस मनुष्य जन्म में इतसे अधिक दुःख और क्या
हो सकता है, कि—अपनी इच्छा के अनुकूल धन मिलता भी नहीं है, फिर भी
मनुष्य की इच्छा की निवृत्ति नहीं होती है ॥ २०३ ॥

श्रीर भी माई ! मुझे, पहले—तो घन मुलभ नहीं है, दूसरे—मिलने पर भी
किसी रक्षा कठिनाई से होती है, फिर मिले हुए घन का नाश तो मरण के बरा-
बर ही कष्ट देने वाला होता है इसलिये घन के उपाजन आदि की चिन्ता कभी
करनी ही नहीं चाहिये ॥ २०४ ॥

केवल एक तृष्णा को छोड़ देने पर कौन दरिद्र है, और कौन घनी है ? ।

अपरश्र—

‘यद्यदेव हि वाञ्छेत ततो वाञ्छा प्रवर्त्तते ।

प्राप्त एवाऽर्थाः सोऽर्थो, यतो वाञ्छा निवर्त्तते ॥२०६॥

किं बहुना, मम पक्षपातेन भयैव सहाऽत्र कालो नीयताम् ।

यतः—

‘आमरणान्ताः प्रणयाः, कोपास्तु क्षणमद्भुराः ।

परित्यागाश्च निःसङ्गा भवन्ति हि महात्मनाम्’ ॥२०७॥

—इति श्रुत्वा लघुपवनको ब्रूते—‘धन्योऽसि मन्यर ! सर्वथा श्लाघ
गुणोऽसि ।

यद्यदिति । यथा यथा इच्छति तथा तथा इच्छा प्रवर्त्तते = प्रवर्त्तते । प्राप्तेऽ
पने इच्छा न शक्यति । यतः=सन्तोषः य वाञ्छा निवर्त्तते । एवञ्च सन्तोषः प
वान्तरिकी अर्थप्राप्तिः, न अर्थप्राप्तिर्गोस्तिर्भी अर्थसिद्धिरिति भावः । अर्थं
अर्थादेव यदुक्त । सोऽर्थः=प्रमीणोऽर्थः ॥ २०६ ॥

आमरणान्ताः=मरणपर्यवसायिनः । क्षणमद्भुराः=क्षणविनाशिनः । प
त्यागाः=दानानि, रिचद्वेदाश्च । निःसङ्गा=नितरां सङ्गवर्जिताः, पक्षानुसन्ध
रदिग्धा ॥ २०७ ॥

अर्थात् गुण्या से ही दरिद्रता होती है । और यदि गुण्या को अक्सर दिया (
आदि की गुण्या की,) तो फिर दूसरों की अधीनता अक्षय्य भागी है । अ
केवल गुण्या को छोड़ने से ही मनुष्य दुगो हो सकता है, अन्यथा नहीं ॥ २०६ ॥

और भी—धन आदि किसी वस्तु को मनुष्य उषो २ पाइता है, एवं
उतही इच्छा बढ़ती है । अतः वह सदा अर्थ (धन) नहीं है । वस्तु (
(सन्तोष रूप अर्थ) से इच्छा की निवृत्त होती है, यही सदा ‘अर्थ’ है । यही
यदि मिले तो मिलना ठीक समझना चाहिये ॥ २०६ ॥

और अधिक क्या कहूँ । मेरे ऊपर क्या करके अब धार मेरे साथ यही
अनना कपदेव करिये । कथीह—

महात्मा लोगों का धेम तो मरण पर्यन्त (जीवन पर्यन्त) रखायी रहता है,
महात्मी का जोष तो क्षण मन्व में ही नष्ट हो जाता है, और उनका परि
(दान) भी क्षणिक (स्थाय) में रहता ही होता है ॥ २०७ ॥

१. प्रवर्त्तते’ वा० ।

यतः—

‘सन्त एव सतां नित्यमापदुद्धरणक्षमाः ।

गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः ॥ २०८ ॥

गुणिनि गुणज्ञो रमते, नाऽगुणशीलस्य गुणिनि परितोषः ।

अलिरेति वनात्कमलं, नहि मेकस्त्वेकवासोऽपि ॥ २०९ ॥

श्लाघ्यः स एको भुवि मानवानां,

स उत्तमः सत्पुरुषः, स धन्यः ।

यस्याऽर्धिनो वा, शरणागता वा,

नाऽऽशाभिभङ्गादिमुखाः प्रयान्ति’ ॥ २१० ॥

श्लाघ्याः=प्रशंसनीया गुण्याः=शक्तिव्यादयो यस्यासौ—श्लाघ्यगुणः ।

धुरन्धराः=नारदारणक्षमाः, उद्धरणोचिताः ॥ २०८ ॥

अलिः=भ्रमरः । एकवासः=समानसरोऽरस्योऽपि ॥ २०९ ॥

॥ एकः श्लाघ्यः, स एक उत्तमः पुरुषः, स एव धन्यः—यस्य एहात् अर्धिनः

=याचकाः, शरणागताः=शरणाग्निभ । आशाभिभङ्गात्,=आशावन्तुनङ्गात्,

निमुखाः—निराशाः सन्ती, न प्रयान्ति=न गच्छन्ति ॥ २१० ॥

कदुने की ऐसी बातें सुनकर लगुपतनक (कीरा) बोला—मन्धर ! तुम गल्प हो । उस प्रकार से तुम्हारी प्रशंसा ही करनी चाहिये । क्योंकि—

वहें लोग ही वदों को आपत्ति से बचा सकते हैं । जैसे कीचड़ में फँसे हुए हाथी को हाथी ही निकाल सकता है, दूसरा कोई छुद्र जन्तु नहीं ॥ २०८ ॥

श्रीरगुणी के सत्र से गुणी कोही आनन्द होता है, निर्गुण को गुणी से सन्तोष भी नहीं होता है । देखो, भ्रमर तो वन से चक कर भी कमल के पास घाता है,

परन्तु पाम में ही रह कर भी मेटक कभी कमल के पास नहीं जाता ॥ २०९ ॥

श्रीर भी—जिसके पास से याचक गये अथवा शरणागत लोग कभी निराश होकर नहीं छीटते हैं, वृष्ठी पर मनुष्यों में वही धन्य है, श्रीर वही प्रशंसनीय है श्रीर वही भेट है, श्रीर वही सपुण्य भी है ॥ २१० ॥

—तदेयं ते स्वेच्छाऽऽहारविहारं पुर्वाणाः सन्तुष्टाः सुखं निवसन्ति ।

अथ कदाचिच्चित्राद्गनामा मृगः केनाऽपि त्रासितस्तत्राऽऽगतमिलितः । ततः पश्चादायान्तं मृगमवलोक्य, भयं सञ्चिन्त्य, मन्यरोऽप्रविष्टः, मूयकश्च विवरं गतः, फाकोप्युष्ट्रीय वृक्षमारूढः । ततो लघुपतनं सुदूरं निरूप्य भयहेतुर्न कोऽप्यायातोत्यालोचितम् । पश्चात्तद्वचनादागपुनः सर्वे मिलित्वा तत्रैवोपविष्टाः । मन्यरेणाक्तं—‘भद्र मृग ! स्वास्ते, स्वेच्छयोश्चाद्याहारोऽनुभूयताम् । अत्राऽवस्थानेन वनमिदं सनाक्रियताम् ।’

चित्राहो व्रते—‘लुब्धकत्रासितोऽहं भवतां शरणमागतो भवसह सरयमिच्छामि । भवन्तश्च मामनुकम्पयन्तु मैत्रेण’ ।

ते = काश्रूमृगाः । स्वेच्छवा = स्वातन्त्र्येण, आहारं = भोजनं, विहारं = शौपरिभ्रमणादिकम् । सन्तुष्टाः = प्रसन्नाः ॥ ततः पश्चात् = तदनन्तरम् । आप्तं = आगच्छन्ताम् । निरूप्य = तिलोभ्य । आलोचितं = निश्चितम् । तद्वचनाकाक्यन्दारं । भद्र ! = साधो (भाई !) । स्वांगं = शोभनन्ते आगमनआहारः = भोजनम् । अवस्थानेन = स्थित्या । सनाशौकियताम् = अलनियता

इस प्रकार वे (मन्यर आदि) सब अपनी इच्छापूर्वक आहार-विहार आनन्द करते हुए प्रसन्नचित्त होकर एक साथ उस वन में रहने लगे ।

इसके बाद एक दिन चित्रा नाम का एक मृग मयभीन-सा होकर आया । भाग कर आते हुए उस मृग को देखकर, त्रिपति को आश्चर्य से म (कपुआ) हो जज्ञ में गुप्त गया, पूहा भी अपने बिल में चला गया, और व उड़ कर वृष पर चला गया ।

इसके बाद सजुगनक बीरे ने बहुत दूर तक देग कर कहा कि—‘कोई का कारण तो नहीं है’ । उसके करने में मन्यर आदि सब आश्चर्य मिल कर, पारि श्रेष्ठ गये । मन्यर ने कहा—‘भाई मृग ! तुम्हारा इन रजागत करते पारि रद कर आन आनन्दपूर्वक अपनी इच्छा के अनुसार जज्ञान व भे आदि शोभये । और अब वहीं रह कर हम वन की शोभा को बटाहये ।

चित्रा ने कहा—‘मैं वना (पेशिया, टिहारी) के दर से ही आप व

दिरण्यकोऽयदत्-‘मित्रत्वं वावदस्माभिः सह भवतोऽग्रत्वेन निष्पन्नम् ।
यतः—

‘लोमाद्वाऽथ भयाद्वाऽपि, यस्त्यजेच्छ्रणाऽऽगतम् ।

ब्रह्मइत्यासमं तस्य पापमाहुर्मनीषिणः ॥ २११ ॥

श्रीरसं कृतसम्बन्धं, तथा वंशक्रमाऽऽगतम् ।

रहितं व्यसनेभ्यश्च, मित्रं ज्ञेयं चतुर्विधम् ॥ २१२ ॥

तदत्र भवता स्वगृहनिर्विशेषं स्वीयताम् । सच्छ्रुत्वा मृगः साऽऽनन्दो
भूत्वा, स्वैच्छाहारं कृत्वा, पानीयं पीत्वा, जलाऽऽसन्नवदत्तच्छ्रयायाया-
मुपविष्टः ।

अत्रैव भवान् सुखं तिष्ठतु । लुब्धकप्रासितः = व्याघादितः । सख्यं = मैत्रीम् ।
अपनेन = अनापत्तेनैव ।

लोमादिति । मनीषिणः = धर्मतरण विद्वंसः ॥ २११ ॥

श्रीरसमिति । श्रीरस = वीनिसम्बन्धेन सम्बन्धि पुत्रभ्रात्रादिकम् । कृतसम्बन्धं =

पुत्रादीनां विवाहादिसम्बन्धेन कृतं पुत्रश्वशुर-श्यास्तादिकम् । वंशक्रमागतं =
वंशपरम्पराप्राप्तम् । व्यसनेभ्यः = विषसिभ्यः ॥ २१२ ॥

तन् = व्यसनरहिततया स्वमस्मिन्मित्रतां गत इतिहेतोः । स्वगृहनिर्विशेषं =

रमरनतुल्यमस्मद्भवनं मया । जलासन्नवदत्तच्छ्रयायाया = सरोरसत्रिकरहित-

की शरण में आया हूँ । श्रीर में आप लोगों के साथ मित्रता चाहता हूँ ।

तब हरणक चूहा बोला—मित्रता तो हम लोगों के साथ आपकी बिना उद्योग
के ही हो गई । क्योंकि—

जो कोई लोभ से, अथवा भय से शरणागत को छोड़ देता है, उसको ब्रह्म-
हत्या का पाप होता है—ऐसा विद्वान् लोग कहते हैं ॥ २११ ॥

श्रीर मित्र चार प्रकार के होते हैं—(१) श्रीरम (मामा-भानजा आदि) ।

(२) जिनके साथ विवाह आदि का सम्बन्ध हो गया है वह, (३) जो वंश
परम्परा में मित्र है, यह । श्रीर (४) जो आपत्ति से बचाया गया हो, यह ॥ २१२ ॥

हम जिये आन इस वन को अपने घर की तरह ही समझ कर यहाँ
रहिए । ऐसा मुन कर वह मृग बड़ा प्रमत्त हुआ श्रीर अपनी इच्छा के अनुकूल
भोजन करके, पानी पीकर, जल के पास गले रुक ही शीतल छाया में बैठ गया ।

यतः—

‘कूपोदकं, वटच्छाया, श्यामा स्त्री चेटकागृहम् ।

शीतकाले भवेदुष्णमुष्णकाले च शीतलम्’ ॥ २१३ ॥

अथ मन्यरेणोक्तम्.—सखे मृग ! एतस्मिन्निर्जने वने केन प्राषितोऽसि ? ।
कदाचित्किं व्याधाः सञ्चरन्ति ? ।

मृगेणोक्तम्—‘अस्ति कलिद्विपये रुम्माद्गदो नाम नरपतिः । स च
दिग्विजयव्यापारक्रमेणाऽऽगय चन्द्रभागानदीतीरे समावासितकटकौ
घटते । प्रातश्च तेनाऽत्राऽऽगत्य कर्पूरसरःसमीपे भवितव्य’मिति व्याधानां
मुखात्किं वदन्तो श्रूयते । तदत्राऽपि प्रातरवस्थानं भयहेतुकमित्यालोच्य
वधावसरं कार्यमारभ्यताम् ।’

कलिद्विपयाम् ॥ श्यामा स्त्री = ‘शीते सुषोण्यसर्वाङ्गी, मीमे तु सुल-
शीवला । तप्तकाञ्चनगौराङ्गी, वाशाश्यामेति भण्यते ।’ इतिलक्षणादिना मुन्दरी
कामिनी ॥ २१३ ॥

कलिद्विपये = कलिद्विदेशे । (मित्रा राजमहेन्द्री आदि) । दिग्विजय-
व्यापारक्रमेण = दिग्विजयवाप्राप्त्यर्थेन । समावासितकटकः = निवेशितसैन्यशिविरः ।
(कटक = छावनी) । मरिचकम् = स्थानपथन । किरदन्ती = जनभृतिः । अत्रापि =
अग्निन् सारति । प्रातः = प्रभाते । अत्रस्थान = शिवनिः । भयहेतुकं = भयजनकम् । वधा-

वशोक्ति—जुएँ का अज्ञ, वट की छाया, श्यामा (सोताह दर्प की मुन्दरी सुवती)
स्त्री और हँसो का घर, ये च रो यन्तुएँ शीतकाल में गर्म रहते हैं, और गर्मी में
ये ठण्डे रहते हैं ॥ २१३ ॥

इसके बाद मन्थर ने कहा । हे मित्र मृग ! इस निर्जन वन में तुम किससे
डर गये थे ? । क्या इस वन में कहीं व्याध भूतने हैं ? । मृग बोला—कलिद्वि-
देश में रुम्माद्गद नाम का एक राजा है । वह दिग्विजय के लिये चला है और
इस चन्द्रभागानदी के तट पर अपनी सेना को त्रिपुण्ड्र टहरा है । और कटक
घटते वट वहाँ काकर कर्पूर नामक सरोवर के पास टहरेगा, ऐसी किरदन्ती
(कन) व्याधी के मृग में मरने मुनी है । अतः वहाँ पर भो (इस वन में, इस
सरोवर में) कष्ट रहने में भय ही है । वह जानकर धैर्य ठीक हो बैठा कीमिष्ट ।

तच्छ्रुत्वा कूर्मः समयमाह—'जलाऽऽशयान्तरं गच्छामि ।' काक-
मृगावप्युक्तवन्तौ—'एवमस्तु ।' ततो द्विरण्यको विहस्याऽऽह—'जलाशयान्तरं
प्राप्ते मन्थरस्य कुशलम्, स्थले गच्छतोऽस्य कः प्रतीकारः ? । यतः—

'अम्मांसि जलजन्तूनां दुर्गं दुर्गनिवासिनाम् ।

स्वभूमिः श्वापदादीनां, राज्ञां मन्त्री परं बलम्' ॥ २१४ ॥

सखे सधुपतनक ! अनेनोपदेशेन तथा भवितव्यम्—

'स्वयं वीक्ष्य यथा वध्वा पीडितं कुचकुड्मलम् ।

वणिकपुत्रोऽभवद् दुःखी, त्वं तथैव भविष्यसि' ॥ २१५ ॥

वसरं = यथोचितम् । समपानुसारेण । जलाशयान्तरम् = अंतरं सरोवरादिकम्
प्रति । प्राप्ते = प्राप्ते सति तु । स्थले = भूमौ चलनः कच्छपस्य तु । कः प्रतीकारः =
क उपायः । 'का विधे ति' पाठेऽपि—क उपाय इत्यर्थः । मार्गं चलन्तं कच्छ्रं
व्याधा यदि यद्दीप्तुर्नहि किं स्यात् ? । अतो जलाशयान्तरगमनविचारोऽस्य नोचित
इत्याशयः । अम्मांसि = जलानि । जलजन्तूनां = मीनकच्छरादीनां । 'परं बलम्'—
मिति शेषः । दुर्गनिवासिनां = कोट्टनिवासिनां, दुर्गं = कोट्टम् । दुर्गम्—पर्यंतादि-
भूमिर्वा । 'परं बलम्'मिति सम्बन्धः । श्वापदादीनां = व्याघ्रादीनाम् । स्वभूमिः =
रनिवासभूता पर्वतवनशृङ्गी । 'परं बलम्' इत्यनुवादः ॥ २१४ ॥

अनेनोपदेशेन = जलाशयान्तरगमनरूपेण उपदेशेन । 'तथा भवितव्य'-
मित्यस्य अस्मिन्श्लोकेन (२१५ श्लो०) सहास्यः ।

यह मुनिकर कटुश्रा हरकर बोला, हे मित्र ! मैं तो चाहता हूँ कि मैं किसी दूसरे
वाश्या में चला जाऊँ,। तब कौवा और मृग बोले—यही ठीक है । तब द्विरण्यक
(कूडा) हँस कर बोला—दूसरे जालाम में पहुँच जाने पर तो मन्थर की भलाई
ही होगी । परन्तु चलते समय स्थल (भूमि पर) में इसकी रक्षा का क्या उपाय
है ? । क्योंकि—जलजन्तुओं का जल ही बल है, किले में रहने वालों के लिये
द्विजा ही बल है, व्याघ्र इत्यादि के लिये अरुना स्थान (वन, गुहा) ही बल है,
और राजा लोगों के लिए अपने मन्त्री ही परम बल हैं ॥ २१४ ॥

अतः हे मित्र सधुपतनक ! यहाँ से 'दूसरे सरोवर में जाना ठीक है'
इस उपदेश से तो बेसा ही होगा, जैसे—

ते वचुः—‘कथमेतन्’ ? हिरण्यकः । कथयति—

(७) राजपुत्रवणिग्बधूकथा ।

‘अस्मिन् फान्यकुट्टत्रविषये वीरसेनो नाम राजा । तेन वीरपुग्नाम्नि नगरे तुङ्गवलो नाम राजपुत्रो । भोगपतिः कृतः । स च महाघनस्तरुण एरुदा रानगरे धाम्यन्नतिप्रौढयौवनां लावण्यवतीं नाम वणिक्पुत्रवधू मालोरुयामास । ततः स्वहर्म्यं गत्वा स्मरऽऽकुलमतिस्तस्याः कृते दूतीं प्रेषितवान् । यतः—

‘सन्मार्गे तावदास्ते, प्रमथति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां,
लज्जां तावद्विधत्ते, विनयमपि समालम्बते तावदेव ।

भ्रूचापाऽऽकृष्टमुक्ताः, श्रवणपथगता, नीलपद्ममाण एते

यान्छीलान्वीनां न हृदि धृतिमुपो दृष्टिवाणाः पतन्ति’ ॥२१६॥

एवमिति । एव = साक्षादात्मना । यस्याः = एवमत्याः । बोद्धितं = मर्दि-
तम् । कुचकुट्टमलं = स्तनशेरकम् । (कुट्टमलं = छली) । त्वं = कपुत्रजनकः ।
तथैव = दुःखी ॥ २१५ ॥

विषये = देशे । भोगपतिः = नगरपतिः, परप्रशाधिकारी च । (छोट्ट राजा,
ठापुर, जितेशर, कल्लर आदि) । महाघनः = नितरां धनी । अतिप्रौढयौवनां =
परिपूर्णयौवनान् । रश्म्यं = रानियासस्थानम् । (ह्येशी, महल) । स्मरऽऽकुलमतिः =
कामाऽऽकुलि प्रियतः । तस्याः = वणिक्पुत्रवधूः । सन्मार्गे इति । तावदेव इन्द्रियाणां

एक वनिये वा लडका-अरनी रथी के लनो की, दूसरे को दवाते हुए अपने
घाँतो से देग कर जेते दुःखी हुआ था, वैसा ही तुम लोग भी दुःखी होगे ॥२१५॥
तब ये सब बोले—एह क्या कैने हे ? । हिरण्यक बोला—

वापटुञ्ज (वप्रीज) देश में वीरसेन नाम का राजा था । उसने वीरपुर
नामक नगर में तुङ्गवत नामक एक वणिक्पुत्र को राज्य अधिकारी (परप्रशाधिकारी या
ठापुर) बनाया । पर तुङ्गवत बहुत धनी तथा युवा था । एक दिन अपने नगर में
पुत्री हुए उगने एक अत्यन्त सुन्दरी पूर्ण-यौवना लान्यवती नाम की किसी वनिये
की पुत्रवधू को देगा । इनके बाद अपने महल को गया और कामार्ग होकर उध

१. एवं कथाऽऽरंभं गतरीयः कविश्चमारिता ।

साऽपि लावण्यवती तद्वलोकनक्षणात्प्रभृति स्मरशरप्रहारजर्जरित-
हृदया तदेकचित्ताऽभवत् । तथा ह्युक्तम्—

‘असत्यं, साहसं, माया, मात्सर्यं चाऽतिलुब्धता ।

निर्गुणत्वमशौचत्वं, स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः’ ॥ २१७ ॥

अथ दूतीयचनं श्रुत्वा लावण्यवत्युवाच—‘अहं पतिव्रता कथमेत-
स्मिन्नधर्मे पतिलङ्घने प्रवर्त्ते ? । यतः—

प्रभवति = इन्द्रियनिरोधे समर्थो भवति । भुगवेव चापी ताम्यामाहृष्टाम्वा—
कर्णान्तमाहृष्टाम्वा, मुक्ताः = प्रदिताः, अत्र एव धनक्षयपपगताः = लोचनान्त-
दोषाः । धृतिश्रयः = धैर्यं निलोपिनः, दृष्टिबाणाः = नेत्रशराः । याद् धृदि न
पनन्तीत्यर्थः ॥ २१६ ॥

तद्वलोकनक्षणात् प्रभृति = राजपुत्रदर्शनक्षणादारभ्य । स्मरशरप्रहारजर्जरित-
हृदया = मदनबाणप्रहारव्याकुलचित्ता । तदेकचित्ता = राजपुत्रविनिविटमानसा,
वदासका ॥ माया = कपटम् । मात्सर्यम् = ईर्ष्यालुत्वनम् ॥ २१७ ॥

पतिलङ्घने = व्यवभित्तामके, अधर्मे = पापे । प्रवर्त्ते = प्रवृत्ता भवामि ? ।

लावण्यवती के पास उसने एक दूती (कुटनी) को भेजा । क्योंकि—

पुरुष तभी तक सन्मार्ग पर रहता है, और वह तभी तक श्रेयनी इन्द्रियों को
भी वश में रख सकता है, और तभी तक वह लज्जा भी रख सकता है, और तभी तक
शील भी रहता है, जब तक मुन्दरी स्त्रियों के भीरुरूपी घनुष से कान तक ग्रीच
कर छोड़े गये व धैर्य को चुराने वाले, फाले २ पलक घाले नेत्ररूपी घनुष से
छूटे हुए बाण (कटाव) उसके हृदय में नहीं लगते हैं ॥ २१६ ॥

और यह लावण्यवती भी उस मुवा राजपुत्र की देखने के बाद से ही कान-
पंडित होकर तन्मयचित्त हो गई । कहा भी है—

असत्प, साहस, माया, आह, लोभ, निर्गुणता, अपवित्रता, ये त्रिविध के
स्थानाधिक • दोष हैं ॥ २१७ ॥

और वह दूती लावण्यवती के पास जाकर उसे समझाने लगी । दूती की बात
सुन कर लावण्यवती बोली—मैं पतिव्रता हूँ, अतः मैं इस पापकार्य (व्यवभित्ता)

‘सा भार्या या गृहे दत्ता, सा भार्या या प्रजावती ।

सा भार्या या पतिप्राणा, सा भार्या या पतिव्रता ॥ २१८ ॥

कोटिलानां स्वरो रूपं, नारीरूपं पतिव्रतम् ।

त्रिया रूप वृत्पाणां, चमा रूपं तपस्विनाम् ॥ २१९ ॥

न सा ‘मायें’ति वक्तव्या यस्या भर्ता न तुष्यति ।

तुष्टे भर्तारि नारीणां, सन्तुष्टाः सर्वदेवताः’ ॥ २२० ॥

ततो यद्यदादिरिति मे प्राणेश्वरस्तदेवाऽहमविचारित करोमि’ ।
दूत्योक्तम्—‘किं सत्यमेतत् ? ।

लावण्यवत्युवाच—‘धर्मं सत्यमेतत् ।’

ततो दूतिकया गत्या तत्तन्मयं तुद्गवलस्याऽमे निवेदितम् । तच्छ्रुत्वा
तुद्गवल्लोऽमधीन्—‘विषमेपुण्या प्रणितद्वयस्ता विना कथमहं जीयिष्यामि ? ।

मेति । गृहे=गृह्यागरे, दत्ता=दुष्टला । प्रजावती=पत्नानवती । पतिप्राणा
=पतिगतमानसा, पतिव्रता ॥ २१८ ॥

कोटिलानां स्वर = मधुरस्वर एव । रूप = शोभाभावकम् ॥ २१९ ॥

न तुष्यति=न सन्तुष्टा भवति ॥ २२० ॥

आदिशानि=आज्ञापयति । प्राणेश्वरः=भर्ता । सत्यमेतत्=द्विनिर्दिष्टं सत्यं

मे कैमे प्रकृत हो गवती हूँ ? । क्वारि—

पती सखी पत्नी है, जो गृहकार्य में कुशल हो, सत्तान वासी हो, और अपने
पति को ही धनना प्राण समझे, और पतिव्रता हो ॥ २१८ ॥

क्योंकि कोठर का स्वर ही रूप है, त्रियों का पाणिप्य ही रूप है, वृत्तों का
विद्या ही रूप है, और त्रियों का चमा ही रूप है ॥ २१९ ॥

और भी—यह भार्यां भार्यां नहीं करती या सकल है, जिससे उमहा पति प्रकृत
नहीं हो । पति के धनप्रद होने पर त्रियों पर ममी देना प्रकृत होने है ॥ २२० ॥

द्वन्द्वय मेरे प्राणेश्वरी जो मुझे खासा देते हैं, उसे मैं विना विचारे करती
को देना रहती हूँ । अर्थात्—मेरा पति यदि मुझे उक्त रात्रा के वास मेरेगा, तो
मैं न रात्रि हूँ, उमे मरी । दूती ने कहा—इया यह कन गण है । लावण्यपती

कुट्टन्याह—‘स्वामिनाऽऽनीय समर्पयितव्ये’ति । स प्राह—‘कथमेतच्छ्रयम्’ ? । कुट्टन्याह—‘उपायः क्रियताम्’ ।
तथा चोक्तम्—

‘उपायेन हि यच्छक्यं, न तच्छक्यं पराक्रमैः ।

शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना’ ॥ २२१ ॥

जपुत्रः पृच्छति—‘कथमेतत् ? । सा कथयति—

(८) हस्तिधूर्तशृगालकथा ।

अस्ति ब्रह्माऽरण्ये कर्पूरतिलको नाम हस्ती । तमबलोन्य सर्वे शृगालाश्चिन्तयन्ति स्म—‘यद्ययं केनाऽप्युपायेन श्रियते, तदाऽस्माकमेतद्देहेन मासचतुष्टयस्य भोजनं भवति’ इति ।

तत्रैकेन पृच्छशृगालेन प्रतिज्ञातम्—‘मया बुद्धिप्रभावाद्दस्य मरणं कथयसि । । स्वामिना = मर्ता । समर्पयितव्या = जाराय तुभ्य स्वय एव देया । इति = इत्येतदाह । कथं शक्यमिति । नैन शक्यमित्यर्थं ॥

पराक्रमैः = बलादिभिः । पङ्कवर्त्मना = बर्दमनुहलेन मार्गेण ॥ २२१ ॥ एतद्देहेन = अस्य इस्मिन् शरीरेण । साधयितव्यं = निष्पादयितव्यम् ।

ने कहा—यह बिलकुल सच है । इसके बाद दूती ने जानर तुङ्गबल से उसके पतिव्रता होने की बात कही । दूती की बातों को सुन कर वह तुङ्गबल बोला—‘मैं तो अत्यन्त कामपीडित हो रहा हूँ । उसके बिना मैं कैसे जीता रहूँगा ? । तब कुट्टनी बोली—‘इसके तमना स्वामी ही उसे लाकर आपको समर्पण करेगा (देदेगा) । तुङ्गबल बोला—‘महा यह कैसे हो सकता है ? । कुट्टनी बोली—‘उपाय करने से सब कुट्ट हो सकता है । अतः आप भी उपाय कीजिये । कहा भी है—

‘उपायेन हि यच्छक्यं, न तच्छक्यं पराक्रमैः ।
शृगालेन हतो हस्ती गच्छता पङ्कवर्त्मना’ ॥ २२१ ॥

उपाय करने से सब कुट्ट हो सकता है, वही कार्य उपायों द्वारा सरलता से हो जाता है । देखो कीचड़ के मार्ग से चलकर एक सिपार ने एक जबर-दस्त हाथी को मार डाला था ॥ २२१ ॥

राजपुत्र ने पूछा—‘यह क्या कैसे है ? । कुट्टनी कहने लगी—
ब्रह्माण्ड में कर्पूरतिलक नाम का हाथी रहता था । उसको देवदर वन के सप सिपार सोचने लगे कि—यदि यह हाथी किसी उपाय से मर जाय तो इसके शरीर से

साधयितव्यम् । अनन्तरं स वञ्चकः कर्पूरतिलकसमीपं गत्वा, साष्टाङ्गपार्तं प्रणम्योवाच—‘देव । दृष्टिप्रसादं कुरु ।’

हस्ती व्रृते—‘कस्त्वम् ? । कुतः समायातः ?’ ।

सोऽयदत्—‘जम्बुकोऽहम् । सर्वैर्वनवासिभिः पशुभिर्मिलित्वा भवत्सकाशं प्रस्थापितः । यत्—विना राज्ञोऽवस्थातुं न युक्तम्, तदत्राऽदधीराज्येऽभिप्रेक्तं भवान् सर्वस्वामिगुणोपेतो निरूपितः’ । यत्—

‘यः कुलाभिजनाऽऽचारैरतिशुद्धः, प्रतापवान् ।

धार्मिको, नीतिकुशलः, स स्वामी युज्यते भुवि’ ॥ २२२ ॥

वञ्चकः—वृत्तगलः । साष्टाङ्गपार्तं = भूमौ दण्डवत् । देव=प्रभो । दृष्टिप्रसादं = दयादृष्टि । प्रस्थापितः = प्रहितः । यत् = यस्मात् (क्योंकि, चूंकि) । विना राजा = राजानं विना । अत्र निराभ्ये = वनराज्ये । अभिप्रेक्तं = स्थापयितुम् । निरूपितः = निधिनः ।

य इति । कुलाभिजनाचारिः=वंश-देश-ऽऽचारव्यवहारैः । कुलं = वंशः । अभिजन = ज्ञानिः, जन्मभूमिः, पूर्वपुरुषाश्च । ‘मवेदभिजनः ख्याती, जन्म-भूमी, कुलप्रभे । कुलेऽपि च पुमा’निति मेदिनी । ‘कुलाचारजनाचारै’रिति

इमं लोग का चार महीने (चौमासा, बर्सात) अच्छा तरह भोगन हो सकता है ।

इसके बाद एक वृद्ध सिंघार ने प्रतिष्ठा की कि मैं अपनी मुक्ति के प्रभाव से इस हाथी को मारूँगा । इसके बाद वह धूर्त सिंघार कर्पूरतिलक हस्ती के पास जाकर साष्टाङ्ग प्रणाम करके बोला—महाराज ! कृपा कर मेरी और देखिए और मेरी बातें सुनिये । हाथी भोजन-तृप्त हो ? । कहाँ से आये हो ? ।

तब वह सिंघार बोला—मैं सिंघार हूँ, और सब जंगली पशुओं ने मिल कर मुझे आरक के पास भेजा है । क्योंकि बिना राजा के रहना ठीक नहीं है, अतएव उन लोग ने इम वन के राजा बनाने के श्रिये सबके राजगुणों से मुझे चानकी हो निधिः दिया है ।

क्योंकि मैं कुल (वंश, गान्दान) और अभिजन (वंशपरम्परा, वाटिका, स्थान) और आचार-विचार आदि में परम ज्ञान, मेरे...

अपरञ्च पर्य—

‘राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्या, ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकेऽस्मिन्कुतो भार्या, कुतो धनम्’ ॥२२३॥

अन्यच्च—

‘पर्जन्य इव भूतानामाधारः पृथिवीपतिः ।
विकलेऽपि हि पर्जन्ये जीव्यते, न तु भूपती’ ॥२२४॥
‘नियतविषयवर्त्ता प्रायशो दण्डयोगा—

ज्जगति परवशेऽस्मिन्दुर्लभः साधुवृत्तः ।
कृशमपि, विकलं वा, व्याधितं वाऽधनं वा,
पतिमपि कुलनारी दण्डमीत्याऽभ्युपैति’ ॥ २२५ ॥

विन्देत् = लभेत् । ततो भार्या, ततो धनञ्च विन्देदित्यन्वयः ॥ २२३ ॥

पर्जन्यः = मेघः । भूतानां = जीवानाम् । आधारः = आश्रयः । पृथिवीपतिः =

मा । विकले = गतेऽपि । न तु भूपती—विकले = विनष्टे सति, जीव्यते =

भाष्यधारणं कर्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ २२४ ॥

नियतेति । प्रायशः = बाहुल्येन, परवशे = इन्द्रियादिपरवशे, अस्मिन् जगति

पार्थिव ही श्रीर नीतिकुशल ही बड़ी सत्कार में राजा होने के योग्य है ॥ २२२ ॥

श्रीर भी देखो—सबसे प्रथम राजा को ही निश्चित करना चाहिये । अर्थात् किसी

दोष को अपना राजा बना लेना चाहिये, उसके बाद ही स्त्री (विवाह) आदि की

चिन्ता करनी चाहिये । श्रीर तदनन्तर ही धन के उपार्जन की भी चिन्ता करनी

चाहिये । क्योंकि राजा के न रहने पर स्त्री श्रीर धन की रक्षा ही नहीं हो सकती

है, अतः पहिले राजा का होना परम आवश्यक है ॥ २२३ ॥

श्रीर भी—राजा मेघों के सदृश ही प्राणीमात्र का अवलम्बन है । पर वर्षा न

होने पर भी कुछ समय तक जीवित रहना सम्भव है, परन्तु राजा के बिना तो

किसी मर भी कोई जी नहीं सकता है ॥ २२४ ॥

क्योंकि जगत् में लोग प्रायः राजदण्ड के भय से ही अपने २ नियम मार्गों पर

तद्यथा लग्नवेला न विचलति तथा कृत्वा सत्वरमागम्यतां देवेन ।
इत्युस्त्योत्थाय चलितः ।

ततोऽसौ राज्यलोभाऽऽष्टः कर्पूरतिलकः शृगालवर्त्मना धावन्महापट्टे
निमग्नः । ततस्तेन हस्तिनोक्षम्—'सरो शृगाल ! किमधुना विधेयम् ? ।
पट्टे निपतितोऽहं श्रिये, परावृत्त्य पश्य ।'

शृगालेन विहस्योक्षम्—'देव ! मम पुच्छका'ऽयलम्यनं

= प्रस्मिन् लोके, दण्डयोगात्=राजदण्ड-जानिदण्डादि-मयादेव, निपतविपयवर्ती=दे
खे भर्मे निरतो लोको भर्मण्यारत्नलोकमर्षांशं ययायत्पालयति, ननु स्वभावादेव ।
ननु कुत एतदत आह—दुर्लभं इति । यतः—साधुवृत्तः=प्रकृत्या शुभाचारानु ।
दुर्लभः=लोके दुर्लभ एव । तदेवोपपादयति—हृशमिति । कृशं=घनादिदुर्लभं,
विहस्यम्=अप्रविहस्य, कायमन्थं, शक्तिं वा । व्याधिनं=रोगिणम् । अघनं=
दद्विम्—मर्चरमणि । पुलनारी=पुलवधूरवि-दण्डमीत्या=राजदण्डमयेनैव ।
अमुपैति=उपगच्छति, सेवते च ॥ २२५ ॥

एत्=तरमान् । यथा=येन प्रकारेण (जैसे बने) । लग्नवेला=शुभ
घट्टतः । विचलति=अपयति । देवेन=धीमता । शृगालवर्त्मना=जम्बुक-
मागंष । पाशन्=जातुकमनुमरम् । महापट्टे=दुस्तरे कर्दमे, (दलदल में) ।
अधुना=इशानी । श्रिये=कर्तव्यम् । परावृत्त्य=व्यापुट्य । (घूम कर) ।

बलने दे, क्योंकि इस संसार में स्वभावः अष्टे, आचरण के मनुष्य तो दुर्लभ
ही हैं । देतो पुलीन स्त्री भी केवल राजदण्ड के भय से ही अपने दुपले, अप्र-
हीन, रोगी, बूढ़े, एव दगिद्र पनि की यथायत् सेवा करती है ॥ २२५ ॥

अः वृषया शाय शीघ्र ही चलिये, जिससे राज्याभिषेक का मुहूर्त न टल
जाय । देगा वह कर वह तियार उठकर आगे आगे नख पदा । वह कर्पूरतिलक भी
राज्य के होम में पद कर उस तियार के पीछे २ दीड़ता हुआ जाने लगा और
बोबड़ में पंग गया । तब वह हापी बोझा—भाई तियार । अब मैं क्या करूँ ? । मैं
तो बोबड़ में पंग गया हूँ और मर रहा हूँ, पंछे घूमकर देखो । मेरी ओर तुम क्या

पृथोत्तिष्ठ ! । यन्मद्विषस्य वचसि त्वया प्रत्ययः कृतस्तदनु-
भूयतामशरणं दुःखम् । तथा चोक्तम्—

‘यदाऽसत्सद्गुरुरहितो भविष्यसि, भविष्यसि ।

‘तदाऽसज्जनगोष्ठीषु पतिष्यसि, पतिष्यसि’ ॥२२६॥

—ततो महापक्षे निमग्नो हस्ती शृगालैर्भक्षितः ॥
अतोऽहं ब्रवीमि-‘उपायेन हि यन्धन्यम्’ इत्यादि ॥ ॐ ॥

ततः कुट्टिन्युपदेशेन तं चारुदत्तनामानं, षण्मिपुत्रं स राजपुत्रः
बेवहं चकार । ततोऽसौ तेन सर्वविश्वासकार्येषु नियोजितः ।
एकदा कुट्टिन्युपदेशेन तेन राजपुत्रेण स्नाताऽनुलिप्तेन,

पुच्छघानलम्बन कृत्या = मदीय लघुलागूनमेजानम्य । मद्विषस्य = क्षुद्रस्य, घञक-
यिरोमरोर्जम्बुहस्य । प्रत्ययः = विश्वासः । अशरणम् = अरक्षकम् । अनन्तम् ।
‘शरणं पदरक्षितो’रिति कोशः ॥

यदा सत्सद्गुरुरहितो भविष्यसि, तदा—सज्जनगोष्ठीषु = सज्जनसमामु, पतिष्यसि=
असज्जनो भविष्यसि ॥’ निश्चयं द्योतयितुमुभवत् द्विक्रिः । केचित्तु—यदा
‘सत्सद्गुरुरहितो भविष्यसि तदा—भविष्यसि = मुगं स्थात्यसि । किञ्च यदा असज्जन-
गोष्ठीषु पतिष्यसि, तदा नूनं पतिष्यसि = संमानध्वस्तस्य भविष्यतीत्यर्थमाहुः ॥ २२६ ॥
तं = सीलागतीमर्चारम् । स्नातानुलिप्तन = पूव स्नातन, पश्चादनुलिप्तेन ।

तत्र यद् विचार हैस कर बोला—हे देव ! मरी इस छोटी सी पूँड के अममाण
तो ही पकड़ कर आप निकल आइये । अरे ! मेरे जैसे क्षुद्र के कहने का आगे
एनास दिया, इस लिये अब इस अनन्त दुःख को भोगिये । किसी ने कहा भी है, कि—
जब कुसंग से रहित होओगे तभी संसार में सुखपूर्वक रहोगे, और जीओगे ।
ऐर यदि दुर्जनों के संग में रहोगे, तो नून लहर गिर जाओगे ॥ २२६ ॥

इसके बाद भीषण बीचट (दलदल) में पैसा हुआ वह हाथी मर गया,
ऐर उसे विपारी ने खा डाला । इसी लिये मैं कहता हूँ कि—जो कार्य बल से
हो सकता है, यद् उपाय से अनायास हो जाता है’ इत्यादि ।

इसके बाद कुट्टनी के कहने से उस राजपुत्र ने चारुदत्त नामक उस धनिये
(सीलागती के पति को) अपना नौकर बना लिया । और धीरे २ उसने
ने उसी निश्चय कार्यों में उसको लगा लिया ॥

१. ‘सज्जन’ । २. ‘यदा’ पा० ।

कनक-रत्नाऽलङ्कार-धारिणा प्रोक्तम्—'चारुदत्त ! अद्याऽऽरभ्य मया मासमेकं यावद् गौरीव्रतं कर्त्तव्यम्, तदद्याऽऽरभ्य प्रतिरात्रमेकां कुलीनां युवतीमानीय समर्पय, सा मया यथोचितेन विधिना पूजयितव्या ।'

ततः स चारुदत्तस्तथाविधां नवयुवतिमानीय समर्पयति ।

पश्चात्प्रच्छन्नः सन्—'किमयं करोती'ति निरूपयति । स च तुङ्गवलस्तां युवतिमत्पृशत्रेव दूराद्वस्त्राऽलङ्कारगन्धचन्दनैः सम्भूष्य रक्षकं दत्त्वा प्रस्थापयति ।

अथ यण्डिपुत्रेण तद्दृष्ट्वोपजातविश्वासेन, लोमाऽऽकृष्टमनसा स्वयधूलायैवती समानीय समर्पिता । स च तुङ्गवलस्तां हृदयप्रियां लावण्यवतीं विहाय, ससन्ध्रममुत्थाय, निर्भरमालिङ्गय, निमीलिताक्ष-पर्यङ्के तया सह विललास ।

कृतचन्दनापुपलेपेन । स्वलङ्कृतेन । कनकरत्नालङ्कारधारिणा = मुवर्णमधि-मुक्तारक्षपटितभूषणधारिणा, तेन राजपुत्रेण । मासं = मासपर्यन्तम् । तथाविधां = कुलीनाम् । प्रच्छन्नः = निगूढः सन् । निरूपयति = पश्यति । रक्षकं = राजकीयं रक्षा-पुरुषम् । प्रस्थापयति = प्रतिष्ठापयति । तद्दृष्ट्वा = राजपुत्रव्यवहारादिकं दृष्ट्वा । उपजातविश्वा-सेन = सञ्जातविरामेण । हृदयप्रियां = मनोरमाम् । ससन्ध्रमं = सत्परम् । निर्भरं =

एक दिन उस कुटनी के उपदेश से उस राजपुत्रने स्नान करके, चन्दन लगा करके और मुवर्ण के रत्नजडित आभूषण पहन कर, उस चारुदत्त से कहा कि—दे चारुदत्त, आजमे में एक मास तक श्रीगौरीजीका व्रत करूंगा । इस लिये आज से तुम रात्रि में एक कुलीन मुन्दर सुग्री जी को लाकर मुझे दिया करो, मैं विधिपूर्वक यथावित साधर से उसकी पूजा क्रिया करूंगा ।

इसके बाद चारुदत्त प्रतिदिन बैसी ही एक मुन्दरी सुग्री ला २ कर उठे देना था, और दिन भर देखना था, कि—बढ़ क्या करता है । और वह तुङ्गवल भी उस सुग्री को बिना दूर दूरे, अलग से ही, बन्ध-अलङ्कार, गन्ध, चन्दन आदि से पूजा कर के, उगी घण्टा मित्रदिवों के साथ उठे यात्रि उसके पर भोग देगा था ।

बढ़ देगहर उस बन्धियों को रिहाग हो गया और बढ़ सोन से आरुष्ट होकर एक दिन अपनी श्री हारुदत्तजी को ही साधर उठे दे दिया । तब उस तुङ्गवलने उगकीश्वरनी मानप्रिया हारुदत्तजी जान करके, शोष उठ कर, उसकी लुगी से लगा कर, उसका गन्ध धारिङ्गन किया और उसके साथ आनन्द से अपने

तदालोम्य वखिक्पुत्रश्चित्रलिखित इवेतिर्कृत्यतामूढः परं
विपादमुपगतः । अतोऽहं ब्रवीमि—'स्वय वीक्ष्ये' त्यादि ॥ ७ ॥

तथा त्वयाऽपि भवितव्यम्' इति ।

तद्विषयवचनमवधीर्य महता भयेन विमुग्ध इव तं जलाशयमुत्सृज्य
मन्थरञ्चलितः । तेऽपि हिरण्यकादयः स्नेहादनिष्टं शङ्कमाना मन्थर-
मनुगच्छन्ति । ततः स्थले गच्छन्वेनाऽपि व्याघ्रेण काननं पर्यटता मन्थरः
प्रातः । प्राप्य तं गृहीत्वोत्थाप्य, घनुषि बद्ध्वा, अमन्थलेशाल्लुत्पिपासा-
कुलः स्वगृहाभिमुखं चलितः ।

अथ मृग-वायस-सूपकाः परं विपादं गच्छन्वस्तमनुजग्मुः । ततो
हिरण्यको विलपति—

निमित्तिताह—इपमीलितलोचनः । विललास=रतिञ्चरे । चित्रलिखित इव=विशार्पित
इव । इतिकर्त्तव्यतामूढः=किङ्कर्त्तव्यतामिन्मूढः ।

त्याऽदि=कच्छपेन, वायसेनाऽपि च । तद्विषयवचन=हिरण्यकोक्तं हितवाक्यम् ।
अवधीर्य=अनादृत्य । विमुग्ध इव=मूढताङ्गत इव । अनिष्ट=विपत्तिम् ।
काननं पर्यटना=वनं भ्राम्यता । ज्ञेयान्=आयासात् । पर=निवरान् ।

बन्द करके, उसके स्तनों का मर्दनकर, अनेक प्रकार की कामक्रीडा करने लगा और
उसको छाती से चिपटा कर पलंग पर लेजा कर, सुरतक्रीडा भी करने लगा ।

यह सब देखकर यह बनिये का लडका चिन्तितमूढ होकर, चित्र छिपी हुई
मूर्ति की तरह स्तन्य (ठक) हो गया और बहुत ही निरन्न हुआ ।

रसोक्षिये मैं करता हूँ कि—'अपनी छाी के स्तनों को दूसरे को मर्दन करते
हुए देखकर भी बह झुल नहीं कर सका, केवल पल्लुताना ही रहा' इत्यादि ।

वैसे ही आप लोगो (कटुग, कौन आदि) को भी पीछे से दुःख ही होगा ।

पान्थु हिरण्यक चूहे के इन हितवचनों का अनादर करके, भय से निमूढ यह मन्थर
उस जलाशय को छोड़ कर चल पडा । हिरण्यक आदि भी स्नेह से, उसके अनिष्ट
की शङ्का करके, उसके पीछे २ जाने लगे । और रास्तेपर आते हुए, उस मन्थर को
शङ्कल में घुसने वाले किसी व्याध ने देखा और उसे उठा घनुष में बाँध लिया,
और अपने घो रण्य समझकर, यका हुआ यह व्याध भूल प्यान से व्याकुल हो
कर, अरने पर की तरफ चल पडा । इसके बाद ये मृग, चूरा और कौन भी
पुन मित्र होकर उस व्याध के पीछे-पीछे जाने लगे । और उनमें से हिरण्यक

‘एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवाज्ज्वलस्य
तानद्द्वितीयं समुपस्थितं मे, छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति ॥२०॥
स्वामारिकं तु यन्मित्रं भाग्येनैवाऽभिजायते ।

तदकृत्रिमसौहार्दमापत्स्वापि न मुञ्चति ॥ २२८ ॥

न मातरि, न दारेषु, न सोदर्ये, न चाऽऽत्मजे ।

त्रिधासस्तादृशः पुंसां, यादृङ् मित्रे स्वमावजे’ ॥ २२६ ॥

तं=कल्पप्रमादिभ्याधम् । अनुजम्बु = तत्पृष्ठतो ययुः । तमनुसत्तुः । विलपति
रुदन् पटति । रोदिति वा ।

एकस्य दुःखस्य = समुद्रस्य पारमिय, एकस्य दुःखस्य यावदन्तं = प
त्रद न गच्छामि, तान् मे द्वितीय दुःख समुपस्थितम् । छिद्रेषु = विपत्तिषु, वृष्टि
स्फूर्तिषु च । (घोटी सी भूल होने से ही, एक विपत्ति के आने पर) । अनर्था
रिपदः । बहुलीभवन्ति = वर्द्धन्ते ॥ २२७ ॥

स्वामारिकं—साहजिकमकृत्रिमम् । अभिजायते=पम्भवति । तत्=स्वामारि
मित्रम् । अकृत्रिमसौहार्दं = सहजान्नेहम् । न मुञ्चति = न परित्यजति ॥ २२८ ॥

सोदर्ये=सहने भ्रातरि । आत्मजे=पुत्रे । स्वमावजे=सहजमुद्दि ॥ २२६ ॥

पूरा इस प्रकार विचार करने लगा कि—

ऊपरक मेरे समुद्र की तरह असीम एक दुःख का अन्त ही नहीं होने पाता है
उसी बीच में मेरे ऊपर दूसरा दुःख भी आजाता है । क्योंकि प्रायः एक आपत्ति
के आने पर, उसके साथ ही साथ, बहुत सी अन्य विपत्तियाँ भी आ जाती हैं
हीन भी है—छिद्रे में (विपत्तियों में) अनर्थ बढ़ते ही जाते हैं । अर्थात् एक
विपत्ति के आने के साथ ही साथ अनेक प्रकार की अन्यायक विपत्तियाँ भी वहाँ से
घाही जाती हैं ॥ २२७ ॥

और स्वामारिक मित्र बड़े भाग्य से निपटते हैं । और यह (स्वामारिक)
मित्र अपनी अकृत्रिम मित्रता को आपत्ति काज में भी नहीं छोड़ता है ॥ २२८ ॥

और समुद्र को घेरा विपत्तय अपने स्वामारिक मित्र में होता है, पैसा
विपत्तय नभातामें, नक्षीमें, न सदोदर भईमें और नपत्र में ही लोग है ॥२२६॥

—इति मुहुर्विचिन्त्य, अहो दुर्देवम् ! यतः—

‘सकर्मसन्तानविचेष्टितानि, कालान्तराऽऽवृत्तिशुभाऽशुभानि ।

इदं दृष्टानि मयैव तानि जन्मान्तराणीव दशान्तराणि’ ॥२३०॥

अथचेत्थमेचेतत्—

‘कायः सन्निहिताऽप्रायः, सम्पदः पदमापदाम् ।

समागमाः साऽपगमाः, सर्वमुत्पादि भङ्गुरम्’ ॥ २३१ ॥

पुनर्विमृश्याह—

‘शोकाऽराति-भय-त्राणं, प्रीति-विश्रम्भ-भाजनम् ।

केन रत्नमिदं सृष्टं ‘मित्र’मित्यचरद्वयम्’ ? ॥२३२ ॥

स्वस्य कर्मणां = शुभाऽशुभानां, यः सन्तानः = परम्परा, तस्य—विचेष्टितानि =
रितानुभूतानि, तेन वा विचेष्टितानि = समापन्नानि । स्वकर्मफलभूतानीति यावत् ।
किञ्च कालान्तरेण आवर्तन्ते तच्छ्रौलानि—कालान्तरावर्त्तानि, तानि च तानि
शुभाशुभानि च—कालान्तरावर्त्तिशुभाशुभानि=तेषु तेषु समयेषु आवर्त्तमानानि,
शुभाऽशुभरत्नौदकाणि—जन्मान्तराणीव—मया इदं = अस्मिन्नेव जन्मनि, तानि
दशान्तराणि = नानादशाः । दृष्टानि = अनुभूतानि । दशान्तराण्यपि कर्मसन्तान-
निरसितानि, कालान्तरावर्त्तानि, शुभाशुभफलप्रदानि च भवन्तीति तयोः साम्यमि-
त्यप्येषम् ॥ २३० ॥

सन्निहिताऽप्रायः = सन्निहितविनाशः । आपदा पर्द = रिपुतीना, स्थानम् =
आश्रयः । समागमाः = संयोगाः । सापगमाः = वियोगपर्यन्तानाः । उत्पादि = जन्मम् ।
भङ्गुरं = विनाशि ॥ २३१ ॥ निमृश्य = निचार्यम् ।

इस तरह वार २ सोचकर वह चूहा फिर बोला—अहो! मेरा वह दुर्भाग्य है ।
मेरे अपने कर्मसमूह (पाप पुण्य) के नाना प्रकार के अशुभ या शुभ फल
को, जन्मान्तरे ही तरह, इसी जन्म में ही, देखा गया (अनुभव कर लिया) ॥२३०॥

अपना पर संसार ही ऐसा (निःसार) है । क्योंकि—

पर शरीर नश्वर है, संपत्ति भी आसक्ति का घर है, और समागम (मिलन)
भी सग रिपर नहीं रहते हैं, और उत्पन्न सभी पदार्थ अल्पकाल ही हैं ॥२३१॥

किञ्च—

‘मित्रं प्रीतिरसायनं, नयनयोरानन्दनं चेतसः,

पात्रं यत्सुरादुःखयोः सह भवेन्मित्रेण, तद्दुर्लभम् ।

ये चाऽन्ये सुहृदः समृद्धिसमये द्रव्याऽभिलाषाऽऽकुला—

स्ते सर्वत्र मिलन्ति, तत्त्वनिरूपणात्वा तु तेषां विपत्’ ॥२३२॥

—इति मुहुर्बिलप्य हिरण्यकश्चिप्राङ्ग-लघुपतनकावाह—‘यावदयं ध्याधो
धनान्न नि.सरति, तावन्मन्थरं मोचयितुं यत्नः क्रियताम् ।’

शोकेति । शोभायाम्, अरातिशयमिति च योजना । प्राण = रक्षम् ।
अरातिः = शत्रुः । प्रीति = स्नेहस्य, मित्रभक्त्य = प्रियवाच्यस्य च, भाजनम् = आस्वदम् ।
प्राधयः । केन = ब्रह्मणा । उद्यम् = उपादितम् । केनेति प्रथमे वा ॥२३२॥

मित्रमिति । नयनयो.—प्रीतिरसायन = प्रीतिमहीषध, स्नेहास्पर्द वा । चेतस
अनन्दनम् = प्राहादकम् । मित्रेण सहैव सुखस्य दुःखस्य च पात्रम् = आस्वदं,
यद्भवेत्—तन्मित्र लोके गुणममित्यन्वयः । ये च = ये तु । द्रव्यसमृद्धिसमये—
द्रव्याभिलाषाऽऽकुलाः = धनेष्वित्युः सुहृदस्ते तु सर्वत्र मुञ्जमा एव । परन्तु तेषां सत्त्वस्य =
शोहादर, -निरूपणात् = निरुपगतः (कसीगी) । विपत् = विपत्तिरेव । विपत्समये
ये पलायन्ते, समृद्धिसमये च ये सतिहिता भवन्तीत्युक्त्याः स्वार्थपरायणाः सुहृदो पादु-
ह्येन मरुति, परं गुणे, दुःखे च सदायभूताः सुहृदस्तु निरला एवेत्याशयः ॥२३३॥

‘यावदयं ध्याधो । तत्र = मरुत्सु । गुणके = व्यापे । तथानुष्ठिते =

हिरण्यं चूदा मन ही मा विचार कर बोला—अहो ! शोक और शत्रुओं से
रक्षा करने के लिए, प्रेम तथा मित्रता के साथ ‘मित्र’ इन दो अक्षररत्नों को धिक्कने
काया है । ॥ २३२ ॥

और भी—ऐसा मित्र हम मनुष्यों में दुर्लभ है,—जो नेशों के लिये आनन्द का
पात्र हो, मा को आनन्द देनेवाला हो, और सुख दुःख में मित्रही पूरी सहायता
हो। परन्तु ऐसे मित्र—जो सत्त्व में द्रव्य के लोभी हैं, वे तो मनुष्य जगत् भित्तों
हैं, परन्तु उन (मनुष्यों और बनादनी मित्रों) को कभीही (परीक्षा) तो मित्रि ही है।
कर्म-लक्षणों में भी जो साथ दे, वही सदा मित्र है। और सब ही
बन्धी हैं । ॥ २३३ ॥

तावचतु—'सत्वरं कार्यमुच्यताम्।' हिरण्यको व्रूते—
 'चित्राङ्गो जलसमीपं गत्वा मृतमिवात्मानं दर्शयतु । कारुश्च तस्योपरि
 स्थित्वा चञ्चया किमपि विलिखतु । नूनमनेन लुब्धकेन तत्र कच्छपं
 परित्यज्य, मृगमांसाऽर्थिना सत्वरं गन्तव्यम् । ततोऽहं मन्यरस्य धन्धनं
 धेत्यामि । सन्निहिते लुब्धके भवद्भयां पलायितव्यम् ।'

चित्राङ्ग-लघुपतनकाभ्यां शीघ्रं गत्वा तथानुष्ठिते सति, स व्याधः
 धान्तः, पानीयं पीत्वा, तरोरधस्तादुपविष्टस्वधाविधं मृगमपरयत् । ततः
 कर्त्तरिकामादाय, प्रहृष्टमना, मृगाऽन्तिकं चलितः । 'तऽत्रान्तरे हिरण्यकेनाऽऽ-
 गत्य मन्यरस्य धन्धनं द्विजम् । स कूर्मः सत्वरं जलाशयं प्रविवेश । स
 मृग आसन्नं तं व्याध विलोस्योत्थाय पलायितः । प्रत्यावृत्त्य लुब्धको
 पूर्वोक्तप्रकारेण मृगे सरसस्तीरे मृतवस्थिते सति । धान्तः = रिक्तः । तथानिध =
 मृतम् । कर्त्तरिका = तुरिकाम् । (छुरी, कँची) । आसन्नं = समीपवर्तिनम् ।

इस प्रकार बहुत विलाप कर, वह हिरण्यक चूला लघुपतनक कीवे और
 चित्राङ्ग मृग से कहने लगा—जब तक यह व्याध यन से बाहर न चला जाय, तमी
 तक हमझोगी को इस मन्यर (कछु म) को छुटाने का यत्न करना चाहिये ।

तब ये दोनों (कौम और मृग) बोले—इस समय हमारा जो कर्त्तव्य हो, उसे
 ध्यान हमको शीघ्र बताइए । हिरण्यक बोला—चित्राङ्ग तो जलाशय के पास जाकर
 धरने को मरे हुए की तरह दिखलाने, और कौम उसके ऊपर बैठकर बीच से
 उसे छोदे । तब मृग के मांस की इच्छा से यह व्याध अरुण्य ही कछुने को यहाँ
 रणकर मृग के पास जायगा । उसी समय मैं मन्यर का बन्धन काट डालूँगा ।
 और जब व्याध पास आ जाय तो तुम लोग भी सब भाग जाना ।

तब हिरण्यक के कहने से चित्राङ्ग मृग और लघुपतनक कीवे ने वैसा ही किया ।
 उसके बाद वह व्याध यका हुआ पानी पीकर तृप्त के नीचे बैठा, तो मृग को उस
 दशा में (मरे हुए तथा कीवे से टाप जाते हुए) देता । इसके बाद वह उस
 कछुने को ताहार के पास रणकर, अपनी छुरी लेकर, प्रसन्नचित्त होकर मृग को
 मरे पत्ता । इसी बीचमें हिरण्यक चूदे ने आकर मन्यर के बन्धनोंको काट दिया ।
 वह कछुगा भट जल में धुस गया, और वह मृग भी भाग गया । लौट कर जब

पावत्तकृतलमायाति, तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्ममा-
ऽसमीक्ष्यकारिणः' । यत्—

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अघ्रुवाणि निषेवते ।

ध्रुवाणि नम्य नश्यन्ति, अघ्रुवं नष्टमेव हि' ॥२३४॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराशः फटकं प्रविष्टः । मन्यरादयः सं
त्यक्ताऽऽपदं, स्वस्थानं गत्वा, यथासुगममास्थिताः ॥ ७३ ॥

अथ राजपुत्रैः माऽऽनन्दमुत्तम्—'सर्वे (मित्रलाभं) धृतवन्तः सुरि-
पयम् । सिद्धं न समीहितम् ।'

विष्णुरारोमायाच-गतावता भवतामभिलषितं सम्पन्नम् । अपरमपीदमनु-

श्रममीक्ष्यकारिणः = अत्रिनायं कार्यं कुर्वन्तः । एतत् = इतगतवत्तुविनाश-
दिष्टम् ।

य इति । ध्रुवाणि = स्थिराणि । अघ्रुवाणि = अस्थिराणि । निषेवते = छष्टु
मिच्छति ॥ २३४ ॥

नष्टमेव गतात् = स्वदेशादेव । निराशः = हतमनोरथः । फटकं = प्रारं, स्वनिराश
प्रदेश, परानिर्गम्यप्रदेश वा । अशौ = लुब्धकः । त्यक्तापदः = विपत्तिमुत्तः
समीहितं = मनोरथः । सम्पन्नं = सिद्धम् । अभिलषितं = मनोरथः ॥

पदव्याज पद के नीचे आया तो इन्द्र को भी न देताकर, यह विचारने लगा कि
बिना विचार ही काम करने वाले मेरे ऐसे मूर्ख को ऐसा ही (हाथ में आपी ३-
छिदार वा भी हाथ में निकल जाना) फल मिलना उचित ही है ।

व्याजि—जो निधि पशु को छोड़कर अनिधि के पीछे दीवता है, उसकी
निधि पशु भी नष्ट हो जाती है । और अनिधित्व तो अनिधित (नष्ट)
है ही ॥ २३४ ॥

एतत् एतत् वद व्याज करने काय को विज्ञाता हुआ, निराश दीवत, करने
व्य. न पर जाता गया । और य सब मन्थक आदि भी आरति से हूटकर अपने-
स्थानों में आकर मुद्रांक रहने लगे ।

एतत् एतत् वद व्याज वद प्रमथ हुए और करने लगे—एत लोगों ने
निराश तो आश में मुनविवा और इसे मुनहर हम लोग वद ही प्रमथ हुए है
और हमने हम लोगों का अर्थः मनोरथ (भी-पन्न) भी गिद हो गया ।

‘मित्रं प्राप्नुत सज्जना, ! जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां,
 भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।
 आस्तां मानसन्तुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोद्वेव वः,
 कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवाँश्चन्द्रार्द्धचूडामणिः’ ॥२३५॥
 इति श्रीविष्णुशर्मसङ्कलिते हितोपदेशे मित्रलामो नाम—
 प्रथमः कथासंग्रहः ॥१॥



मित्रमिति । जनपदैः = विप्रयैः । देशैः । समालम्ब्यता = लम्ब्यताम् । वसुधा =
 पृथिवीम् । शश्वत् = निरन्तरम् । स्वधर्मे = राजधर्मे । सुकृतिनां = त्रिदुषाम् ।
 मानसन्तुष्टये = मनसो हर्षाय । नवोद्वेव = मुख्यरधूरिव । वः = गुप्ताकम् ।
 चन्द्रार्द्धचूडामणिः = लखडेन्दुभूषणो भगवान् शिवः । कल्याणं = शुभम् ॥२३५॥
 [इति श्रीमद्भगवद्गोपबन्धुसङ्कलिते हितोपदेशे मित्रलामो नाम प्रथमः कथासंग्रहः ।
 तर्कवागीश-परिहितप्रकारह-न्यायाचार्य-श्रीशिवनारायणशास्त्रिणां
 -नेण, न्यायप्रकारणायाचार्य-श्रीगुरुप्रसादाशास्त्रिणां निरचितायां,
 हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्या मित्रलामो नाम प्रथमः कथासंग्रहः ।



तव विष्णुयुगलं बोले—इतने से ही आप लोगों का मनोरथ तो सिद्ध हो ही
 । पर यह श्रौर भी होने—
 आगलोग सचये मित्रो को पाएँ । देश ये सभी लोग सुगो होयें । राजा लोग
 अपने धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करें । श्रौर यह नीतिशास्त्र (मित्र-
) नवोद्वेव (नवीन) छी के सटय ही विद्वानों के मन को सन्तुष्ट करे । श्रौर
 चन्द्रार्द्धचूडामणि (चन्द्रशेखर) भगवान् शिवजी सदा आप लोगों का कल्याण
 । २३५ ॥

यावत्तदुत्तलमागति, तावत्कूर्ममपश्यन्नचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्मम
ऽसमीह्यकारिणः' । यत—

'यो ध्रुवाणि परित्यज्य, अघ्रुवाणि निपेयते ।

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अघ्रुवं नष्टमेव हि' ॥२३४ ॥

ततोऽसौ स्वकर्मवशान्निराश कटकं प्रविष्टः । मन्थरादयः सर्वे
त्यक्ताऽऽपद, स्वस्थानं गत्वा, राधासुप्तमास्थिताः ॥ ३४ ॥

अथ राजपुत्रे साऽऽनन्दमुक्तम्—'सर्वे (मित्रलाभं) श्रुतवन्तः सुखिनं
ययम् । सिद्धं न समीहितम् ।'

विष्णुशर्मायाच—एतावता भवतामभिलषितं सम्पन्नम् । अपरमपीदमहं

शसमीह्यकारिणः = अत्रिचार्यं कार्यं कुर्वतः । एतत् = हस्तगतवस्तुविना
दिकम् ।

य इति । ध्रुवाणि = स्थिराणि । अघ्रुवाणि = अस्थिराणि । निपेयते = ह
मिच्छति ॥ २३४ ॥

स्वर्भंगशात् = स्वदोषादेव । निराश = हतमनोरथः । कटक = ग्रामं, स्वनिवास-
प्रदेश, पर्यंतनितम्बप्रदेश वा । अशौ = लुब्धकः । त्यक्तापदः = विपत्तिमुक्ताः ।
समीहित = मनोरथः । सम्पन्न = सिद्धम् । अभिलषितं = मनोरथः ॥

यद्दव्याच वृत्त के नीचे आया तो कष्टुए को भी न देखकर, वह विचारने लगा कि-
विना विचारे ही काम करने वाले मेरे ऐसे मूर्ख को ऐसा ही (हाथ में आधी हुई
शिकार का भी हाथ से निकल जाना) फल मिलना उचित ही है ।

क्योकि—जो निश्चित वस्तु को छोड़कर अनिश्चित के पीछे दौड़ता है, उसका
निश्चित वस्तु भी नष्ट हो जाती है । और अनिश्चित तो अनिश्चित (नष्ट
ही ही ॥ २३४ ॥

इसके बाद वह व्याव अपने माथ्य को धिकारता हुआ, निराश होकर, अ-
स्थान पर चला गया । और वे सब मन्थरक आदि भी आपत्ति से छूटकर अपने
स्थानों में आकर सुप्तपूर्वक रहने लगे ।

इसके बाद वे राजपुत्र बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—हम लोग
मित्रलाभ तो आप से मुनलिया और इसे सुनकर हम लोग बहुत ही प्रसन्न हुए
और इससे हम लोगों का अमीष्ट मनोरथ (नीतिज्ञान) भी सिद्ध हो गया ।

‘मित्रं प्राप्नुत सज्जना, ! जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां,
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्रघर्मे स्थिताः ।
शास्तां मानसन्तुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नयोदेव वः,
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगवांश्चन्द्रार्द्धचूडामणिः’ ॥२३५॥

इति श्रीविष्णुशर्मसंस्कृतिते हितोपदेशे मित्रलाभो नाम—
प्रथमः कथासंग्रहः ॥१॥



मित्रमिति । जनपदैः = विप्रयैः । देशैः । समालम्ब्यता = लम्ब्यताम् । वसुधां =
पिरीम् । शश्वत् = निरन्तरम् । स्वघर्मे = राजघर्मे । सुकृतिना = विदुषाम् ।
नसन्तुष्टये = मनसो हर्षाय । नयोदेव = मुग्धमधूरिव । वः = युष्माकम् ।
चन्द्रार्द्धचूडामणिः = अरुणदेन्दुभूषणो भगवान् शिवः । कल्याणं = शुभम् ॥२३५॥
३) भीमहमण्डलमार्त्तण्ड-पट्टशास्त्रनाचस्पति-ध्रीस्नेहिरामजिराक्षिणां पीत्रेण,
तर्कवागीश-परिहृतप्रकाण्ड-न्यायाचार्य-श्राशिवनारायणशास्त्रिणां
पुरेण, न्यायक्याकरणाद्याचार्य-श्रीगुरुप्रसारशास्त्रिणा निरचितायां,
हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्म्या मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासंग्रहः ।



सर्व विष्णुशर्मा बोले—इतने से ही आप लोगों का मनोरथ तो सिद्ध हो ही
गया । पर यह श्रौर भी होंगे—
आरलोग सन्चे मित्रों को पाएँ । देश के सभी लोग मुझे हों । राजा लोग
मेरे करने धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करें । श्रौर यह नीतियात्र (निष्-
काम) नयोदेव (नरीन) जी के सट्टय हो विद्वानों के मन को स्मृष्ट करे । श्रौर
चन्द्रार्द्धचूडामणि (चन्द्रशेखर) भगवान् शिवजी सदा आप लोगों का कल्याण
करें ॥ २३५ ॥

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

भावत्तत्कृतमा राति.

तावत्कूर्ममपर्यन्तचिन्तयत्—'उचितमेवैतन्मनः'

ऽनमोदय रित् । यत् —

'यो ध्रुवाणि पत्न्यज्य, अध्रुवाणि निपेते ।

ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति, अध्रुवं नष्टमेव हि' ॥२३४ ॥

तयोऽमी गरुडंशशात्रराश फटकं प्रविष्टः । मन्यरादयः सर्वे

व्यथाऽऽपद, स्वभ्यान गत्वा, गथासुगमाश्रितः ॥ ७७ ॥

अथ राजपुरे माऽऽनन्दमुष्टम्—'सर्वे (मित्रलाभं) श्रुतवन्तः सुरितं

गयम् । मिद्व न समानितम् ।'

विष्णुशर्मायाच-पतायता भयनामभिलषितं सम्पन्नम् । अपरमपीदम

शमनीदयकालि = अग्निनावं वारं कुंतः । एतत् = इतरगतवानुविना

दिग्म् ।
य इति । ध्रुवाणि = स्थिराणि । अध्रुवाणि = अस्थिराणि । निपेते = क्षण

निलुपति ॥ २३४ ॥
गर्भेभ्योऽप्यारू = स्वदेशादेव । निराय = इतमनोरथः । कर्तुं = प्राप्तं, स्वनिर्ग-

प्रदेश, वांगनिर्गमप्रदेश वा । अग्नी = लुप्यक्तः । त्यक्तापदः = निपतिनुक्ताः ।

सर्वदि = मनोरथः । सापन्न = मिद्वम् । अभिलषिता = मनोरथः ॥

गरुड्याय दूय के नीचे जाया तो बहुत ही न देताकर, वह विंगाले लगा कि

जिना विचारो ही काम करने वाले मेरे चेमे मूर्ख को पैसा ही (हाथ में आवी!

विष्णु का भी हाथ से निकल जाना) पग निजना उचिता ही है ।

वर्णन—य निश्चित धनु को छोड़कर अग्निधिया के पौंडे दीहता है, उ

दे ही ॥ २३४ ॥

इसने व द वर व्याप करने काय को निरारण हुआ, निराय दीह, इसने

इसने व द वर व्याप करने काय को निरारण हुआ, निराय दीह, इसने

इसने व द वर व्याप करने काय को निरारण हुआ, निराय दीह, इसने

इसने व द वर व्याप करने काय को निरारण हुआ, निराय दीह, इसने

‘मित्रं प्राप्नुत सज्जना, ! जनपदैर्लक्ष्मीः समालम्ब्यतां,
भूपालाः परिपालयन्तु वसुधां शश्वत्स्वधर्मे स्थिताः ।
श्रास्तां मानसन्तुष्टये सुकृतिनां नीतिर्नवोदये वः,
कल्याणं कुरुतां जनस्य भगर्नाश्चन्द्रार्द्धचूडामणिः’ ॥२३५॥

इति श्रीविष्णुशर्मसंस्कृतिलिखिते हितोपदेशे मित्रलाभो नाम—
प्रथमः कथासंग्रहः ॥१॥

मित्रमिति । जनपदैः = विषयैः । देयैः । समालम्ब्यता = लम्ब्यताम् । वसुधां =
वीम् । शश्वत् = निरन्तरम् । स्वधर्मे = राजधर्मे । सुकृतिना = विदुषाम् ।
सन्तुष्टये = मनसो हर्षाय । नवोदये = मुखवधूरिव । वः = शुभम् ।
चूडामणिः = गरुडेन्दुभूषणो भगवान् शिवः । कल्याणं = शुभम् ॥२३५॥
। श्रीमद्भगवद्गीतासंस्कृत-पद्यान्वयवाचस्पति-धर्मोपदेशिरामजिज्ञासिणां पीनेय,
तर्कवागीश-परिहितप्रकाश-न्यायाचार्य-श्रीशिवनारायणशास्त्रिणां
पुरेण, न्यायव्याकरणाद्याचार्य-श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिणां विरचितायां,
हितोपदेशाभिनवराजलक्ष्म्या मित्रलाभो नाम प्रथमः कथासंग्रहः ।

एव विष्णुशर्मा बोले—इतने से ही आप लोगों का मनोरथ तो सिद्ध हो ही
गया । पर यह और भी होये—
भारतीय सत्त्वे मित्रों को पाएँ । देश के सभी लोग दुःखी होयें । राजा लोग
भी अपने धर्म के अनुसार पृथिवी का पालन करें । और यह नीतिशास्त्र (मित्र-
लाभ) नवोदय (नवीन) धर्म के सट्टा ही विद्वानों के मन को सन्तुष्ट करे । और
चन्द्रार्द्धचूडामणि (चन्द्रशेखर) भगवान् शिवजी सदा आप लोगों का कल्याण
करें ॥ २३५ ॥

अथ सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! मित्रलाभःश्रतस्तावदस्माभिः । इदानीं सुहृद्भेदं धानुमिच्छामः । विष्णुशर्मावाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणुत.
'तस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'वर्द्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्र-शृपयोर्वने ।

पिशुनेनाऽतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतन् ?' । विष्णुशर्मां कथयति—

'अग्नि दक्षिणपथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्द्धमानो ना
पिण्डं निपसति । यस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्यन्धूनतिसमृद्धान्समीर
'पुनरर्थावृद्धिः करणीये'ति मतिर्नभूत् । यतः—

अयं = तदनन्तम् । आर्यं = पूज्य ! । मित्रलाभः = तन्नामा प्रथमः परिवर्द्धेत् ।
सुहृद्भेद = तन्नामर्कं प्रकृतम् । वर्द्धमानः = उरचोपमानः । मृगेन्द्रः = सिंहः ।
पिशुनेन = मूलकेन । (गुणहारी) । अतिलुब्धेन = निरतं लोभाऽऽदिष्टेन ॥
दक्षिणपथे = दक्षिणदिशि । तत्र = वर्द्धमानस्य । प्रचुरे = विपुले । पुनः ।
इदोऽन्वयिका ॥

इसके अन्वय उक्त राजपुत्रों ने कहा—दे आर्य ! हम लोगों ने 'मित्र-लाभ'
प्राप्त में सुन लिया ॥ अब हम 'सुहृद्भेद' गुणना चाहते हैं । 'विष्णुशर्मा' बोले—
अच्छा, आप लोग अब 'सुहृद्भेद' सुनिये । जिसका पक्षश्लोक यह है—

सिंहो यत्र मे भेदं शीरं पिण्डं के रूपो ह्युप महान् स्नेहो को एक लोभी सुगु
णैर विनाश ने नष्ट कर दिया था ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—यह क्या पैग है ? । विष्णुशर्मा बोले—
दक्षिण दिशा में सुवर्णवती नाम की एक नगरी है । वहाँ पर वर्द्धमान न
का एक पत्नी केट रहता था । उसके पास बहुत धन रहने पर भी, अपने धन
में कमीली को अर्थात् धनो देकर, उगको भी अपने धन को बढ़ाने की इच्छा हुई

‘अघोऽघः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।

उपर्युपरि पश्यन्तः ‘सर्व एव ददिति’ ॥ २ ॥

अपरञ्च—

‘ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्याऽस्ति विपुलं धनम् ।

शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते’ ॥३ ॥

अन्यथा—

‘अव्यवसायिनमलसं, दैवपरं, साहसाच्च परिहीणम् ।

प्रमदेव हि वृद्धपतिं, नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः’ ॥ ४ ॥

अथ इति । अघोऽघः पश्यतः = आत्मनो दोषान् विमूरय, दूरीकृतवः; नीचरक्षारिणः, निनीतस्य च । उपचीयते = रक्षते । उपर्युपरि पश्यन्तः = उत्तानदृशः, शीर्षदृशः, धनगर्विताश्च । ददिति = ददित्वा भवन्ति ॥ २ ॥

प्रसाह = ब्राह्मणपातकोऽपि, लोके पूज्यः = पूजनीयो भवति । शशिन इति । त्वपदिशदे वंशे प्रसूनोऽप्यन्यर्थः । निर्धनः = ददित्श्चेत् । परिभूयते = लोके सर्वैरेव रक्षियते ॥ ३ ॥

अव्यवसायिनं = व्यवसायशून्यम् । अलसम् = आलस्योरहतम् । दैवपरम् = इष्टव्यदिनम् । परिहीणं = रहितम् । प्रमदेव = सुगतिर्बुद्धपतिमिव । उपगूहितुं = समाभियुक्तम्, आलिङ्गितुम् ॥ ४ ॥

श्रीर ऊपर की ओर ही देखने वाले (अभिमानी, बह्म्यन के घमण्ड में रहने वाले) हिन मनुष्यों की महिमा नहीं घटती है ?। अर्थात् जो घमण्ड ही होने हैं, उनकी घमण्ड ही सर्वत्र होती है । ये सदा ददित्श्च रहते हैं । श्रीर नीचे की ओर देखने वाले (विनयान्वत, सुशील) मनुष्यों की महिमा (प्रशिक्षा) सदा बढ़ती ही रहती है ॥२॥

श्रीर भी—ब्रह्महत्या करने वाला भी मनुष्य यदि धनी हो तो वह भी जगत् में पूज ही होता है । परन्तु चन्द्रमा भी तरह उज्ज्वलरश्म में उत्पन्न होने वाला है । मनुष्य यदि ददित् हो तो उसका भी लोके में अनादर ही होता है ॥ ३ ॥

श्रीर भी—उद्योगव्यवसायिने रक्षित, आलसी, भाग्य को प्रयत्न मानने वाले, धारण हीन पुरुष को सदा ही उभी तरह नहीं चारती है, जैसे बृद्ध पति को सुती (जगन) स्त्री नहीं चारती है ॥ ४ ॥

१ ‘परन्तो घद के न ददिति’ पा० ।

अथ सुहृद्भेदः ।

प्रथम राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! मित्रलाभः श्रुतत्वावदस्माभिः । इदानीं
 भेदं ध्यातुमिच्छामः । विष्णुशर्मावाच—'सुहृद्भेदं तावच्छृणु,
 यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'वर्द्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्र-शृपयोर्वने ।
 पिशुनेनाजतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतन् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—
 'अस्ति दक्षिणापथे सुवर्णवती नाम नगरी । तत्र वर्द्धमानो नाम
 यत्किञ्चिद्विपमनि । यस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्यन्धूनतिसमृद्धान्समीक्ष्य
 'पुनरर्धमृद्धिः करणीये'ति मतिर्बभूव । यतः—

श्रय = तदनन्तम् । आर्यं = आर्यम् । मित्रलाभः = मित्रलाभा प्रथमः परिच्छेदः ।
 सुहृद्भेद = मित्रलाभं प्रकरणम् । वर्द्धमानः = उपचोपमानः । मृगेन्द्रः = वि
 श्वानेन = गुरोरेण । (गुगलानोर) । अतिलुब्धेन = नितरां लोभाऽऽदिष्टेन ॥
 दक्षिणापथे = दक्षिणदिशि । तस्य = वर्द्धमानस्य । प्रचुरे = विपुले । पुन
 र्धोऽप्यादिषा ॥

इदानीं अन्त्या उन राजपुत्रो ने कहा—दे आर्य ! हम लोगों ने 'मित्र-लाभ' को
 ध्यातने सुन लिया । अब हम 'सुहृद्भेद' सुनना चाहते हैं । 'विष्णुशर्मा' बोले—
 'दक्षिणापथ में एक शरीर मित्र के रूप में महान् स्नेह को एक लोभी मनुष्य
 शरीर मित्र ने नष्ट कर दिया था ॥ १ ॥

राजपुत्रों ने कहा—'पर क्या भेद है ?' । विष्णुशर्मा बोले—
 'दक्षिण दिशा में सुवर्णवती नाम की एक नगरी है । वहाँ पर वर्द्धमान नाम
 का एक धनी मनुष्य था । उसके पास बहुत धन रहने पर भी, धरने धन
 को राजपुत्रों को अर्ध-धन देकर, उगड़ों भी धरने धन को इच्छा की

‘अधोऽधः पर्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।

उपर्युपरि पर्यन्तः ‘सर्व एव दरिद्रति’ ॥ २ ॥

अपरश्च—

‘ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्याऽस्ति विपुलं धनम् ।

शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते’ ॥३ ॥

अन्यथ—

‘अव्यवसायिनमलसं, दैवपरं, साहसाद्य परिहीणम् ।

प्रमदेव हि वृद्धपति, नेच्छत्युपगृहितुं लक्ष्मीः’ ॥ ४ ॥

अथ इति । अधोऽधः पर्यतः = आत्मनो दोगान् निमूरय, दूरीकुर्वत; मीकरकारिणः, विनीतस्य च । उपचीयते = बढ़ते । उपर्युपरि पर्यन्तः = उच्चानदृशः, पौंदुराः, वनगर्विताश्च । दरिद्रति = दरिद्रा भवन्ति ॥ २ ॥

ब्रह्महा = ब्राह्मणपातकोऽपि, लोके पूज्यः = पूजनीयो भवति । शशिन इति । उपर्युपरि पर्यन्तः = सर्वतोऽप्येत्यर्थः । निर्धनः = दरिद्रश्चेत् । परिभूयते = लोके सर्वदेव रक्षिण्यते ॥ ३ ॥

अव्यवसायिनं = व्यवसायराज्यम् । अलसम् = आलस्योपहतम् । दैवपरम् = उदादिनम् । परिहीणं = रहितम् । प्रमदेव = मुवनिवृद्धं पतिमिव । उपगृहितुं = भाषितुम्, आलिङ्गितुम् ॥ ४ ॥

श्रीर ऊपर की श्रीर ही देखने वाले (अभिमानी, बहप्पन के घमण्ड में रहने) कि मनुष्यों की महिमा नहीं बढ़ती है ? । अर्थात् जो घमण्डी होते हैं, उनकी दिशा ही सर्वत्र होती है । ये सदा दरिद्र बने रहते हैं । श्रीर नीचे की श्रीर देखने वाले (पानत, मुशील) मनुष्यों की महिमा (प्रतिष्ठा) सदा बढ़ती ही रहती है ॥२॥

श्रीर भी—ब्रह्मरत्ना करने वाला भी मनुष्य यदि धनी हो तो वह भी जगत् में ही होता है । परन्तु अन्धमा की तरह उद्विग्नराश में उत्पन्न होने वाला मनुष्य यदि दरिद्र हो तो उसका भी लोको में अनादर ही होता है ॥ ३ ॥

श्रीर भी—उद्योग (व्यवसाय) में रहित, आलसी, भाग्य की प्रधान मानने वाले, होने पुरुष को लक्ष्मी उसी तरह नहीं चाहती है, जैसे वृद्ध पति की (जगन) स्त्री नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

१ ‘पर्यन्तो वद के न दरिद्रि’ पा० ।

अथ सुहृद्भेदः ।

अथ राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! मित्रलाभःश्रवस्तावदस्माभिः । इदानीं
मुद्भेदं धातुमिच्छामः । विष्णुशर्मावाच—'मुद्भेदं तावच्छृणुत,
'तस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

'वर्द्धमानो महान् स्नेहो मृगेन्द्र-शृपयोर्वने ।

पिशुनेनाऽतिलुब्धेन जम्बुकेन विनाशितः' ॥ १ ॥

राजपुत्रैरुक्तम्—'कथमेतन् ?' । विष्णुशर्मा कथयति—

'अग्नि दक्षिणापथे मुनर्यवती नाम नगरी । तत्र वर्द्धमानो ना
यत्तिह नियसति । यस्य प्रचुरेऽपि वित्तेऽपरान्वन्धूनतिसमृद्धान्समीर
'पुनरर्थवृद्धिः करणीये'ति मतिर्यभूय । यतः—

अथ = तदनन्तरम् । आर्यं = पूज्य ! । मित्रलाभः = प्रथमा प्रथमः परिवर्द्धेदः
मुद्भेदं = तस्मात्कर्म प्रकरणम् । वर्द्धमानः = उपचीयमानः । मृगेन्द्रः = सिंहः ।
पिशुनेन = शूरेण । (शुगलशोर) । अतिलुब्धेन = निरारां क्षोमाऽऽपिष्टेन ॥१॥
दक्षिणापथे = दक्षिणदिशि । तस्य = वर्द्धमानस्य । प्रचुरे = विपुले । पुनः =
द्वितीयवारिहा ॥

इतो अनन्तरं उक्तं राजपुत्रो ने कथा—दे आर्य ! इमं क्षोभो ने 'मित्र-लाभ' शी
कथारो शूरा विधा । अन इम 'मुद्भेद' शूनना चाहो है । 'विष्णुशर्मा बोले—
कथा', शर शो अथ 'मुद्भेद' मुनिसे । विगद्य परस्ता श्लोक पर है—
विगो मन मे केन क्षीर मिद के बहो हुए महान् स्नेह शी एक क्षोभी शुगुव-
शो विदार ने न्य कर दिया था ॥ १ ॥

राजपुत्रो ने कथा—'इह कथा कथने है । विष्णुशर्मा बोले—
दक्षिण दिशा में मुनर्यवती नाम की एक नगरी है । वहाँ पर वर्द्धमान नाम
का एक धनी रहता था । उसको पास बहुत धन करने पर भी, अपने धन-
स्य को पुनः वृद्धि देने पर, उसको भी धरने धन को बहाने की इच्छा हुई ।

‘अधोऽधः पर्यतः कस्य महिमा नोपचीयते ।

उपर्युपरि पर्यन्तः ‘सर्वं एव दरिद्रति’ ॥ २ ॥

अपद्य—

‘ब्रह्महाऽपि नरः पूज्यो यस्याऽस्ति विपुलं धनम् ।

शशिनस्तुल्यवंशोऽपि निर्धनः परिभूयते’ ॥३ ॥

अन्यथ—

‘अव्यवसायिनमलसं, दैवपरं, साहसाच्च परिहीणम् ।

प्रमदेव हि घृद्धपति, नेच्छत्युपगूहितुं लक्ष्मीः’ ॥ ४ ॥

अथ इति । अधोऽधः पर्यतः = आत्मनो दोषान् निम्नय, दूरीकुर्वतः; समीपकरिणः, विनीतस्य च । उपचीयते = उद्वेते । उपर्युपरि पर्यन्तः = उत्तानदृशः, दर्पोदुःखः, धनगर्विताश्च । दरिद्रति = दरिद्रा भवन्ति ॥ २ ॥

ब्रह्महा = ब्राह्मणघातकोऽपि, लोके पूज्यः = पूजनीयो भवति । शशिन इति । चन्द्रवद्वंशदे वंशे प्रसृतोऽपीत्यर्थः । निर्धनः = दरिद्रश्चेत् । परिभूयते = लोके सर्वैरेव निरारिष्यते ॥ ३ ॥

अव्यवसायिनं = व्यवसायशून्यम् । अलसम् = आलस्योरदतम् । दैवपरम् = अदृष्टवादिनम् । परिहीणं = रहितम् । प्रमदेव = सुखतिर्भूद्वपतिमिव । उपगूहितुं = समाभियन्तुम्, आलिङ्गितुम् ॥ ४ ॥

श्रीर ऊपर की ओर ही देखने वाले (अभिमानी, बहप्पन के घमण्ड में रहने वाले) दिन मनुष्यों की महिमा नहीं घटती है ?। अर्थात् जो घमण्डी होने हैं, उनकी अमतिशा ही सर्वत्र होती है । ये सदा दरिद्र बने रहते हैं। श्रीर नीचे की ओर देखने वाले (विनयान्वत, मुर्खाँल) मनुष्यों की महिमा (प्रतिष्ठा) सदा बढ़ती ही रहती है ॥२॥

श्रीर भी—ब्रह्महत्या करने वाला भी मनुष्य यदि धनी हो तो वह भी जगत् में पूज्य ही होता है । परन्तु चन्द्रमा की तरह उज्ज्वलपरा में उल्टा होने वाला ही मनुष्य यदि दरिद्र हो तो उसका भी लोह में अनाश्र ही होता है ॥ ३ ॥

श्रीर भां—उद्योग (व्यवसाय)ने रहिन, आलसी, भाग्य को प्रधान मानने वाले, सरस हॉन पुरुष को लक्ष्मी उसी तरह नहीं चाहती है, जैसे घृद्ध पति को सुखी (जगान) ग्नी नहीं चाहती है ॥ ४ ॥

१ ‘पर्यन्तो वद के ॥ दरिद्रिनि’ पा० ।

किञ्च—

‘आलस्यं, स्त्रीसेवा, सरोगता, जन्मभूमिवात्सल्यम् ।
सन्तोषो, भीरुत्वं, पङ्क्याघाता महत्त्वस्य’ ॥ ५ ॥

यतः—

‘मम्पदा मुस्विरं मन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्द्धयति तस्य ताम्’ ॥ ६ ॥

अपरदा—

‘निरुत्साहं, निरानन्दं, निर्धार्यमरिनन्दनम् ।
मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत्पुत्रमीदृशाम्’ ॥ ७ ॥

तथा चोक्तम्—

‘अलक्ष्यं चैव लिप्सेत, लक्ष्यं रवेदवक्षयात् ।
रक्षितं वर्द्धयेत्सम्यग्बुद्धं तीर्थेषु निक्षिपेत्’ ॥ ८ ॥

अर्थात्—प्रोत्साहयति । जन्मभूमिवात्सल्यं=जन्मभूमिस्नेहः, अपरामिष्यति
यान् । स्यात्पाठः=अन्वयः ॥ ५ ॥

सन्तोषेति । स्वल्पयाऽपि सन्तोषः य आमानं मुस्विरं मनुजे’ तस्य पुत्रो-विधि-
भाष्यमपि—इत्युक्तं यत्, मन्ये तस्य सम्पदं न वर्द्धयति । स्वल्पेन द्रव्ये
सम्पत्तिं वर्द्धते इत्युक्तम् ॥ ६ ॥

अरिण इति=दुष्टवर्द्ध, सीमन्तिनी=नारी । ईदृश=निरसाहं, निर्धार्य ॥ • ॥

मा स्म=अप्रमत्तम् । अक्षय्यात्=नाश्यात् । ‘अवेक्ष्य’ इति पाठे—
दगा-राज्या-प्रेक्षणेन रवेरि उच्यते । भीष्मो=उपादेयु, चैरेयु, धनवृद्धिकरेषु स्थानेषु,

अर्थात्—आलस्यं, स्त्रीसेवा, (स्त्री से प्रेमः इ), रोग, जन्मभूमि का प्रेम,
सन्तोष, भीरु, पङ्क्याघात मदी श्रीर उच्यते की वाचक है ॥५॥

अपरदा—जो मनुष्य अपनी भी सम्पत्ति पर ही अपने को मुस्विर समझने
लगता है, उसको उस सम्पत्ति को देना (भाष्य) भी, अथवा को कृतकृत्य मानकर
कर, नहीं पढ़ाया दे, —इत्यादि सम्पत्ति ॥ ६ ॥

अर्थात्—कहें भी जो (मां)-उपादेय, आनन्दरहित, वर्द्धन श्री-
मनुष्य को दान देने से निर्वैय पुत्र को न उत्पन्न करे ॥ ७ ॥

उच्यते इति न कदा भी है—अप्रमत्त मनु (धन) की रक्षा करने की वादिते,

१ ‘वेद्ये १’ व ० ।

यतोऽज्ञधमिच्छताऽर्थयोगादर्थस्य प्राप्तिरेव । लब्धस्याऽप्यरहितस्य
रेरपि स्वयं विनाशः । अपि च अत्रर्द्धमानश्चाऽर्थः काले स्वल्पव्ययो-
जनयत्तयमेति । अनुपभुज्यमानश्च निष्पयोजन एव सः ।
तथा धोक्तम्—

‘धनेन किं, यो न ददाति, नाऽश्नुते,
घलेन किं, यश्च रिपून् वाधते ।

श्रुतेन किं, यो न च धर्ममाचरेत्,

किमात्मना, यो न जितेन्द्रियो भवेत्’ ॥ ६ ॥

पहादिपु इति वा । ‘तीर्थं शास्त्राऽप्यरक्षेणोपायोपाप्यायमन्त्रिषु, योनौ, जलान्तारे
के’ति शिक्षः ॥ ८ ॥

अर्थयोगात्=धनसम्बन्धान् । अर्थस्य=धनस्य । निर्येरपि=येवधेरपि । अपरिमिन-
स्यापि रिक्तस्य । अत्रर्द्धमानश्च=रहितोऽप्यवर्द्धमानोऽर्थः । काले=कृत्रित्कालान्तरम् ।
अनुपभुज्यमानः = तत्तदुपभोगस्थानेषु अनुपभुज्यमानः ॥ अश्नुते=उपभुङ्क्ते ॥ ६ ॥

मात वत्तु (धन) की अच्छी तरह रक्षा करनी चाहिये, और रक्षित बलु (धन) को अच्छी
तरह बर्तना चाहिये, और बड़े हुए धन को अच्छे २ कार्यों में लगाना चाहिये ॥ ८ ॥

क्योंकि—जिस वस्तु को मनुष्य चाहता है, वह बलु (धन आदि) उद्योग आदि से
और व्यापार में धन लगाने से ही मिलती है । और मिले हुये, कुचेर के भण्डार के
उत्तमान अनन्त धन की भी, यदि रक्षा न की जाय तो वह नष्ट ही हो जाता है । और
यदि वह धन बर्ताना न जाय तो थोडा २ गचने पर भी समय पारर वह अन्न
(धने) की तरह ही धीरे २ नष्ट ही हो जाता है । और यदि वह धन अच्छे कार्यों में
न लगाया जाय तो फिर वह ध्वर्थ ही है । आः धन की रक्षा करनी चाहिये और
उसे अच्छे २ कार्यों में और व्यापार आदि में लगाना चाहिये ।

किसी ने कहा भी है—उस प्राणी के धन से क्या लाभ है, जो न हिसी को देना
, और न उसे भोगता है । और उस प्राणी का बल भी किस काम का है, जो
पुत्रों को नहीं दराता है । और उस आदमी के पड़ने से भी क्या लाभ है, जो
धर्म का आचरण नहीं करता है, और उस मनुष्य के आमरण से भी क्या लाभ
, जो जिन्दिय नहीं है ॥ ६ ॥

यतः—

‘जलविन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।

स हेतुः सर्वविद्यानां, धर्मस्य च, धनस्य च’ ॥ १० ॥

‘दानोपभोगरहिता दिवसा यस्य यान्ति वै ।

स कर्मकारभक्षेण च सन्नपि न जीवति’ ॥ ११ ॥

—इति सद्भिन्त्य नन्दन-सञ्जीवकनामानौ कृपमौ धुरि नियोग्य, रात्रि
नानाविधद्रव्यपूर्णं कृत्वा, याणिज्येन गतः कार्मीरं प्रति ।

अन्यथा—

‘अज्ञानस्य क्षयं दृष्ट्वा, बल्मीकस्य च सञ्चयम् ।

अपन्थ्यं दिवसं कुर्यादानाञ्छ्यपनकर्मभिः ॥ १२ ॥

अथेति । जलस्य विन्दुना निपातेनाऽपि यथा घटः क्रमशः पूर्यते मयि, तमे
विद्याधर्म-धनानि अत्यन्तः मयिष्ठानि पूर्यतामस्मि । सः = तादृशो घट
हेतुः = निदर्शनम् ॥ १० ॥ ११ ॥

अज्ञानं = नेकज्ञानम् (सुप्तं) । बल्मीकस्य = रामसुरस्य । (दीरको का पूरा)
दानाञ्छ्यपनकर्मभिः = अज्ञानम् = अज्ञानम् । ‘कर्मणु’ इति पाठान्तरम् ॥ १२

बर्षोद—कर्मणः ज्ञान के बूझो के गिरने से भी घटा भर जाता है, यही कारण
(उदाहरण) मन्त्र विज्ञानों का, धर्म का, तथा धन का भी है । अर्थात् विद्या, धर्म
और धन के सब बंधन २ एवम् कर्मों पर भी कुछ दिनों में घटा हो जाते हैं ॥ १०

और—दान और भोग के बिना जिसके दिन बीतते हैं, वह छोड़कर भी भा
वो तरह ही ही होना भी, नरे हुए के हो सम्मान है ॥ ११ ॥

और भी बड़ा भी है—अज्ञान का भौर २ नाश देण कर, और बल्मी
(दी-को के टूटे) का सञ्चय देण कर, दान और अज्ञान तथा उभोग-व्यय
आदि बंधों से दिन को सञ्चय करना आदि । अर्थात् अज्ञान घटा कर्मण
होने पर भी वह कर्मों, कर्मों का ही होना है, और बल्मीक में छोड़ी २ नि
एवम् होनी २ वह एवम् बड़ा हुआ बन जाती है, जमी बंधन बंधन २ दान दे
कर्मों का ही भी वह घटा अज्ञान हो जाय है ॥ १२ ॥

यतः—

‘कोऽतिभारः समर्थानां ?, किं दूरं व्यवसायिनाम् ।

को विदेशः सविद्यानां, कः परः प्रियवादिनाम् ?’ ॥१३॥

अथ गच्छतस्तस्य मुदुर्गनाग्नि महारण्ये सञ्जीवको भग्नजानुनिपतितः ।

तमालोक्य धर्द्धमानोऽचिन्तयत्—

‘करोतु नाम नीतिज्ञो व्यवसायमितस्ततः ।

फलं पुनस्तदेवाऽस्य यद्विधेर्मनसि स्थितम्’ ॥ १४ ॥

किन्तु—

‘विस्मयः सर्पथा हे यः प्रत्पूहः सर्वकर्मणाम् ।

तस्माद्विस्मयमुत्सृज्य साध्ये सिद्धिविधीयताम्’ ॥ १५ ॥

व्यवसायिनाम् = उद्योगशीलानाम् । सविद्यानां = पण्डितानाम् । प्रियवादिनां = मधुरभाषिणाम् ॥ १३ ॥

तस्य = धर्द्धमानस्य । भग्नजानुः = घृष्टितोऽपवा । नीतिज्ञः = व्यवहारपटुः ।

मधुरभाष्यं = पराक्रमम् । उद्योगम् । पुनः = किन्तु । विधेः = ब्रह्मणः ॥ १४ ॥

विस्मय इति । विस्मयः = विद्वृत्तन्यविमूढता, ध्वाङ्कुलत्वञ्च । (घबड़ाहट) ।

प्रत्पूरः = विनः । साध्ये = कर्तव्ये कर्मणि । सिद्धिः = फलावाप्तिः । विधीयतां = सम्पाद्यताम् ॥ १५ ॥

ऐसा विचार कर यह धर्द्धमान, सञ्जीवक और नन्दक नाम के दो उत्तम बैलों को गाड़ी में जोत कर, और गाड़ी में नाना प्रकार की व्यापार की चीजें भर कर, व्यापार के लिये काश्मीर की ओर चल पड़ा ।

स्वोक्ति—समर्थ पुरुषों के लिये कौन कार्य असाध्य और भारी है, व्यवसायी

और उद्योगी (कर्मठ) पुरुषों के लिये कौन स्थान दूर है ? । विद्वानों के लिये

कौन विदेश है ? । मीठा वचन बोलने वालों का कौन पराया है ? । अर्थात् मधुर

भाषण करने वाले के सभी अपने हो जाते हैं ॥ १३ ॥

इसके बाद जाने २ सञ्जीवक बैल का मुदुर्ग नाम के मन में एक पिर टूट गया

और यह गिर पड़ा । यह देता कर वह धर्द्धमान बग्निकृ विचार करने लगा—

नीतिज्ञ पुरुष चाहे जितना इधर उधर उद्योग करे, परन्तु फल यही होगा जो

निपाता के मन में होगा । अर्थात् जो भाग्य में लिखा है, यही होता है ॥ १४ ॥

परन्तु—विस्मय (घबड़ाना, विद्वृत्तन्य विमूढ होना) सब कार्यों का निरा-

—इति सञ्चिन्त्य मञ्जानकं तत्र परित्यज्य, वद्धमा पुन स्थय घर्मपुर
नाम नगरं गत्वा, महाकायमायं वृषभमेकं समानीय, घुरि नियोग
पलित । तत्र सञ्जायकाऽपि कथङ्क्यमपि सुरप्रये भरं वृत्त्वोत्थित । यत-

‘निमग्नस्य पयोराशौ, पयंतात्पतितस्य च ।

तक्ष्णैणाऽपि दृष्टस्य, आपुर्मर्मापि रक्षति’ ॥ १६ ॥

‘नाऽहले मियते जन्तुर्निद्धः शशशतैरपि ।

जुगाग्नेर्गैः संस्पृष्टः प्राप्तजालो न जीवति’ ॥ १७ ॥

‘थरचितं विद्यति देवराचितं,

मरचितं देवहतं विनश्यति ।

जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः,

कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न जीवति' ॥ १८ ॥

ततो दिनेषु गन्धत्सु सञ्जीवकः स्वेच्छाऽऽहारविहारं कृत्वाऽरण्यं
भ्राम्यन्द्दृष्टुयाद्भो बलवज्रनाद । तस्मिन्वने पिङ्गलकनामा सिंहः स्वभुजो-
पार्जितराज्यसुखमनुभवन्निवमति । तथा चोक्तम्—

'नाऽपिपेक्षो न संस्कारः सिंहस्य क्रियते मृगैः ।

विक्रमाऽर्जितराज्यस्य स्वयमेव मृगेन्द्रता' ॥ १९ ॥

स चैकदा पिपासाऽऽकुलितः, पानीयं पानुं यमुनाकण्ठमगच्छत् ।

कृतसर्गः ॥ १७ ॥ दैररचित = भाग्यरचितम् ॥ १८ ॥

दृष्टुयाद्भो = दृष्टो, बलवज्रपुथ सन् । वज्रन्त = महान् शब्देन । वन्वै-तरान् ।

गनाद = जगत् । स्वभुजापार्जितराज्यः = स्वपराक्रमार्जितवनराजीराज्यः ।

'स्वभुजोपार्जितराज्यसुख'मिति कचित्पाठः । भेति । अर्पिपेक्षः = रात्याभिपेक्षः ।

संस्कारः = शौषादिगुणादिसम्बन्धः । विक्रमाऽर्जितराज्यस्य = स्वभुजोपार्जितराज्यस्य ।

मृगेन्द्रता = मृगाधिपत्यम् ॥ सिंहस्य हि मृगेन्द्रत्व स्थाभारिकम् । 'सिंहो मृगेन्द्रः

पञ्चासौ ह्येकः विसरी हरिः' इत्यमरोक्तेः ॥ १९ ॥

सच = सिद्धि । पिपासाकुलितः = तृषादितः । पानीयं—जलम् । यमुना-

कण्ठं = यमुनानद्यदेशम् । 'जलमायमनूप स्थान् पुमि कण्ठमपाविधः' इत्यमरः ।

वन में छोड़ दिया गया अनाथ बालक भी कोई जी जाता है । और घर में
अनैक उपयोग करने पर भी कोई नहीं जी ॥ है ॥ १८ ॥

इस प्रकार कुछ दिन बीतने पर यह सञ्चारक यथेच्छ आहार-विहार करके दृष्ट

गुप्त हो गया । और वन में प्रसूता हुआ वह एक दिन ओर से बिल्लाने लगा ।

उसी वन में पिङ्गलकनाम का एक सिंह अपने भुजबल से पेशा द्विष्ट राज्य के मुख

का धनुष करता हुआ रहता था । किम ने कहा भी है—

मृग-न तो भिद का अभिपेक्ष ही करते हैं, और न वे स कार ही करते हैं ।

हिन्दु भिद ही अपने पराक्रम से ही उनका राज्य करता है, और स्वयं अपने पराक्रम

से ही 'मृगेन्द्र' बरलाना है ॥ १९ ॥

एक दिन यह सिंह प्यास से व्याकुल होकर जल पीने के लिये यमुनातीरे के तट

तेन च तत्र सिद्धेनाऽननुभूतपूर्वमकालघनगर्जितमिव सञ्जीवकनर्दित
मन्त्रावि । तच्छ्रुत्वा पानीयमपीत्वा, सचञ्चितः परावृत्त्य, स्वस्थानमागत्य,
'किमिदं'मित्यालोचयस्सूष्णीं स्थित ।

सप्तयाविध. करटक-दमनराभ्यामस्य मन्त्रिपुत्राभ्यां शृगालाभ्यां
दृष्ट ।

तं तयाविध दृष्ट्वा दमनश्च करटकनाह—'सखे करटक ! किमित्
सुदकार्थी स्वामी पानीयमपीत्वा सचञ्चितो मन्द-मन्दमूषतिष्ठते ? ।

करटको ज्ञाते—'मित्र दमनक ! अमन्मतेनाऽस्य सेवैव न क्रियते
यदि तया भयति, तदि किमनेन स्वामिचेष्टानिरूपणेनाऽस्माकम् ?
योऽनेन राज्ञा विनाऽपरायेन विरमवधीरिताभ्यामावाभ्य
मदृग्गमनुभूतम् ।

‘सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत्कृतम् ।

स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम्’ ॥ २० ॥

अपरध—

‘शीतवाताऽऽतपक्लेशान् सहन्ते यान् पराऽऽश्रिताः ।

तदंशेनाऽपि मेघावी तपस्तप्त्वा सुखी भवेत्’ ॥ २१ ॥

अन्यच्च—

‘एतावज्जन्मसाफल्यं यदनायत्तवृत्तिता ।

ये पराधीनतां यातास्ते वै जीवन्ति !, के मृताः’ ? ॥ २२ ॥

अपरध—

‘एहि’ ‘गच्छ’ ‘पतो’त्तिष्ठ’ ‘वद’ ‘मौनं समाचर’ ।

एवमाशाग्रहस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः’ ॥ २३ ॥

वकैः = मृत्युः । ‘यत्कृतं तदप्येदेकत्रयः । किं तत्कृतमत आह—स्वातन्त्र्यमिति ।

द्वैः = मूर्खैः । हारितं = विनाशितम् ॥ २० ॥

शंकेति । यान्—शीतवायुर्मादिकान् क्लेशान्, पराश्रिताः=पराधीनाः, अपराधीनाः, मृत्याः । तदंशेनाऽपि=तद्दुःखाशेनापि । मेघावी=विद्वान् ॥ २१ ॥

एतावत्=एतावदेव । यत् अनायत्तवृत्तिता=अपराधीनवृत्तिता । स्वाधीनमीदृक्त्वात् । एतन्नमिति यावत् । ये पराधीनास्तेऽपि यदि जीवन्ति, तर्हि वद मृताः के ? । परतन्त्रास्ते एव मृता इत्यर्थः ॥ २२ ॥

एहि=आयादि । गच्छ=दूरमपसर । यादि । पत=नीचिस्तिष्ठ, उत्तिष्ठ=उदियते

दूसरे की सेवा से धन कमाने की इच्छा रखने वालों ने देतो कैसा अनर्थ दिया । इन मूर्खों ने अपने शरीर की स्वामात्रिक स्वतन्त्रता को भी खो दिया है ॥ २० ॥

श्रीर भी देतो—पराधीन लोग जिनना-शीत, वायु श्रीर घाम से क्लेश सहते, बुद्धिमान् मनुष्य उससे आधा भी दुःख सहकर तपस्या करके सदा के लिए गी से सक्ता है ॥ २१ ॥

श्रीर भी—जोविद्या का पराधीन होना ही जन्म की सरलता है । यदि पराधीन पुत्र भी होता है, तो फिर मरत कौन कहा जायगा ? ॥ २२ ॥

श्रीर भी—धनी लोग छाया रूप प्रद से प्रल अपने याचकों के तप

विद्या—

‘अनुधैरर्थलाभाय पण्यस्त्रीभिरिव स्वयम् ।

आत्मा मंसृष्ट्य-मंसृष्ट्य परोपकरणीकृतः’ ॥ २४ ॥

विद्या—

‘या प्रकृत्यैव चपला, निपतत्यशुचारिणि ।

स्वामिनो बहु मन्यन्ते दृष्टिं तामपि सेवकाः’ ! ॥२५॥

भा । अणु = कथय । मीन समाहार = मृग्योपाहार । (सुर रसो) । पण्य =
हृदेरंगीया । आत्मप्रदानी = आशानासपयतीर्षकं रिव । अर्थिभिः = आशा-
रितीर्षावपैः सह ॥ २३ ॥

अनुधैः = मृगैः । पण्यस्त्रीभिरिव = पाराङ्गनाभिरिव । आत्मा = शरीरम् ।
अप्रमाथ । मंसृष्ट्य-मंसृष्ट्य = आभूत्पैरिव विद्यानिनवादिभिर्नानागुणैः पुनः
पुनः समारं कृत्या । परोपकरणीकृतः = परोपकारता नीतः । उपकरणं =
साधनम् ॥ २४ ॥

वेति । वा दृष्टिः—प्रकृत्यैव = समावेनेय, चपला = प्रतियरा । रिप्य वा दृष्टि-
अशुचारि = अपोवेदधि, निपतति = अतिशुभोभवति । तामपि स्वामिनो दृष्टि =
प्रसार-भोग्या बहुमन्यन्ते = अर्थिभिरप्रसादेनावि धन्यमात्मान मन्यन्ते इति
पिक्-सेवक-निवर्गः ॥ २५ ॥

‘आयो,’ ‘गयो,’ ‘पैटो,’ ‘ठटो,’ ‘जुर रसो,’ इन प्रकार नाना प्रकार के रोग
दिना करी हैं ॥ २३ ॥

श्रीर भी—मृगो (मृगो) ने धन के वागे पेशवायो के लक्ष्य करने शरीर
शरीर आत्मको मृग (नाना गुणो मे सुर) पर के स्वय ही दूसरोके काग में लग
दिवा है । पेशवा भी करने शरीर का बनण शृंगार दूसरो को (करने प्रादको को)
प्रणय करने के सिद्धे हो करी है ॥ २४ ॥

श्रीर भी—जो स्वभाव ही मे चपला है, श्रीर अपोपण्यो पर भी जो पदवी
है, ऐसी स्वामी को दृष्टि (कृत्य दृष्टि) को भी मेवक सेवक बहूा करी वा । समझते
है ! ॥ २५ ॥

द्विच—

‘मीनान्मूर्खः, प्रवचनपटुर्वातुलो,’ जल्पको वा,
 चान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाऽभिजातः ।
 धृष्टः पार्श्वे वसति नियतं, दूरतश्चाऽप्रगल्भः,
 सेवाधर्मः परगहनो योगिनामप्यगम्यः’ ॥२६॥

विशेषतश्च—

‘प्रथमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
 दुःखीयति मुखहेतोः, को मूढः सेवकादन्यः’ ? ॥ २७ ॥

मीना'दति । सेवको यदि मीनमालम्बते, तदि मूर्खोऽप्य न वस्तुमपि जानातीति स्वामिनो मायन्ते । वाक्पटु—वातुलः = बहुभाषी (वक्त्रादी) । वातुलः=वातुलः, वात्रोगी इति केचित् । जलरक्तः=जलपाकः, बहुगलंवाक् (बहुवदिया) इति मायन्ते । चान्त्या = सहनशक्त्या, धुत्रम्—सयुन—भीरुं वदन्ति । यदि न सहते परावाधं, तर्हि—अयं न अभिमानः—न कुलीन इति मायन्ते । पार्श्वे=निम्ने, वसति = तिष्ठति चेत्, तदा—धृष्टः=अक्रिन्त इति तं मायन्ते । नियतं=नियमेन, दूरतः = दूरे तिष्ठति चेत्, अगम्यः=अपटुः—इति मायन्ते । एवञ्च—सेवाधर्मः=सेवाकारो धर्मः—सेवकान्, योगिनामपि—अगम्यः=यथायदनुष्ठातुमशक्यो, निरता कठिनश्च ॥ २६ ॥

उन्नतिहेतोः=प्राप्तन उन्नत्यर्थं, प्रथमति=प्रथममनि, नीचो भवति च, स्वामिनं

श्रीर मी—यदि सेवक सुन रहे, तो उसे मालिक लोग मूर्ख कहते हैं, यदि वह कोले, तो उसे बहुवादी या वागल कहते हैं, और वह यदि सहनशील हो, तो उसे करीब कहते हैं । और वह यदि क्रिमी की बात न सहे, तो उसे अक्रिन्त कहते हैं । यदि पास में बैठे, तो धृष्ट (अक्रिन्त) कहते हैं, और यदि वह दूर रहे, तो उसे अगम्य कहते हैं । इसलिये सेवाधर्म बहुत कठिन है, इसको योगी लोग मी नती निर्वाह सज्जे हैं ॥ २६ ॥

दिएंग तो वह है कि—सेवक से बड़ कर कोई मूर्ख नहीं है, क्योंकि वह अपनी

१. 'वातुली, वातुलोऽपि स्या' इति द्विरूपदोषः । २. 'दूरगधा'-या० ।

दमनको प्रते—'मित्र ! सर्वथा मनसाऽपि नैतत्कर्त्तव्यम् । यतः—

'कथं नाम न सेव्यन्ते यत्नतः परमेश्वराः ।

अचिरेणैव ये तुष्टाः पूरयन्ति मनोरथान्' ॥ २८ ॥

अन्यथा पर्य—

'बुतः सेवानिहीनानां चामरोद्भूतसम्पदः ।

'उद्दण्डधवलच्छत्रं, वाजि-चारु-वाहिनी' ? ॥ २९ ॥

फरदको प्रते—'तथापि किमनेनाऽस्माकं व्यापारेण ? । यतोऽव्यापारेण
व्यापारः सर्वथा परिहरणीयः' । पर्य—

प्रथमाऽपि च । वाकितहेतोः = स्वजीवनायैव, प्राधान्यं विद्युद्यति = युद्धादी स्वाम्यर्थं
तिथौ । दुःखीयति = दुःखमनुभवति ॥ २७ ॥ वृत्त = रूढयं रज्यसितं, सेवान्याग-
सेतानिन्शदिष्टम् ॥ परमेश्वराः = रामानं, स्वामिनश्च ॥ २८ ॥ चामरोद्भूतसम्पदः =
चामरस्यज्जायन्ति ताः भियः । विद्य-उद्दण्ड धवलच्छत्रं = शीरं दण्डमदिष्टं
धवलं छत्रम् । 'बुत' इति शेषः । मित्र-वाजिचारुवाहिनी = गजाश्वदानीयैव-
चारुधिरारि रागसेतो मित्रा युतो लम्पते—स्वयं ॥ २९ ॥

दमनको प्रते (नष्ट) होता है । अपने जीवन के लिये अपने प्राणों को
दुष्टों के लिये त्याग देना है, गुण के लिये दुःख सहना है । अर्थात् यह सभी कार्य
स्वार्थ ही करना है, अतः सेवक से बढ़कर मूर्ख और बौद्ध होगा ॥ २७ ॥

दमनको प्रते—दे मित्र ! मन में भी कभी ऐसी बात नहीं सोचनी चाहिये ।

करोड़ि—दे ही वत्त से उन सभी लोगों की सेवा क्यों नहीं करनी चाहिये,
(अर्थात् अश्वरथ ही करनी चाहिये), जो समस्त होकर सेवकों के सभी मनोरथों को
तुष्ट ही कर देते हैं ॥ २८ ॥

कौं भी देगाः—जो लोग राजाओं की सेवा नहीं करने हैं, उनसे पानर से
दुःख या मर्मादि, देवे दण्ड धवल छत्र, और हाथी, घोड़ा, सेना, ये
उत्तमों की सब सम्पत्तियों क्यों मे मित्र सह ही हैं ॥ २९ ॥

बाह्य के लिये—जो भी हमको हम अनजिहार पेश से लाभ ही क्या है ? ।
करोड़ि कभी भी अश्वरथ के अश्वरथ से अश्वरथ नहीं करना चाहिये । अर्थात् जो
कार्य करना चाहिये नहीं है, उसमें हाथ नहीं लगाना चाहिये ।

‘अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।

स भूमौ निहतः शेते, कीलोत्पाटीव वानरः’ ॥ ३० ॥

दमनकः पृच्छति—‘कथमेतत् ?’ । कर्टकः कथयति—

(१) कीलोत्पाटिवानरकथा ।

अस्ति मगधदेशे धर्मारण्यसंनिहितवसुधायां शुभदत्तनाम्ना कायस्थेन विहारः कर्तुमारब्धः । तत्र करपत्रदार्यमाणैरुत्तम्भस्य क्रियद्दूरस्फाटितस्य काष्ठरण्डद्वयमध्ये कीलकः सूत्रघारेण निहितः । तत्र बलवान्वानरयूथः क्रीडन्नागतः । एको वानरः कालप्रेरित इव तं कीलकं हस्ताभ्यां धृत्वोपविष्टः । तत्र तस्य मुष्कद्वयं लम्बमानकाष्ठरण्डद्वयाऽभ्यन्तरे प्रविष्टम् ।

अव्यापारेषु=व्यापारानवसरेषु । व्यापारऽवोन्वेषु । कालोत्पाटी=यद्दूत्पाटी ॥ ३० ॥

करपत्रं=काष्ठदारणं (करीत) । तेन दार्यमाणः=विदार्यमाणो, य एकः-स्तम्भस्येत्यर्थः । स्फाटितस्व=दारितम्ब । सूत्रघारेण=वर्द्धकिना । (सूत्रघार=वर्द्ध, सुनार) । तत्र=विहारे । यूथः=समूहः ।

कालप्रेरित इव=मृत्युगणायदीत इव । एका=आदाय । मुष्कद्वयम्=

देलो—जो प्राणी अज्ञापार (बुधा कायों) में व्यापार करता है, अर्थात् जो काम अपना कर्तव्य नहीं है, उसको करता है, यह कील उठा देने वाले उस बन्दर के समान ही मर कर भूमि पर पड़ जाता है ॥ ३० ॥

दमनक ने पूछा—यह कथा कैसे है ? । कर्टक करने लगा—

मगध देश में धर्मारण्य के पास की किसी भूमिपर शुभदत्त नाम का एक वापस्य एक विहार (बौद्ध मठ) बनवा रहा था । वहाँ पर धारे से आधी दूर तक पटे हुए किसी राम्भे के दोनो काष्ठ के टुकड़ों के बीच में वर्द्ध ने एक कील गाड़ दी थी । एक समय वहाँ बहुत से बन्दर रोलने हुए आगये । उनमें से एक बन्दर मानो काष्ठ से प्रेरित होकर उस कील को हाथ से पकड़ कर बैठ गया । उसके सट्टने हुए दोनो अण्डकोश भी पटे हुए उन दोनो काष्ठों के मध्य में घुस गये ।

१. विहार=बौद्ध संन्यासियों के रहने का स्थान (मठ) ।

अनन्तर स च सहजचपलतया महता प्रयत्नेन तं कीलकमावृष्टवान् ।
 आट्टे च कालके चूर्णताडणद्वयः पञ्चत्न गतः । अतोऽहं प्रवीमि—
 'अप्यापारेषु ज्ञापारम्' इत्यादि ॥३०॥

इमनरु मूत्रे—'तथापि स्वामिचेष्टानिरूपणं सेवकेनाऽवरयं करणी-
 यम् । कष्टयो मूत्रे—'सर्वमिन्नधिगारे य एव नियुक्तः प्रधानमन्त्री, स
 करार । यताऽनुजीविना पराधिकारचर्चा मर्यदा न कर्तव्या । परम्—
 'पराधिकारचर्चा यः कुर्यात्स्वामिहितेच्छया ।

म विपीडति, चीत्काराद् गर्दभस्ताडितो यथा' ॥ ३१ ॥

इमनरु पृच्छति—'कथमेतम् ? । कष्टयो मूत्रे—

(२) चीत्कारिगर्दभकथा ।

अगति वाराणस्यां कपूरपटवो नाम रजकः । स चाऽभिन-
 वरुण्यया कथा सह चिरं निधुवन कृशा, (ता) निर्भरमालिङ्गय, प्रमुन-
 अरुण्यकोसद्वन् । म = मनसः । पञ्चत्न गत = मूत्रे । स्वामिचेष्टानिरूपणः
 प्रमुनेऽभिधीयते । अनुभूतिना = नृकेन । विचारति = प्रेरयते ॥ ३१ ॥
 अभिनवराजकथा = नदीनदा, नरेदया, युक्त्या । तीर्था = मुरतप्रीदान

तदनन्तरं तद्गृहद्रव्याणि हर्तुं चौरः प्रविष्टः । तस्य प्राङ्गणे गर्दभो
यदस्तिष्ठति । कुक्कुरश्चोपविष्टोऽस्ति ।

अयं गर्दभः श्वानमाह—‘सखे ! भवतस्तावदयं व्यापारः, तत्किमिति
त्वमुच्यते शब्दं कृत्वा स्वामिनं न जागरयसि ? !’

कुक्कुरो ब्रूते—‘भद्र ! मम नियोगस्य चर्चा त्वया न कर्त्तव्या । त्वमेव
क्रेन जानासि, यथा तस्याऽहर्निशं गृहरक्षां करोमि, ततोऽयं चिरान्निर्गृतो
ममोपयोगं न जानाति । तेनाऽधुनापि ममाऽऽहारदाने मन्दाऽऽदरः । यतो
विना विधुरदर्शनं स्वामिन उपजोविषु मन्दाऽऽदरा भवन्ति ।’

गर्दभो ब्रूते—‘शृणु रे यर्धर !’

‘पाचते कार्यकाले यः स किंमृत्युः, स किंमुह्य ? ।’

‘निद्रुवन’मिति पाठोऽपि स एवार्थः । निर्मल=गाढ सुप्तः । अयं व्यापारः=चौरादि-
मये सति स्वामिनो जागरणम् । व्यापारः=कर्त्तव्यो नियोगः । नियोगम्ब=अधि-
कारस्य । (ह्युटी) । निर्गृतः=चौरादिभयरहितः सुखी । उपयोगं=स्वस्वताम् ।
मन्दादरः=शिथिलदरः । विधुरदर्शनं=विषदनुभवम् । यर्धर=धनार्थं । मृत्युं ।
कार्यकाले=कार्ये उपस्थिते सति । किंमृत्युः=मृत्युस्तितो मृत्युः । शिथिलदरः=

आक्रान्त कर सो गया । उसी समय उसके घर में चोरी करने को चोर चुसा ।
उस चोरी के घर के आँगन में एक गर्दभ बंधा हुआ था । और वही एक कुत्ता
भी बैठा था ।

गर्दभ ने कुत्ते से कहा हे मित्र ! अपने स्वामी को चोरों से सावधान करना
आपका काम है । अतः प्रायः चित्ताकर अपने मालिक को स्वो नहीं जगाते हो ? ।

वह यह कुत्ता बोला—माई ! आप मेरे काम की चिन्ता क्यों करते हैं ? क्या
आप नहीं जानते हैं, कि रात दिन मैं हमके गृह की रक्षा करता हूँ । इसीलिए यह
मृत्यु दिनों से सुखी है, और इसलिये इसको अब मेरी आश्चर्यकता भी नहीं मालूम
होती है । इससे दन दिनों यह मुझे ठीक २ भोजन देने का भी ध्यान नहीं करता
है । क्यों कि बिना दुःख देते स्वामी लोग नीकरो का ध्यान कम ही करते हैं । तब
हम गंदा बोझ—मुन रे नीच !

जो मृत्यु, या मित्र काम के समय मांगता है, वह नीकर भी अपने और नीच
, और वह मित्र भी अपने और निन्दित है ।

शुक्लरो प्रते—

‘भृत्यान् संभाषयेद्यस्तु कार्यकाले, स किंप्रभुः’ १ ॥ ३२ ॥

यतः—

‘आश्रितानां भृतौ, म्यामिसेवायां, धर्मसेवने ।

पुत्रस्योन्पादने चैव, न सन्ति प्रतिहस्तकाः’ ॥ ३३ ॥

सनां गदंभः सकोपमाह— धरे दृष्टमते ! पापीयाम्यं, यद्विपत्तौ
स्वामिसार्ये ज्ञेयां पंगोपि । भवतु तावत् । यथा स्वामी जागरिष्यति,
चन्मया पत्तत्र्यम् । यतः—

‘पृष्टतः सैनयेदकं, जठरेण हुताग्निम् ।

म्यामिनं मर्मभावेन, पग्लोरुममापया’ ॥ ३४ ॥

सुं निपत् । कार्यकाले=कार्ये उपस्थिते । संभाषयेत्=संभाषयेत्, वृत्तयेत्,
शान्तिं ॥ ३२ ॥

आश्रितानां=शरणार्थीनां, सेवकादीनाम् । भृतौ=काले । स्वामिसेवायां=
शान्तिशान्ति । धर्मसेवने=धर्मोपार्जने, शीघ्रादिगमने च । पुत्रस्योन्पादने=शान्ति-
भावे । प्रतिहस्तकाः = प्रतिनिवृत्तः । न भवति = न भवति । नोरमुपयत्ने ॥३३॥

पृष्टत = पूछे ॥ । जठरेण = मुखे । हुताग्निम् = अग्निम् । जठरेण = अग्नि-
मुपदेन । मर्मभावेन = मर्मभावे । पग्लोरुममापया = अग्निभावेन च । वाक्त्रोर्द-

इत्युक्त्वाऽतीव चीत्कारशब्दं कृतवान् । ततः स रजकस्तेन चीत्कारेण प्रबुद्धो, निद्रामद्गकोपादुत्याय, गर्दभं लगुडेन ताडयामास । तेनासौ प्रबलत्वमगमत् । अतोऽहं प्रवीमि—‘पराधिकारचर्चाम्’ इत्यादि ॥ ३४ ॥

पर्य—पशुनामन्वेपणमेवाऽस्मन्नियोगः । स्वनियोगचर्चा क्रियताम् । (विमृश्य—) ‘कित्त्वद्य तथा चर्चया न प्रयोजनम् । यत आवयोर्भक्षित-शेषाऽऽहारः प्रचुरोऽस्ति ।’

दमनकः सरोपमाह—‘कथमाहाराऽर्थी भवान् केवलं राजानं सेवते ? । एतद्युक्तमुक्तं त्वया । यतः—

स्वर्गम् । धर्ममिति यावत् ॥ ३४ ॥

प्रबुद्धः=जागरितः । निद्राविमर्दकोपात्=अनसुरनिद्राभ्याघातजात् घोषान् । पर्यगतः=मृतः । अस्माकं=करटङ्गदमनकयोः । नियोगः=अधिकारः । तथाऽपि=पशुनामन्वेपणरूपया । चर्चया=वाच्यया । प्रचुरः=भूयान् । आहारमाश्रायां=भोजन-मानामिक्षायी ।

करनी चाहिए । श्रीरत्नामी की सेवा सब प्रकार से (अच्छी तरह से पूरी) करनी चाहिए, और परलोक की सेवा (परलोक में उत्तम गति की प्राप्ति के लिए पुण्य का उपाजन) छत्र रहित होकर करनी चाहिए ॥ ३४ ॥

ऐसा कहकर गदहा बड़े जोर से चिल्लाने लगा । इसके बाद वह घोड़ी उसके चिल्लाने से जाग उठा, और असमय में नींद टूटने के कारण झुंझ होकर, उठकर गदहे को दण्ड से पीटने लगा । और वह गदहा इस प्रकार मार मारकर मर गया । मैं लिए मैं कहता हूँ, कि—‘दुमरे के अधिकार की चर्चा कभी नहीं करनी चाहिए’ इत्यादि ।

और देखो, पशुओं का रोजना ही हम लोगों का काम है । अनः अपने काम की चर्चा ही हमें करनी चाहिए । (बुद्ध सोच कर—) किन्तु आज तो उत्तम चर्चा की भी कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि हम लोगों के राने से बचा हुआ आहार रखा हुआ है । तब यह दमनक क्रोध करके बोला—‘या तुम केवल अपने पेट पाने के लिये राजा की नौकरी करते हो ? । माई यह जान तो तुमने नहीं की ।’

‘मुहदामुपकारकारणाद्, द्विपतामप्यपकारकारणात् ।
 नृपसंश्रय इष्यते बुधैर्जटारं को न विभर्ति केवलम्’ ॥३५॥
 ‘जीविते यस्य जीवन्ति विप्रा, मित्राणि, यान्धवाः ।
 मफलं जीवितं तस्य, आत्मार्ये को न जीवति’ ? ॥३६॥

अपि च—

‘यस्मिंजीवति जीवन्ति बहवः, स तु जीवतु ।
 काकोऽपि किं न कुरुते चञ्चया स्वोदरपूरणम्’ ॥ ३७ ॥

पर्य—

‘पञ्चमिर्याति दामत्वं पुंगवैः कोऽपि मानवः ।
 कोऽपि लघैः कृत्वा, कोऽपि लघैरपि न लभ्यते’ ! ॥ ३८ ॥

मुहदामिति । मित्राणां नृपसाय, द्विपतां = शत्रुणां मरकारकरणाय च, राक्ष-
 भयो बुधैः = विद्वान्, -इष्यते = प्रभिद्यते । केवलं जटारं = शीतलु, को न
 विभर्ति = को न पूरति । । मूर्खैः वि शीतलं पूरयत्येवमर्थः ॥ ३५ ॥

यस्य = यस्य पुंसः । जीविते = जीवने । यिः = दास्यः । गोविप्रमित्रादीन्-
 पाहभवेति वाच्यं । तस्यैः जीवन्तं मानव, मफलमात्रं तु को न जीवति ? ॥ ३६ ॥

बहवः = गोविप्राणां पुरस्त्रिणाः ॥ ३७ ॥

पञ्चमिरिति । कोऽपि मानवः पञ्चमिरिति पुंगवैः = पुराणनामगुणभिः ।

अपि च—मित्रो वा उपकार करने के लिये, तथा शत्रुओं का अरकार करने
 के लिये ही विद्वान् लोग राजाओं को सेवा दिया करते हैं । केवल बुधना केवल
 ही कोन नहीं भर लेता है, अर्थात् सभी भर लेते हैं ॥ ३५ ॥

श्रीर भी—जिसके जीने में बहव, मित्र और मित्रजन होते हैं, उसी का
 जीना सरल है । अपने लिये तो कोन नहीं जीता है, अर्थात् सभी जीते हैं ॥ ३६ ॥

श्रीर भी—जिसके जीने में बहवों की सहायता पाने की है, वही जीता है, अर्थात्
 सभी का ही भरण कर लेता है । वही कोन ही कोन से अरना वे नहीं भर लेता है ।
 अर्थात् भरण करता है ॥ ३७ ॥

देवो-बोई माने जायने के वाच्य करते पर ही जीवते बरगा है, श्रीर बोई

अन्यथ—

‘मनुष्यजातौ तुल्यायां भृत्यत्वमतिगर्हितम् ।-

प्रथमो यो न तत्रापि, स किं जीवत्सु गण्यते’ ? ॥ ३६ ॥

तथा चोक्तम्—

‘वाजि-वारण-लोहानां, ^३काष्ठ-पाषाण-वाससाम् ।

नारी-पुरुष-तोयानामन्तरं महदन्तरम्’ ॥ ४० ॥

(पुत्रस्य = पैसा, ८० कौड़ी) । दासतां याति = कस्यापि भृ-यभाज धत्ते । कोऽपि च
हृत्वा = कुरलः, -वचैः = लक्षैः पुराणैर्दासतां करोति । यद्वा-कोऽपि-लक्षैः कृत्वा=
आमानं कृतकृत्यं मनुते इत्यर्थः । कोऽपि पुरुषभ्रेष्टम्-लक्षैरपि न लभ्यते ॥३६॥
मनुष्येति । सेरके, स्वामिनि च मनुष्यत्वं-तामनुष्यमेवेति तयोः सेव्यसेवक-
भाव एव तावन्निरदिष्टः । तत्रापि=गर्हिताया सेवकवृत्तौ ढीकृतायामपि । यद्वा-तत्रापि
=सेरकेष्वपि । यो न प्रथमः=न मुखः, केवल सामान्यभृत्यत्वात् भजते, चेत्
३ गृह्यतुल्य एवेत्यर्थः ॥३६॥

वाजीति । वाजी=घश्चः । वारणः=हस्ती । लोहानि=हस्तादिधानवः, वासः=यज्ञम् ।
सोपं = जलम् । तुल्यायामपि वाजित्वादिजातौ, कश्चिन् साधारणोऽथः, कश्चिथ
वायः-‘वारसीकाश्च’ इति, क्विञ्चिज्जल कृयादेः, क्विञ्चिथ भागीरथ्यादेरिति च रीत्या
एतौ बदन्तरं = भेदः, तन्महदेव अन्तरं=नितरां भेद इत्यर्थः । तुल्येऽपि नामनि

उदमान् कुरल पुरुष लाठ रूपयो (या पैसो) पर नौकरी करता है, और कोई मरा
पुरुष ऐसे भी होने है, जो लाठी रूपये (या पैसो) देने पर भी नहीं मिलते है ॥३६॥
और भी—स्वामी और सेवककी मनुष्य जाति एक समान होनेपर भी, किसी
को स्वामी बनाना और उसको सेवकाई करना यह अत्यन्त ही निम्नित है । फिर उस
की भी जो सेवक प्रथम (मुख) नहीं हुआ, तो उसकी गणना भी क्या
नहीं बालों में है । अर्थात् उसको मरा हुआ ही समझना चाहिये ॥३६॥

क्षेत्रे कदा भी है—घोड़ा, हाथी, धातु, काठ, पत्थर, चम्र, स्त्री, पुरुष, जल,
इनमें पत्थर में बहुत बड़ा भेद (विशेषता) रहता है । अर्थात्—घोड़े, हाथी, धातु,
पत्थर, चम्र, स्त्री, पुरुष, जल—ये सब एक ही तरह के नहीं होते हैं, किन्तु इनमें

तथा स्वल्पमप्यतिरिच्यते,—

‘स्वल्पस्नायुवसाञ्चशोपमलिनं’ निर्मांसमप्यस्थि गोः,
 श्वा लब्ध्या परितोपमेति, न भवेत्तस्य क्षुधः शान्तो
 सिंहो जम्बुरुमङ्कमागतमपि त्यक्त्वा, निहन्ति द्विपं,
 सर्वः कृच्छ्रगतोर्गप वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्

अपरं च-सेन्यसेवकयोरन्तरं पश्य—

‘लाङ्गूलचालनमघश्चरणाञ्चपातं,
 भूर्मा निपत्य वदनोदरदर्शनञ्च ।

गुर्येषु मर्देश्चमिति वाचन् ॥ ४० ॥

राज्यमपि अतिरिच्यते = विज्ञेयाऽऽपावर्कं भवति । स्वल्पेति । स्वल्पस्नायुवसाञ्चशोपमेति = परितुष्यति । क्षुधः = क्षुभुशायाः । न भवेत् = न तदस्थि समर्पणं सिद्धम्-जम्बुरुमङ्कमागतम्, कृच्छ्रे = मण्डे, (गोदमे) । आगतमपि, विहापन्ति गतमेव, इति = निश्चिन्ति, इत्यु धात्वा । कृच्छ्रगतः = क्षिप्रोऽपि । सत्त्वानुरूपं स्वररूपानुरूपमेतन्नम वाच्यति । सत् = तेजः ॥ ४१ ॥

भेष्यसेवकयोरन्तरं = मेऽसेवकयोऽपि प्रभेदम् । लाङ्गूलचालनं = पुच्छपरिष्ठादनम् । घट्टः = नीचे । चरणक्षेपयवातः = चरणयोः पातः, तं = पादपङ्कजवदनम्, उदरम् वदनोदरं, तस्य दर्शनं = वददर्शनम् । श्वानिरेषा । श्वा = कुक्कुट

उपन, मायम, अपन भार ररा ही हे ॥ ४० ॥

श्रीर वाटुप्रो का—शेका मेर भी विज्ञेयापावक होता है । देगो—

पुष्प बोदी भी अत्र तथा बनीके लेख सुष्ठु मन्नि, एष मांस स्थित नो एषा इट्टी को फलर भी मन्नुष्ट हो जाग है, मिगमे उत्तरी भूग भी शान्त न होगी है । श्रीर मिष्ट छानी गोदमे अदे कुये भी विचार को भी छोड़कर इन्ही को मगना है । टीक है—मनी मानी कष्ट में पड़े हुए रस्ते पर भी अपने ए (वध, पराधम, योग्य) के अनुसर ही कष्ट पातो है ॥ ४१ ॥

श्रीर भी—मनी श्रीर मेरक में भी अत्र (मेर) देगो—पुष्पा छानने मीर हेने लगे के लाने दूगु विष्णु है, श्रीर उगके मगनी पर (नीचे) गिर

१. 'मण्डे' का. २. 'अतिरिच्यते' व. ट. ल. म् ।

था पिएहदस्य कुरुते, गजपुङ्गवस्तु-
धीरं विलोकयति, चादृशतैश्च मुहुक्ते' ॥ ४२ ॥

किञ्च—

‘यज्जीव्यते क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै-
विज्ञान-विक्रम-यशोभिरमज्यमानम् ।
तन्नाम जीयितमिह प्रयदन्ति तज्ज्ञाः,
काकोऽपि जीवति चिराय, वलिं च मुहुक्ते’ ॥ ४३ ॥

पिएहदस्य=भोजनप्रसंगदातुः स्वामिनः । गजपुङ्गवस्तु=करीन्द्रातु । भोजनं
रिप्रेयिर्न इन्द्राणि, धीरं=मन्द, मलीलम् । विलोकयति=पिएह पश्यति, पिएहद
मिन च पश्यति । चादृशतैश्च=ऋतुसुप्तैः, प्रियवास्पयतैश्च प्राप्यमान
वयः ॥ ४२ ॥

मृत विज्ञान=इलाकीशल, विक्रमः=पराक्रमः, यशः=कीर्तिः, तैः प्रथितं=
सिद्धम्, अमज्यमानम्=अतिरक्षित्यमाणम् । अप्रतिरुतं यथा स्यात्तथा,
भैरवजीव्यते, सदेव नाम=दिल-जीवनं=प्रयस्तजीवनाभिषेयम् । तज्ज्ञाः=
प्राप्ताविदो विद्वांसः । चिराय=चिरम् । वलिं=काकादिभ्यो दीयमानं बलिद्व
त्ते । मानेनैव जीवनं शोभनम्, अन्यथा कान्तुस्य तजीवनमिति भावः ॥ ४३ ॥

री गुणानन्द काता है, और जमीन पर लोड कर अना पेट और मुल दिव-
। है । पान्दु हाथी-अपने भोजन देने वाले के सामने बड़ी गभीरता से देरता
। र खेदों प्रिय मचन बोलने पर ही खाना है । अर्थात् सेरसों में भी खु
। ॥ ४२ ॥

और भी-भो हम संसार में मानी प्राची ज्ञान, पराक्रम और कीर्ति के साथ
। में प्रसिद्ध होकर, क्षय भर के लिये भी जाता है, उसी की विद्वान् लोग
गैना करते हैं, इस तरह तो धीमा भी बहुत दिन तक जीता है, और बलि के
लाना करना है ॥ ४३ ॥

अपरग्रह—

‘यो नाञ्जत्मजे, न च गुरौ, न च भृत्यवर्गे,
 दाते दया न हुत्ते, न च वन्द्यवर्गे ।
 किं तस्य जीमितफलं नु’ मनुष्यलोके,
 राजोऽपि जीवति चिराय, बलिच भुङ्क्ते ॥ ४४

अपरग्रहपि—

‘सहित हित विचारगूण्यनुद्धे,
 ‘श्रुतिममर्पणं ह्युमिस्तिरसृष्टनस्य’ ।
 उदरमस्यमात्रकेनलेच्छोः,
 पुरुषपशोष, पशोष को निरोपः’ ? ॥ ४५ ॥

व हति । आर्माने = पुत्र । ‘दितु तस्य = पुत्रो जीवितस्य एक मिच्छन्वप ।
 न स्मिन्नि वक्ष्यमि’ भाव । ‘जीवितस्यो’ति पाठ-जीवनामकेन पक्षेनेत्येते
 श्लोके ॥ ४४ ॥
 अहिते । निगदि-उत्पि-विचारितो गूण्यस्य । अतिविषयै-आत्मी
 कैर्विषयै = धर्माचारवा-श्रुतिवाणि-बहिष्करणस्य = रक्षिण्य । अतिममर्पणं
 पठे-भुङ्क्ते गुरुवदे इति । ‘मगस्य’ उपपाठ-गारकाश्रुतिममर्पणं
 इत्यत्र । उदरमात्रमात्रकेनलेच्छोः = अने-मममात्रमात्रमात्रस्य । पुरुषपशोषोः
 गणितशोष विनाशम् । न किली इति ॥ ४५ ॥

श्लो ४५-श्री-उद-पुत्र, गुरु, मव (नीच), दाते तथा वपुशो वर द
 नरी कथा है, मनुष्य श्लेष्म म गत को-न मे क्या लाभ है ? । बोधि देते
 कोश में बहुत दिन तक कोश है और बलि के दुबरी को लाया रहना है ॥ ४५ ॥
 श्लो ४६-दितु तस्य गुरुवदे इति, मगस्य, वपुशो वर दितु तस्यो मे मने
 अर्पणं इत्यत्र न मने वदे, पशु मने उदर व मने के अभिष्टानी, पु
 क्र वपु मे श्लो मगस्य वपु मे क्या भेद है ? । अर्पणं वपु मे दत्त मनुष्य मे ।
 वपु मे वद भेद नहीं है, उसी को वपु ही मनेना व दिते ॥ ४५ ॥
 १. ‘श्री-उद-पुत्रे’ति वाच्यम् । २. ‘मगस्य’ इति वाच्यम् । ३. ‘वपुशो वर दिते’

करटक प्रूते—‘आवां तावदप्रधानो, १ तावताऽप्यावयोः किमनया विचारण्या ? १’ दमनको प्रूते—‘धातः ! कियता कालेनाऽमात्याः २ प्रधान-तामप्रधानतां वा ३ लभन्ते । यतः—

‘न कस्यचित्कश्चिदिह स्वभावा—

द्रवत्युदारोऽभिमतः, खलो वा ।

लोके गुरुत्वं, विपरीततां वा,

स्वचेष्टितान्येव नरं नयन्ति’ ॥ ४६ ॥

किस—

‘आरोप्यते शिला शैले यत्नेन महता यथा ।

निपात्यते क्षणेनाऽघस्तथाऽऽत्मा गुण-दोषयोः’ ॥ ४७ ॥

स्वभावाद=प्रकृत्या । उदारः=दाता, महान् वा । ‘उदारो दातृमहतोः’ इत्यमरः । अभिमतः=अनुकूलः । खलः=दुष्टः, प्रतिद्वेषः । गुरुत्वं=महत्त्वम् । विपरीततां=क्षायवच्च । स्वचेष्टितान्येव=स्वकर्माण्येव, नयन्ति=प्रापयन्ति ॥ ४६ ॥ शैले=पर्वते । तथेति=गुणे महता यत्नेनात्मा आरोप्यते, क्षणादेव तु दोषेषु निपातयितुं शक्यते इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

तब करटक बोझा-हम लोग तो इस राज्य के प्रधान हैं नहीं, इसलिये भी हम लोगों को इस विचार से क्या प्रयोजन है । दमनक बोझा-मन्त्री लोग थोड़े ही दिनों में प्रधानता वा अप्रधानता को स्वयं प्राप्त कर लेते हैं ।

क्योंकि—किसी के लिये कोई भी स्वभाव से ही उदार (अच्छा, महान्, यदा) या अधीर (द्वेष), या खल (दुष्ट) नहीं होता है, किन्तु मनुष्य को अपना किया हुआ कर्म ही संसार में छोटा या बड़ा बनाता है ॥ ४६ ॥

और भी—वैसे पर्वत पर कोई शिला बड़ी कठिनाई से चढ़ाई जा सकती है, परन्तु उसे नीचे तो क्षण भर में गिराया जा सकता है, वैसे ही आत्मा भी बड़ी कठिनाई से नीचे तो क्षण भर में गिराया जा सकता है, परन्तु दोषों तो बड़े क्षण भर में बनाया जा सकता है ॥ ४७ ॥

१. तदावयोः पा० । २. ‘अमात्याः’ । ३. ‘लभेता’ ।

‘यात्यघोऽघो, व्रजत्युघैर्नरः स्वैरेव कर्मभिः ।

कूपस्य सनिता यद्वत्प्राकारस्येव कारकः’ ॥ ४८ ॥

सद्गद् ! स्वयन्नाऽऽयत्तो हात्मा सर्वस्य ।’

परदको मूले—अथ भवान्किं प्रवीति ? ।’

दमनक आह—‘अयं तावत्स्यामी पिङ्गलकः पानीयमपीत्या बुद्धौर्ज
‘कारणात्मविकृतः’ परिवृत्योपविष्टः’ । परदको मूले—‘किं तू
जानासि ?’ । दमनको मूले—‘किमत्राऽविदितमस्ति (प्रज्ञायताम्)’ ।
४८४—

‘न यत्राऽस्ति गतिर्यायां, रश्मीनाञ्च विवस्वतः ।

तत्रापि प्रविशत्याद्य बुद्धिर्बुद्धिमतां सदा’ ॥ ४९ ॥

अधोऽधः = अधो नीचे, उच्यते = उक्तं पदम् । कर्मभिः = चेद्वै-
दस्य-कूपस्य नरः स्वैरेव भूमिगतन-कर्मणाऽघोऽघो याति, प्राकारस्य = दुर्ग-
मिधेः—कारकम् उपरुदरि याति ॥ ४८ ॥

सद्गद् = सद्गद् । सद्गद् ! = सद्गद् । स्वयन्नायत्तः = स्वयन्नायत्तः । सचक्रि-
तः । ४९ = सदा । तत्र = तत्रुः । कारकं या । रश्मीनां = क्रियमानान् । विवस्व-
तः ॥ ४९ ॥

मनुष्य—यस्य ही कर्मों में बुद्धी मोरनेवाले की तरह नीचे की ओर व
है, और तरह बनने वाले की तरह ऊपर ही कर्मों से ऊपर की ओर
जाता है ॥ ४८ ॥

दमनके के मूले । मधी का आ मा वरा वा लेश अपने उल्लेख से ही क
है । नर का कर्तव्य-प्रवृत्ति से उक्त क्या कहना चाहते हैं ? । दमनक के
रामो कि, उच्यते (कि) कारण से ही नर वंश किम ही कोः कर चरित होकर
है । प्राकार को—यः प्राकार कर्तुं है—किस्य पुन जानते हो ? । दमनक को
हमें परिचित बना है । वरा मो दे—‘शौ मनुष्य की भी गति नहीं है, और
दूर की किमो भी नहीं बुद्धवली है, वरों की बुद्धिमानों की बुद्धि
नहीं है ॥ ४९ ॥

अपरञ्च—

‘उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते,
हयाश्च, नागाश्च वहन्ति नोदिताः’ ।

अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः,
परंङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः’ ॥ ५० ॥

अपिच—

‘आकारैरिङ्गितैर्गत्या, चेष्टया, भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः’ ॥ ५१ ॥

उदीरितः = बाधया स्पष्टबुद्धः, अर्थः = अर्थिप्रायः । हयाः = अश्वः, नागाः = गवाः, चान्, कृपमादयः । नोदिताः = प्रेरिताः । देहिता इति पाठे—आरता इत्ययः । इति = तर्कयति । पण्डितः = कुशलः । परंङ्गितज्ञानफलाः = परकीयमानस-चेष्टिकाश्चोषणलाः ॥ ५० ॥

आकारैरिति । आकरैः = धूमङ्गादिभिः, सुवरागादिभिश्च यास्यैः । इङ्गितैः = अनुगत-वैराग्याद्यादेशकैर्मात्रैर्मानसैः । चेष्टया = कायभ्यापारेण । नेत्रवक्त्रविकारेण = मुरानेयमुद्रादिभिः ॥ ५१ ॥

हे सौम्य ! अपनी अहमा को बटा या छोटा बनाना तो अपने उद्योग के ही प्रतीन है । करटक बोला—अच्छा तो आप क्या करना चाहते हैं ? दमनक बोला—भारा स्वामी यह निरालक सिद्ध किमी कारण विशेष से ही बिना जल बोये लौटकर फिर होकर (परदाया हुआ) पैदा है । करटक बोला—ऐसा किस कारण से आ, क्या तुम जानते हो ? दमनक बोला—इसमें बुद्धिमानों से अनिश्चित (डर-डर) था क्या है ? बहा भी है—

कहाँ हुई बात को तो पशु भी समझ लेते हैं, और बलाए जाने पर, तथा चिक की आवाज जाने पर तो घोड़े, हाथी आदि पशु भी चलने लगते हैं । गुरु विद्वान् लोग ही बिना कहे हुए भी मन की बातों को समझ लेते हैं, किन्तु दूसरे के मनके भावों को समझना ही बुद्धि का फल है ॥ ५० ॥

और ही आकार, इङ्गित (हृदय के भाव), चाल, चेष्टा, चेष्टनता और श्रौंग तथा ७ के विकार आदि से चित्त(मन)के भीतर की बात जानी जा सकती है ॥ ५१ ॥

१. ‘चेष्टिताः’ रडि, ‘देहिताः’ रनि च पाठः ।

• अमिनपराजलदधीमापाटीकाविराजिते •

तदय मयप्रन्तावे प्रज्ञाथलेनाऽहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि । पर-
'प्रस्तापमदृशं चास्यं, सद्भापसदृशं प्रियम् ।

परदयो प्रते'—'सत्ये ! त्वं सेवाऽनभिज्ञः' । पर्य—
'अनाहतो विशेषस्तु, अपृष्टो बहु भापते ।

'आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य, स दुर्मतिः' ॥ ५२ ॥
दमनरो प्रते—'भद्र ! कथमहं सेवाऽनभिज्ञः' ? । पर्य—
'किमप्यस्मि स्वभावेन सुन्दरं वाऽप्यसुन्दरम् ? ।

यदय रोचते यस्मै, मयेत्तत्तस्य' सुन्दरम्' ॥ ५४ ॥

मयपरगते = मयापगते । गिराय मयमुद्दिश्य । पर = सिद्धम् । का...
परमम् । प्रज्ञाथमदृशम् = अमरनेनान् । सद्भापसदृशम् = प्रशुभानुरूपम् । विष्णु
शोऽनभिमं कर्तुं न, स्वच्छामोदव कोरन्व कर्तुं यो जानाति स एव परिदत्तः ॥ ५२ ॥
विद्वेत् = राजगमा प्रतिद्वि । वो हि आत्मान भूपालस्य प्रीतं मन्यते, स तु
इत्यर्थः ॥ ५३ ॥
स्वभावेन = प्रज्ञाया सुन्दरम्, असुन्दरं वा किमपि यत्तु क्षरिण क्षरि । । क'

प्रज्ञा: इस मय के प्रमत्त को लेकर ही मैं अपनी बुद्धि के बल से स्वामी
को अपनी अधीन बना लूँगा ।
स्वच्छामो—जो यत्तुप्य प्रपन्न के अनुभव पश्चन बेचना जानता है, श्री
शो के अनुभव प्रिय बेचना जानता है, और अपनी शक्ति के प्रयुक्त है
करना जानता है, वही मया परिदत्त है ॥ ५२ ॥

मय परम बेचना—विष्णु । तुम तो मेरा करना जानते नहीं हो ।
देतो—जो यत्तुप्य मया के पग दिना बुझाये जागरे, और जो विना मुझे
बेचना है, और जो अपने इस मया को प्रमत्त मानता है, पर धूर्त है ॥ ५३ ॥
दमनर बेचना—भद्र ! मैं मेरा वा स्वच्छामो के ही हूँ ? । देतो—
कहा बेचना ही यत्तुप्य मया से ही स्वच्छामो या मुझे होनी है, स्वच्छामो

१. 'दरिद्र' । २. 'दमनरा मयद'—'जोने सुन्दरो वे' म दुर्मतिः' वा
३. 'न परदयो' इति, ४. 'अनभिमं सुन्दरम्' इति सुन्दरो वादिते ।

यतः—

‘यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी चिप्रमात्मवशं नयेत्’ ॥ ५५ ॥

अन्यच्च—

‘कोऽत्रे’त्यहमिति ब्रूयात्, सम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितयां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः’ ॥ ५६ ॥

अपरञ्च—

‘अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञञ्चायेवाऽनुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत, स राजवसतौ वसेत्’ ॥ ५७ ॥

-प्रभे । ‘अपिः सम्भावनाप्रभशङ्कागर्हासमुचये’ इति कोशः । तादृश वस्तु किमस्ति
चिदित्यर्थः । नैराऽस्तीति यावत् । ‘न चाऽप्यस्ति’ इति तु गौडाः पठन्ति ॥ ५५ ॥

यस्य यस्य=यस्य यस्य पुंसः, भावः=अभिप्रायः, एवमारथ । मेधावी=
‘दिमान् । अनुप्रविश्य = तन्मनोऽनुकूलाचरणादिभिरात्मनि विश्वासमुत्पाद्य ॥ ५५ ॥

‘कोऽत्रे द्वारि तिष्ठती’ति शब्दं श्रुत्वा ‘श्वहम्-अस्मि’ इति ब्रूयात्,
दिञ्च-सम्यगादेशय=‘आज्ञापय प्रभो’ इति च सम्यग्ब्रूयात् । ‘समादेशये’ति या ।

द्विय प्रभोः-आज्ञाम्-यथाशक्ति श्रेयितयां = सत्याम् । अलखिदताम् । यथाशक्ति
स्वामिन आशामवश्य पालयेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

अल्पेच्छुः=स्वल्पेनैव परितुष्टः । धृतिमान्=धीरः । अनुगतः=अनुगामी ।
आदिष्ट=आहूतः सन् । न विकल्पेत=‘नेदं करिष्यामि’, ‘अथवा करिष्यामी’-

इद्वये जो वस्तु जिसको अच्छी समझे, वही वस्तु उसके लिये मुन्दर है ॥ ५५ ॥

बनोई—जिसका जैसा अभिप्राय हो उसी अभिप्राय में उसके मनके भीतर
प्रेरणा कर के उसको बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही अपने वश में कर लेने ॥ ५५ ॥

श्रीर भी—‘यहाँ कौन है ?’ ऐसा पूछने पर ‘मैं हूँ, महाराज ! आशा
दीजिये’, ऐसा करना चाहिये । श्रीर यथाशक्ति यथा की आज्ञा का अक्षरशः
पहन करना चाहिये ॥ ५६ ॥

श्रीर भी—जो मनुष्य शीघ्र में ही अनुगत हो सकता हो, धीर हो, बुद्धिमान् हो,

तदत्र मयप्रभावे प्रज्ञाथलेनाऽहमेनं स्वामिनमात्मीयं करिष्यामि । पर-
 'प्रस्तापमदृशं वाक्यं, सद्भापसदृशं प्रियम् ।
 'आत्मशक्तिममं कोपं, यो जानाति स पण्डितः' ॥ ५२ ॥
 'अनाहतो रिगेद्यस्तु, अपृष्टो बहु भापते ।
 'आत्मानं मन्यते प्रीतं भूपालस्य, स दुर्मतिः' ॥ ५३ ॥
 'दमनो मते—'मद्र' कथमहं सेवाऽनभिज्ञः' ? । पर-
 'किमप्यग्निं स्वभावेन सुन्दरं वाऽप्यसुन्दरम् ? ।
 यदत्र गेचने यस्मै, मनेत्तत्तस्य सुन्दरम्' ॥ ५४ ॥

अप्यप्रभावे = मयप्रभावे । गिरम्य भयमुदिरस्य । एन = तिरम् ।
 एतद्यम् । प्रगावमदृशम् = अयमरेभियम् । सद्भापसदृश = प्रपुषावुस
 भेदमदृशं कर्तुं न, गच्छाकमोदय कोरन्व कर्तुं यो जानाति स एव पण्डि-
 वितेत् = राजममो प्रतिरेत् । यो हि आत्मानं भूपालस्य प्रीतं मन्यते, स दुर्-
 दस्यः ॥ ५२ ॥
 स्वभावेन = प्रत्या गुणम्, अगुदरं वा किमपि वापु अग्नि अग्निः । अग्नि-

का: इस मय के प्रमत्त को लेकर ही मैं अपनी बुद्धि के बल से अपनी नि-
 को करने अपनी बना लूँगा ।
 अग्नि—ओ प्रपुष अयमर के अगुदर वषण कोचना जानता है, और
 हीर के अगुदर निव कोचना जानता है, और अपनी अग्नि के अगुदर ही
 करना जानता है, परी क्या पण्डित है ॥ ५२ ॥

नव बगवत वेत्त—निव । तुम ही सेवा करना जानने नहीं हो ।
 देतो—ओ प्रपुष राजा के एवम रिता बुझावे जाना है, और जो रिता पू-
 वेक्षण है, और जो अपनी उरर राजा को प्रमत्त समजता है, पर मूर्ख है
 दमन को—मद्र । मैं सेवा का अन्विष्ट कैसे हूँ ? । देतो—
 वन को—ओ प्रपुष नव मे ही अपनी वा बुझी होनी है, अ-

१. 'अग्निः' । २. 'अग्निः मयप्रभावे' । ३. 'अग्निः मयप्रभावे' । ४. 'अग्निः मयप्रभावे' ।

यतः—

‘यस्य यस्य हि यो भावस्तेन तेन हि तं नरम् ।
अनुप्रविश्य मेधावी चिप्रमात्मवशं नयेत्’ ॥ ५५ ॥

अन्यथ—

‘कोऽत्रे’त्यहमिति घ्रयात्, मम्यगादेशयेति च ।
आज्ञामवितयां कुर्याद्यथाशक्ति महीपतेः’ ॥ ५६ ॥

अपरञ्च—

‘अल्पेच्छुर्धृतिमान्प्राज्ञञ्चायेवाऽनुगतः सदा ।
आदिष्टो न विकल्पेत, स राजवसतो वसेत्’ ॥ ५७ ॥

-प्रभे । ‘अरिः सम्भावनाप्रभशङ्कागर्हासमुपये’ इति कोशः । तादृश वस्तु किमस्ति
इतिदित्यर्थः । नैराऽस्तीति यावत् । ‘न चाऽप्यस्ति’ इति तु गौडाः पठन्ति ॥५५॥

यस्य यस्य=यस्य यस्य पुंसः, भावः=अभिप्रायः, स्वभावश्च । मेधावी=
बुद्धिमान् । अनुप्रविश्य = तन्मनोऽनुपूलाचरणादिमिरात्मनि निश्वासमुत्पाद्य ॥ ५५ ॥

‘कोऽत्र द्वारि तिष्ठती’ति राठः शब्दं श्रुत्वा ‘श्वहम्-अस्मि’ इति ब्रूयात्,
द्विज्व-सम्यगादेशय=‘आज्ञापय प्रभो’ इति च सम्यग्ब्रूयात् । ‘समादेशये’ति वा ।
विश्व प्रभोः-आज्ञाम्-यथाशक्ति श्रेवितयां = सत्याम् । अररविद्वताम् । यथाशक्ति
स्वामिन आशामयस्य पालयेदित्यर्थः ॥ ५६ ॥

अल्पेच्छुः=हरूपेनैव परितुष्टः । धृतिमान् = धीरः । अनुगतः=अनुगामी ।
अदिष्ट=आदत्तः सन् । न विकल्पेत=‘नेदं करिष्यामि’, ‘अथवा करिष्यामी’-

इतिद्वये जो वस्तु जिसको अच्छी समझे, वही वस्तु उसके लिये सुन्दर है ॥ ५५ ॥

कोई-जिसका जैसा अभिप्राय हो उसी अभिप्राय से उसके मनके भीतर
प्रवेश कर के उसको बुद्धिमान् मनुष्य शीघ्र ही अपने वश में कर लेने ॥ ५५ ॥

धीर भी—‘यहाँ कौन है ?’ ऐसा पूछने पर ‘मैं हूँ, महाराज । आया
है-इस’, ऐसा करना चाहिये । और यथाशक्ति राजा की आज्ञा का अक्षर-
पठन करना चाहिये ॥ ५६ ॥

धीर भी—जो मनुष्य थोड़े में ही सन्तुष्ट हो सकता हो, धीर हो, बुद्धिमान् हो,

घटको मूत्रे—'कदाचित्त्वामनवसरप्रवेशादवमन्यते' स्वामी' ? ।

३ दमनक आह—'अस्त्येवं, तथाऽप्यनुजीविना स्थामिसान्निध्यमवरं करणीयम्' । यतः—

'दोषभीतिरनारम्भस्तत्कापुरुपलक्षणम् ।

कैरजीर्यमयाद्भ्रातर्भोजनं परिहीयते' ? ॥ ५८ ॥

परय—

'आमन्नमेव नृपतिर्मज्जते मनुष्यं,

त्रिधात्रिहीनमवृलीनमसङ्गतं वा

प्रायेण भूमिपतयः, प्रमदा, लताश्च,

यः पार्श्वतो, ३वमति, तं परिचेष्टयन्ति' ॥५९॥

स्वादि विकार न पुषार, सिन्धु राजाऽऽगतः कार्ये कुषादेव । राजपत्नी = राजपति ॥ ५७ ॥

अवमन्यते = तिरगुर्धनम् । अनुजीविना = भूदेन । क्षीयेति । अनात्म = क्षान्तिनात्म । हे भागः—'त्रयीरोगादिभयार्थैः = मनेः सन्तु भोजन-परिहीयते = परिग्रहणे, न केचि पतियन्ते इति भागः ॥ ५८ ॥

अमन्नं = निरुपतिनम् । अमन्नाम् = अयोग्यम् । प्रमदाः = शिवाः ।

राजा क्षपा की तरह राजा के पीछे २ पत्नीएँ साथ ही, साथ-साथ सवस्त्र-विकार न करना ही, वही मनुष्य साथ के साथ रह कर उसकी सेवा कर सकता है ॥५७॥
एव च ३ वेषः—'तीना वारण ये (वेनीने, त्रिनामुनाए) जानेसे शर्मिंद कदाई एवुं हाथ धनकर ही कर देगा तो पुन क्या करोगे ? । दमनक वेष-देगा ही तो भी नीकर को करने शर्मा के साथ अन्व जाना चाहिए ।

वयोदि—'दोष के भय से काफ़ी का कारण नही करना वह कायरी क हणन है । हे मर्द ! अन्व (न पवने) ये भय से नला कीन भोजन होगे देग है, अर्थात् बर्षे नही होइग है ॥ ५८ ॥

देगो—'मो मनुष्य सज राजा के पंग बना रहग है, नर पादे मूर्त हो अन्व हो, अथवा पुता (अयोग्य) हो, राजा संगे उमंगे ही खादी है । वयोदि

करटक बोले—'अथ तत्र गत्वा किं 'वक्ष्यति भवान् ?' इमनक आह—
शृणु, 'किमनुरक्तो, विरक्तो वा मयि स्वामी'ति ज्ञास्यामि^२ तावत् ।

करटक बोले—'किं तज्ज्ञानलक्षणम् ?' इमनको वृत्ते—शृणु—

'दूरादवेक्षणं, हासः, संप्रश्नेष्व्वादरो भृशम् ।

परोक्षेऽपि गुणश्लाघा, स्मरणं प्रियवस्तुषु' ॥ ६० ॥

'असेवके चाऽनुरक्तिर्दानं सप्रियभाषणम् ।

'सुरक्तेश्वरचिह्नानि, दोषेऽपि गुणसङ्ग्रहः' ॥ ६१ ॥

अन्यथा—

'कालयापनमाशानां वर्द्धनं, फलस्वरण्डनम् ।

विरक्तेश्वरचिह्नानि जानीयान्मतिमान्नरः' ॥ ६२ ॥

पारवतः = निकटे । परिवेष्यन्ति = आश्लिष्यन्ति, भजन्ते, अनुगच्छन्ति च ॥ ५६ ॥

असेवकं = छोटादयकोकनम् । हासः = हँसनादिसादिकं प्रसन्नतायाः सूचकम् ।
संप्रनेषु = परस्परकथामु च । (जान चीन में) । प्रियवस्तुषु = प्रीतिदायेषु,
होसरे च ॥ ६० ॥ अनुरक्तिः = अनुतापः । अनुरक्तस्य = प्रसन्नस्य ईश्वरस्य
रामादेः ॥ ६१ ॥

कालयापनं = समययापनम् । 'अथ ददामि' 'श्रो दाताऽस्मि' 'परक्षो दास्यामि'—
इत्यादीनीत्या दाने, पारितोषिकादी च कालयापनं, न नु कार्यकरणम् । आशानां

भाषः रामा, स्त्री, श्रीर लना, ये सब अपने पास रहने वाले के साथ ही सम्बन्ध
स्थापित करते हैं, श्रीर उनसे ही प्रसन्न रहते हैं ॥ ५६ ॥

करटक बोला—अच्छा, यहाँ जाकर आप क्या कहेंगे ? इमनक बोला—मुनो,
परिले तो मैं यह जानूँगा कि स्वामी मेरे ऊपर अनुरक्त है, या विरक्त है । करटक
बोला—रसके जानने के क्या लक्षण हैं ? इमनक बोला, मुनो—

दूर ही से देखना, हँसना, मुसल आदि पूढ़ने में आदर करना, परोक्ष में भी
उपदे गुणों की प्रशंसा करना, प्रियपदार्थों के अस्तर में उसका स्मरण करना ॥ ६० ॥

श्रीर-छेरा न करने पर भी प्रेम रखना, देना, प्रिय वचन बोलना, दोषों में
भी गुणों का ही संग्रह (ग्रहण) करना,—ये सब अनुरक्त स्वामी के चिह्न हैं ॥ ६१ ॥

श्रीर-समय विज्ञाना, अर्थात् दान पारितोषिक आदि देने में टाल टूट करना,

१. 'वक्ष्यति' । २. 'ज्ञास्यति तावत्' । ३. 'असेवकेऽनुरक्तिश्च, दानं प्रीति-
निर्दानम्' । ४. 'अनुरक्तस्य चिह्नानि' ।

एतज्ज्ञात्वा यथा चाऽयं ममाऽऽयत्तो भविष्यति, 'तथा वदित्वा
यतः—

‘अपायसंदर्शनजां विपत्ति-

मुपायसंदर्शनजां च सिद्धिम् ।

मेघामिनो नीति-विधि-’प्रयुक्तां

पुरः स्फुरन्तीमिव दर्शयन्ति’ ॥ ६३ ॥

वदन्तम् = ‘इत्थं दास्यामि’ ‘इदं दास्यामी’ त्वादिरीत्या वृथेनाऽऽद्यात्
तत्परजनं च । एतज्ज्ञात्वा = ज्ञानस्य ज्ञानिः, अदानम् । सत्यवसरेऽनादौ
ईश्वरः = स्वामी ॥ ६२ ॥

कार्यं = सिद्धिः । अयत्तः = अचीनः । अयावः = कार्यविनाशः, तस्य सन्ध
सम्पादना, शान्ति, तेन तर्हि—विपत्ति = कार्यविनाशादिविपदम् । हानि
व्याप्या = कार्यविपदनुभावो, विपत्प्रतीकारश्च । सिद्धि = कार्यसिद्धिम् । नीतिवि
प्रयुक्ता = नीतिप्रत्ययवाञ्छोचनमप्यादिताम् । पुरः स्फुरन्तीमिव = अग्रे साद्य
भाषमानामिव,—आदानेषु-दर्शयन्ति = निर्दिशन्ति । ‘नीतिविदः प्रयुक्तां’
पाठे-प्रयुक्ता = राजनीतिविदुक्तिनिर्दिशनामित्यर्थः ॥ ६३ ॥

आशा का बहाना और पक्ष का लक्षण करना, ये विरक्त स्वामी के लक्षण
इनकी बुद्धिमान् मनुष्य अच्छी तरह समझ लें ॥ ६२ ॥

मि भी-यद् तव समझ कर जैसे वद मेरे वच में होगा वैसा ही मैं बहूंगा ।

बोधि-बुद्धिमान् लोग नीतिशास्त्र के अनुगार हैं अपाय=पुटि, वं
मनमेरु आदि से आई हुई त्वात्ति (पुटई) को, और उपाय=दौड़ से कार्य व
से आई हुई भिदि को समझे अच्छीकी हुई सी पहिले ही से दिगला देते हैं । इन
मन (दुन गज्जर, मनका) के अनुगार कार्य नहीं होने से, या नहीं करने
होने कागे हानि और निरतिषो को, और मनका के अनुगार कार्य करने
होने वाले वक्तो को, बुद्धिमान् कुशल राजनीति संतान्तर पहिले से ही लख व
दो हैं । अर्थात् हानि और लाभ का विन सा लीनकर पहिले से ही सा
अभिप्राय कर देते हैं ॥ ६३ ॥

१. ‘दर्शयन्ति’ ‘उपा वदित्वा’ पा० । २. ‘नीतिविदः प्रयुक्तां’ पा०

[अपख्य-‘दोषा’ गुणा, गुणा दोषा, दोषा दोषा, गुणा गुणाः ।

रक्ते, विरक्ते, मध्यस्थे स्वामिनि त्रिविधा गुणाः] ॥

करटक बोले—‘तथाऽप्यप्राप्ते प्रस्तावे न वक्तुमर्हसि’ । यतः—

‘अप्राप्तकालं वचनं बृहस्पतिरपि ब्रुवन् ।

प्राप्तुयाद्बुद्धयवज्ञानमपमानं च शाश्वतम्’ ॥ ६४ ॥

दमनको बोले—‘मित्र ! मा भेषीः, नाऽहमप्राप्ताऽवसरं वचनं
वदिष्यामि । यतः—

‘आपद्युन्मार्गगमने, कार्यकालाऽत्ययेषु च ।

अपृष्टेनाऽपि वक्तव्यं मृत्येन हितमिच्छता’ ॥ ६५ ॥

यदि च प्राप्ताऽवसरेषापि मया मन्त्रो न वक्तव्यस्तदा मन्त्रित्यमेव
समाऽनुपपन्नम् । यतः—

‘कल्पयति येन वृत्तिः, येन च लोके प्रशस्यते सद्भिः ।

स गुणस्तेन च गुणिना रक्ष्यः, संवर्द्धनीयश्च’ ॥ ६६ ॥

प्रस्तावे = अवसरे । बुद्धयवज्ञानं = ‘नाय बुदिमान्, किन्तु मूर्ख’ इत्यपमानम् ।

अपमानं = तिरस्कारम् । शाश्वतम् = अनिवर्तनीयम् ॥ ६४ ॥

व्यमार्गगमने = कुपयगमने । कार्यकालस्य धोऽवयवः = उल्लङ्घनम्, तेषु ॥ ६५ ॥

येन-गुणेन । वृत्तिः = व्यवसायम् । वृत्तं = मुचरितं वा । कल्पयति = संवादयति ।

करटक बोला—‘तो भी बिना अवसर के तुमको बोलना नहीं चाहिए ।

क्योंकि—बृहस्पति भी बिना अवसर के बोलने पर अपनी बुद्धि की अवस्था
(तिरस्कार) करता है, तथा सदा के लिए वह अनादित ही हो जाता है ॥ ६४ ॥

तब दमनक बोला—‘मित्र ! तुम डरो मत, मैं बिना अवसर की बात कभी
नहीं कहूँगा । क्योंकि—विपत्ति में, स्वामी के भुरे रास्ते पर चलने के समय, कार्य
की शानि होने की संभावना के समय, स्वामी का हित चाहने वाले नीकर को बिना
बोले भी अवसर स्वामी के हित की बात कहनी चाहिए ॥ ६५ ॥

और यदि अवसर पाकर भी मैं मन्त्र (अर्थात् स्लाह) न कहूँ तो फिर मेरा
फन्दी होना ही अनुचित और व्यर्थ है । क्योंकि—जिस गुण से अपनी जीविका
पटती हो, और संसार में जिस गुण से मनुष्य प्रशंसित होता हो, वही सदा गुण

तद्वद ! अनुजानीहि माम्, 'पिङ्गलक्ष्मणीमहं गच्छामि ।' फरटको मूते—'शुभमस्तु, शिवास्ते पन्थानः, 'यथाऽभिलषितमनुष्ठीयताम्' ['इति] ।

'गम्यतामर्थलामाय, क्षेमाय, विजयाय च ।

शुभुपचरिनाशाय, पुनरागमनाय च' ॥ ६७ ॥

ततो दमनको विस्मित इय पिङ्गलक्ष्मणीपं गतः ।

अथ दूरादेव राज्ञा दृष्टः, साऽऽदरं मवेशितम्वं साष्टागं प्रतिपत्यो-
पपिष्टः । राजाऽऽह—'चिराद् दृष्टोऽसि' ? । दमनको मूते—'यद्यपि मया
सौख्येन भीमदेवपादानां न किञ्चित्प्रयोजनमस्ति, तथापि प्राप्तकाले-
ज्जुर्जात्रिना मानिष्यमपरयं कर्त्तव्यमित्यागतोऽस्मि' । विश्व—^३

स=३५५ । शुभ=शुभदशावयः । मगुणो=गुणिनारक्षणीयो, गर्दनीपभेत्तव्यः ॥११

अनुवर्त्तान्ति=गमनाऽनुगं देदि । विस्मित इव=आश्चर्यित इव । भीउ ह
या । भ'मदेवपादानो=भीमो मन्तराजनाम् । भराजम् । प्राप्तकाले=यद्य
कालम् । अकल्पयामम् । इति=इति विनयः ।

हे, गु । मनुष्य को कहिये कि उस गुण को मन्तराजा परे छोड़ उसे छोड़ना
दे ॥ ६९ ॥

दमनको हे माई ! तुम मुझे जाने ली प्राण हो, मैं अब यहाँ जाता
कराहूँ मैंना—आपका फलना हो । आपका मार्ग शुभमद हो, छोड़ क
अपना मनोउ गिद विनिय ।

छोड़ आप भयमान, क्षेम, सुख, विजय, श्रुत्य या विनाश छोड़ ।
मनुष्य कागमन के द्विपे प्रथान की ग्य ॥ ६७ ॥

इसके बाद दमनक पुत्र जिना (अर्धविनय) का होकर विद्वत्ता
पग गया ।

एव दूर ही से राजा ने उसे देखा और आदरपूर्वक उसे पीर पुत्र
एव दूर भी उसे मन्तराज मन्तराज करके उस (मिह) के फल ही देउ मन्तरा ।
उह कोरा—तुम बहुत दिन पर देव परे, क्या क्या दे ? ।

एव दमनक को म वि—दमन मेरी मेषा ली तो भीमन् को कु
कागमन नहीं दे, तथापि मन्तरा पर नीकर को मन्तरा के फल परद
ध'रि, इति विने आश आश हूँ ।

‘दन्तस्य निर्घर्षणकेन राजन् !

कर्णस्य कण्डूयनकेन चाऽपि ।

तुर्येण कार्यं भवतीश्वराणां,

किमङ्ग ! चाकूपाणिमता नरेण’ ॥ ६८ ॥

यद्यपि चिरेणाऽवधीरितस्य देवपादेर्मे बुद्धिनाशः शङ्कयते, तदपि न शङ्कनीयम् । यतः—

‘कदर्थितस्याऽपि च धैर्यवृत्ते-

बुद्धेरिनाशो न हि शङ्कनीयः ।

अघःकृतस्याऽपि तनूनपातो

नाऽघः शिरसा याति कदाचिदेव’ ॥ ६९ ॥

निर्घर्षण = कण्डूयन, तेन । अल्पायं, स्वार्थे वा कः । कर्णस्य = श्रोत्रस्य । तुर्येण = तुर्येणापि । ईश्वराणां = राजादीनाम् । अङ्गेति सम्बोधने । हे राजन् ! चाकूपाणिमता = शत्रुशक्तिक्षयत्रेण, नानाविधहस्तपादाद्यङ्गयता च, नरेण कार्यं भवतीति तु किं यत्कथम् ? । तेन सेवकेन कदाचित्कार्यं मन्येवेत्यर्थः ॥ ६८ ॥

देवपादैः = भवद्भिः । चिरेण = नदीः कालात् । अवधीरितस्य = अस्मत्कृतस्य, अनादृतस्य मम ॥ कदर्थितस्य = निरमृतस्य । धैर्यवृत्तेः = धीरस्य । तनूनपातः =

घोर भी—हे राजन् ! दौन तोड़ने के लिए और कान तोड़ने के लिए गूण से भी पत्ता महापत्ता और बड़े लोगों को काम पढ़ता है, निर शरीर, बाणी, हाथ, और भी जाने मनुष्य की तो जान ही क्या है ? । अर्थात् मनुष्य से तो मनुष्य को कम कभी न कभी तो पढ़ता ही है ॥ ६८ ॥

और यदि बहुत दिनों से आपके यहाँ से विरहवृत्त होने के कारण मेरी बुद्धि मिनाश का तन्देह प्राप्त करते ही तो, वह भी ठीक नहीं है ।

क्योंकि—जदि धीर मनुष्य का अनादर भी हो, तो भी उसकी बुद्धि के नाश की उम्मीद नहीं करनी चाहिए । क्योंकि अग्नि को नीचे की ओर करने पर भी

१. ‘यद्यपि देवपादैश्चिरेण अवधीरितस्य मे’ पा० । २. कचिन् । ।

‘देव ! तत्सर्वथा विशेषज्ञेन स्वामिना भवितव्यम्’ । यतः—

‘मणिलुठति पादेषु, काचः शिरसि धार्यते ।

‘यथैवाऽऽस्ते तथैवाऽऽस्तां, काचः काचो, मणिर्मणिः’ ॥७० ॥

अन्यथ—

‘निर्विदोषो यदा राजा समं सर्वेषु वर्चते ।

तदोद्यममयानामुत्साहः परिहीयते ॥ ७१ ॥

पद्ये ॥ ६६ ॥

विशेषज्ञेन=सोऽङ्गुलगतम्यज्ञेन । स्वामिना=राजा । यदि—मणिः=हीरकादिमणिः, कर्णेषु लुठति=रानि, पादेषु । काचश्च—शिरसि धार्यते—अभिरेदिना केनापि । तथाहि—यथैवास्ते=यथा येन प्रकारेण निद्रु मणिः, काचो मा, तथा निद्रु नाम, तथाहि—काचः काच एव, मणिर्मणिरपि, न तेन एव गुणानिर्दिष्टं पर्यः ॥ ७० ॥

निर्विदोषः=गुणरहितमप्यभिष्टः, गुणिनि, गुणरिक्ते च गुणवाह्यः सर्वेषु=ठणमपमेतु । वर्चते=एवहरती, भवति च । उद्यमसमर्पणम्=उद्योगशीलताम् । विदोषणे=नष्टयति । ‘परिहृतो’ इति पाठेऽपि च द्रव्यार्थः ॥७१॥

उत्सवो दिवा (राजा)भीने की हीर कदाचि नहीं पाती है । किन्तु अग्नि च दिवा (राजा) मदा ऊपर को हो जाती है ॥ ६६ ॥

दे राजन् । इन्द्रदेवै राजा की सर्वथा (सब तरह से) विवेकी (विचारवान्) होना चाहिये ।

कर्णेषु—मणि मणि को पैर के नीचे रख कर दुबसाया जाता हो, हीर काँच को शिर पर धारण किया जाता हो, तो भी कर्ण कर्च ही है, हीर मणि—मणि ही है । अर्थात् इस तरह व्यवहार करने से भी मणि का कुपन ही विपद्दा है ॥७०॥

और भी—जब राजा उद्यमत्व रूप से श्रेय हीर अश्रेय सभी भूत्यों पर हो तरह व्यवहार है, जब तदोद्यो हीर काचं करने से वदु तथा मयर्ष पुत्र (मन्त्री) का उद्यम चन हो जाता है ॥ ७१ ॥

१. ‘निर्विदोषो राजा समं सर्वेषु वर्चते’ इति पाठमन्तम् ।

२. ‘परिहृतो’ ।

किञ्च—

‘त्रिविधाः पुरुषाः राजन्नुत्तमाऽधममध्यमाः ।
नियोजयेत्तथैवेतांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु’ ॥ ७२ ॥

यतः—

‘स्थान एव नियोज्यन्ते भृत्याश्चाऽऽमरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे, नूपुरो’ न च मूर्द्धनि’ ॥ ७३ ॥

अपि च—

‘कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितो
यदि मणिस्रपुणि प्रणिधीयते ।
न स विरौति, न चापि न शोभते,
भवति योजयितुर्वचनीयता’ ॥ ७४ ॥

पुतान् = उत्तमाधममध्यमान् । त्रिविधेषु = उत्तमाधममध्यमेषु कार्येषु ॥ ७२ ॥
स्थाने = उचिते स्थाने, योग्येषु कार्येषु च । चूडामणिः = शिरोभूषणम् ।
नूपुरं = पादभूषणविशेषः । (‘वैजनी, पाजेव’) । ‘नूपुरे न च मूर्धनि’ इति पाठेन
‘प्रियते’ इति योजना ॥ ७३ ॥

कनकभूषणसङ्ग्रहणोचितः = कर्णोऽऽमरणस्थानयोग्यः । अणुणि = रत्ने ।
‘अणु सीमक-रत्नयोः’ इति मेदिनी । मणिस्रधीयते = स्थाप्यते । विरौति = न शब्दायते,

और हे राजन् ! उत्तम मध्यम और अधम भेद से पुरुष भी तीन प्रकार के होते हैं । इन तीनों को बैठे ही तीन प्रकार के उत्तम, मध्यम, अधम कानों में ही लगाना चाहिए ॥ ७२ ॥

और भूषण (नौकर) और आभूषण करने २ योग्य स्थानों पर ही लगाने चाहते हैं । क्योंकि चूडामणि कभी पैर में नहीं पहिना जाता है, और पावजेव कभी शिर पर नहीं धारण किया जाता है ॥ ७३ ॥

और भी—गुरु के गदनों में लगाने के योग्य भेद मणि को यदि शीशे (काच)

१. ‘नूपु’ शिरसा कृतम् । २. ‘नचाऽनि नियोजते’ पा० ।

अन्यथ—

‘मृष्टे रोषितः काचथरणाञ्जमरणे मणिः ।

न हि दोषो मयोरस्ति, किन्तु साधोरविद्युत्’ ॥ ७५ ॥

परम—

‘वृद्धिमाननुरक्तोऽप्यमयं शूर, इतो मयम्’ ।

इति मृत्यविचारज्ञो मृत्यैरापूर्यते नृपः’ ॥ ७६ ॥

एषा हि—

‘अथः, शत्रुं, शत्रुं, वीर्या, वाणी, नरथ, नारी च ।

पुष्टाविरोधं प्राप्य हि, मान्ति योग्या, अपयोग्याथ’ ॥७७॥

(विज्ञान नदी है) । न शोभते इति न किन्तु शोभते एषेः पर्यः । ‘न च स्थितोऽपि’ इति संविद्यते । वचनोपवा = निश्च ॥ ७४ ॥

वाप्याभावे = वास्तुतये । मणिः—प्रतिरोषित इत्यर्थः । साधो=साधर निर्मांडः । (मायु=‘मृष्ट’ ‘मृष्टकार’) । अविद्युत् = गुणानभिद्युत् ॥ ७५ ॥

पुष्टाविरोध = दोषमन्नेषं, गुणनारनम्बुद्धम् । अर्थात्—एते हि योग्यहृन्निष दोष्या भवन्ति, अयोग्यहृन्निषाथ अयोग्या भवन्ति ॥ ७७ ॥

ये एषा विद्या जाय ते भी वर मणि न कुण्ड वदना है, और न उषारी शोभा ही व होगी है, किन्तु उगे जाय में उद्गो कथे भी ही इममें निश्च होगी है ॥ ७४ ॥

एष भी—यदि कुण्ड में जीव लगाया जाय और वीर के महानों में न लगायें उद लो इममें मणि का लो कुण्ड वीर नही है, किन्तु लगाये गले उद्गव भी ही इममें उद्गव व भूव निश्च होगी है ॥ ७५ ॥

एष भी विद्ये—‘वर वृद्धिमान है’, ‘वर हमारा (मद्र) अनुरक्त है’, ‘इह वीर है’ ‘इममें मणि वर है’, ‘देखा तोरको के तिरव में दूरा २ विचार का कदा कदा कदा लोचनी में परिपूर्ण रहण है ॥ ७६ ॥

एष मं—अथ, एत, एत, वीर, वाणी, पुष्टा और म्—ये म् ७७ ७७ विधि (वीर, अथ) के कदा वीर और अथ म् ७७ ७७ ॥ ७७ ॥

१. ‘न च मृष्टा किंच भवति’ ।

अन्यथा—

‘किं भक्तेनाऽसमर्थेन, किं शक्तेनाऽपकारिणा ? ।

भक्तं, शक्तं च मां राजन्नाऽवज्ञातुं त्वमर्हसि’ ॥ ७८ ॥

यतः—

‘अवज्ञानाद्वाज्ञो भवति मतिहीनः परिजन—

स्ततस्तत्प्राधान्याद्भवति न समीपे युधजनः ।

युधैस्त्यक्ते राज्ये न हि भवति नीतिर्गुणवती,

विपन्नार्था नीतौ, सकलमवशां सीदति जगत्’ ॥ ७९ ॥

भक्तेन = अनुरक्तेनापि । असमर्थेन = शक्तिविरहलेन । किं = किफलम् ? ॥ ७८ ॥
 राज्ञोऽवज्ञानात् = राजकृतातिरिक्तकारणात् । परिजनः = सेवकसमूहः । मतिहीनः
 = मूर्खः । भवति = जायते । सत्प्राधान्यात् = मूर्खपरिजनप्राधान्यात् । युधजनः
 = विद्रोही सैन्यः । समीपे = राजसमीप्ये । जदानी-वधः । नीतिः = राजनीतिः,
 नीतिः । गुणवती = उत्कृष्टा । विपन्नार्था = विपन्नार्थानाम् । अवशा = अवनत्यम् ।
 सीदति = विनश्यति ॥ ७९ ॥

श्रीर भी—यदि नौकर भक्त हो परन्तु शक्ति हीन हो, कार्य करने में असमर्थ
 हो, तो उसके रहने से भी क्या लाभ है । श्रीर भृत्य समर्थ होकर भी यदि अपकारी
 हो तो भी उसके क्या लाभ है ? परन्तु दे राजन् ! मैं तो आरक्षक भक्त श्रीर
 कार्य करने में समर्थ (शक्त) दोनों हूँ, इसलिये आप मेरा अन्याय न करें ॥ ७८ ॥

कथं हि—राजा के अन्याय करने से नौकर बुद्धिहीन श्रीर मूर्ख हो जाते हैं,
 श्रीर मूर्ख भृत्यों को प्रधानता देकर विद्वान् लोग उस राजा के पास नहीं आते
 हैं । श्रीर विद्वत राज्य को विद्वान् लोग छोड़ देते हैं, यहाँ की राजनीति कभी
 सज्ज नहीं होती है । श्रीर राजनीति के अवनत्य होने पर सकल संसार प्रयात्-
 सनी प्रया उच्छ्रित श्रीर अवनत्य होकर अन्त में नष्ट हो जाती है ॥ ७९ ॥

नपरं च देव !—

‘जतं जानपदा’ नित्यमर्चयन्ति नृपाञ्चितम् ।
 नृपेणाज्यमतो यस्तु स सर्वैस्त्वमन्यते ॥ ८० ॥

किं च—

‘पालाद्रपि ग्रहीतव्यं युक्तमुक्तं मनीषिभिः ।
 रवेरसिपये किं न प्रदीपस्य प्रकाशनम्’ ? ॥ ८१ ॥

पिण्डतकोऽवदन्—‘अत्र दमनक ! किमेतत् ? । त्वमस्मदीयप्रधाना ।
 जमान्यपुत्रं सुधीरियन्तं कालं यायल्लुतोऽपि रजलयाक्याभ्राऽऽगतोऽपि
 इदानीं यथाऽभिमतं प्रदि ।’
 दमनको मन्ते—‘देव ! पृच्छामि किञ्चिन्, उच्यताम्,—‘उदकार्या इव
 पानीयमपीत्या, किमिति त्रिभिरित् इत्याऽयतिष्ठने !’—पिण्डतकोऽवदन्—

— नूनचितं = शशसङ्घम् । जानपदा = देशवासिनः । पाठान्तरे—जनपदाः =
 देशाः, देशगणि इति वाच्यम् । अथमत्तः = निरहन्तः ॥ ८० ॥
 अन्विते = अत्रिप्रकाराऽनिये, मयी । प्रदीपस्य-प्रकाशनम् = उदीपनं किं न
 मनी । अत्रियु मव दोषाः ॥ ८१ ॥
 अत्रासिपुत्र)आक्या = पुत्रकाक्या । यथाभिमतं = यथेच्छम् । उदकार्या = विनाशिनो
 जहाया । विनाश इव = अहि इव । व्याकुल इव । अत्र = युक्तम् (हीन कर्तुं)

घोर भी दे देव !—नाम से उहूँ घोर घोर पूथिन मनुष्य को ही रात्र के ह
 भी मग आदर करो है और उमे पूजो है । और यथा जिगडा घनादर व
 है, उगवा मभी सेग घनादर करते रहती है ॥ ८० ॥
 घोर भी—अरक भी बरी हुई भी का यदि योग्य हो, तो वह विद्वानों का
 मन्त्री अन्वित । देवदे—गुरु के न रहने पर क्या दोष से प्रकाश नहीं होत
 है । प्रदीप से ही है ॥ ८१ ॥

तत्र वर निरुवक वेदा—अत्र दमनक । वर का वर रहे दो । दमनको
 अथम मन्त्री के पुत्र से वर भी किमी दुर्जन के वर-देने से होने दिनों तक नहीं जा
 दे । अथ जो तुम्हें वरना ही करो । दमनक वेदा—दे देव ! मैं करने मुझ दूत
 है, अन्वित आर मनी ही को कसुम मनी के मर पर मर दे, पाण्डु बल
 १. ‘अनन्त’ व० । २. ‘अनन्त’ प्रवचन’ व० । ३. ‘अन्वित’ व० ।

मुक्तं त्वया, किन्त्वेतद्रहस्यं वक्तुमस्माकं काचिद्विश्वासभूमिर्नारित,
 'तथापि निभृतं कृत्वा कथयामि । शृणु-सम्प्रति वनमिदमपूर्वसत्त्वाऽधि-
 ष्ठितमतोऽस्माकं त्याज्यम् । अनेन हेतुना विस्मितोऽस्मि । तथा च श्रुतो
 मयेत्त्वयाऽपि महान्मयः शब्दः । 'शब्दाऽनुरूपेणाऽस्य प्राणिनो महता
 श्लेन भवितव्यम् ।'

'हमनको व्रते—'देव ! अस्ति तावदयं महान्मयहेतुः । स शब्दो-
 त्रमाभिरप्याकर्णितः । किन्तु स किमन्त्री यः प्रथमं भूमित्यागं, पश्चाद्युद्धं
 योपदिशति । अपरश्च-देव ! अस्मिन्नेव कार्यसन्देहे श्रुत्यानामुपयोगो
 जातव्यः । यतः—

विश्वासभूमिः=विश्वासपात्र जनः । निभृतं=गुप्तम् । अपूर्वसत्त्वाधिष्ठितम्=
 अदुर्लभाऽधिष्ठितम् । महान्=बलवान्, उच्यते । शब्दानुरूपेण = शब्दतुल्येन ।
 प्राकृतितः=भूतः । किमन्त्री = अयोग्यो, निन्दितश्च मन्त्री । कार्यसन्देहे=

यना ही श्राप घबडा कर चापम बरो छोट यावे ? शीर उदास तथा चिन्तित
 कर क्यों बैठे है ! तब विज्ञलक बोला-तुमने अच्छा पृत्रा, परन्तु इस रहस्य के
 होने के कारण क्यों विश्वासपात्र नहीं हो । तो मी मैं एकान्त में तुमसे कहता हूँ,
 नो,—इस समय इस वन में किसी अपूर्व प्राणी ने श्राप अभिचार जमा लिया है,
 सचिय मैं इस वन को छोड़ देना चाहता हूँ । इसी लिए मैं घबडाया हुआ हूँ ।
 तैर तुमने भी यह अपूर्व शब्द सुना ही होगा । शब्द के अनुसार ही उस जीव
 त बल भी अरुण ही अधिक होगा ।

तब यह हमनक बोला—हाँ महाराज ! यह बात तो जरूर बहुत बड़े भय की
 है । यह शब्द तो मैंने भी सुना है । परन्तु यह मन्त्री अच्छा शीर योग्य नहीं है,
 जो अपने राजा को देश छोड़ने के लिये बड़े शीर पोट्टे लडाई छडने के लिये
 नदेख देवे । ऐसे २ कठिन बायों के उपस्थित होने पर क्या कर्तव्य है—उन कार्य
 शीर (कठिन समस्या) के समय ही तो नौकरों का उपयोग शीर योग्यता
 की जाती है ।

१ 'किन्तु तथापिः, अतश्च शृणु कथयामि' । २ 'शब्दानुरूपेण च तस्य
 प्राणिनो महताऽपि मुहता भवितव्यम्' । ३ 'मन्त्राऽप्यापि भूमिरित्यागं, मुदो-
 योपदिशति'—इति ॥ शोभनं पाठान्तरम् ।

'पन्थु-स्त्री-भृत्यवर्गस्य, बुद्धेः, सत्त्वस्य चाऽऽत्मनः ।

श्रापन्निरूपपापाये नरो जानाति सारताम्' ॥ ८२ ॥

सिद्धो मृते—'भद्र' महती शक्ता मां धाधते । दमनकः 'पुनरु-
त्पगतम्—'अन्यथा राज्यमुग्र परित्यज्य, स्थानान्तरं गन्तुं कथं *
सम्भाषसे ? ।' प्रकाश मृते—देव ! यावद्दृष्टं जीवामि तावत्सर्वं *
यत्संन्यम् । किन्तु परतकादयोऽप्याश्वास्यन्तां, 'यस्माद्वापत्प्रतीकारानं
दुर्लभः पुरुषसमवाय ।'

नारदी दमनक-करटकी राजा 'भयंरवेनाऽपि पूजितो, भयप्रदीक
प्रतिष्ठापय चान्तिनी । करटकी गच्छन्दमनरमाह—'सग्रे ! किं शक्यं
विनाशये । सिद्धोऽप्यमशनी' इति मन्देश्वरसरे एव । सारताम्=धैर्यशील
गाम्भीर्यं च । श्रावदेव निष्कयवाण्यभयेति शिष्यः । विरतिनिष्कयेति
(विरतिरुच्यते कर्मोपरि) । सारताम्=महत्तम् । (सघर्ष) ॥ ८२ ॥

स्वगतम्=अन्तगतम् । (मनही मन) । गन्तुं=गाम्भीर्यमिति । प्रकृत्यं
सारताम्=महत्तम् । (जोर से) । यस्मात्=यः । (करटकी) । श्रावदेवोकारकाह=विरतिरा
ऽगरे । पुरुषसमवायः=संग-नृयादि-जनसमुदायः । राजा=गृह्यति
भयंरवेण=विदुः के भयनेन । चान्तिनाम्='भयमरणेष्वार' इति प्रतिष्ठा क

क्यादि—मनुष्य अरण्य वपुः, ग्वा, नील, अथवा मुदि और ब्रह्म का
(लव, लव दे) आर्वात कर कर्मोपरि पर ही जानता है ॥ ८२ ॥

गिह के आ-भद्र ! दुःख को हम समय वपुः अथिक भय लव रहा है ।
दरने मन ही मा के आ—'नहीं तो मुग राजा का मुग छोड़कर दूधरी जग
की कनी करे । विर जोर से हमे मुनापर के आ—महाराज ! जब तक मैं
हूँ, तक तक प्रकाश हरिदे मा । किन्तु कर्मक अदि को भी भये (लव
देकर प्रकाश करना न हिदे । और ऊँदे भी करने परमे पूरा २ कर सेना च
बनेक लवर्ण के आ करने के मा'र केग पुनते (मृषो) का लव
किया है । हमके कः शक्ता ((३) नेग (वपुः चन) देकर दमनक और
का पूरा २ सं-नृयादि और वे सेनी रूप को दूर करने की प्रतिष्ठा कर

प्रतीकारोऽयं भयहेतुरशक्यप्रतीकारो वेति न ज्ञात्वा, भयोपशमं प्रतिज्ञाय,
कथमयं महाप्रमादो गृहीतः?, । यतोऽनुपकुर्वाणो न कस्याऽप्युपायनं
गृहीयाद्विगेषतो राज्ञः । पश्य—

‘यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते, विजयश्च पराक्रमे ।

मृत्युश्च वसति क्रोधे, सर्वतेजोमयो हि मः’ ॥ ८३ ॥

तथा हि—

‘वालोऽपि नाऽऽमन्तव्यो ‘मनुष्य’ इति भूमिपः ।

महती देवता क्षेपा नररूपेण तिष्ठति’ ॥ ८४ ॥

भयहेतुः = भयकारणम् । शक्यप्रतीकारः = दूरास्तुं शक्य । अशक्यप्रतीकारः =
अभयहेतुप्रशक्यः । भयोपशमं प्रतिज्ञाय = ‘भय दूरीकरिष्यामीनि’ प्रतिज्ञाय । महा-
प्रसादः = राज्ञःसत् पारितोषिकम् । उपायन = पारितोषिकम् । राज उपायन तु सर्वथा
न गृहीयादित्यन्वयः ।

यस्य = राज्ञः । प्रसादे = प्रसन्नतायाम् । पद्मा = लक्ष्मीः । विजयः = जयः,
कृष्योऽनुनयः । ‘मरुदेवमयः’ इति पठन्ति केचित् । ‘सर्वतेजोमय’ इति पाठे
विशिष्टतेन पुत्रमयः ॥ ८३ ॥

मनुष्य इति = मनुष्योऽयमिति मया । नाऽऽमन्तव्यः = न निरन्तर्यः ।
नररूपेण = मनुष्यरूपेण ॥ ८४ ॥

पदे । तब करटक जात २ दमनक से बोला—ह मित्र ! इस भय के कारण का
रामा शक्य है, या अशक्य है, इनको बिना समझे ही सुनने भयदायि की
प्रतीक्षा करके रामा से यह भारी पारितोषिक क्यों ले लिया । क्योंकि बिना उपहार
(भय) द्विष्टे द्विष्टी का भी पारितोषिक नहीं लेना चाहिये, निर्दय करके रामा का ।
क्योंकि देलो—

शिम (रामा) की प्रसन्नता में लक्ष्मी निराश करती है, जिसके पराक्रम में
जय है, और जिसके क्रोध में मृत्यु निवास करती है, अतः यह रामा-स्य
तेजो (देवताओं) का निरास स्थान है ॥ ८३ ॥

और कहा भी है—जदि रामा बालक भी हो तो भी उत्तमो साधारण मनुष्य
मान्य कर उसका अनादर कभी नहीं करना चाहिये, क्योंकि यह रामा मनुष्य के
रु में एक बहुत बड़ा देवता ही है ॥ ८४ ॥

दमनको विद्वस्याऽऽह—‘मित्र ! तूष्णीमास्यताम् । शतं मया भद्र-
कारणम् । घलीनर्दनदितं तन् । वृषभाऽऽवाग्माकमपि भद्र्याः, किं पुन-
सिंहस्य ! ।’ परदको प्रते—‘यद्येवं, तदा (किं पुनः) स्वामित्रासत्प्रैव
सिमिति’ नाऽऽर्नातः ? ।’ दमनको जूने—‘यदि स्वामित्रासत्प्रैव मुन्दे,
तदा कथमयं महाप्रसादलामः स्यात् ? । अपरश्च—

‘निरपेक्षो न कर्त्तव्यो भृत्यैः स्वामी कदाचन ।

निरपेक्षं प्रभुं कृत्वा भृत्यः स्यादधिकर्णवत्’ ॥८५॥

परदकः प्रुद्धति—‘कथमेतन् ? ।’ दमनकः कथयति—

(३) अधिकर्णविडालकथा ।

अस्त्युत्तारावधेऽर्जुदशिशगरनाम्नि पर्यते दुर्दान्तो नाम महाविद्व-
विद्वः । तस्य परगच्छदरमधिरायानस्य केमराऽप्यं कश्चिन्मूषकः प्रत्य-
दिनन्ति । अतः केसराऽप्यं त्वं दृष्ट्वा कुपितो विप्रगन्तर्गतं मूषकमक्षममानं

वयं = श । तया = यथास्तु धेनु । स्व मित्र.सः = मिद्रमयन् । किमिनि
अन.देतोः । नातनोः = न दूरीकृतः । मुन्दे = अन्वयः । निरपेक्षः = न
प्रापः । अधिकर्णवत् इवत् = अर्जुदशिशो, निरामरितभ स्यादित्यर्थः ॥८५॥
महाविद्वः = महाज्ञानवः । केसराऽप्यं = महाप्रमाणम् । त्वं = दिव्यं

तव दमनक देगदर कोषा—मित्र, पुत्र रहो । मीने भव पा फारप म
गिया है । यह येन का रुद्र है । और येज तो हम लोगों का भी भद्र है ।
के जिसे यह भद्र है—यह तो करना ही क्या है ? ।

तव काका देग—यदि ऐसी बात है, तो स्वामी के भव को मुझे बर्तौ ।
नही दूर कर दिया ? । तव दमनक कोषा—यदि हम स्वामी का भव वही दूर
है तो यह भद्रान् प विनोदिक सेम मित्रव ।

और भी—तु जो जो चाहिये कि अपने स्वामी को सर्वथा निरपेक्ष (कृपा
को न करे, स्वामी को निरपेक्ष करने भव अधिकर्ण के समान हो जाता है ॥
काका ने मुद्र—यह क्या सेमे दे ? । दमनक कोषा—

उत्तरावधे ॥ अर्जुदशिश नाम के पर्यंत पर दुर्गा ३ नाम का बड़ा भागी प
दको निद्र मय का । अब यह पर्यंत की कथा से गो ज्ञान या तो एक ।

१ कर्त्तव्यः पर्यः । २ 'किं पुनः' । ३ 'म विद्वः केसराप्यं त्वं मुद्रा

अचिन्तयत्—'किं विधेयमत्र ? । भवतु । एवं श्रूयते—

'क्षुद्रशत्रुर्भवेद्यस्तु विक्रमाच्चैव लम्पते' ।

'तमाहन्तुं पुरस्कार्यः सदृशस्त्वस्य सैनिकः' ॥ ८६ ॥

—इत्यालोच्य, तेन ग्रामं गत्वा, (विश्रामं दत्वा^३), दधिकर्णनामा द्विदालो^१ यत्रेनाऽऽनीय मांसाऽऽहारं दत्त्वा, स्वकन्दरे स्थापितः । 'अनन्तरं तद्वयान्मूरकोऽपि द्विलाघ्र निःसरति । तेनाऽमौ मिहांऽत्तनकेसरः सुर्यं स्वपिति । मूरकस्तदं यदा यदा शृणोति तदा-तदा तं विटालं मांसाऽऽहारदानेन सविशेषं संयत्तयति ।

अत्रममनः = अत्रानुवन् । पुरस्कार्यः = पुरस्कारादिना सन्तोष्य नियोज्यः ॥ ८६ ॥

सैन = सिंहेन । विश्रामं दत्त्वा = विश्राममुत्पाद्य । स्वकन्दरे = स्वगुरायाम् । अचतकेसरः =

प्रतिदिन आकर उसके कंसरो को (अयालो, गडन के ऊपर के लम्बे-लम्ब बालों को) काट लेता था । अपने बालों को कटा हुआ देकर सिद्ध बहुत मुद्ध होता था, शत्रु चूहा दिल में चला जाता था, अतः सिद्ध उसको पकड़ नहीं सकता था । इन प्रकार उसको न पाकर वह निश्चिन्तने लगा कि—अब क्या करना चाहिये ? । प्रपन्ना, ऐसा गुना जाता है, कि—जो शत्रु छोटा हो और पराक्रम से बरा में नहीं आ सके, सो उस क्षुद्र शत्रु को बरा में लाने के लिये उसीके सदृश क्षुद्र सैनिक को ही अमसर (आगे) करना चाहिये ॥ ८६ ॥

ऐसा विचार कर वह सिद्ध किसी ग्राम में गया और दधिकर्ण नाम की एक बिल्ली को बड़े परिश्रम से लाकर विश्राम देकर और मांस आदि का लोभ देकर अपनी कन्दरा (गुहा) में रक्ता । इसके बाद उस बिल्ली के मय से वह चूहा दिल से नहीं निकलता था । इसलिये वह निद्र भी बालों के नहीं कटने से आनन्दपूर्वक होता था । और वह सिद्ध जब-जब चूहे का शब्द गुनता था, तब-तब मांस आदि देकर उस बिल्ली को गूब प्रसन्न करता था ।

१. 'वल्पने' पा० । २. 'तमाहन्तुं' पा० । ३. 'विश्रामं दत्त्वा' । अचिन्त्याः य पाठः ।
४. 'अनन्तरानीय, मांसाऽऽहारोत्स' । ५. 'तद्वयान्मूरकोऽपि द्विदिनं निःसरति' ।

अथैकदा स मृगकः शुधापोंडितो षड्भिः सशरन्विटालेन^१ प्राप्नो,^२ व
पादितश्च । अनन्तर स^३ सिंहाऽनेककालं यावन्मृगकं न परयति, तच्छर
मपि न शृणोति, तदा तस्याऽनुपयोगाद्विहाजस्याऽऽहारदानेऽपि मन्
ऽऽरौ यभूय ।^४ ततोऽसावाहारशिरहादुर्धला दधिकर्णोऽवसन्नो यभू
अनोऽहं शर्षामि—‘निरपेक्षो न कर्त्तव्यः’ इत्यादि । ६।

ततो दमनक-करटकी सज्जीवकसमीपं गतौ । तत्र करटकस्तद
साऽऽटोपमुपविष्ट । दमनक सज्जीवकसमीपं गत्वाऽप्रवीण-‘अरे वृषभ!
ऽहं’ रागा विद्वलनेनाऽऽख्यत्तार्थं नियुक्त^५ । मेनापतिः करटकः *समा

अनूतरेणः । मृग यथा स्वातया । सपदं वनि = स श्रोति । श्वतादिन =
अनोऽहं वाक्यं वाक्यं = बहुवचनपर्यन्तम् । तत्र तत्र च = यत्र यत्र च अपि । तत्र
विद्यते च । अनुपयोग = प्रयोजनभावात् । यवमखः = वृषभः, विषमः ।

तत्राक्षे = वृषभने । साऽऽपीरं = समीपम् । नियुक्त = नियोजितः । रागा
अभिप्रेतं वाच्यम् । अत्र १- अत्रोऽत्र रागा विद्वलनेनाऽऽख्यत्तार्थं नियुक्तः सेन

एक दिन वह मृग शूबा से पोंडित होकर भादर धातु कर रहा था, जि
विनी ने उसे पकड़ कर मार डाला । इसके बाद सिंह ने जब बहुत दि
उम गूदे को नहीं देगा और उमका शब्द भी जब नहीं सुना, तब उम नि
आसपकन नहीं मानक कर उमका भोजन देने से भी शिथिलता करने
एव भोजन न मिलने से वह दसिहं ना एक विगत बहुत दुःख होकर मर
इसी विदे से कहना है कि—‘राजी को मरणा निरपेक्ष भी कभी नहीं
करिगे’—इत्यादि ।

इसके बाद दमनक और करटक समीप तक वेष्ट के पास गये । उनसे मे
ने बड़े आदर (तत्र च) के साथ विद्वं मृग के नरे वेष्ट करा ।

और दमनक समीप के पास न कर के ना—अरे वृषभ ! रागा विद्व
इसके बाद रागा ने विद्वं को नियुक्त किया है, मे सेना । करटक मृगको मु

१. ‘मृगकः’ । २. ‘निरपेक्षः’ । ३. ‘यथा स्वातया’ । ४. ‘अनोऽहं
वाक्यं’ । ५. ‘तत्र तत्र च’ । ६. ‘यत्र यत्र च अपि’ । ७. ‘विद्वं’ । ८. ‘अत्रोऽत्र रागा विद्वलनेनाऽऽख्यत्तार्थं’ । ९. ‘नियुक्तः’ । १०. ‘समीपम्’ । ११. ‘नियोजितः’ । १२. ‘अभिप्रेतं वाच्यम्’ । १३. ‘अत्र १- अत्रोऽत्र रागा विद्वलनेनाऽऽख्यत्तार्थं’ । १४. ‘नियुक्तः’ । १५. ‘समीपम्’ । १६. ‘नियोजितः’ । १७. ‘अभिप्रेतं वाच्यम्’ ।

ति-‘सत्वरमागच्छ, न चेदस्मदरण्यादूरमपसर । अन्यथा ते विरुद्धं
 रं भविष्यति । नो जाने क्रुद्धः स्वामी किं विधास्यति’ ? । तच्छ्रुत्वा
 शोकश्चाऽऽयात् । यतः—

‘प्रात्रामङ्गो नरेन्द्राणां, ब्राह्मणानामनादरः ।

पृथक्शय्या च नारीणामशस्त्रविहितो वधः’ ॥ ८७ ॥

ततो देशव्यवहाराऽनभिज्ञः मञ्जीवकः सभयमुपसृत्य, साष्टाङ्गपातं
 कं प्रणतयान् । तथा चोक्तम्—

‘मतिरेव यत्नाद्दरीयसी, यदभावे करिणामिर्यं दशा’ ।

इति घोषयतीव डिण्डिमः करिणो हस्तिपक्षाऽऽहतः कण्ठम् ॥ ८८ ॥

कस्तामाशापयति’ इत्येवं पाठः स्यात् । न चेत्=यदि नाऽऽगच्छामि तदा । स्वामी=
 । किं=किं दृष्टव्यम् । आयात्=मेनापनि हरकटनिकटमायातः । अशस्त्रविहितः
 अस्त्रयोगं विनाऽपि कृतः । वधः=वधमदयोऽन्कारः ॥ ८७ ॥

देशव्यवहारानभिज्ञः=जनप्रदेशव्यवहाराऽनभिज्ञः । प्रणतयान्=ननाम । मतिः=
 । मतिवर्षा=भेदा । यदभावे=मतेरभावे । करिणाम्=इतिनाम् । इयं=ररैरा-

दुन उनके पान शीम चलो । नहीं तो तुम इस वन से कहीं दूर चले जाओ ।
 इस ऐसा नहीं करोगे, तो इसका फल अच्छा नहीं होगा, न जाने स्वामी क्रुद्ध
 तुम्हारा क्या कर डाले । यह मुन कर वह सञ्जीवरु से नारति रने हुए उस
 । के पाम प्राया ।

स्त्रीके राजा की आज्ञा को मङ्ग करना, उसे नहीं मानना, और ब्राह्मणों का
 र करना, स्त्री को (पति से) पृथक् शय्या पर मुलाना, ये तीनों काम उनके
 (राजा, ब्राह्मण और स्त्री के लिये) विना अस्त्र के वध के ही शुल्य हैं ॥ ८७ ॥
 उसके बाद देश काल को न जानने वाले सञ्जीवरु ने द्रुते २ उसके पास
 , (भूमिपर साष्टाङ्ग गिर कर) उस करटक को प्रणाम किया । कदा भी हे-
 त्त की अपेक्षा बुद्धि ही बढ़ी है, जिसके न रहने से ही इतनी भी बह दशा है,
 जना बड़ा शरीरवाला होकर भी दूसरों को बहन करता है (दूसरों को टोका
 इसी बात को मानो हाथी की पीठ पर चढ़े हुए हाथीगन् से बचाया गया

अथ सञ्जीवकः स 'शङ्खमाह—'सेनापते ! किं मया कर्तव्यम् !
तदभिधीयताम् । फरटको व्रते—'वृषभ ! यद्यत्र कानने ते स्थातुमिच्छा,
तदा अस्मदेववादाऽऽरविन्द गत्या प्रणम । सञ्जीवको व्रते—'तदमप्यथा
मे प्रयच्छ, गच्छामि ।'

फरटको व्रते—'शृणु रे दलीपद ! अलमनया शङ्खया । यत —

'प्रतिपाचमदत्त केशवः शपमानाय न चेदिभूभुजे ।

अनुद्बुद्धस्ते घनघनिं, न हि गोमायुरुत्वानि केमरी' ॥ ८६ ॥

शेषादिरुगा । करिणो द्विष्टमः = राजाशाप्रमारचाले गमातेपितो द्विष्टमः ।

वधपन् = स+शपमानः ॥ ८६ ॥

प्रयच्छ = न देदि । 'अमयं मे देदि, रस्त्रगमिना या दापये'त्यर्थः । गच्छामि
स्वस्त्वग्निः निरुध्य सन्धिं गच्छामि ।

प्रतिपाच = अनुनरम् । केशवः = शृणुः । शपमानाय = अशप्यं ब्रुवाशाशास्त्री
शपमानाय, गच्छामि । चेदिभूभुजे = चेदिदेशाधिराय सिगुवाजाय । घनघनि
= घनघनि भुग । केमरी = सिद्धः । गोमायुरुत्वानि = आयुःशब्द-नु । न =
दुःखी । अमयं मे देदि स मितो नैव हनिष्यती यावपः ॥ ८६ ॥

नगरा (दुर्गोदारा) पर रहा है । (वदिने राजाशा की मद-रूपी आगाई हाथी
पीठ पर गमादा रखकर, उसे बग कर प्रणम की गुनारि जागी गी) ॥ ८६ ॥

इसके बाद सञ्जीवक व्रत ब्रुवा सा उससे बोला—हे सेनापते ! करिये
बना कर, मुझे बग गमादे । फरटक बोला ! परे येव ! इस वन में यदि दुर्ग
राने की इच्छा है, तो घनघन हमारे राजा के शरणा को प्रदान करो ।
इसके बाद बोला—मुझे अमयदान दीजिये । मैं चला हूँ । फर
टको बोला—पर येव ! पर सदा ही तुम मग करो कि-मद मुझे मग दोगे ।

करीब—दुर्गव्रत के मग देने पर भी मगर भीष्म ने उतर
मरी दिव । करीब निरुध्य का मगन गुनघर ही दुर्गार करण है, परन्तु शिव
के हाथी की तुम कर पर कभी दुर्गार नहीं करण है ॥ ८६ ॥

१. 'अमयं मे देदि' । २. 'इच्छा कर्तव्यं यत देवतापरिन्दं प्रयच्छ' ।

१ अन्यथा—

‘वृत्तानि नोन्मूलयति प्रमत्तनो मृद्नि नीचैः प्रणतानि स
समुच्छ्रितानेव तरुन्प्रवाधते, महान्महत्त्वेव करोति विक्रमम्’
ततस्तौ सञ्जीवकं २ कियदूरे सत्याप्य, पिद्मलकसमीपं गतौ । ततः
साऽऽदरमवलोकितौ प्रणम्योर्षावष्टौ । राजाऽऽह—‘अपि दृष्टः सः’ ?
दमनको व्रते—‘देव ! दृष्टः, ३ । किन्तु यहैवेन ज्ञात तत्तथा ।
वाऽसौ । देवं द्रष्टुमिच्छति । किन्तु महाबलोऽसौ, ततः सञ्जीभूयो
हरयताम् । किन्तु शब्दमात्रादेव’ न भेतव्यम् । यतः—

‘श्रमसा भिद्यते सेतुस्तथा मन्त्रोऽप्यरक्षितः ।

पेशुन्याद्भिद्यते स्नेहो, वाग्भिर्भद्यो हि कातरः’ ॥ ६१ ॥

- प्रमत्तनः = वायुः । नीचैः = वाऽयोः । प्रणतानि = नम्राणि । समुच्छ्रितः
उभयान्, लम्बांश्च । मरुति = उच्छ्रिते । करोति = रक्षयति । अतस्त्वया त
प्रणवेन-उत्पत्तिहास्यं नैव कार्यमिति भावः ॥ ६० ॥ तथा = तथैव महाब
श्रमसा = बलशून्यः । सेतुः = सतमः । (पुल) । पेशुन्यात् = निगद

श्रीर भी वायु-नीचे की तरफ झुके हुए कोबल वृत्तों को कभी नहीं उ
है, छिद्र ऊंचे २ वृत्तों ही को यह तोड़ ही है । क्योंकि बड़े लोग बड़ों ने
ही धरना प्रणमन दिखलाने हैं, सुदृढभीरों पर धर डारने पैरों पर नि
प्राप्तियों पर बल नहीं दिखलाने हैं । अतः तुम सिद्ध से विशङ्कल मत डरो ॥

इसके बाद उस सञ्जीवक को कुछ दूर बैठाकर वे दोनों पिद्मलक निह
दये । तब राजा ने बड़े आश्चर्य से श्रीर प्रेम पूर्ण दृष्टि से इनको देखा, श्रीर
भी प्रणाम कर के राजा के पास ही बैठ गये । तब बड़े राजा बोला—
श्रीर को देना ! । दमनक बोला—हे राजन् ! मैंने उचको देना । श्रीर बैठा
कनकपात्र, वह बैठा ही महान् बड़ी सत्य (जीर) है । यह अत्र से निजना चार
फुट दूर बहुत बलवान् है, इसलिये आर सावधान होकर बैठिये श्रीर तब
द्विदि । परन्तु केवल शब्द से ही डरना भी नहीं चाहिये । जैसे किनी ने फल
बट्ट के देग से छेड़ (पुल) टूट जाता है, तथा बिना रक्षा के :

१. ‘अनरक्ष’ । २. ‘उत्तिदूरं संस्थाप्य’ । ३. ‘दृष्टः । यदेवेनाऽऽदृष्टि
ये । मातृशोभौ । देवं द्रष्टुमिच्छति । महतीमलोक्तिः । ४. (५

तथा चोक्तम्—

‘शब्दमात्रात्त भेदव्यमजात्वा शब्दकारणम् ।

शब्दहेतुं परित्राय कुट्टनी गौरवं गता’ ॥ ९२ ॥

राजाऽऽह—‘कथमेतन् ? । दमनकः कथयति—

(४) घण्टाकर्णकुट्टनीकथा ।

अस्मिन् श्रीपर्यन्तमध्ये प्रक्षपुराण्यंनगरम् । “तच्छिखरप्रदेशे घण्टाकर्णो नाम राजमः प्रतिव्यमनीनि जनप्रयादः श्रयने । एकदा घण्टामाहाय पलायमानः पश्चिमोरे व्याघ्रेण व्यापादितः । तत्प्राणिपतिता घण्टा यानरैः प्राप्ता । ते यानरास्तां घण्टामनुचण्यं यादयन्ति । ततो नगरजनैर्गन्तव्यः स्यादितो हृष्टः, प्रतिचण्यं घण्टाऽऽगच्छ श्रयते । अनन्तरं ‘घण्टा-

भेदः = विज्ञापः ॥ ६१ ॥

कुट्टनी = शम्भनी । गौरवं = जनमकारेण मकरम् । गता = प्रता ॥ ६२ ॥

जनप्रयादः = जनभृंगः । अनुचण्यं = प्रविचण्यम् । स गन्तव्यः = घण्टा-

(गताहमी) प्रकट हो जाता है । श्रीर पेटु-य (गुणज्ञ भोर)ने स्नेह नष्ट हो जाता है । तथा केवल गवनी में ही व पर गुरुय हर जाता है (भाग जाता है) ॥ ६१ ॥

प्राः शब्द का कारण जिनो जिनो ही केवल शब्द गुणने मायसे ही करना नहीं पायिये । देगिर, के-य शब्द का कारण समझ कर ही उम कुट्टनी ने लोह में संभान पाया था ॥ ६२ ॥

राजा (विद्वज्जब निः) के-या—पर क्या केमे है ? । दमनक कहने लगा—

श्रीरसे का एक प्रक्षपुर नाम का नगर है । इस भीरों की प्योरी पर घण्टा-कर्ण नाम का एक शत्रुग रहता है, ऐसा लोग कहा करते थे । एक समय एक भीरु वहीं में प्राण गुमहर भाग रहा था और किमो वस्तु ने उम भीरु को मार डाला । उसके हाथ में मिली हुई उम घण्टा को कुछ यानरों ने पा लिया । ये यानर उम घण्टा को घण्टा-चण्य (हर समय) बजाया करते थे । सब नगरके लोगों ने देखा कि एक मनुष्य (नाम) को मग हुआ कहा है, और प्रतिचण्य घण्टे का शब्द भी सुनने देगा है । इससे भीरु ने विचारा कि क्यार ही घण्टाकर्ण राज्य बन्द होकर मनुष्ये को भाग्य है, और प्राण भी बजाय है । ऐसा विचार कर मर श्रेय नग-

१. ‘एव देव/दारे’ ।

कर्णः क्षुपितो मनुष्यान्खादति, घण्टां च वादयतीत्युक्त्वा सर्वे जना
नगरात्प्रलायिताः ।

ततः करालया नाम कुट्टन्या विमृश्य, — 'अनवसरोऽयं घण्टानादः, तर्हि
मर्कटा घण्टां वादयन्ति' ? — इति स्वयं विज्ञाय, राजा विज्ञापितः — 'देव !
दि क्रियद्वनोपचयः क्रियते, तदाऽहमेन घण्टाकर्णं साधयामि ।'

ततो राजा कुट्टेन^१ तस्यै धनं दत्तम् । कुट्टन्या च मण्डलं कृत्वा, तत्र
खेसादिपूजागौरव्यं दर्शयित्वा, स्वयं वानरप्रियफलान्यादाय, धनं प्रविश्य,
य फलान्याकीर्णानि । ततो घण्टां परित्यज्य वानराः फलाऽऽसक्ता
भूयुः । कुट्टनी च घण्टां गृहीत्वा नगरमागता सर्वजनपूज्याऽभवत् ।
तोऽहं प्रयीमि — 'शब्दमात्रान्न भेतज्यम्' इत्यादि ॥०॥

विद । विमृश्य = विचार्य । अनवसरः = घण्टाशब्दाऽनवसरोऽपि भ्रूयमाणो घण्टा-
त्पदः । (तर्हि = तो क्या ?) । विज्ञापितः = निवेदितः । धनोरचयः = धनव्ययः ।
साधयामि = शत्रुदूलं करोमि, प्रसादयामि । मण्डलं = कुट्टमादिवृत्त, प्रियोपयद्-
गृह्यादिरूपम् । पूजागौरव्यं = पूजाशपासप्रपद्यम् । फलाऽऽसक्ताः = रत्नमन्त्र-
मगने लगे । इसके बाद कराला नाम की एक कुट्टनी ने यह सोचा कि यह तो
एक बच्चे का समय नहीं है, जान पड़ता है कि वही वानरों के हाथ कीड़े घट्टा लग
दे दे, और ये वानर ही घण्टा को बजाते हैं । इस रहस्य को स्वयं जानकर उस कुट्टनी
राजा से निवेदन किया कि — यदि कुछ रुपया खर्च किया जाय तो मैं इस घण्टाकर्ण
को विद (बघ में) कर सकती हूँ । तब राजा ने प्रसन्न हो उसको बहुत सा धन
देवा । तब उस कुट्टनी ने भी देवता इत्यादि का मण्डल बनाकर गणेश इत्यादि
की पूजा का झूठे ही आह्वान निकाला कर, वानरों को अच्छे लगने वाले कुछ फल
ले आकर वनमें इधर उधर फेंक दिए (छोड़ दिये) । तब उस घण्टा को छोड़ कर
सब वानर उन फलों को खाने लग गये । और कुट्टनी उस घण्टा को लेकर नगर
जाई और सर्वमान्य (लोह पूजित) हो गई । रमोन्विये में कहता हूँ कि —
'शब्द मात्र से ही नहीं डरना चाहिये' इत्यादि ।

सतः सज्जीयमानो यं दर्शनं पारितयन्ती । पश्यन्तत्रैव ? ॥ परमप्रभं
नियसति । अथ यदाचिन्मयं सिद्धं भ्राता स्वव्यवहाराणां सिद्धः समागतः ।
तस्याऽऽतिथ्यं कृत्वा, समुपवेग्य, पिङ्गलरुक्मदाद्वाराय^३ पशु हन्तुं पतिता ।

अत्राऽन्तरे सज्जीयसो यद्वि—'देव ! अत्र हतमृगाणां मांसानि
यव ? ।' राजाऽऽह—'दमनक-करटकी जानीतः । सज्जीयको प्रते—'प्रायशं
किमसि, नऽभि वा ? ।'

सिद्धा विमृश्याऽऽह—'नाऽन्त्येव सन् ।' सज्जीयको प्रते—'कथमेत-
यन्मांसं ताभ्यां ग्राहितम् ? ।' राजाऽऽह—'स्यादत्तं, व्यवितनवर्धोति
य । प्रत्यहमेव प्रम. ।'

सज्जीयका प्रते—'कथं भीमदेवपादानामगोचरेणैव त्रियते ? । राजा-
ऽऽह—'मदीयाऽगोचरेणैव त्रियते ।' अथ^४ सज्जीयको प्रते—'नेतदुचितम्' ।

पराः । आनीय = आनाऽऽनीय इत्यर्थः = सिद्धमात्रे एव ।

आनीयन् = अत्रिपित्तवान्, व = न गतानि । विमृश्य = विचर्य, परं-
मेदवया । एतावत् = पतिता, विपुत्रम् । व्यवितन् = उपयुक्तम्, विनिर्गम् । अथर्व वि-
नाष्टा, विधीयते । प्रम. = परिषद् । अगोचरेण = ग्राहीनिने । अत्रैव न मन् ।

एव उ-शेने सज्जीयको को ताहर राजा मे निजाया । हसते बाद बद सज्जी-
यके परम प्रेम से बही गिद के पास ही रहने लगा ।

राजने काः एक दिन टम सिद्ध का माई राख्यकाना नाम का सिद्ध वही
आया । विमृश्य उमहा आनीय म धारकर, उमे भेडा कर, उमने भीजन के वि-
पशु मानने को थका । उमी धीव मे सज्जीयको को-आज के मागे दूध मृगी का म-
वही है । । गंगा केना—दमनक और करटकी जानने हैं । तब सज्जीयको के-
देनिद तो मोग दे, कि नही ? । तब सिद्ध विचार कर (देगहर) कोना-नही है ।
सज्जीयको केना-कहा हुआ मोग उन दोनो नेना हाया ? । राजा केना-मुदू मन्वा,
दूध मर्ष विना, और दूध के किरा देणा । अत्रिदिन का बही इनसेतो का मन् दे ।
मर्ष रक देणा—अन्त्ये विना दूध ही के सेग देणा करो दे । । सिद्ध केना-
दूधो विना दूध ही देणा करो है । तब सज्जीयको ने कहा—यह तो उचितनी है ।

१. 'यथा' इत्येव बने पितृव्य-पुत्रेण नियन्त्रिते । २. 'यथा' इत्येव बने पितृव्य-पुत्रेण नियन्त्रिते । ३. 'यथा' इत्येव बने पितृव्य-पुत्रेण नियन्त्रिते । ४. 'यथा' इत्येव बने पितृव्य-पुत्रेण नियन्त्रिते ।

या चोक्तम्—

‘नाग्निवेद्य प्रकुर्यात् भर्तुः किञ्चिदपि स्वयम् ।

कार्यमापत्प्रतीकारादन्यत्र, ‘जगतीपते !’ ॥९३॥

अन्यत्र—

‘कमण्डलूपमोऽमात्यस्तनुत्यागो, बहुग्रहः ।

नृपते ! किंनारो मूर्खो, दरिद्रः किंनारकः’ ॥९४॥

‘म ह्यमात्यः मदा श्रेयान्’ कारिणो यः प्रवर्द्धयेत् ।

‘कोशः कोशवतः प्राणाः, प्राणाः प्राणा न भृपतेः’ ॥९५॥

अग्निवेद्य = अशुचियुक्तः । भर्तुः = पतिः । आन मतीकारात् = स्वानि आनक्ति-
रणात् ॥ ९३ ॥

कमण्डलूपमः = कमण्डलुसदृशः । सादृश्यमेव दर्शयति—‘तनु’वाग इति । अल्प-
। बहुग्रहः = विपुलमाशु । (कमण्डलु में मुँद की शीर से प्यास पानीझाला
। सदा है, पर गिरते समय टोपी से थोड़ा-थोड़ा ही जल उससे गिरता है) ।
‘मदा श्रेयान्’—किञ्चनः । ‘किञ्चित्कणव्यये का मे शानिः, पञ्चापडिध्यामीत्यादि
परायणो हि जनो मूर्खो भक्तव्ययः । किंपराट्ट = किंपराट्टविनाशोऽपि का
ने, किंनारः, पञ्चा वा वराट्टका गच्छन्तु नाम, किंनारिणि विचारपरो दरिद्रो
ः । (वराट्टकः = कौडी) । श्रेयान् = श्रेयः । कारिणो = कर्षिकापति ।
‘मदा श्रेयान्’ शुकने -२० कौडी = १ कारिणो । (कौडी २

कोई का भी है—दे राजन् ! अपने स्वामी (राजा आदि) की विपत्ति
करने को छोड़कर, मृत्यु को शीर कौड़े भी कान अपने स्वामी से गृह्ये बिना
पने मनसे कभी नहीं करना चाहिये ॥ ९३ ॥

११ भी—मन्त्री कमण्डलु के रुहर थोड़ा-थोड़ा देने वाला शीर बहुत सा
डा रोग है । शीर है राजन् ! चण्डमर समय को वृद्ध मनमने वाला
॥ है, शीर एक कौड़ी को भी वृद्ध मनमने वाला दरिद्र होगा है ॥९४॥
११ भी मन्त्री मदा श्रेयान् है, जो दमदी को भी ददाता है । राजाने जाने

‘जगतीपते.’ पा० । २. ‘अपराध’ । ३. ‘यः कारिण्योऽपि वर्द्धयेत्’ ।

किं चार्ज्येन कुलाऽऽचारैः सेव्यतामेति पूरुषः ।
धनहीनः स्वपत्न्याऽपि त्यज्यते, किं पुनः परैः' ॥९६॥

एतय राशः प्रथमं दूषणम् । परच—

‘अतिच्ययोज्जवेद्या’ च, तथाऽर्जनमवर्मतः ।
मोषणं, दूरसंस्थानं, ‘कोशच्यसनमुच्यते’ ॥९७॥

पर ध्यान रखते) । कोशवर्गो भूयो = राशः । कोशः = धनमेव । प्राणः =
प्राणायामम् । प्राणाः = गोमन न ॥ ६५ ॥

किञ्चेति । पुण्यः = अर्थः = धनमेव, सेव्याम् = ब्राह्मणीपत्न्याम्, एति =
गच्छति । कुलाचारैः = ग कुलेन, गदाचारैश्च, न = नीर । परैः = अन्यैः ॥६६॥

धनादित्या आद—अतोति । अनोद्या = अनिरीक्षणम्, अनितनं वा
अननम् = उपाजनम् । मोषण = अनिदृतेभीरुष कृत्वां वीर्यम् । दूरसंस्थानं =
राग-क्षेत्र दूर-अपानम् । वसतं = विरतिः । नाशेत्तुः ॥ ६६ ॥

आपं = लाभ, धनागमनम्, अनाशोच्य = अविचार्य । रागद्वेषा = ते
द्वेषा । विप्रं = दृष्टम् । व्यवमानः = रापनस्य स्वयं कुर्वन् । वैभवाद्योतन = दुरे
द्वेषोऽपि । परिशीलने = दक्षिणे भाति ॥ ६७॥

(राश) का प्राण तो लगाना ही है, उमके प्राण प्राण नहीं है । अर्थात् राश के वि
प्रथम राश रखनीव लगाना ही है, अरने प्राण भी उने रखनीव नहीं है ॥६५॥

और भी—पुण्य धन मे ही माननीव और सेवनीव होता है, अन्य कुशाव
तो भागर मे वह सम्मानित नहीं होता है । क्योंकि धनहीन पुण्य को धरनी श्री
दो देनी है, दूरतो की तो हो पाव कहा है ॥६६॥

और राश के से तो प्रथम दोर है, कि—

आप मे अविद्व सर्व करना, धन की रक्षा के लिये निर्य ध्यान नहीं देन
अर्थमे द्वेषोत्तम करना, विणी का धन हीन लेना, तथा अरने राग मे
करी लगाने को रचना—ये सब वाचने की आशयिणी (दोर) है । अर्थात्
रने मे राश का लगाना (कोश) अही ही नर हो पाव है ॥६७॥

१. एतेषु पुत्रेषु... २. अविद्व... ३. अविद्व... ४. अविद्व... ५. अविद्व...

१. 'अविद्व' । २. 'अविद्व' । ३. 'अविद्व' । ४. 'अविद्व' । ५. 'अविद्व' ।

यतः—

‘क्षिप्रमायमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया ।

परिचीयत’ एवाऽसौ धनी चैश्रवणोपमः’ ॥६८॥

‘तदाकर्ण्यं स्तव्यकण्ठो ब्रूते—‘शृणु धातः ! चिराऽऽश्रितावेत्ती दमनक-करटकौ सन्धिनिग्रहकार्याधिकारिणी कदाचिदर्थधिकारे न नियोक्यौ । अपरश्च—‘नियोगिप्रस्तावे यन्मया श्रुतं, तन्करयते—

‘ब्राह्मणः, क्षत्रियो, बन्धुर्नाजधिकारे प्रशस्यते ।

ब्राह्मणः सिद्धमप्यर्थं कृच्छ्रेणाऽपि न यच्छति’ ॥९९॥

चिराधिनी—पुरातनसेवरी । सन्धाति । सन्धिः=मेषी, निग्रहः=युद्धम् । अमात्यरदमारूढावित्यर्थः । अपाधिकारे=कोशरक्षणकर्मणि । नियोगप्रस्तावे=‘कोऽधिकारेणु नियोग्य’ इति प्रसङ्गे । ‘नियोगिप्रस्तावे’ इति पाठे—नियोगी=यन्-नियुक्तोऽधिकारी । (राजजर्भन्चारी, अकस्य, हाकिम आदि अधिकारी) ।

बन्धुः=स्वजनभरथ । (एते प्रयोऽपि) । अधिकारे=कार्याधिकारे, अर्था-धिकारे च । (‘श्रीदश’ ‘नीकरी’) । प्रशस्यते=पूज्यते । शिद्ध=लभ्यन् ।

क्योकि—अपनी आमदनी की बिना समझे ही अपनी इच्छापूर्वक शीम लचंते राजा की पुण्य यदि कुबेर के बरानर धनी हो तो भी नष्ट हो जाता है ॥६८॥

राज्यकर्ण्यं बोला—भार्द । मुनी । ये दमनक करटक बहुत पुराने नीकर हैं, और सन्धि तथा निग्रह के अधिकारी हैं, इसलिये रुपये पैसे के काम में इनकी कमी नहीं लगाना चाहिये । और भी नियोगी (अधिकारी) के विषय में जो मीने मुना है, वर में मुनसे कहला है—

1) ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अपने बन्धुओं को, पुराने नीकरों को, और अपने उप-कारी को, तथा साथ रोले हुए अपने मित्रों आदि को भी कभी कियो अधिकार में नहीं लगाना चाहिये । क्योकि ब्राह्मण अधिकारी प्रमा से मिले हुए राजा के वर

१. भमवाऽप्यत्र एवाही’ इति पाठे—‘अमथः—निषिद्धानो नग्नो येन ननुः । २. कथिन्न । ३. ‘नियोगप्रस्तावे मया यद्विद्विच्छ्रुतं तःइपयामि’ ।

'नियुक्तः सन्नियो द्रव्ये सङ्गं दर्शयते ध्रुवम् ।
 'मर्मम्यं ग्रमते बन्धुरात्रम्य ज्ञातिमात्रतः' ॥१००॥
 'अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।
 स स्वामिनमत्राय चरेत् निरत्रग्रहः' ॥ १०१ ॥
 'उपक्रान्तं गतिकारम्यः' स्वाऽपराधं न मन्यते ।
 उपहारं ध्वजोत्थं 'सर्वभेदाऽलुम्पति' ॥१०२॥

ध्रुवे = प्रद-नयो गात्रि । न प्रव-द्धि = नार्पयति । 'स्वामिने' इति शेषे ॥१००॥
 गङ्गां दर्शयते = शब्दात्मिक शस्त्र यदी ता मुदाय सनदी भवति । रात्र
 न 'गङ्गा' न । गङ्गाता = छा-नीयमन्धन् ॥ १०० ॥
 निपाती = शब्दात् । निरत्रग्रहः = उच्छ्रितः सः ॥१०१॥ उपहृतः =
 पूरे कृतीरसते जन । मन्थते = रोगकृते, गणयति च । स्वमीहृत्य =
 कृता । अपजुमति = प्रभवे, नाद्यति च ॥१०२

को (भाषी) इतर उपाय करने पर भी, अनेक कष्ट देने पर भी, रामा को न
 देता है, कि तु मय ही गाया है ॥ ६६ ॥

इतर मयः मयः (भिन कर्तव्य करने के) पाशों में लगाया हुआ यदि
 कर्तव्य भी अत्रपरे १००० दिनाकर, कष्टने मरने को उपाय होकर, न
 ला पाया है । और कष्ट मन्थते भी अत्रो जाति के होने के ही कारण मर्म
 (मनुष्य जन को) ही दया कर बैठ जाते हैं ॥१००॥

और पुत्रना लोकर में—दरिद्रः किमो काम मे सुकामा जाय तो अत्र
 करके भी दरिद्रता ही रहता है । और मर मयवी का अनादर करके उच्छ्रित
 म मने (मोगेह रोह) काम विना काम है ॥१०१॥

और उपहृत करने पर उपाय भी—दरिद्रः कष्टकृतीकना दिना कर दो ।
 भी अत्रो अत्रात्र को कष्ट भी नहीं मिता है । और केवल एव अत्रने उपह
 ही को मरते इतर कष्ट कर मने देमने व धन को मने को दैया रहता है ॥१०२॥

१. 'मर्मम्यं' । २. 'अपराधेऽपि' । ३. 'मन्थते' ।

‘उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।

श्रवत्रा क्रियते तेन सदा परिचयाद् ध्रुवम्’ ॥ १०३ ॥

‘श्रन्तर्दुष्टः, क्षमायुक्तः, सर्वान्तर्यकरः किल ।

शत्रुनिः, शकटारश्च दृष्टान्तावत्र भूपते’ ! ॥ १०४ ॥

‘सदाऽमात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।

मिद्वानामयमादेश ‘श्रद्धिथित्तत्रिकारिणी’ ॥ १०५ ॥

उपांशुक्रीडितः = एकान्ते लीलासदचरः, गुनरहस्यवेत्ता, गूढनीडासहायधे-

। श्रवत्रा = स्वामित्तिरस्कारः । ध्रुवं = निश्चिामेतन् ॥ १०३ ॥

श्रन्तर्दुष्टोऽपि-वहिः—क्षमायुक्तः=क्षमाकरः, सर्वविषयाऽन्तर्यकारको भवति । अत्र

द्विपये । तत्र शत्रुनिर्दुष्टोऽधनमावृत्तः । स्वपितुर्गान्धारराजस्य मुचलस्य दुर्पोषण-

पराश्रवनादिरूरादवमानाऽन्तःकृत्युत्थिनो, द्यूनादियोगेन मदाभारतं मुदप्रत्याघ,

नाराय, कीररतुलनाशश्च कृतवान्-इत्यन्तर्दुष्टस्याऽन्तर्यकरत्वं सूचितम् ।

। अ नन्दमन्त्री—सकुटुम्बो राजा कुपितेनान्पकूपे क्षिप्तः, कथञ्चिद्भूतप्राणो

बो राजा कालान्तरे कृषान्भोचिती, बहिः क्षमापरोऽपि, दृदि तं विरोध धारयन्

तेन सह नन्दस्य राज्ञो विरोधमुत्पाद्य, सान्ख्य तं नन्द राजानं नाशयामा-

त्तमविदः ॥ १०४ ॥

मृद = पनादिसमृद्धधेतु, सर्व एव अमात्यः, न साध्यः = शक्यप्रतीक्षारो न

इय अवरया में संग रोजा हुआ मिन और राजा की एकान्त की (गुन)

। जाननेवाला मन्त्री भी राजा के सम्मान ही दृकूमन करने लगता है । क्योंकि

परिचय होने से यह सदा उस हाथी का अनादर ही करता है ॥ १०३ ॥

। र जो मन्त्री भीतर से दुष्ट और ऊपर में क्षमावान् हो, वह भी बड़ा ही

हर्ने वाला होता है । हे राजन् ! इसमें शत्रुनि और शकटार ये दोनों

है ॥ १०४ ॥

। र जब मन्त्री अधिक सम्पन्न (धनी) हो जाता है, तब वह कभी राजा के

‘नवानुक्रीडितः’ इति तु गीटाः पठन्ति । (बालपन में साथ गेला हुआ) ।

‘सदाऽऽप्ययमसाध्यः’ इति पा० । आप-यां=शिक्षिन्नाखानन्तरं, बदनू-

। ‘सदाऽऽप्यो न साध्यः’ इत्यपि च पाठा० ।

'नियुक्तः क्षत्रियो द्रव्ये सङ्गं दर्शयते ध्रुवम् ।
 'सर्वम् ग्रमते चन्द्रगाम्य ज्ञातिभावतः' ॥१००॥
 'अपराधेऽपि निःशङ्को नियोगी चिरसेवकः ।
 स स्वामिनमवजाय चरेद्य निरवग्रहः' ॥ १०१ ॥
 'उपरुर्ताञ्जिह्वाम्भ्यः' स्वाऽपराधं न मन्यते ।
 उपकारं च ज्ञो हृत्य 'सर्वमेवाऽवलुम्पति' ॥१०२॥

कृत्रेण = यव नद्यो नादि । न प्रवर्द्धति = नापर्वति । 'दाभिले' इति शेषः ॥

गद्गं दर्शयते = गद्गतिः कश्चिद् गद्गतिं सुखाय सनद्यो भवति । ॥

न ज्ञातुमुक्तो । न जानाति = दा नोपगम्यन्वत् ॥ १०० ॥

नियोगी = शर्माभ्युक्तः । निरवग्रहः = उपरुक्तः स भव ॥१०१॥ उपरु

पूरं कृत्रेणान्ते अन्तः । मन्यते = नीचुरते, गणयति च । चरतीत्यन्तः
 कृतः । अपरुम्भति = प्रमो, नाचयति च ॥१०२

को (भव को) द्वाज उभाव परने पर भी, अनेक कष्ट देने पर भी, राजा न
 देता है, क्षुत्र रूप ही था जाया है ॥६६ ॥

द्वय मन्त्रः मन्त्रो मन्त्र परति परने के.) वारों में लगाया हुआ ।
 अतिशयी भी अत्यधिक तपनर दिगन्तर, लड़ने मरने को उगाव शोका
 था जाया है । और अन्य द्वाज भी अगनी जाति के होने के ही कारण
 (गद्गुलं भव को) ही दवा पर बैठ जाते हैं ॥१००॥

और पुराना नीचर भी—यदि वह किसी काम में लगाया जाव भी व
 बाधे भी वह निर्भय ही रहता है । और वह स्वामी का अनादर करके उन
 भाव से (बेरोह गेह) काम किया करता है ॥१०१॥

और उपरुक्त करने का द्वाजुत्तर भी—यदि वह अतिशयी बना दिया जाव
 भी अपने अराजकों को कुछ भी नहीं भिन्ना है । और केवल एक अन्ते उ
 ही को मरने कर वरु पर स्वामी के सन्तान भव को जाने को ही मरवा देता है ॥

१. 'मन्त्रः' । २. 'अतिशयद्वयः' । ३. 'गद्गतिः क्षुत्र' ।

‘उपांशुक्रीडितोऽमात्यः स्वयं राजायते यतः ।

अथजा क्रियते तेन सदा परिचयाद् ध्रुवम्’ ॥ १०३ ॥

‘अन्तर्दुष्टः, क्षमायुक्तः, सर्वान्जन्यकरः किल ।

शकुनिः, शकटारथ दृष्टान्तावत्र भूपते’ ! ॥ १०४ ॥

‘सदाऽमात्यो न साध्यः स्यात्समृद्धः सर्व एव हि ।

सिद्धानामयमादेश ‘ऋद्धिश्चित्तविकारिणी’ ॥ १०५ ॥

उपांशुक्रीडितः = एतन्ते लीलासहचरः, गुणरहस्यप्रेता, गूढनीडासहायधे-
त्यर्थः । अथजा = स्वामित्तिरङ्कारः । ध्रुवं = निश्चिन्तयेत् ॥ १०३ ॥

अन्तर्दुष्टोऽपि-वदिः—क्षमायुक्तः=क्षमापनः, सर्वान्जनाजन्यकरको भवति । अथ
= एतद्विषये । तत्र शकुनिर्दुषोपधनमाश्रितः । इत्यपिनुर्गान्धारराजस्य मुचलस्य दुषोपधन-
पूतारघातारम्भनादिरूपादवमानादन्तःकनुषिभो, घृणादियोगेन मदाभारतं मुदमुत्पाद्य,
दुषोपधननाशं, कौरवमुलनाशञ्च कृणवन्-इत्यन्तर्दुष्टस्याऽन्यैरुत्सवं सूचितम् ।
शकटारथ नन्दमन्त्री—सकुटुम्बो राजा कुपितेनान्धरूपे क्षिप्तः, कथञ्चिद्भूतप्राणो
सकुटुम्बो राजा कालान्तरे कृपान्मोचिनी, बहिः क्षमापरोऽपि, हृदि तं विरोधं धारयन्
धारयन्नेन सह नन्दस्य राशो विरोधमुत्पाद्य, साम्बय तं नन्द राजानं नाशयामा-
सेतीतिहासविदः ॥ १०४ ॥

मगूढ. = घनादिसगूढभेत्, सर्व एव क्षमान्यः, न माप्यः = शक्यमनीद्वारे न

बन्धु अन्तर्या में सग रोजा हुआ नित्र श्रीर राजा की एकान्त की (गुण)
को भी जाननेवाला मन्त्री नी राजा के समान ही हुकूमत करने लगता है । क्योंकि
निन्द्यर परिचय होने से वह सदा उस स्वामी का अनादर ही करता है ॥ १०३ ॥

श्रीर जो मन्त्री भीतर से दुष्ट श्रीर ऊपर से क्षमावान् हो, वह भी बड़ा ही
घनपं करने वाला होता है । हे राजन् ! इसमें शकुनि और शकटार ये दोनों
कहते हैं ॥ १०४ ॥

श्रीर जब मन्त्री अधिक सम्पन्न (धनी) हो जाता है, तब वह कभी राजा के

१. ‘सर्वांशुक्रीडिताः’ इति वृ गौडाः पठन्ति । (बालरुप में साय नेला हुआ) ।
२. ‘सदाऽऽपन्त्यामसाप्यः’ इति पा० । आयत्या=द्विदिग्धाब्रानन्तरं, बदनून
त्यर्थः । ‘सदाऽऽपती न साप्य’ इत्यपि च पाठा० ।

‘प्राप्ताऽर्थग्रहणं, द्रव्यपरीवर्तोऽञ्जुरोधनम् ।

उपेक्षा, बुद्धिहीनत्वं, भोगोऽमात्यस्य दूपणम्’ ॥ १०६ ॥

“नियोग्यर्थग्रहोपायो राज्ञा नित्यं परीक्षणम् ।

प्रतिपत्तिप्रदानं च, तथा कर्मविपर्ययः’ ॥ १०७ ॥

स्यात् । भिन्नानां = स्वग्रहात्-राजनीनिशित्वात्, आदेशः = उक्तिः । बुद्धिः =
समृद्धिः । विनिरिक्कारिणी = मनुष्यस्य मनसो विरुद्धिमुपाशयति ॥ १०५ ॥

प्राप्तस्य अर्थ-व = धनस्य, प्रदणं = दानं ग्रहणम् । द्रव्यस्य परीवर्तः = परिवर्तनम् ।
स्वल्पद्रव्यं स्वशक्तु निभाय, महाद्रव्यस्य राजशक्तुनः स्वीकारः । (राजा की बड़िया
बड़िया चीनी को बदल लेना) । अजुरोधः = गलितिरामिद्वये-राजानुरोधः । (अपने
कार्य के लिये राजा को दखाना) । उपेक्षा = राजकार्योपेक्षणम् । भोगः =
राजद्रव्योपभोगः, कामोपभोगसंयुक्ता वा ॥ १०६ ॥

नियोगः = राजपुरुषः (अन्तर), कापर्ययः । तस्मात् राजकार्यनिष्पत्तौऽर्थस्य
= धनस्य, प्रदः = प्रतिपत्तिप्रदान इत्यर्थः । नित्यं परीक्षणं = तत्कार्यपरीक्षा । प्रति-
पत्तिप्रदानं = विभागप्रदानम् । (आया दिलाया, इनाम देना) । कर्मविपर्ययः =
कार्यविपर्ययम् । (अरिहार की बदली कर देना) ॥ १०७ ॥

गद्य में नदी घाटा है, बर्तक महापुरुषों का यह करना है कि-मभ्यति (अर्थात्
छीर धन) मनुष्य के निग को सिगाद दे गी है ॥ १०६ ॥

छीर मिले हुए धन को ग्यं ले लेना, राजा के द्रव्य का परिवर्तन (बदला
बदली) करना, सिमी वाग वा अनुगेष (आग्रह) करना, राजदार्पणों की वा राजा की
उपेक्षा करना, बुद्धि की बर्तः होना, तथा नियमों का उपभोग करना, वा राजद्रव्य
का उपभोग करना, ये सब अमत्य (मन्त्री) के दोष हैं ॥ १०६ ॥

नियोगियों (राजकर्मचारियों) में अर्थ (धन) लेने के उपर दे हैं—
उन को महा परीक्षा करने रहना, उनके कार्यों की जांच करने रहना, उनके
नष्कः अर्थ वा विभाग देना, तथा उनका काम बखल देना ॥ १०७ ॥

१. ‘प्रदणं प्रदणं’ इति प.टे निरुद्धः = राज-द्रव्योपेक्षा विनियोग
इत्यर्थः ।

'निपीडिता वमन्त्युचैरन्तःसारं' महीपतेः ।

दुष्टत्रया इव प्रायो भवन्ति हि नियोगिनः' ॥ १०८ ॥

'मुद्गुनिर्योगिनो वाध्या वसुधारा महीपते ! ।

सहृत्किं पीडितं स्नानवस्त्रं मुञ्चेद् द्रुतं पथः' ॥ १०९ ॥

एतत्सर्वं ज्ञात्वा यथाश्वसरं व्यवहत्सेव्यम् ।' सिंहो प्रूते—
'अस्ति हायदेवं, किन्नेती सर्वथा न मम वचनकारिणी ।'
स्तन्यकार्णो प्रूते—'एतत्सर्वं सर्वथाऽनुचितम् । यत —

निपीडिताः=दण्डिताः सन्तः, वमन्ति=राजघन ददाति । अन्तः=निभृतं
रूपान्तं, सारं=घनम् ॥ १०८ ॥

नियोगिनः=राज्याधिकारिणश्चाः ॥ १०९ ॥

मुद्गुः=वारवार, वाध्याः=राजा घनाऽऽदनाय ते पीडनीयाः । पीडिता एव
ते-वसुधाराः=घनकारिणी भवन्ति । यथा-‘वसुधाराः=घनवीराः-
नियोगिनो भूया वाध्या’ इति याऽन्वयः । स्नानवस्त्रं=धीनवस्त्र । द्रुतं=त्वरि-
त्म् । मुञ्चेत् किं=परित्यजति किम् ? । नैव परित्यजति ॥ १०९ ॥

हे राजन् ! राजकर्मचारी गण्य दवाने पर ही गुन (दिग्राए हूए)
घन को देते हैं । क्योंकि प्रायः ये राजकर्मचारी दुष्टमण्य (पके हूए जोड़े) की
तरह ही होते हैं । अर्थात् नैते पका जोड़ा दवाने से मनाद देता है, जैसे ही ये
दवाने ही से लुपाया हुआ घन देते हैं ॥ १०८ ॥

और हे राजन् ! घनी कर्मचारियों को बार २ दवाना चाहिये । क्योंकि
यथा स्नान का (गीला) कपड़ा पहने बार निचोऽने से सत्र जज्ञा खीम छोड़ देता
है । अर्थात् नहीं छोड़ता है ॥ १०९ ॥

ये सब बातें समझ २ पर समझ कहती राजा को अरने कर्मचारियों के साथ
रुनेवा प्रवहार करना चाहिये । तत्र सिंह भोज्या—यत तो यह ऐसी ही (टीक)
है, परन्तु ये बरहद श्रीर दमनक हिली प्रकार से भी मेरा कहना नहीं मानते हैं ।
अत्र स्तन्यकार्णो भोज्या—यह सब बात तो सर्वथा अनुचित है ।

१. 'महीपते' पा० । २ 'वाध्या' । ३ 'महीपते' । ४ 'वसुधारा' ।
५ 'निचोऽने' ।

‘श्राजामङ्गरान् राजा न क्षमेत्स्वसुतानपि ।

विशेषः को नु राज्ञश्च, राज्ञश्चित्रगतस्य च’ ॥ ११० ॥

१ अन्यथा—

‘स्तब्धस्य नश्यति यशो, विपमस्य मैत्री,
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः ।

विद्याफलं व्यमनिनः, कृपणस्य सौख्यं,
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य’ ॥ १११ ॥

२ अपरं च—

‘तस्करेभ्यो, नियुक्तेभ्यः, शत्रुभ्यो, नृपवच्छभात् ।

नृपतिर्निजलोमान्, प्रजा रक्षेत्पितेन हि’ ॥ ११२ ॥

राजः = पारायिक्य मृनिमतो राजः, चित्रगतस्य = भित्तिलिगितस्य च ॥ ११० ॥

स्तब्धस्य = अभिमानिनो जडस्य । विपमस्य = कुटिलस्य । नष्टेन्द्रियस्य

इन्द्रियपरापणस्य । अर्थपरस्य = धनी परापणस्य । व्यमनिनः = गूढादिभ्यस्तनाच्छ्रम्य

सौख्यं = सुखम् । प्रमत्तमनिनः = दुष्टामा-वमहापणस्य ॥ १११ ॥

तस्करेभ्यः = चोरैः । नियुक्तेभ्यः = दुष्टेभ्यो राजपुरुषेभ्यः । नृपवच्छभात्

राजप्रियात् । (‘दश’ ‘दुमादिब’ ‘मुँल्लगा’) । धनिशोकात् = शत्रुादिशो

करोति—राजा को चाहिये कि अपनी श्राद्ध को नहीं मानने वाले धरने

को भी दण्ड न करे, नहीं तो सधे राजा में और राजा की तगबीर में क्या

रहेगा ? ॥ ११० ॥

श्रीर घमर्था तथा शठ मनुष्य का घम नष्ट हो जाता है, और धनि

शमान काले तथा कर्षी की-निजला नष्ट हो जाती है, और नष्टेन्द्रिय (इन्द्रि

यपणस्य) दुष्ट का कुट (दण्ड) नष्ट हो जाता है, और जो वैयन घन धरने

की दण्ड रर ग है, उमहा धर्म नष्ट हो जाता है । और धरनी मनुष्य को विद्या

हो जाती है, और कृपण का सौख्य नष्ट हो जाता है, और निज राजा का म

प्रमानमान है, उमहा राज ही नष्ट हो जाता है ॥ १११ ॥

श्रीर राजा को चाहिये कि रर निजराजकोरो मे, धरने नीकरो मे, पारती शठ

१ ‘न क्षमेत् स्वसुतानपि’ । २ कश्चिन् । ३ ‘विद्वेषणम्’ ।

‘भ्रातः ! सर्वथाऽस्मद्बन्धुचरुं कियताम् । व्यवहारोऽप्यस्माभिः कृत एव ।
अयं सञ्जीवकः’ सत्यभक्तकोऽर्थाऽधिकारे नियुज्यताम् ।’

१ तद्वचनात्तथाऽनुष्ठिते सति, तदारभ्य पिङ्गलक-सञ्जीवकयोः सर्वबन्धु-
परित्यागेन महता स्नेहेन कालोऽतिवर्त्तते । ततोऽनुजीविनामप्याहारदाने
शैथिल्यदर्शनाद्दमनक-करटकवन्द्योन्वयं चिन्तयतः । तदाह दमनकः करट-
कम्—‘मित्र ! किं कर्त्तव्यम् ? । आत्मकृतोऽयं दोषः । स्वयं कृतेऽपि
दोषे परिदेवनमप्यनुचितम् । तथा चोक्तम्—

प्रमासर्वराऽरहाररेभ्यः कुक्षीदजीभिभ्यः । ‘निजलोभा’ इति पाठेऽपि—लोमप्रधान-
राजमुश्यादिलोभादित्यर्थः । इजलोभादिनि याऽर्थः ॥ ११२ ॥

व्यवहारः=पर्याधिकारनिर्णयः (फैसला) । कायंप्रबन्धो वा । दरदृवं व्यवहार-
मेवाद—अवमिति । तद्वचनान्=स्वभ्रातृरंचनेन । सर्वबन्धुपरित्यागेन =
दमनकादिपरिजनपरिवर्जनेन । अनुजीविनां=सेरकानाम् । परिदेवनं=चिन्तनं,

से, तथा अपने मित्र जनों से, एव अपने लोभ से प्रजाओं की विता की तरह
रहा करे ॥ ११२ ॥

और हे भाई ! आज हर प्रकार से मेरा ही कहना मानिये । हम लोगों ने
परी (इस मुकदमे का फैसला) किया है, कि—यास पाने वाले इस
सञ्जीवक को ही अर्थ (आय-व्यय) के अधिकार में लगा दीजिए ।

उसके कहने से पिङ्गलक ने वैसा ही किया । और तब से इन दोनों (पिङ्गलक
और सञ्जीवक) का समय और सबको छोड़ देने से बड़े प्रेम से बीतने लगा । इसके
बाद अपने भाई बन्धुओं को भोजन देने में भी शिथिलता होती देख कर दमनक
और करटक धारण में विचार करने लगे । दमनक ने करटक से कहा—मित्र, अब
क्या करना चाहिये ? । और यह तो (सञ्जीवक को राजा से मिलाना) करना ही
हिया हुआ दोष है । और अपने मित्रे हुए दोर में अब रोना-धोना भी अनुचित ही है ।

१ ‘सत्यमचकः सञ्जीवको मोचनाधिकारे’ । २. ‘एतद्वचनान्’ पा० ।
३ ‘दमनकवन्द्ये’ ।

‘स्वर्णरेखामहं स्पृष्ट्वा, वध्नाऽऽत्मानं च दृष्टिम् ।
 आदित्सुथ मणिं माधुः, स्वदोषाद्दुःखिता इमे’ ॥ ११३ ॥
 परटको मन्ते—‘कथमेतन् ? । दमनक. कथयति—

(५) स्वर्णरेखानापितादिकथा ।

अति पाद्मानपुरनामि नगरे यीरविक्रमो नाम राजा । तस्य धर्म-
 विफारिणा कश्चिन्नापिनो पथ्यमूमि नायमान, कन्दर्पकेतुनाम्ना परित्राजके
 चापुद्दिनीयेन ‘नाऽय इन्तज्य’ इत्युक्त्वा यन्नाश्रले घृतः । राजपुत्र-
 क्तु-‘निमित्ति नाऽय कथ्य’ ? । स आह—‘कथयताम् । ‘स्वर्ण रेखामहं स्पृ-
 त्यादि (प०) पठति । त आहु—‘कथमेतन् ? । परित्राजकः कथयति—
 ‘अहं सिंहलद्वीपस्य मू पतेर्जीमूतरेषो पुत्र पन्दपकेतुनाम् । ए-

शेदनञ्च । आदिमु = मिष्टु । तपु = भेडा (सेड) ॥ ११३ ॥
 मनाधिपती = न्यायाधिपता (‘दक’ ‘दाफिम’) । परित्राजकेन = मिष्टु

पत्राजके = स्वर्णरेखा । निमित्ति = कथयते । ते = राजपुत्राः । केनिदान-
 द्विगो न कथा सो दे—‘स्वर्णरेखा को लूने से म, और धरने को बंधने

पाती दूरी, और मणि को लेने का इच्छा करने वाला माधु से ही धरने ही
 शोभा से तु ली हूट है ॥ ११३ ॥
 कथा के लिये—पद कथा लेने दे । दमनक करने लगा—

उमगा कथा—‘स्वर्णरेखा (पुत्रपुत्र) मिनी नई को वागी पर कथा करने की जाह से जा
 रहा था, कि कन्दर्पकेतुनाम्न म वागीने उमे देना और वदने । कि हमने मान
 नहीं कथिते । देना कद कर उमने उम नरिज के रूप का एक कोना पकड़ लिया
 तब माता के ली को ले दू ? कि—हमें क्यों नहीं करना प दिने । तब मर ‘मर-
 रेखा को लूने कथा दि’ इ पदि को ह पदने लगा । तब राजपुत्रों ने दू-
 कथा कत है, तब वही । तब मर म वागी करने लगा, कि—मि गिरत हीर के

केलिमाननाऽवस्थितेन मया पोतवणिङ्मुखाच्छ्रुतं, यत्—'अत्र समुद्रमध्ये
चतुर्दश्यामाविर्भूतकल्पतरुतले रत्नावलीकिरणकुर्वुरपर्यङ्के स्थिता, सर्वा-
ऽतश्चारभूषिता स्रद्धमीरिव, वीणां वादयन्ती कन्या काचित् दृश्यते' इति ।

ततोऽहं तं पोतवणिजमादाय पोतमारुह्य तत्र गतः । अनन्तर तत्र गत्वा
मया पर्यङ्केऽर्धममा तथैव साऽवलोकिता । ततस्तल्लावण्यगुणाऽऽकृष्टेन
मयापि तन्यञ्चाऽकम्पो दत्तः । तदनन्तरं कनकपत्तनप्राप्य सुवर्णप्रासादे तथैव
सा पर्यङ्के स्थिता विद्याधरीभिरुपास्यमाना' मयाऽऽलोकिता । तथाऽप्यहं
दूरादेव दृष्ट्वा सर्वां प्रत्याप्य सादरं सन्भाषितः । तत्सरया च मया पृष्टया

धर्म्यनेन=नीहोचानस्थितेन । पोतवणिङ्मुखात्=सांवात्रिङ्द्वारा । आविर्भूतो यः
कल्पतरुस्तस्य तले = अर्धोभागे । रत्नावलीकिरणकुर्वुरपर्यङ्के=रत्नमालामयूतविहिते
मन्डपे । सर्वालङ्कारभूषितत्वेन च स्रद्धमीरिव दृश्यन् । पोत = जलपान (जहाज) ।
अर्धममा=अर्धमुक्ता (आधां लेटी हुई) । लावण्यनेन गुणः=रज्जुः, तेनाऽऽकृष्टेन ।
तान्यपयश्च गुणश्च, तैस्तद्वृत्तेनेति वा । भ्रम्यः=निमग्नम् । ('गोत्रा मारना' 'पानी
में बुदना') । पत्तन=पुरम् । सुवर्णप्रासादे=कनकमये प्रासादे । तथैव=अर्धममा ।
सम्भाषितः = सङ्गतः । 'सम्भाषितः' इति पाठे-भाषणादिना, कुशलप्रभादिना च

अनुरूपेण वा पुत्र कन्दर्पकेतु हैं । एक दिन आनन्दकानन में बैठे हुए मैंने जहाजी
बनिये के मुँह से मुना कि चतुर्दशी के दिन समुद्रमें एक कल्पवृक्ष प्रगट होगा है, और
उसी पर रत्नों की (रत्नों) से विभिन पद्म पर स्रद्धमी के सदृश चन्द्र अद्वारों से
भूषित, वीणा पवाती हुई एक कन्या दीगपड़ती है । इसके बाद मैं उस जहाजी
बनिये को साथ लेकर उदात्त पर चढ़कर उस प्रदेश में गया । वर मैंने वहाँ पल्लव
पर आधी लेटी हुई उम कन्या की उमी प्रफार से देखा । यह मुझे देखकर समुद्र
में गापर हो गई । इसके बाद उसके सौन्दर्य से मुग्ध होकर मैं भी उसने साथ
ही वहाँ समुद्र में नूद पड़ा । और मैं कनकपुर में जा पहुँचा । वहाँ जाकर
मैंने सोने के मरली में उसे सोने के पद्म पर लेटी हुई देनी ।
और वहाँ सुगी विद्याधरी जब उनही सेवा कर रही थीं । उसने दूर ही
से धरनी सर्वा को मेरा कर मुझे बुझाया और मेरा प्रफार किया । पूछने पर

१. 'अभिनवदीपनाभिरुपास्यमाना' ।

समाख्यातम्—'गणा कन्दर्पनेलिनाम्नो विद्याधरचन्द्रवर्तिनः पुत्री रत्नमउद्यो
नाम, प्रतिप्राप्तिता' विद्यते, 'य कनस्पत्तनं स्वचक्षुषाऽऽगत्य पश्यति, स
एव 'विनुरगोचराऽपि मा पश्चिण्यती'ति [-^३मनसः सङ्कल्पः] । 'उद्यो
गन्धर्वविवाहेन परिणयतु भवान् ।

अथ तत्र पृथगे गान्धर्वविवाहे तथा सह रममाणस्तत्राऽहं तिष्ठामि ।
एत एवञ्च गृहमि तथाच—'ग्रामिन्' । रवेन्द्रया सर्वमिदमुपभोक्तव्यम् ।
'परम् एषा चित्रगना स्वर्णरेखा नाम विद्याधरी न कदाचिदप्रष्टव्या ।

सा. पशादुपजातकीतुकेन मया सा स्वर्णरेखा स्वहस्तेन स्पृष्टा । तथा च
चित्रगनापञ्चदश^१ चरणपत्रेण तादृश आगत्य स्वराष्ट्रे पतितः ।^२अथ दुःख-
सांज्ञ परिश्रित प्रथियो परिभ्राम्यन्निमानगरीमनुव्रातः । अत्र चाऽतिश्रान्ते

सामा १५ २५ । विद्याधरचन्द्रवर्तिनः=विद्याधरमन्त्राज. । प्रतिप्राप्तता=प्रतिप्राप्तिता ।
तथा प्रतिप्राप्तिता गृह-च इति । विनुरगोचरोऽपि = मन्त्रिप्राप्तविद्योऽपि । परि-
द्योऽपि = मया सह निगृहं परिष्वसि । तत्र = अस्यां प्रतिप्राप्ततापश्चैव पुराणम् ।
पृथगे = निःपद्ये । तत्र = कनस्पत्तने । गान्धर्वविवाहे = रवेन्द्रविवाहे । इति
= भोग्य पदार्थेण, तत्र । एव = पुत्रोक्तिनी । चरणपत्रेण = पादपत्रेण । परिश्रितः =

उसरी मीने मुझे कहा कि—'यदि विद्याधर के राजा कन्दर्पनेलि की पुत्री है ।
इसका नाम रत्नमउद्यो है । इसकी पद प्रतिप्रा है, कि—जो कनस्पत्तन में आकर अपने
मेथो में मुझे देनेगा, उन्ही के साथ मैं अपनी विवाह, अपने विवा से पूरे विवा
भी कर लूंगी । परी इसने मन का सङ्कल्प है । इसलिये गान्धर्व विवाह से अब
इसने विवाह करिये । बाद में उसके पास गान्धर्व विवाह कर उसके साथ अपने
काग दुःख पड़ी रहने लगा । एक दिन एकत्र में उगने मुझमें कहा कि—दे स्त-
ति । अपनी उद्यो के अजुगार अब इन मन्त्री पदार्थों का उपभोग कर लो
है, पशु रम विष में जो पद गान्धर्वेणा नाम की विद्याधरी है, इसको प्राप्त
होप कनी मुझ से भी मत लगा देना ।

इसके बाद मुझको कहा कीतुह दुःख, और किने उग विद्याधरी को अपने
हृदये लू रिया । यहचि पद विष था, जो भी उसने मुझे एक हाथ मन्त्री को
में आकर अपने देह में लिया । अब मैं दुःखी होकर संन्यासी हो गया और इति

१. 'मनसा प्रीतिता'—'स' । २. उचित । ३. कदाचिदः पाठोऽप्यु-
च्यते । ४. 'किञ्च' । ५. 'अथ तथा इति-अथरेणोऽपि'ने पदप्र-
त्यये 'स' । ६. 'दो' ।

दिवसे गोपगृहे सुतः सन्नपरशम्-प्रदोपसमये^१ पशूनां पालनं कृत्वा स्वगेह-
मागतो गोपः स्ववधुं दूत्या सह किमपि मन्त्रयन्तीमपश्यत् । ततस्तां
गोपीं वाढयित्वा स्तम्भे बद्ध्वा सुतः ।

ततोऽर्द्धरात्रे^२ एतस्य नापितस्य बधूर्द्वी पुनस्तां गोपीमुपेत्याऽबद्धत्—
'वयं विरहाऽनलदग्धाऽसौ स्मरशरज्जंरितो मुमुर्षुरथ घत्तते ।'
तथा चोक्तम्—

रजनीचरनाथेन सखिडते तिमिरे निशि ।

युतां मनांसि विव्याध दृष्ट्वा-दृष्ट्वा मनांभवः' ॥ ११४ ॥

तस्य वाटशीमघस्थामवलोक्य परिक्रिष्टमनास्त्वामनुवर्त्तितुमागता ।

परित्यक्तसंस्थः । संन्यासीभूता । शुद्धा=मित्राणाम् । स्ववधुं = स्वपत्नीम् । दूत्या=
तुम्हें धारित्वा नापित्वा । मन्त्रयन्ती=स्मिन्नि परामृशन्तीम् । एतस्य = भवद्भि-
रप्येषानं नीयमानस्य । विरहानलदग्धः=विभोगग्निदग्धः । असौ=नायकः । जारः ।
नरशरज्जंरितः=मन्मथबाणविदीर्गहृदयः । मुमुर्षुः = मर्यापन्नः ।

रजनीचरनाथेन=चन्द्रमसा । सखिडते=नाखिते=सति । दृष्ट्वा दृष्ट्वा=चन्द्रालोके
नम्रं मुहुर्मुहुर्विलोक्य । मनोभवः=कामः ॥ ११४ ॥ परिक्रिष्टमनाः=दुःखितहृदया ।

र पूना २ वर्षों आया । गत दिन एक गोर के घर में सोये हुए मने देता कि
तुम्हारे पशुओं का पालन करके यह गोर गोठ से आने पर आया और अपनी
पत्नी को इसी दूती (कुत्ती) से बातचीत करते हुए देखा । तब उसने अपनी पत्नी
को पीट कर तामे में बाँध दिया और लो गता । इसके बाद आधी रात
। इस नाई की पत्नी यह दूती तिर उस गोरी के पास आकर बोली—दे मणि ।
राथे विरहानि से जन्मा दुःखा और काम के शरी (बाणों) से पीडित दुःखा
(नायक तेरा) पार करना ही चाहता है । क्योंकि कहा भी है—

रात्रि में चन्द्रमा ने जब अन्धकार को दूर कर दिया तब कामदेवने—दुवा पुष्पो
दृश्यो को वाह २ कर अपने बाणों से घायल कर दिया ॥ ११४ ॥

और उस नायक को यह शरणा देता कर दुःखी होकर मैं तुम्हारे पास आई
१ 'य गोरो गोजादागतःस्ववधुं' । २ 'अस्य' ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

तदहमत्राऽऽमान यदावा निष्ठामि । त्व तत्र गत्वा, त सन्तोष्य,
सत्वरमागच्छ ।

तथाऽनुष्ठिते सति म गाप प्रबुद्धोऽयदा—“इदानीं त्व पापिष्ठे ।
जायन्तिर दुःखानि यामि ? । तत्ता यदाऽसौ न किञ्चिदपि प्रते, तदा कृद्धो
गाप—‘दुर्गमम यचसि प्रत्युत्तरमपि न ददासी’ त्युक्त्वा, कोपेन तेन
‘कत्रिरामादाय तस्या नासिद्धा चिद्धता ।
तथा कृत्वा पुन मत्रा गोपो निद्रामुपगत । अथाऽऽगत्य सा गो
दूतीगत्या—‘वा वाता ? ।’
‘दूयाण—यय मम मुग्धमेय वार्ता कथयति । अनन्तर सा ॥

अत्र निद्रा = अत्रानुपविष्ट । ॥ य तपस्विनाटे । तथाऽनुष्ठिते = प्राप्तौ द्रष्टा,
गोपी गौरी वा तपि । प्रबुद्ध = जगताया । तस्या तत्र = रत्नापकनिकटे
(अपनी वा के बाय) । इत्यपीनासिष्ट । अग्री = गोपी । ब्रूते = प्रवृत्त दक्षि
द्वारा = अति नाग । नि = गगन । वनिष्ठा = तुरिका । तथा कृत्वा =
न विनाशिता । दू = दूती गो मन्त्रिका नाशान्तर । वार्ता = वृत्तान्त । (

है । सा वही पर म गगन से ॥ म तत्र तत्र वर लक्ष्मी रहती है, व
गौरी गौरी उम की को मजु पर शाप गया था ।
एव गोपी म मर्त्त (दूती) को लो लामे से वाप रिया थीर धार करने
से । (दूती) म वम गया हू । एव एता वरिण न दवर दो गया हव व
लेन म ल हीर म ता हि धरी कानि । एव अतो वर के पास क्यों नहीं ग
है । एव व म वर कृष्ण नहीं म नी, एव वर लेन म दू होर देण ।
अपनी दूती म लेर उमो म दूती की नाव व हणो । देण वरके
एव लेनि म एता थीर म गो न - छात । एव गोपी ने वार से ।
एव से पूजा विष्णु व दे । एव वर वर ही नहीं है न । एव दूती ने
मुक्ते देणके, म म ही म व उ वर वर दे । एव व द वर से
- एव वर व व । ॥ इदानीं म मर्त्त - व व म म म ।
व व व । एव व व व व व । ॥ एव व व व । ॥ एव व व व ।

तथा कृत्वाऽऽत्मानं वदुध्वा स्थिता । इयं च दूती तां द्वित्रां ३ नासिकां
 गृहीत्वा ३ स्वगृहे प्रविश्य स्थिता । ततः ५ प्रातरेवाऽनेन नापितेन स्ववधुः
 क्षुरभाण्डं याचिता 'सती क्षुरमेकं प्रादात् । ततोऽसमप्रभाण्डे प्राप्ते ममुप-
 जावकोपोऽयं नापितस्मिं क्षुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान् । अथ ६ कृत्वाऽऽर्त्तराधेयं
 विनाऽपराधेन मे नासिकाऽनेन च्छिन्नेत्युक्त्वा धर्माधिकारिसमीपमेन-
 भनीतवती । सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच—'अरे पाप ! को मां
 महासतीं विरूपयितुं समर्थः ? । मम व्यवहारमकल्मषमष्टी लोकरपाला एव
 जानन्ति' । यतः—

का क्या हाल है ?) । चर्त्ता = स्वनासिकाच्छेदनव्यापारम् । स्ववधुः = स्वपत्नी
 नारिणी । क्षुरभाण्डं = क्षुरसाधनभाण्डम् । ('लोकर' 'उत्सरो का द्विधा') ।
 असमप्रभाण्डं = असमपूर्णे क्षुरभाण्डे । कृतात्तं धारा = कृताकृत्या । ('विज्ञानी दूरं') ।
 अरसायं विनाऽपि अनेन = मद्भर्ता । एन = नापितम् । विरूपयितु = द्वित्रनामिकां
 रियातुम् । स्ववधुः = चरितम् । अकल्मषं = निष्पार, शुद्धम् । लोकरपालाः =
 आदि स्वभ्रातृभिनवाशयः ।

दिली तरह अपने आर संपहर राही हो गई । और यह दूती नारिणी अपनी उस
 कभी हुई नाक को लेकर अपने घर में जाकर चुन चाव बंध गई । और प्रातःकाल
 पर नारि ने अपनी स्त्री (दूती) से छूरा रखने का लोहार माँगा, तब उसने एक
 पूग उसे दे दिया । तब उसने पूग २ लोहार म पाकर नारे गौर के दूर ही ही
 उस दूरी को घर में फेंक दिया । इसके बाद उस नारि की स्त्री ने कोनारल मचाना
 करने कर दिया कि विना अरसाय ही इसने मेरी नाक काट डाली है । ऐसा कह
 कर अपने पति इस नारि को न्यायकर्ता (जज) के पास ले आई । और उधर
 'तब गौर ने भी गौरी से फिर वही प्रश्न पूछा कि अपने जार के पास आज तुं
 को नही आई है ? । अपनी कटी हुई नाक उस ही दिवालाने क्यों नहीं गई ? । तब
 दूती बोली—अरे पारि ! मुझ सती का रूप धीन बिगाड़ सकता है ? । मेरे
 अरसाय को जो इन्द्र आदि आठो लोहराज ही जानते हैं, द्विती केही सती
 नहीं है । मैं पार और तुम्हें क्या जानेगा ।

१ 'दूतीऽऽत्मानं वदुध्वा स्थिता' । २ 'द्वित्रनामिकां' । ३ 'निजगृहे' ।

तद्दहमत्राऽऽमानं 'यदुष्या निष्ठासि । त्वं तत्र गत्वा, तं सन्तोष्य,
 सत्परमागच्छ ।'^१
 तथाऽनुष्ठिते सति स गोपः प्रयुद्धोऽयदत्—'इदानीं त्वं पापिष्ठे'^२
 जारान्तिरुं कुतो नयासि ? । ततो यदाऽसी न किञ्चिदपि व्रते, तदा कुरुं
 गोपः—'द्वर्षान्मम 'वषसि प्रत्युत्तरमपि न ददासी' त्युस्त्या, कोपेन ?'^३
 'कर्त्रिणामाशय तस्या नासिका चिद्धन्ना ।
 तथा कृत्वा पुन. मुग्धो गोवो निद्रामुपगतः । अथाऽऽगत्य सा गोम।
 दूर्तामपृच्छत्—'वा यानां ?'^४
 'द्वयानां—परय. 'मम मुरमेव वार्ता कथयति । अन्तरं सा गोपी

अनुष्ठितम् = अनुष्ठितवपुम् । 'य' = नापस्विनस्ते । तथाऽनुष्ठिते = अत्रामानं कर्तुम्
 गोपीनिवेने कुरुं गति । प्रयुद्धः = मुग्धोत्थितः । जारान्तिरुं = स्तनापकनिष्ठे ।
 (अन्ते वार के वाम) । 'द्वयानां' = लुरिकायम् । कृते = प्र सुतरं ददाति ।
 'वषसि' = अग्निमान् । तेन = संपेन । कर्त्रिणाम् = कुरिकायम् । तथा कृत्वा = अस्ता
 नाभिसा विज्ञा । दूर्ता = वदी तो सन्तरिना नाभिरान्धुम् । वार्ता = वृत्तान्तः । (पर
 है । अतः वदी पर इस स्थाने से तो मैं तब तक बंध कर लड़ी रहती हूँ, और मैं
 वही जाकर उस बानी को मनुष्य कर चीज पक्षी था ।
 तब गोपी ने इस नाभिसा (दूती) को तो तमसे ने बा-य शिवा और आर करने
 प्रेमी (बानी) के वाम पक्षी गदे । अब ऐसा परिचयन दखर हो गया तब वह
 गेन जाया और श्रेष्ठा नि-ग्रही पापिष्ठि । अब प्रयत्ने वार के वाम बंधी नहीं बन्दी
 है ? । इसके बाद जब वह पुनः नहीं बोली, तब वह गोप मुद्द होकर बोला कि
 अमी कर्त्रिण, मारे पदपद के मेरी बानी का मन्त्रकी नहीं देती है । । ऐसा कह
 कर उसे दूती (वह) सेकर उगने उस दूती को नाक बाट डाली । ऐसा बरके
 गेन लोचिब को मना और उगने नींद थागई । तब गोपी ने वार से क
 दूती से पूरा वि-कल बन दे । बंधे नरं बन तो नहीं है न ! । तब दूती ने
 -दुग्धो देगने, मेरा मुग्ध ही मर हाज कर रहा है । उसके बाद पर लो
 १. 'तदहम' 'ममम' । २. 'इदानीं जारान्तिरुं कथं न पापिष्ठि' ।
 ३. 'वषसि' 'ममम' । ४. 'दुग्धो' । ५. 'परय, मनुग्धो'

'तया कृत्वाऽऽत्मानं वदध्या स्थिता । इयं च दूर्ता तां द्वित्रां ३ नासिकां
गृहीत्वा ३ स्वगृहे प्रविश्य स्थिता । ततः ४ प्रातरैवाऽनेन नापितेन स्ववधूः
पुरभाएहं याचिता ५ सती चुरमेकं प्रादात् । ततोऽसमप्रभाण्डे प्राप्ते समुप-
जावद्योपोऽयं नापितस्तं चुरं दूरादेव गृहे क्षिप्तवान् । अथ ६ कृताऽऽर्त्तराधेयं
'विनाऽपराधेन मे नासिकाऽनेन चिद्धमेत्युस्त्या धर्माधिकारिसमीपमेन-
'कनोवपती । सा च गोपी तेन गोपेन पुनः पृष्टोवाच- 'अरे ७ पाप ! को मां
महासती विरूपयितुं समर्थः ? । मम व्यवहारमकल्मषमष्टौ लोकरपाला एव
जानन्ति' । यतः—

१। क्वा हाल है ?) । वार्ता = स्वनासिकाच्छेदनन्यापारम् । स्ववधू = स्वपत्नी
विनी । चुरभाएहं = तौरसाधनभाएहम् । ('लोगर' 'उत्तरो का द्विगा') ।
समप्रभाण्ड = प्रसापूर्गे चुरभाएडे । कृतासंवावा = कृतासन्दा । (चित्ताता दुई) ।
परा रिनाऽपि अनेन = मद्रना । एन = नापिनम् । विरूपयितुं = द्विजनासिकां
वदुम् । ७ परहार = चरितम् । अकल्मष = निष्पार, शुद्धम् । लोकरपालाः =
विचन्द्राभिनयादायः ।

ती तरह अपने आप बँधकर लटो हो गई । और वह दूनी नापिनी अपनी उस
दुई नाक को लेकर अपने घर में जाकर चुप चाप बैठ गई । और प्रातःकाल
नई ने अपनी स्त्री (दूनी) से छूरा रखने का लोखर माँगा, तब उसने एक
उसे दे दिया । तब उसने पूरा २ लोखर न पाकर मारे मोह के दूर ही से
दूरे को घर में फेर दिया । इसके बाद उसनाई की स्त्री ने कोनाहल मचाना
न घर दिया कि रिना अपराध ही इसने मेरी नाक काट डाली है । ऐसा कह
ने ने भी गोंगों से फिर वही प्रश्न पूछा कि अपने जार के पास आज तू
ही बंधे है ? । अपनी कटी हुई नाक उसको दिखलाने क्यों नहीं गई ? । तब
ते बोली— अरे पारी ! मुझ सती का रूप कौन बिगाड सकता है ? । मेरे
परहार को तो इन्द्र आदि आठो लोकपाल ही जानते हैं, किन्तु कैसी सती
? । तू पारर जीव मुझे क्या जानेगा ।

१ 'कृताऽऽत्मानं वदध्या स्थिता' । २ 'द्वित्रिनासिका' । ३ 'विजरे' ।
४ 'ततः' । ५ 'पुरभाएहं याचिता' । ६ 'कृतासंवावा' ।

‘आदित्यचन्द्रावनिलोऽनलश्च,
घोभूमिरापो, हृदयं, यमश्च ।

अदृश्य, गत्रिश्च, उमे च सन्ध्ये,
धमश्च जानाति नरस्य वृत्तम्’ ॥ ११५ ॥

यद्यहं परमसती ह्यं, त्वां विहायाऽन्यं न जाने, पुरुषाऽन्तरं स्वप्नेऽपि
न हि भजे, (‘सर्हि) तेन धर्मेण विज्ञाऽपि मम नासिकाऽद्विजाऽपि ।
मया त्वं भरम कर्तुं शक्यसे । किन्तु स्वामी त्वं, लोचभयादुपेक्षे, ‘त्वाम् ।
परम मन्नुत्तम्’ । ततो यावदसौ गोपा दापं भव्याल्य^३, तन्मुत्तमयलोको,
‘सायदुत्तसं मुत्तमयलोच्य, तथरणयोः पतितः-‘धन्योऽहं यत्पेदशी भाषा
परमसाध्या’ इत्युवाच^४ ।

अभिः = राघुः । अनलः = अग्निः । घीः = गतनम् । वृत्तं = वृत्तं ।
परितम् । (चाल-चालन) ॥ ११५ ॥

उत्तमम् = उत्तमनामिहम् । नानिवापुम् । इति = उत्तमम् । राघुः = भोक्ता ।

बधोऽहं स्वप्ने, पद्ममा, वायु, आम, आकाश, धूमिरी, जल, मन, पनप
दिन, राग, दोनो गन्धा (प्रातःमन्त्रा और सायंकन्त्रा) और घनं देव
मनुष्य के वृत्त (वृत्त, परिः) को जानते हैं ॥ ११५ ॥

और परि में परम मनी और नवी परिभाषा होके, और गुणको लोके वर वृ
पुण्य को भी नहीं जानती होके, और स्वप्न में भी कभी मैं पर पुण्य का भ
(गन्तव्य) नहीं करती होके, लो मेरी कही हुई नाह भी गिना कही हुई (व
की तरह ही ट.) होकार । और मैं तो गुणको मन्म कर गरी हूँ, पर गुण
रानी (परि) हो, दस जिसे लोचनप से ही मैं गुणको उपेक्षा करती हूँ (व
लोके देती हूँ, मन्म नहीं करती हूँ) । और लो, मन्म गुण देती । हमके वार के
हीन भाषा कर यह उत्तमे गुण को देगा तो पूर्णवत् लोचो प्रपन्ना-नाक पुण्य
को देग वर, जगके पारलो पर गिर पदा । और लोचो वि-प्रदो । मैं व
दिगते देती परिभाषा लो है ।

१ व-अनल । २ ‘मदीन-लोच तन्मा गुणं परपरि’ ।

३ ‘लक्ष्मी’ । ४ ‘उवाच’ । काविकावम् ।

याऽयमास्ते माधुरेतद्दृष्टान्तमपि १ कथयामि । शृणु—
 'अयं स्वगृहान्निर्गतो २ द्वादशवर्षमलयोपकण्ठादिमां नगरीमनुप्राप्तः ३ ।

अत्र च वेरयागृहे सुप्तः । ४ ततः कुट्टन्या गृहद्वारि स्वापितस्य काष्ठयटित-
 वेतालस्य मूर्धनि रत्नमेकमुत्कृष्टमास्ते । ५ तत्र लुब्धेनाऽनेन साधुना
 राजावुन्याय ६ रत्नं गृहीतुं यत्रः कृनः । तदा ७ तेन वेतालेन सूत्रसञ्चारितेन
 पशुभ्यां पीडितः सन्नात्तनादमयं चकार । पश्चाद्गुत्याय कट्टन्योक्तम्—

'पुत्र! मलयोपकण्ठादागतोऽसि, तत्सर्वरत्नानि प्रयच्छाऽस्मै, नो चेद्दनेन
 न त्यक्तव्योऽसि । इत्यमेवाऽयं चेत्कः ।' ततोऽनेन सर्वरत्नानि समर्पितानि ।
 साधुना ८ चाऽयमपहृतसर्वस्योऽस्मासु समागत्य ९ मिलितः ।

मन्वयोरश्रुत्वात्=मलयोपकण्ठप्रदेशाद्वल्लान्तरान् । तस्याः कुट्टन्या=वेरयाया-
 लन्या । वेरयाया उपमाया । ('वेरयामाता' 'नायका') । काष्ठयटितवेतालस्य=काष्ठनिर्मि-
 तपत्रमयवेतालस्य । वेतालो मूलशिशोः । अस्मै=वेतालाय । चेत्कः=नायाविलामः ।
 ('निज्जन्म' 'जादू,' 'दोना') । घनमोचनोपायः । (इम से छूटने का यही एक
 उपाय है) । अस्मासु=परिप्राजकेषु । न्याये=न्यायोऽन शिवायनामिति । प्रय-

१ और हमारे साथ मैं और यह जो बनिवा है, इसका वृत्तान्त भी मैं श्राव लोगों से
 करता हूँ, सुनिये । यह वेरय अपने घर से निरगत कर बारह वर्ष के बाद मलयोपकण्ठ
 के पास से धन कमाकर इस नगरी में आया । और यहाँ किसी वेरया के घर में रात
 को सो गया । उस वेरया की माता कुट्टनी ने अपने शहर पर एक काष्ठ का वेताल
 (भूत, शिवाय, पुतला) रखा कर रक्ता या, जिम के शिर पर एक १ बटु-
 दन्त रत्न जड़ा हुआ था । यहाँ इस लोभी बनिये ने रात को उठ कर उस रत्न
 को लेने का प्रयत्न किया । तब उस वेताल (पुतली) ने यन्त्र से चढ़ने वाले अपने
 बटुदन्तों से इनको और से दबाया तो यह चिल्लाने लगा । तब वह कुट्टनी उठ कर
 बोली कि बेग ! मलयोपकण्ठ से तुम आये हो, अतः तुम्हारे पास अमर जरादि-
 गत होने, जो तुम उन सब रत्नों को इसे दे दो, नहीं तो नहीं छूटोगे । इस भूत से
 मैंने का यही एक उपाय है । यह जादू (निज्जन्म) इसी प्रकार का है । तब यह
 अपना सा रत्न धन रत्न उसको देकर भिडु होकर हम लोगों में आकर मिल गया ।

१ 'द्वयिन्' । २ 'निःश्रुतो' । ३ 'मागतः' । ४ 'तन्या' । ५ 'तद्दृष्टान्तं'
 'वेना' । ६ 'इय इस्ती दत्तः' । ७ 'वदेव' । ८ 'सायमपि हा' । ९ 'स्मासु'
 'दत्तः' ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

एतमपि श्रुत्वा राजपुरुषेभ्योऽपि घमांधिकाराः प्रवर्तिताः । अनन्तरं
 तेन मा^३ दूनी गोपी च प्रामादुर्दिनि सारिते । नापितत्र गृहं गत । कुट्टनी
 दृष्ट्वा^३ इत्यादि । १६ ।
 मित्र^३ अथ मय दृष्टोऽप्य दोग, अत्र विलपनं नोचितम् । (वरुं विगृह्य-)
 मित्र^३ यथाऽनयो सोहादं मया फरितं, तथा मित्रभेदोऽपि मया
 पार्यं । यम —
 'अथान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः^६ ।
 ममे निमोन्नतानीत्र चित्रवर्मनिदो जनाः^७ ॥ १२६ ॥

तिता = प्रणिता । ३२ = नेनाऽन्यगणेन । तेन घमांधिकारिणा वा । स्वदृष्टा =
 आगमना दृष्ट । विलपन = परिदेवनम् । मया = समनसेन ।
 घमांधिकारि = मया-वधि गमूनि । तथ्यानि = तथ्यानीय । अपिशला =
 गतुया । म = प्रतिभेदनि विप्रपटे । निमोन्नतानीय = पर्यासागरादिप्रदेशानि ।
 चित्रवर्मनिदो = चित्रवर्मकुशला दर्शयन्ति ॥ १२६ ॥

यह सब बात सुनकर राजपुरुषों ने बचारी में व्यापार्यस्य से जाकर बरा
 ही गई । और नई कुट्टर करने पर गया । और कुट्टनी को राजदृष्ट कुश
 'दृष्ट्वा' (दृष्ट करके) इत्यादि । सो अत्रना हीरिया हुआ यह (मित्र और मैत्र की
 मित्र का भाग) पर देण दे । अतः अब इसमें रोनाटोक नहीं । (सोही देर निवृत्त
 है ही में हाहाहा नि भेद (मित्रों में दृष्ट करना) भी बरा मरता है । कवी
 चतुर ही म भूट की नी म द काके दिना मरते हैं । जैसे मित्र हीने पने
 चतुर मरुप मन पगा पर भी (पराक पर ६ इति बनार) नीना-अप्या मरे
 गिता है ॥ १२६ ॥

१. अथान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः । २. अथान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः । ३. अथान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः । ४. अथान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः । ५. अथान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः । ६. अथान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः । ७. अथान्यपि तथ्यानि दर्शयन्त्यतिपेशलाः ।

अपरञ्च—

‘उत्पन्नेष्वपि कार्येषु मतिर्यस्य न हीयते ।

स निस्तरति दुर्गाणि, गोपी जारद्वयं यथा’ ॥ ११७ ॥

करटकः पृच्छति—‘कथमेतत्’ ? । दमनकः कथयति—

(६) गोपीजारद्वयकथा ।

अस्ति द्वारकत्यां पुत्रां कस्यचिद् गोपस्य वधूर्नन्धकी । सा प्रामस्य
एतनायकेन, सत्पुत्रेण च ‘समं रमते । तथा चोत्तम—

‘नाऽग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नाऽऽपगानां महोदधिः ।

नाऽन्तकः सर्गभूतानां, न पुंसां वामलोचनाः’ ॥ ११८ ॥

उत्पन्नेष्वपि = उत्पितेष्वपि । न हीयते = न विधीरति । निम्नरति = तरति ।
गति = गिरिदः । जारद्वयं = समकालसमागत-जारद्वयोर्था ममग्या । त्रिदम् ॥ ११७ ॥

नन्धकी = प्रसती । अग्निचारिणी । (‘द्विनाल’) । एतनायकेन = रत्नायु-
रूपेण । (‘कोनवाल’ या ‘सेनापति’) । सम = सह ।

काष्ठानाम् = इन्धनानाम् । ‘इन्धने’रिति यावत् । सम्बन्धसामान्ये पठो । आर-
ना = नदीनां । नदीमिति यावत् । अन्तकः = यमः । पुंसां = पुरुषः । वाम-
लोचनाः = वृगलोचना, शिवः न तृप्यन्ति ॥ ११८ ॥

श्रीर उत्तम (उत्पत्त्या) कार्यो मे विसती बुद्धि नष्ट नही होती है, (व्यापुक्त
ही होती है), वही कठिनाइयों से पार होता है, जैसे वह ग्यालिन दो जारों
उत्तमी पुत्रों) से पार हुई थी ॥ ११७ ॥

करक पूछने लगा—सह क्या वैसे है ? । दमनक करने लगा—

द्वारकी (द्वारका) नगरी में निम्नी ग्याले थी बहू बढी कुलटा थी । यह एक
श्रीर अपने नगर से दृष्टनायक (कोनवाल) से श्रीर उसके पुत्र से भी रमय
थी थी (उन दोनों से बँसी थी) ।

देमा ही कहा भी है—अग्नि की-काष्ठों से, समुद्र की-नदियों से, यमराज की-
अन्तियों से, श्रीर त्रियों की-अनेक पुरुषों से भी कमी वृत्ति नहीं होती है ॥ ११८ ॥

१ ‘ए’ । २ ‘वामलोचना’ ।

अन्यथा—

‘न दानेन, न मानेन, नाऽऽर्जवेन, न सेवया ।
न शस्त्रेण, न शास्त्रेण, सर्वथा विपमाः स्त्रियः’ ॥११६॥

यतः—

‘गुणाऽऽश्रयं, कीर्तियुतं च, कान्तं,
पतिं, रतिर्गं, सघनं, युवानम् ।
विहाय, शीघ्रं वनिता व्रजन्ति
नराऽन्तरं शीलगुणाऽऽदिहीनम्’ ॥ १२० ॥

अपरदा—

‘न तादृशीं प्रीतिमुपेति नारी,
विचित्रशय्यां शयिताऽपि कामम् ।

न दानेन । ‘ददान्ते’ इति शेषः । न मानेन । ‘प्रसीदन्ती’ इति शेषः । दाम्नीन
= सारप्रवदा । न-नैव । ‘वशीभान्ती’ इति शेषः । अपाद्य विपमाः=दुर्मताः,
वदित्वाद्य ॥ ११६ ॥

गुणाऽऽश्रयं=गुण्डिनम् । कान्तं=मनोहरम् । रतिर्गं=गुरवमत्तरमत्तम् । नराऽऽन्तरं=नरापूरणम् । उपरिम् ॥ १२० ॥

विचित्रशय्या=विचित्रमुद्रणयंत्रम् । शयिताऽपि=गुणाऽपि । शयिताऽपि च ।

छोर विप्रा—न भी दान से, छोर न मान से, न सखता छोर सखनता से,
छोर न शस्त्र से, न शास्त्र से, छोर न शस्त्र से ही वय से होती है, अपरदा
विप्रा को माया को मन प्रहर से विन (वदित्वा) ही होती है ॥ ११६ ॥

वदित्वा—गुण्डिन, वशीभान्, गुरव, रति के जानने वाले, मनरान् छोर
नरान् वी को भी होदकर विप्रा छोर गुण्डि से रति अन्य मनुष्यो
दण्डन वाली जाती है ॥ १२० ॥

छोर भी—अपदा मनु गुरव रूपका पर अपदी तरह गुण पूरक ही होती है,
भी भी होती अपदा छोर गुणी नहीं होती है, जैसी कि धान, पूग, दूध आदि है

यथ हि दुर्वाऽऽदिविकीर्णं भूमौ

प्रयाति सौख्यं परकान्तसङ्गात् ॥ १२१ ॥

अथ 'कदाचित्सा दण्डनायकपुत्रेण सह रममाणा तिष्ठति । २' अथ दण्डनायकोऽपि रन्तुं तत्राऽऽगतः । तमायान्तं दृष्ट्वा, तत्पुत्रं कुराले निक्षिप्य, ३ दण्डनायकेन सह तथैव ग्रीहितवती । अनन्तरं तस्या भर्ता गोपो गोप्रातसमागतः । समानोक्य गोप्योक्तं—'दण्डनायक ! त्वं लगुहं गृहीत्वा, कोपं दर्शयन् सत्वरं गच्छ' ४ ।

'तथा तेनाऽनुष्ठिते, गोपेन गृहमागत्य, भार्यां पृष्ट्वा—'केन कार्येण दण्डनायकः 'समागत्याऽत्र स्थितः' ? । सा प्रूते—'अयं केनाऽपि

कामं = वपेऽङ्गम् । दुर्वादिविकीर्णंभूमौ = तृणाद्यालीर्षाया कटिनाया वनादिभूमौ । सौख्यं = सुखम् । परकान्तसङ्गात् = उपपत्तिसङ्गात् ॥ १२१ ॥

स = गोरी । रममाणा = मुरताऽऽसक्ता । कुराले = पार-याऽऽवपने । ('शोररी'ति' 'पत्नी'नि च प्रमिते) । तपी = पूज्यदेव मुरतकीडया । गोपान् = गोपाननात् ।

१ एक ऊबड़-गाबड़ कश्मकाकीर्ण कटिन भूमि पर पराये पुरुष के साथ सोहर सुनी व प्रसन होती है ॥ १२१ ॥

पुत्र काल के बाद एक दिन वः स्त्री दण्डनायक के पुत्र के साथ रमण कर रही थी, कि इतने में दण्डनायक भी उसके साथ रमण करने को उसके घर पर आया । उसे आते देखकर उसने उसके पुत्र को अन्न की फोटली में दिया दिया श्रीर रम्यं निर्भव हो दण्डनायक के साथ बैठे हीरति कीटा करने लगी । रत्ने में उसका पनि गाला भी गोपाला से घर आ गया । उसे आते देख कर उस स्त्री ने कहा कि—'हे दण्डनायक ! आर लाठी हाथ में लेकर उने पश्चते हुए होरनुदा में यहाँ से शीम ही बले चाहमे । मुनकर पर दण्डनायक (कोव-रुद) को शीप से लाठी पट्टता हुआ, पट्टता हुआ हुआ, मोर करता हुआ शीम यहाँ से पला गया । तब उस स्त्री के परि खाने ने घर आकर अपनी सोसे पूजा कि पर दण्डनायक यहाँ क्यों आया थाई । तब वह बे'शीरि—'पर अरने

१. 'अथ सा कदाचिदण्डनायकपुत्रेण' २ 'अथान्तरे' । ३ 'पृष्ट्वा' ।

४ 'निक्षिप्य' । ५ 'तथाऽनुष्ठिते' सति स गौतम्यथागत्य भार्यां पृष्ट्वात्' । ६ 'समागत्याऽत्र' ।

‘कारणेन पुत्रस्योपरि क्रुद्धः । स च पलायमानोऽत्राऽऽगत्य प्रविष्टो, मया
कुत्राले निक्षिप्य २रक्षितश्च । तत्पित्रा चाऽन्विष्यताऽत्र ३गृहे न दृष्टः ।’

‘अथ पयाऽय (दण्डनायकः) क्रुद्ध एव गच्छति ।’

ततः सा तत्पुत्रं कुत्रालाद्दक्षिष्ण्य ४ दर्शितवती । तथा षोडशम्—

‘आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्नासां चतुर्गुणा ।

पद्गुणो व्यवसायश्च, कामथाज्जगुराः स्मृतः’ ॥ १२२ ॥

अनोऽहं प्रथामि—‘उपन्नेष्वपि कार्येषु’ इत्यादि ॥ ६॥

करदशो मृते—‘अस्त्वेषम् । कित्थनयोर्महान्म्योन्यं नैसर्गिकः स्नेहः
कथं भेदयितुं शक्यः’ ? । दमनको मृते—‘उपायः’ क्रियताम् ।’ तथा
षोडशम्—

वार्ता = लीलायाम् । ध्यामायः = ध्यायारः ॥ १२२ ॥

पुत्र पर हिमो कारण से क्रुद्ध हो गया है । इसलिये इसका पुत्र हर के मारे भाषण
हमारे यहाँ आकर दिया गया था । और मैंने उसे छत्र की इस कोठली में दिखाकर
दिली तरह बना लिया है । इसके बिना ने बूढ़ने पर भी जब यहाँ बस हो नहीं नही
पाया तब यह दण्डनायक क्रुद्ध हो बड़बड़ाता हुआ चला गया है । देखा बरबर
उम गौरी में दण्डनायक के पुत्र को कोठली में बाहर निहाल कर दिया दिया ।
और वह भी भीहा बाहर अपने पर गड़ा गया ।

दिली ने कहा भी है—पुत्रों को छोड़ना मे चियों का भोजन गुना, बुद्धि
कीगुनी, परिभ्रम तः गुना और कामदेव छाट गुना अधिक देना है ॥ १२२ ॥

इसकेबिने मे बरदा है कि रिमन कार्य उपरिगत होने पर भी जिसकी बुद्धि
नष्ट नहीं होती है, वही संकट में पार होता है—उत्पादि । तब बरतक बोला कि—
और है, पण्डित मन नेमों (भिद-वृत्त) का एक दूमे में ररमार से ही प्रेम
नगण हो गया है, इस प्रेम की दृष्ट मरग दे । तब दमनक बोला कि—उत्पा
बरग पारिदे । मेरे क्या भी है—

१. ‘बरेदः’ । २. ‘रक्षितः’ । ३. ‘अथ न दृष्टः’ । ४. ‘दक्षिणं कुत्राले
निक्षिप्य’ । ५. ‘दण्डनायकः’ । ६. ‘उपन्नेष्वपि कार्येषु’ ।

‘उपायेन हि यच्छस्यं न तच्छस्यं पराक्रमैः ।

‘काक्या कनकसूत्रेण कृष्णसर्पो निपातितः’ ॥ १२३ ॥

करटकः पृच्छति—‘कयमेतन् ? । दमनकः कथयति—

(काकी-कनकसूत्र-सर्पकथा) ।

कस्मिंश्चित्तरी घायसदम्पनी निवसतः । तयोऽपत्यानि तत्कोटरा-
स्थितेन कृष्णसर्पेण खादितानि । ततः पुनर्गर्भवती घायसी २घायस-
—‘नाथ ! त्यज्यतामयं तरुः । ३अत्राऽवस्थितकृष्णसर्पेणाऽऽवयोः
उक्तिः सततं भक्ष्यते’ । यतः—

‘दुष्टा भार्या, शठं मित्रं, मृत्युथोत्तरदायकः ।

ससर्पे च गृहे वासो, मृत्युरेव न संशयः’ ॥ १२४ ॥

नैसर्गिकः = सदृशः, अकारणः । कनकसूत्रेण = रत्नशेखरकाल्येनाऽलङ्कारेण,
रत्नमेव ॥ १२३ ॥

तरी = वृक्षे । घायसदम्पनी = कान्तिशुभम् । काकः, काकीव । घायसी = शरी ।
३ = दुष्टः ॥ १२४ ॥

उपाय से जो दो सच्चा है, वह बल से नहीं दो सच्चा है, बीसे फौजी (फौजे
खी) ने सोने के बीरे (आभूषण) के अलम्ब से एक मयदूर वाले सौं
मार दासा था ॥ १२३ ॥

करटक ने पूछा कि—वह क्या बीसे है ? । दमनक कहने लगा—
किसी वृक्ष पर एक कीरा अपनी खी के साथ रहता था । उसके बच्चे को
नी वृक्ष के लोंगले में रहने वाला जाना मर गया जाता था । तब वह फौजी जम
1: गर्भवती हुई तो अपने पति उस बीरे से, बेटी कि—दे नाथ । इस वृक्ष को
द दीक्षिते, क्योंकि इसमें रहने वाला काला सौं हम दोनों को सन्तान को
1: सा जाता है ।

कोहि—दुष्ट (तीरी) स्त्री, मूर्ख मित्र, उत्तर देनेवाला सेरक (नीर)

१. ‘करः कनकसूत्रेण कृष्णसर्पेण खातवत् ।’ इति वा० । २. ‘घायसी वृत्ति’ ।
३. ‘अथ घायसस्यैवाऽवयोः सन्ततिः कदाचिद्वि न भविष्यति’ ।

वायसो व्रते—'प्रिये ! न भेतव्यं, चारं चारं मयैतस्य 'महानपराधः सोऽः, इदानीं पुनर्न घ्नन्तव्य-।' वायस्याह—'कथमेतेन चलधता 'कृष्ण-सर्पेण साधं भयान्निप्रहीतुं समयः ? ।' वायसो व्रते—'अलमनया 'शाठ्या । यतः—

'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य, निवृद्धेस्तु कुतो बलम् ? ।

पश्य सिंहो मदोन्मत्तः शशकेन निपातितः' ॥ १२५ ॥

वायसो 'विद्वग्नाह—'कथमेतत् ? । वायसः कथयति—

(८) मदोन्मत्तसिंह-शशक-कथा ।

अस्मि मन्दरनाग्निरुपयते दुर्दान्तो नाम सिंहः । स च सर्वदा पशुनां यथं कर्मदासने । ततः सर्वैः पशुभिर्मिलित्वा 'स सिंहो विद्वत्—'मृगेन्द्र' !

५. १२५ = तस्य । निवृद्धिः = बुद्धिः । मदोन्मत्तः = बलरहितः । निपातितः = हतः ॥ १२५ ॥

शौर शौरि वाजे पर मे निषाग, वे तव साजार् मृगुन्मत्त ही है, इससे मन्दर नदी है ॥ १२४ ॥

एव एव शौरि बोला कि—'शरीर ! तुम बड़े मज, चारचार मीने इस दुष्ट सर्प के पट्टा अन्तर्गत में, पर अब फिर नहीं सहेंगा । तब यह शौरि की स्त्री बोली कि—'हम वही शौरि के साथ क्या केने कहूँ मको है । शौरि बोला कि—'तुम यह कहना मत करो । बुरेदि—'जाने पास बुद्धि है, परी गया बलवान है निवृद्धि को बल बर्हा में ही मको है । हेनो, मद में मत्त सिंह को भी एक शौरि ने मारने में मार लगाया ॥ १२५ ॥

एव एव शौरि बोली (हेतु कर) बोली कि—'यह क्या बेटे है ?' । शौरि बर्से साग कि—

मन्दराशय (मन्दरिरे) पर दुर्दान्त नाम का सिंह रहता था । वह स' पशुनां का निषेक ही यथ कर्म रहता था । एव एक दिन तब पशुओं ने नि

१. 'मृगेन्द्र' । २. 'जिवन' । ३. 'वि-पा' । ४. 'वा-ए-ए' पा०
५. 'मिह-ए-ए' पा० । ६. 'देव' ।

किमर्थमेकदा^१ बहुपशुघातः क्रियते । यदि प्रसादो भवति, तदा धयमेवं भवदादाराय प्रत्यहमेकैकं पशुमुपटीकयामः ।' ततः सिद्धान्तः—'यद्ये- तदभिमत्तं भवतां, तर्हि भवतु तन्' । ततः ^२प्रभृत्येकैकं पशुमुपकल्पितं मन्त्रयन्नास्ते । अथ कदाचित्कस्याऽपि वृद्धशरकस्य वारः ^३समायातः । ततः सोऽचिन्तयत्—

'व्रासहेतोर्विनीतिस्तु क्रियते जीविताऽऽशया ।

पञ्चत्वं चेद् गमिष्यामि, किं सिंहाऽनुनयेन मे' ? ॥१२६॥

तन्मन्द-मन्दं गच्छामि ।' ततः सिंहाऽपि लुघापीहितः कोषात्तमु-

पाठान्तरे मेलकं कृत्वा=सप्तमं कृत्वा । समूह विधाय । (मिलकर, इकट्ठे होकर) । प्रसादः=कृपा । उपटीकयामः=उपहरानः । प्रेषयामः । अभिमत्तम्=अभीष्टम् । उपकल्पितं=वेपितं, निधितं वा । वारः=पर्यायः । ('वारी' 'पारी') । व्रासहेतोः= मयप्रदस्य सिंहादेः । विनीतिः=नम्रता, प्रार्थना । विनयध । पञ्चत्वं=मृत्युम् । सिंहानुनयेन=सिंहप्रार्थनया । 'सिंहो पुमुदि-नोऽस्ति, अतः शीघ्रं मया गन्तव्यं'- मित्यादि सिंहासौख्यचिन्तया = मम हिन् ॥ १२६ ॥

मन्दं मन्दं=शनैः शनैः । तं=मृदयरकम् । अपराधी=कृतापराधः ।

एर उस सिंह से जाकर कहा कि—हे मृगेन्द्र ! आप एक समय में ही बहुत से पशुओं को क्यों मारते हैं ? । यदि प्रसन्न हो, तो हम लोग ही आपके मोहन के सिधे खेदों से प्रतिदिन एक एक पशु आपको भेंट दिया करें । यह सुन कर वह सिंह बोला कि—जो तुम लोगों का यही इच्छा है, तो ऐसा ही हो । तब से उसके पास प्रति दिन एक २ पशु आने लगा और वह भी पास में आते हुए एक ही पशु को लाकर रहने लगा । एक दिन एक बूढ़े तरगोथ की बारी आई, तब वह मन ही मन विचार करने लगा कि—

मय के देतु सिंह आदि की निम्न अपने जीने की आशा से ही की जाती है ।

यदि मुझे मरना ही है, तो मुझे सिंह की विनति (गुणान्तर) से भी क्या प्रतीकन है ? ॥ १२६ ॥

इस सिधे में तो भीरे २ आऊंगा । जल्दी क्या है ? । इस प्रकार वह तरगोथ

१. 'संपशुघातः क्रियते' । २. 'भवति प्रचहमेकैकं' । ३. 'प्राप्तः' । ४. 'पुरगच्छामि' ।

पाप-‘पुत्रस्यं विस्रभ्यं’ समागतोऽसि ? । शराकोऽप्रवीत्-‘देव !
 नाऽहमपराधी, आगच्छन्वधि सिद्धाऽन्तरेण यत्नाद्भूतः । तस्याऽपे पुन-
 रागमनाय शपथं कृत्या भ्यामिनं निवेदयितुमत्राऽऽगतोऽसि’ ।
 सिद्धः सकोपमाद्-‘सत्वरं गत्वा’ (तं) दुरात्मानं मां दर्शय, क स
 दुरात्मा विप्रति ? । ततः शरावस्त गृहीत्वा ‘गभीरकूपं दर्शयितुं गतः ।
 तत्राऽऽगत्य ‘स्वयमेव परयतु स्वामी’त्युक्त्वा तस्मिन्कूबजले तस्य सिद्धस्यैव
 प्रतिविम्बं दर्शितवान् । ततोऽसौ ‘दर्पाऽऽघातो दर्पात्तयोपर्याप्तानं
 निश्चिन्त्य, पद्मान्यं गतः’ । अतोऽहं प्रवीमि-‘सुद्विर्यस्ये’त्यादि ॥ • ॥
 पापग्याद्-‘भुतं मया मयम् । सम्प्रति यथा कर्त्तव्यं तद् गृह्णि’ । पाप-
 सोऽवदन्-‘अत्राऽऽसन्ने सरसि राजपुत्रः प्रत्यहमागत्य रनाति । स्नान-

सिद्धाऽन्तरेण=प्र देन परयता केन‘व निदेन । असी=स सिद्धः । तप्येद=सिद्धावैव ।
 दर्पात्ताः = शोषण्यः ।

जि के पास बहुत देर करके पहुँचा । तब भूख से दुःखी होकर सिंह ने भी कोर
 कर उगरे कहा कि-अरे ! तू देर करके क्यों आया ? । गरम होना कि-दे
 प्रभो ! हमने भी करवायो नहीं है । रात्रि में आगे हुए मुझे एक दूसरे सिंह ने
 बधाइयों से पकड़ जिया था । उनके आगे तिर आने की शरव (बमम) ला
 कर के ही मैं आगे निवेदन करने आया हूँ ।

तब वह सिंह कोप में आकर बोला कि-शौर बन, उग हुए को मुझे दिना, पर
 हुए क्यों रहता है ? । तब वह गरम हो एक गहरे कुर्र को दिगाने के त्रिये उग
 जि बोले बधा । शौर कुर्र के पास पहुँच कर बोला कि-माताम, आव सर्व
 उगको कुर्र से थोड़े हुए को देना मन्तो है । वह वह उग कुर्र के पानी में उर
 सिंह को लाना सिगा ही । उगी समय वह सिंह कोप में भयवृत्त होकर बरता हुए
 को अभिमान से उग कुर्र के भीतर फूटकर और हम प्रचार वह कुर्र से तिर क
 सर लता । उगी से मैं बरता हूँ कि-जिने मुदि है, वही बलवान् भी है-जबकि

तब वह कोर को भी बोले कि-जिने मे सब बाँटे मुहरी मुनी, पानु
 कर को बना कर दे, जो बसो । तब कोर बोला कि-पाप ही के इस मीर दे
 १. ‘सिद्धाऽन्तरेण’ । २. ‘अपराधी’ । ३. ‘मया मां दर्शय कापी दुःख-
 म्’ । ४. ‘गभीरकूपः’ । ५. ‘शोषण्यः’ ।

समये तद्गङ्गादयत्वारितं तीर्थशिलानिहितं कनकसूत्रं चञ्चवा विधृत्या-
ऽऽनीयाऽस्मिन्कोटरे धारयिष्यसि ।'

अथ कदाचित्कनकसूत्रं दृषदि संस्थाप्य, स्नातुं 'जलं प्रविष्टे राजपुत्रे,
यायस्या तदनुष्ठितम् । अथ कनकसूत्राऽनुसरणप्रवृत्ते राजपुरुषैस्तत्र तट-
कोटरे कृष्णसर्पो दृष्टो, व्यापादितश्च । अतोऽहं ब्रवीमि—'उपायेन हि
यच्छक्यम्' इत्यादि ॥ ७४ ॥

करटकौ प्रुते—'यद्येवं 'तर्हि गच्छ, शिवास्ते सन्तु पन्थानः ।' ततो
दमनकः विद्वल्लकसमीपं गत्वा, प्रणम्योवाच—'देव ! 'अत्याधिकं किमपि
महाभयकारि कार्यं मन्यमानः समागताऽस्मि' । यतः—

यथा = यत्कर्म कृत्वा तद्वध चिकीर्षसि । तीर्थशिलानिहितं = शोभानप्रस्तर-
स्थापितम् । 'तीर्थं शास्त्राध्यरत्तेनोपाधोपाध्यायमन्त्रिणु । यौनी जलारतारे के'ति
श्लोकः । दृषदि = तीर्थप्रस्तरारण्ये । कनकसूत्राऽनुसरणप्रवृत्तैः = स्वर्णशेखरकण्ठेयणपदैः ।
राजपुरुषैः = राजानुचरैः । (सिपाही) । (निरूप्यमाणः = दृष्टः) । व्यापादितः = दूतः ।
शिवाः = शुभाः । अत्यादितं = महद्भयम् । 'अत्यादितं महाभीति' इत्यमरः ।

एक राजा का पुत्र प्रतिदिन स्नान करने आता है । नहाने के समय उसके शरीर
से उतार कर सोड़ी पर रखता हुआ मोने का डोरा (धार) तू अपनी चौच से
साठर इस ढोराके में डाल देना । तब एक दिन सोने के धार को गने से उतार
कर पत्थर पर रख कर स्नान के लिये रामकुमार के जल में घुमने पर कीने की
बी जी ने बैठा ही क्रिया । फिर सोने के धार को लोखने के लिये गए हुए राजपुरुषों
(सिपाहियों) ने उस गृह के लोखने (गडदे) में उस काले सौर को बैठा
हुआ देता और उसे मार डाला । इस लिये मैं कहना हूँ कि—जो उपाय से
हो सकता है, तो बल से नहीं हो सकता है—इत्यादि ।

तब करटक बोला कि—यदि यह बात है, तो तुम जाओ, तुम्हारा मार्ग मुम-
शायी हो । उसके उपरान्त यह दमनक राजा विद्वल्लक के पास जाकर प्रत्यान कर
बोला कि—दे देव । मैं किसी अत्याय्यक बड़े भयदुर कार्य को समझ कर उसके
कार को सन्धान करने के लिये आया हूँ ।

१. 'जले' पा० । २. 'तदा' । ३. 'अत्यादितं मन्यमानो निवेदित्वागतः' ।

‘आपद्युन्मार्गगमने, कार्यकालास्त्ययेषु च ।

कल्याणवचनं त्रयादपृष्टोजपि हितो नरः’ ॥ १२७ ॥

अन्यथा—

‘भोगस्य भाजनं राजा, न राजा कार्यभाजनम् ।

‘राजकार्यपरिध्वंसे मन्त्री दोषेण लिप्यते’ ॥ १२८ ॥

तथा हि पर्य, अमात्यानामेव क्रमः—

‘वरं प्राणपरित्यागः, शिरसो वाऽपि कर्त्तनम् ।

न तु स्वामिपदाऽऽराप्तिपातकेच्छोरुपेक्षणम्’ ॥ १२९ ॥

आदि = शिरसी । उन्मार्गगमने = रासः कुमार्गगमने । कार्यकालस्य अत्यये = उत्त-
रुने । कल्याणवचनं = दिवशाख्यम् ॥ १२७ ॥

भोगस्य = गुणस्य । भाजनं = वासनम् । राजकार्यपरिध्वंसि = राजकार्यविनाशे ।
पाठान्तरे—राजकार्यपरिध्वंसि = राजकार्यविनाशकः ॥ १२८ ॥

क्रमः = शिरसी । (दृष्टम्) । स्वामिपदस्य = स्वामिपदेः, अराप्तिः = अभिज्ञानः,
मादिनां, नीर पाठं, तस्य इच्छोः = अभिज्ञानस्यो, राशदोहिणः, उपेक्षणम् =

करोहि—आराध के समय, स्वामी के सुरे राशे में जाने पर, और प्रकर
कलय कार्य का काज कीर्ति देना पर दिवशाखी मनुष्य को आरिये कि यह स्वामि
के विना पूरे भी उछे कल्याणकारी वचन बदे ॥ १२७ ॥

और—राजा तो गुण-भोग का ही पात्र होता है, कार्य करने का पात्र नहीं ।
परि तथा के किमी कार्य को हानि देती हो तो मन्त्री ही उसका उत्तरदायी होता
है । अर्थात् राजकार्य यदि बिगड़ता है, तो ठगछा दोर मन्त्रीपर ही है ॥ १२८ ॥

और भीदीति, मन्त्रियों का तो करी कार्य करने का मन (परीक्षा, विज्ञान)
है; कि—ने करने मन्त्री को स्वामि देना (मर जाना) बदी अर्थात् समझते हैं,
करने दिवशे भी काजना बदे तो भी ये उछे अर्थात् समझते हैं, परन्तु राजा के

१. ‘मन्त्री कार्यस्य वासनम्’ । २. ‘राजकार्यपरिध्वंसि’ पा० ।

पिङ्गलकः साऽऽदरमाह^१—‘अथ भवान्किं वस्तुमिच्छति ? । दमनको
^२प्रते—‘देव ! ^३अयन्तावत्सञ्जीवस्त्रतवोपर्यसदृशव्यवहारीय लक्ष्यते ।
 तयो चाऽऽमलत्रिधाने श्रीमद्देवपादानां^४ शक्तित्रयनिन्दां कृत्वा, राज्यमे-
 वाऽधिकपति । पतन्ध्रुत्वा पिङ्गलकः सभयं, साश्चर्यं (“मत्वा) तूष्णीं
 स्थितः । दमनकः पुनराह—‘देव ! सर्वाऽमात्यपरित्यागं कृत्वीरु एवाऽयं
^५रक्षया सर्वाऽधिकारे^६ नियुक्तः स एव महान् दोषः । यतः—

‘अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि, पार्थिवे च,
 विष्टम्य पादावुपतिष्ठते श्रीः ।

अनिरासः । न तु=नैव । ‘वर’मिति दोषः ॥ १२६ ॥ असदृशव्यवहारीय=अनुवि-
 वाऽऽचार इय । विकृत इय । लक्ष्यते=दृश्यते । श्रीमद्देवपादानां = भयनाम् । पाडा-
 न्तरे=रामिनः = मरतः । शक्तित्रयनिन्दां = प्रभागे साहमन्त्रशक्तिप्रयगर्हणम् ।
 प्रदुन्निन्दाम् ।

तूष्णीं=मौनम् । देव = राजन् । अयं=सञ्जीवकः ॥ अत्युच्छ्रिते=अत्युग्रते,
 महामारे च । पार्थी मिष्टम्य = वरणी निष्ठाप । पादाप्रोत्थम्भेन । उपतिष्ठते =

विशासन पर अधिकार करने के इच्छुक राजद्रोही की उपेक्षा करना, उसे बिना
 दण्ड दिए ही छोड़ देना—ने कभी अच्छा नहीं समझने हैं ॥ १२६ ॥

वर पिङ्गलक आदर और स्नेहपूर्वक बोला कि—अच्छा तो तुम यदना क्या
 चाहते हो ? । तब यद दमनक बोला कि—हे महाराज ! यद सञ्जीवक पैल आरका
 शक्ति करना चाहता है, और आपके ऊपर दुर्मान रखता है, ऐसा मेरे को मान्नुम
 होता है । क्यों कि मेर सामने यद आपके प्रताप, बल और पुण्यार्थ आदि की
 निन्दा करता था, इसी से यद स्पष्ट है कि यद आपका राज हो ले लेना चाहता है ।

यद मुन कर पिङ्गलक भयभीत हो, अचरज सा मान कर नुर हो रहा । दम-
 नक फिर बोला कि—हे देव ! सब मन्त्रियों को छोड़ कर, आरने जो एक इसीको
 रक्षकों का अधिकारी बना दिया है, यही दोष है, जिसने इस पैल को इतना
 शक्ति दी गया है ।

स्वोक्ति—राजलक्ष्मी—राज्य के प्रधान और अनुभव स्वयं स्वरूप राजा और
 प्रथम मन्त्री इन दोनों का ही आपस सेकर उनके सशारे पराधी होती है । अर्थात्

१. ‘प्रते’ । २. ‘आह’ । ३. ‘सञ्जीवकः’ । ४. ‘रामिनः’ । ५. ‘पार्थिवः’
 ६. ‘विश्रायी इज्ज, ॥ एव दोषः’ ।

सा स्त्रीस्यमात्रादमहा मरस्य,
तयोद्वेपोरेकतरं जहाति' ॥१३०॥

अपरञ्च—

'एकं भूमिपतिः करोति सचिवं राज्ये प्रमाणं यदा,
नं मोहाच्छ्रपते मदः, स च' मदादास्येन निर्दिष्टे ।
निर्दिष्टस्य' पदं करोति हृदये तस्य स्वतन्त्रस्पृहा,
स्वातन्त्र्यस्पृहया ततः स नृपतेः' प्राणान्तिकं दुषति' ।

मद-तन्त्रे । सेवने च । वस्तु सा = लक्ष्मी, स्त्रीस्यमात्रा = लक्ष्मीकोविदमाराजम् ।
मरस्य = उमयोसामान्यरूपमारस्य । अमरा = मारं सोपुममर्षां सती । तयोद्वेपोरेकं
एकतरम् = एक, राजानममाय वा । जहाति = त्यजति । अन्वोऽपि उद्वे

षिषा तन् प्रार्थयमानः पादाप्रयोर्भेदं दर्शयति ॥ १३० ॥
त = मन्त्रिणम् । भोत्रा = अभिमानम्, मदा = मां, मदादास्येन = मद

राज्येण वा । 'मदादभ्येन निर्दिष्टे' इति, निर्दिष्टे' इति वा षेः चि' पठन्ति । पठन्त
दस्येन = एतन्नेनादिति हेतुना, निर्दिष्टे = निर्दिष्टो मरस्य । अन्तर्दिष्टेन
च तदर्थः । निर्दिष्टे इति षाठेऽपि भवति । एतन्नेनापि चरेत् न लुपति, इ
राज्येणैव, इ' अर्थः । 'निर्दिष्टस्य = निरक्षय । निर्दिष्टस्य = निरक्षय' नि पाठान्ते

राजा क्षीर मन्त्री-इन दोनों को घटना छात्रव बना ली है । क्षीर इनके महारे
पर विषा हो गी है । वस्तु फिर वह क्षीर-मारा से उन दोनों के बोझ
नाश नहीं कर सके के कारण उन दोनों में से एक को होंक दे ली है ॥
क्षीर क्षी-मर राजा राज में एक ही मन्त्री को प्रमाण (प्रमाण)
मद उमा मन्त्री को होंक हो जाय है, क्षीर क्षी से उमा मद हो जाय है ।
मद उमा के कारण कारण नश में निरक्ष हो जाय है । क्षीर क्षी से उमा मद हो जाय है ।
के पुन होने में उमके हृदय में निरक्ष हो जाय है । क्षीर क्षी से उमा उत

१. 'मदादास्येन निर्दिष्टे' 'मदादास्येन निर्दिष्टे' इति वा. । २. 'नि

३. 'निर्दिष्टस्य' इति वा. । ४. 'निर्दिष्टस्य' इति वा. । ५. 'निर्दिष्टस्य' इति वा. ।

१. अन्यस—

‘विपादिग्वस्य भक्तस्य, दन्तस्य चलितस्य च ।

श्रमात्यस्य च दुष्टस्य, मूलादुद्धरणं मुखम्’ ॥ १३२ ॥

टिप्पणी—

‘यः कुर्यात्सचिवाऽऽयत्तां त्रियं, तच्चयसने सति ।

सौज्यवज्जगतीपालः सीदेत्सञ्चारकैर्विना’ ॥ १३३ ॥

स च सूर्यकार्येषु स्वेच्छातः प्रवर्तते । तदत्र स्वामी प्रमाणम् । एतश्च

ज्ञातामि कार्यतः । (३यतः—)

विपादिग्वस्य=विपसंसृष्टस्य । भक्तस्य = श्रोतव्यस्य । चलितस्य=कथयन्वनस्य ।

सत्तन्त्रसूत्रा=स्वान्तभ्येच्छा । पदं = स्थानम् । प्राणेष्वपि = जीविनेष्वपि । राजानं

विपादनीत्यर्थः ॥ १३१ ॥ उद्धरणम् = उत्पादनमेव ॥ १३२ ॥

सचिवायसाम् = श्रमान्याधीनान् । तच्चयसने = श्रमात्यरिपत्नी, श्रमान्ये दुष्टे

सति । जगतीराजः = राजा । सीदेत् = दुःखमनुभवेत् । सञ्चारकैः = मन्त्रैः ॥ १३३ ॥

शिरः परजन्म होने की इच्छा से यह मन्त्री उस राजा के प्राणों से भी द्रोह करने

लगता है । अर्थात् राजा को मार डालना चाहता है ॥ १३१ ॥

श्रीर—शिर से सने हुए श्रम को, दिल्हते हुए दाँत को, तथा दुष्ट मन्त्री को

बद से उगाड़ देना ही मुजदावी होता है ॥ १३२ ॥

श्रीर भी—जो राजा अपनी राज सद्दमी को सचिवों के अधीन कर देता है,

वह राजा उन मन्त्रियों के न रहने पर, या उनके बिगड़ जाने पर श्रमों के समान

। त्ना सहायक के दुःख पाता है ॥ १३३ ॥

श्रीर वह (मंत्रीवक्) सभी कार्यों को अपनी इच्छा से ही करता है । प्राय

। पूरता तक नहीं है । सो इस नियम में अब प्राय ही प्रमाण हैं । अर्थात्—वेजा

नती इच्छा खगे, पीता ही प्रतीकार (उपाय) करें । श्रीर में इस बात को

रं में जानना है ।

१. ‘उपा बोधः’ । २. एतथाश्च जानामि कार्यतः’ । ३. ‘सचिवाय साम्’ ।

● अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते ●

‘न सोजस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम् ।
 परस्य युवतीं रम्यां साऽऽर्द्रं नेचतेऽत्र कः’ ? ॥१३४॥
 सिद्धो विमृत्वाऽऽह—‘मद्र ! यद्यत्वेवं, तथापि सञ्जीवकेन सह मम
 महान् स्नेहः’ । परश्व—
 ‘युवन्नपि व्यलीकानि, यः प्रियः प्रिय एव सः ।
 यशोपदोषदुष्टोऽपि फायः यस्य न बल्लभः’ ? ॥ १३५ ॥

अन्वय—

‘अप्रियाएष्यपि कुर्वाणो यः प्रियः प्रिय एव सः ।
 दग्धमग्निदग्धसारेऽपि कस्य बद्धावनादरः’ ? ॥ १३६ ॥

न च=नृणां गणम् । प्रमत्तं = निर्दोषः । कामयते = इच्छति । कार्द्रं =
 शान्तिराम् ॥१३४॥ पतिं = पतिं तं यदपि तथैव । परस्य स्वं युक्तं कथयति ।
 व्यलीकानि = क्लृप्ताणाम् (व्यलीक = विगाह) । अच्येतेति । निमित्तदोष
 अशोभते । फायः = हितम् । दग्धमः = प्रियः ॥ १३५ ॥
 दग्नाशो भ्रातृ ययः । दग्निं मन्दिः । सारथ्यं देवेति, दग्धो मन्दिः शरतो दे ।

बदेति—संगार में देगा बदे भी पुरुष नहीं दे, जो लक्ष्मी की इच्छा नहीं
 करता हो । देती, दूसरे की प्रार्थना सुन्दर स्त्री की हम संसार में कौन पुरुष बनने
 नहीं देगा है ॥ १३४ ॥
 एव सह निद्र विचार कर बोझा, हि—दे मद्र ! यद्यपि तुम्हारा बहना व
 टीक है, तथापि युवती के से तो मैं बहू और दो गया है ।
 देती—यद्यपि पर क्लृप्त, क्लृप्त, क्लृप्त, क्लृप्त एवं क्लृप्त (पुत्र) व
 क्लृप्त को पला है, पर क्लृप्त ही पला है । बदेति मद्र देती से युक्ति
 वा भी क्लृप्ता क्लृप्त विधि पला नहीं होगा है ॥ १३५ ॥
 और स्त्री—यद्यपि बतों को बतों मद्रा भी जो पला है, पर पला ।

१. 'मद्र' 'मद्र' । 'मद्र' की दो न वः ।

‘दमनकः पुनरेयाह—‘देव ! स एवाऽतिदोषः’ । यतः—

२‘यस्मिन्नेवाऽधिकं चतुरारोपयति पार्थिवः ।

मुतेऽमात्येऽप्युदासीने, स लक्ष्म्याऽऽश्रोयते जनः’ ॥ १३७ ॥

पु देव !

‘अग्निपस्याऽपि पथ्यस्य परिणामः सुराऽऽवहः ।

चक्ता, श्रोता च यत्राऽऽस्ते रमन्ते तत्र सम्पदः’ ॥ १३८ ॥

त्वया च मूलभृत्यानपास्याऽयमागन्तुकः पुरस्कृतः । एतशाऽनुचितं
[। यतः—

पदः । मन्दिःसारः=उत्कृष्टदमिति वा ॥ १३६ ॥

स एव=अतिशेह एव । यस्मिन्निति । पार्थिवः=राजा । यत्र जने स्नेहादौ
नित्तिवति, स एव लक्ष्मीगन् भवतोऽर्थः । उदासीने=यस्मिन् कस्मिन्धिदपि
॥ १३७ ॥ अग्निपस्यापि=अनभीष्टत्वापि, पथ्यरज=दित्तकारिणो वाक्यस्य,
श्रोता च यत्राऽस्ति तत्र सयाः सम्पदो रमन्ते, सुराऽऽवहश्च परिणामो
भवत्ययः ॥ १३८ ॥

बेसे परमें घाग लगने पर पर की सारी बहूनूप यस्तु अलाने वाली भी
वा बीन निरादर करता है ? । कोई नहीं ॥ १३६ ॥

एव दमनक फिर बोला—मदाराज यही (सभु पर स्नेह करना ही) तो पदा दोर है ।

करोड़ि—राजा जिस-पुत्र या मन्त्री वा किसी उदासीन—हो भी जब बहुत
ग है, तब राज लक्ष्मी भी उस मनुष्य के पास ही चली जाती है ॥ १३७ ॥

दौर भी मदाराज ! मुजिये, पथ्य वा यत्रपि अग्निप होतो भी उसका परिणाम
(निग) गुणदायी ही होता है, करोड़ि—उहाँ अग्निप पर पथ्य (दित्तकर

के) वा करने वाता य मुनने पाता होता है, यहाँ कनी सम्पदिया रमन्त
१३ ॥ १३८ ॥

१. ‘रमन्तो यस्मि’ । २. ‘साक्षात्पुनर्विकं चतु’ पा० । ‘साक्षात्पुं, सगृहं
:’ इति शुभ्रीका ।

‘मूलभृत्यान्परित्यज्य नाञ्जगन्तून्प्रतिमानयेत् ।

नाञ्जः परनरो दोषो राज्यभेदकरो यतः’ ॥ १३६ ॥

मिहो ब्रूते—‘महदाश्चर्यम् । १ मया यदमयषाचं दत्त्वाऽऽनीतः, संवर्द्धि-
यथा, मत्कथं मामं दृशति’ ? । दृगनको ब्रूते—‘देव !

‘दुर्जनो नाञ्जर्जयं याति सेव्यमानोऽपि नित्यशः ।

स्पेदनाऽभ्यञ्जनोपायैः श्वपुच्छमिव नामितम्’ ॥ १४० ॥

मूलभृत्यान्=वंशजमागाननुजीविनः । अपात्य=परित्यज्य । आगन्तुः
दत्त्वाऽऽनीतः=सञ्जीवो वृषभः । पुराणाः=अधिकारे स्थायितः । न प्र-
मानयेत्=न पुराणुषां । अञ्जः=आगन्तुगच्छात् ॥ १३६ ॥ आञ्जं=सत्तः
सत्तनाय । स्पेदनं=रुद्धमल्लोन्नमंभोगादिना संस्पेदनम् । अभ्यञ्जनं=प्रादिच्छासनः
उपायाः=नद्रिवाव्यक्तदद्यादनादिकृताः । तेनादितानपि श्वपुच्छं पुनरपि दृश्यां
यती पाठयः ॥ १४० ॥

और आरामे जो करने वंश परन्तरागत पुराने सेवकों को छोड़ कर इस-
सावे हुए शंजीव वृषभ का सम्मान करते हमे ही अधिकारी बनाया है, यह
ही अनुचित विषय है ।

करोति—‘हमने वागदात पुराने सेवकों को छोड़ कर नये सावे हुए प्रो-
बन्दी कायर को सम्मान नहीं करना चाहिये । करोति हमने बड़कर और कोई ।
राज्य में नन्दराज हूँ करने वाला नहीं होना है ॥ १३६ ॥

एव हिं करोति—‘देव आभयं की बात है, हम तो मीने अनप पथन दे
हुएगा है, और बात है, यह दुर्जने वीमे येर करने लगा ! । दमनहोऽज्ञां दे

मेन मे मत्त मेघा किञ्च मत्त भी दुर्जन कभी भीया और मत्त नहीं होगा
मिहो ब्रूते को देही ब्रूते को मिहो मे मत्त लेह आदि मत्त कर सीधी करने से
यह करने भी नहीं हो ही है ॥ १४० ॥

१. ‘मूलभृत्यान्परित्यज्य नाञ्जगन्तून्प्रतिमानयेत्’ २. ‘अमयः अमनय’ ।

धरस्य—

‘स्वेदितो, मर्दितश्चैव, रञ्जुभिः परिवेष्टितः ।

मृक्तो द्वादशमिर्वर्षैः श्वपुच्छः प्रकृतिं गतः’ ॥ १४१ ॥

अन्यस्य—

‘वर्धनं वाज्यं संमानः खलानां प्रीतये कुतः ? ।

फलन्त्यमृतसैकेऽपि न पथ्यानि विपद्भुमाः’ ॥ १४२ ॥

परस्य—

‘यः स्वमाधो हि यस्याऽन्ति स तेन दृगतिक्रमः ।

आ यदि क्रियते राजा, स किं नाऽश्नात्सुपानहम्’ ? ॥१४३॥

मुक्तः—द्वादशवर्षानन्तरमपि कथनामृतभोक्तृशिलासमेत श्वपुच्छो षष्ठे वर्षैः ॥ १४१ ॥

वर्धनं = पालनम् । खलानां = दुष्टानां, अमृतसैकेऽपि = दुग्धादिमधुररस-
शैकेऽपि । विपद्भुमाः पथ्यानि—अमृतफलानि न फलन्ति, किन्तु विपत्तलान्येव ते
फलनीत्यर्थः ॥ १४२ ॥

घोर—सेही गई, तपार्ई गई, मली गई और और रसियों से लपेट कर बाँधी
दे और फिर पारह वर्ष में भी लोकी गई भी कुत्ते की देही पूछू अपने दरबार को
गो बरपती है, किन्तु वह पुनः देही ही हो जाती है ॥ १४१ ॥

घोर भी—दुष्टों को धर आदि देकर बहाना, अथवा उनका सम्मान
करना उनको सुनिकारके देने ही सकता है, जैसे अमृत में भाँधने पर भी तिर
के रूप में कभी मोठे घोर दिवकारी फल नहीं लग सकते हैं ॥ १४२ ॥

देगो—किसरा को सम्मान होता है, पर उचित कभी नहीं मूटता है ।
स्वैः कुत्ते की दरी राया भी बना दिया जाए, तो भी बद क्या एरो नृतिर्वा
कनः और मूती इतिर्वा पगना छोड़ देता है ! कभी नहीं ॥ १४३ ॥

अतोऽहं प्रथमि—

‘अपृष्टोऽपि हितं त्रूपायस्य नेच्छेत्परामभम् ।

एष एव सतां धर्मो, निपरीतमतोऽन्यथा’ ॥ १४४ ॥

तथा शोक—

‘म भिनवोऽप्युश्लान्निवारयति यस्तत्कर्म यन्निर्मलं,
सा स्त्री याऽनुविधायिनी, न मतिमान् यः सद्भिरभ्यर्च्यते ।

सा श्रियां न मदं करोति, स सुखी यस्त्वंश्रया मुच्यते,
तन्मित्रं यदकृत्रिमं, स पुरुषो यः सिध्यते नेन्द्रियैः’ ॥ १४५ ॥

यदि मत्प्रियवच्यसनाद् इतो विज्ञापितोऽपि स्वामी न नियसंते,

अतोऽहं प्रथमं ति । यतो ह्यपृष्टनाऽपि हितं रिपुः हितवाक्यं यत्प्रथमिनि
सतां धर्मो, अतोऽहं मत्प्रियोऽपि प्रथमो वचय । अतोऽन्यथा = अतस्मादेति
दिशन्नुक्तिः । निपरीतम् = अज्ञानार्थः ॥ १४४ ॥

(निगम्य = एतद् । अत्रुक्तत्वात् = परामभम् । शाने = निर्भयम् । निर्भयम् = निर्भयम् ।
अनुविधायिनी = पशुपतिः । अभ्यर्च्यते = आदिपते । मदं = गर्वम् । अकृत्रिमं =
स्वाभाविकम् । निपरीतम् = न यथोचितम् ॥ १४५ ॥

इति = अन्तिमः । मत्प्रियवच्यसनात् = मत्प्रियवच्यसनात् । अतोऽहं प्रथमं ति । यतो ह्यपृष्टनाऽपि हितं रिपुः हितवाक्यं यत्प्रथमिनि
सतां धर्मो, अतोऽहं मत्प्रियोऽपि प्रथमो वचय । अतोऽन्यथा = अतस्मादेति
दिशन्नुक्तिः । निपरीतम् = अज्ञानार्थः ॥ १४४ ॥

श्रीरं मे तो अत्र वा दिती है, अभी श्रिय अत्र से मे दिर की बातें कर
हैं । अत्र 'द रिपुवा पराजय न बाद, अतस्मात् रिपुः हितं रिपुः हितवाक्यं यत्प्रथमिनि
सतां धर्मो, अतोऽहं मत्प्रियोऽपि प्रथमो वचय । अतोऽन्यथा = अतस्मादेति
दिशन्नुक्तिः । निपरीतम् = अज्ञानार्थः ॥ १४४ ॥

बदा भी है,—दशो मया निव है, जो आदिपते से बगाने । श्रीरं ।
सुखारणे मे हीके पशु मया निव है । मे १४५५ श्रीरं निर्भय है पशु बर्भ है
पशु की है, जो आदि रिपुनी है । पशु कुत्रिमम् है, जो भेदो मे प्रिय रिपु
श्रीरं पशु की है, जो मद (पशु) अत्र नदी करनी है । पशु मुनी है,
कृत्वा मे क्या है । पशु निव है, जो मन्त्रि है । श्रीरं पशु पुर है,
एतस्मात् के मत्प्रियोऽपि प्रथमो वचय है ॥ १४५ ॥

श्रीरं पशु मत्प्रियोऽपि प्रथमो वचय है (अत्र) इतरे निर्भय जाने

तदा ईदृशे भृत्यस्य न दोषः । तथा च—

‘नृपः कामाऽऽसक्तो गणयति न कार्यं, न च हितं,
यथेष्टं स्वच्छन्दः प्रविचरति, मत्तो गज इव ।

ततो मानध्मातः स पतति यदा शोकगहने,

तदा भृत्ये दोषान्क्षिपति, न निजं वेत्त्यपिनयम्’ ॥१४६॥

पित्रलोकः— (स्वगतम्)—

‘न परस्याऽपराधेन परेषां दण्डमाचरेत् ।

आत्मनाऽपगतं कृत्वा बध्नीयात् पूजयेच्च वा’ ॥ १४७ ॥

ईदृशे=ईदृशे प्रसंगे ॥ कामासक्तः=कामपरवशः, इन्द्रियपरवशः । कार्यं=
कर्म, हित=स्वोपकारवृत्तम् । यथेष्टं=एच्छेद्यैव, स्वच्छन्दः=
निरवग्रहः सन्, मत्तो गज इव प्रविचरति=व्यवहरति, चेष्टते च । मानध्मातः=
गर्वान्तः । शोकगहने=शोकरूपे गहने । भृत्ये=ग्रमात्पादी । क्षिपति=थोत्रयति ।
अपिनयं=क्षीयम् न । वेत्ति=न गणयति ॥ १४६ ॥

स्वगतम्=मनस्यैव चिन्तयति । परस्य=ग्रन्थस्य । परेषाम्=ग्रन्थेषाम् ।

भौ सर्वांगिक के प्रेम रूपी व्यसन को नहीं छोड़ते हैं, तो फिर इसमें (ऐसे अवसर
में) सेवकों का (हमारा) कुट्ट भी दोष नहीं है । क्योंकि कहा भी है—

कामासक्त राजा न कार्यं को गिनता है, और न अपने हित को ही देखता है,
यह तो स्वतन्त्र मतवाले हाथी के समान इच्छापूर्वक विचारता है । अर्थात् जो यह चाहता
है, वही करता है । और यह जब घमण्ड से चूर होकर गहरे शोक सागर (निपत्ति)
में पड़ता है, तब यह सेवकों के ही ऊपर उस विपत्ति का दोष मढ़ता है । पर यह
अपने अविनय (दोष) को नहीं देखता है ॥ १४६ ॥

तब पित्रलोक अपने मन में विचार करने लगा कि—

दूसरी के कदने माप से ही दूसरी को दण्ड नहीं देना चाहिये, किन्तु धान
न च पीड़ा करने ही दोष और गुणों का निश्चय करे । और तभी किसी को दण्ड

१. 'तथा नृचन्द' । २. 'मानध्मातः' पा० । ३. 'परस्याऽपराधेन' पा० ।
४. 'अपिनयं' इति शोभनः पाठः । ५. 'अनगमं कृतं' । ६. 'पूजयेच्च वा' ।

वया चोक्तं—

‘गुरु-दोषाननिधित्य विधिर्न ग्रह-निग्रहे ।
स्वनाराय यथा न्यस्तो दर्पात्सर्पमुसे कर्तः’ ॥ १४८ ॥
(प्रसक्त प्रते—) ‘तदा सलीयक कि प्रत्यादित्यताम्’ ? । दमन

ससंभ्रममाह—‘देव । मा मेवम् । एतावता नन्त्रभेदो जायते’ ।
तथा सप्तम—

‘मन्त्रपीजमिदं गुप्तं रक्षणीयं तथा, यथा— ।
मनागाप न मियेत, तङ्गिन्नं न प्ररोहति’ ॥ १४९ ॥

प्रसक्तं = तावतागं कृतम् । क्लीपात् = दृष्टदेव, पूजयेत् = अनुवात् ॥ १४७ ॥
मन्त्रनिग्रहे = सकारदरहयोः । प्रद = अनुपदः । दर्पात्सर्पमुसे स्वलो ह्वा
स्वनागापेव मवत् यम् ॥ १४८ ॥
एवम् = इत्थ, मा मा = मेव कर्त्तव्यं । एतावता = तत्रत्याहयाने । इदं गु
प्तं मन्त्रपीज, यथा तथा = देवनेनाप प्रकरोत्, रक्षणीयम् । मनाकृ = ईद
न मियेत = न म्नि भवत् । एत् = मन्त्रपीजम् । भिन्न = अट्टिं सत्, न

भी दे, वा उभया सम्मान कर ॥ १४७ ॥
वर्षे कि कदा भी दे—

गुप्तो श्रीर देतो (प्रसक्त) वा पुत्र पुत्र निधय स्य विना ही विती को
दृष्ट देना, वा उभया स हार करना, पर संपा अनुचित है । विना टीह-जोड
गुरु-दोषों को मन्त्रे विगी वा धार करना वा विगी को दृष्ट देना ही देना ही
कामकी वर दे, जैसे कोई मन्त्र के गौर के गुण से अपना हाथ बाध है
श्रीर एव के कर्त्ते से येने पर जाय ॥ १४८ ॥
(प्रसक्त से देना—) एव कदा सलीयक को निबन्ध दिया जाये । दमन

मन्त्र-पर देना कि—देव । देना न बं विने । हमने मन्त्रभेद (मन्त्र की दूरी
ही प्रसक्त है । जैसे कदा भी है—
मन्त्रकी रीत ही देगी मन्त्रकी के दृष्ट करनी काहिने विगी पर जोदा
१. मन्त्र-पर देना—देव । २. ‘मा मेव, मन्त्रभेद’ । ३. ‘एतावता’

द्विध—

‘आदेयस्य, प्रदेयस्य, कर्तव्यस्य च कर्मणः ।

चिप्रमक्रियमाणस्य, कालः पिवति तद्रसम्’ ॥ १५० ॥

तद्वदयं समारब्धं महता प्रयत्नेन सम्पादनीयम् । किं च—

‘मन्त्रो योष इवाऽधीरः सर्वाङ्गैः संवृत्तरपि ।

चिरं न सहते स्थातुं परेम्यो भेदशङ्कया’ ॥ १५१ ॥

यद्यसौ दृष्टदोषोऽपि दोषान्निवर्त्य सन्घातज्यस्तद्वर्तीयाऽनुचितम् । यतः—

दृष्टि = न पलति ॥ १४६ ॥

आदेयस्य = प्राप्त्यस्य, प्रदेयस्य = देयस्य । दित = भक्ति । पिवति = पृष्ठा-
धीर । तद्रसं = तत्सारम् ॥ १५० ॥

योषः = सैनिको भोक्तृ इव । योषो हि सर्वाङ्गैः = सर्वांगयुक्तैः, कथंचिदपि
वृत्तैः = आख्यादितैरपि, चिरं स्थातुं = युद्धे चिरं स्थातुं, न सहते = न समर्थः ।
रेम्यः = शत्रुस्यः, भेदशङ्कया = पराजयभीत्या । विनाश (भेद)शङ्कया । स्वमाकृत्य-
शङ्कया च ॥ १५१ ॥

अधी = सङ्गीरकः । दृष्टदोषः = दृष्टापरदोषोऽपि । सन्घातज्यः = पुनः मंघ्रायः ।

युद्धे, कथंचिदपि यद् योषा भी प्रकट होने पर नहीं जमता है (रसप्रद नहीं होता) ॥ १४६ ॥

धीर भी—लेने योग्य, देने योग्य, धीर करने योग्य काम को धीर न करने से
रक्षा रम समय ही लेता है ॥ १५० ॥

इसक्रिये अर्थात् प्रकार से धारण किये हुए काम का सम्पादन अथवा ही
बन से करना चाहिये ।

धीर नी—मत्र अङ्गों से टका हुआ, सुरक्षित भी मन्त्र (उच्चार) दरपोह
रा की तरफ दूरों से भेद (पराजय धीर प्रकट होने) की शङ्का से बचता

न तक नहीं टकर सकता है ॥ १५१ ॥

धीर यदि इसका अन्वय जान लिया गया है, तो भी उसके दोषों को दूर
के दूर इतने संधि (मेल) करना भी अनुचित है ।

‘सकृद् द्रुष्टं तु यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।

स मृत्युमेव गृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा’ ॥ १५२ ॥

सिंहो मृते—‘शायतां वावत्किमस्माकमसौ कर्तुं समर्थः’ ? ।
दमनक आह—‘देव !

‘अद्भ्राजन्निमानमजात्या कथं सामर्थ्यनिर्णयः ? ।

पश्य टिट्ठिममात्रेण समुद्रो व्यावृलीकृतः’ ॥ १५३ ॥

सिंहः पृच्छति—कथमेतन् ? । दमनकः कथयति—

(९) टिट्ठिम-समुद्र-कथा ।

दक्षिणसमुद्रतीरे टिट्ठिमदम्पती नियसतः । तत्र^१ पाऽऽसन्नप्रसर

शयुमेनेन । तथा सति गूण मृत्युरेव सन्धातुरित्यर्थः । अश्वतरी=गर्भो
(नवमी) । अश्वतरी दि प्रमरकात्रे प्रियते, तदुदरकर्तनेनैवाश्वतरो बहिनिसाम

॥ ॥१५२॥

अतो=गर्भोवकः । अद्भ्राजन्निमानं=रहस्यसम्बन्धादिकम् । टिट्ठिमनात्रेण=

एकेन टिट्ठिमेनेन ॥ १५३ ॥

दमनी=भाषात्री । निरां समुद्रम् । ‘ननु’ इति निधये । इदं=समुद्र-

कथं क—जो एक बार कुछ दूर नियमेन मेस्य पारो है, ये निधय ही मृत्यु
को बुझने है । जैसे नवमी गर्भ को अराज करके मृत्यु को प्राण होनी है ॥१५२॥
सिंह बोला कि—पश्ये तो यह जानना चाहिये, कि यह समाप्त क्या विधा
कर गवना है ? । दमनक बोला कि—देव !

अत्र (दमनक) और अज्ञी (अपना) को जाने बिना ही टिट्ठी के समर्थ ।
निर्णय कैसे हो गवना है ? । देख एक परिशी ने भी समुद्र को अनापुत्र
सिंह का ॥ १५३ ॥

सिंह ने कुछ कि—यह क्या बने है ? । दमनक बोला—

इति समुद्र के किशोरे टिट्ठी का एक अंश रहना था । वही सि

१. ‘अदभ्राजन्निमानं’ ।

टिट्ठीभी भर्तारमाह—'नाथ ! प्रसवयोग्यस्थानं निभृतमनुसन्धीयताम्' ।

टिट्ठीमोऽवदत्—'प्रिये ! नन्विदमेव स्थानं प्रसूतियोग्यम्' ।

सा प्रूते—'समुद्रवेलया व्याप्यते ३स्थानमेतन् ।

टिट्ठीमोऽवदत्—'भद्रे ३ ! किमहं निबलो ३यत् समुद्रेण निमहीत-
ज्यः' ? । टिट्ठीभी विहस्याऽऽह—'स्वामिन् ! त्वया, समुद्रेण च महदन्तरम् ।

प्रथया—

'परामयं' परिच्छेत्तुं, योग्याऽयोग्यं च वेत्ति यः ।

अस्तीह यस्य विज्ञानं, कृच्छ्रेणाऽपि न सीदति' ॥ १५४ ॥

तीरवर्तिस्थानमेव । समुद्रवेलया = समुद्रवेलालेन । (वेल्ला = गड, जार-भाटा)
अन्तरं = मेदः । परामयं = स्वरिभयम् । परिच्छेत्तुं = दूरीकृतुंम् । वेत्ति = जानाति ।
योग्यायोग्यं = योग्यमयोग्यम् । वेत्ति = जानाति । विज्ञानं = कौशलम् । कृच्छ्रेण =
अतिमहता कष्टेनानि । न सीदति = अवसन्नो न भवति । न विपण्णो भवति ।
'दुःखमात्मे'त्यादिपाठान्तरे—घात्मा = स्वयं, 'योग्यो, नवे'ति, परिच्छेत्तुमेव =
निगंतुमेव तारात्, दुःखं = कठिनम् । परन्तु यस्य विदुष इदं क्व विज्ञानं चेदस्ति
तदा स न सीदतीत्यर्थः । शोमनोऽयं पाठः ॥ १५४ ॥

का जय प्रसवराज समीप आया तत्र उसने अपने पति से कहा कि—'हे नाथ !
अब मेरे प्रसव करने योग्य कोई अच्छा सा स्थान आपकी दूदना चाहिये' ।
टिट्ठी बोला कि—'हे प्रिये ! यह स्थान भी तो प्रसव (बच्चा जनने) करने योग्य
ही है ।' तब वह बोली—'इस स्थान पर तो समुद्र की वेल्ला (जार-भाटा) आती
है । टिट्ठीहारा बोला कि—'क्या मैं निर्बल हूँ, जो समुद्र इस तरह
मेरे घरों को हरण कर मुझे पीड़ा देगा ? । टिट्ठीहिरी हँसकर बोली कि—'रामो !
दुनारे में धीरे समुद्र में बड़ा अन्तर है ।

अपना अपने पराजय को जो दूर करना जानता है, और जो योग्य धीरे
अपने को जानता है, और जो त्रिधा और बुद्धि तथा कौशल से युक्त है, वह प्रसन्न
होता है । और न कभी धरकाता है, न
धर ही पाता है । और न वह दुःखी होता है ॥ १५४ ॥

१ 'नाथे' । २ 'प्लाप्यते स्थानमेतन्' । ३ 'सोऽवती-किमह' । ४ 'पन्नन
वर्तिस्थानं स्थानं समुद्रेणापदत्तं स्थानं, अहं निमहीतज्यः । पा० ।
'नाथ' । ५ 'दुःखमात्मा परिच्छेत्तुमेव—'योग्यो, नवे'ति वा । अस्तीहयस्य
विज्ञानं च कृच्छ्रेण' ।

अपि च—

‘अनुचितकार्याऽऽरम्भः’, स्वजनविरोधो, यलीयसा स्पदां
प्रमदाजनविश्वासो, मृत्योर्द्वाराणि चत्वारि’ ॥ १५५ ॥

नतः^२ कृन्त्रेण^३ श्यामिवचनात्सा तत्रैव प्रमृता । एतत्सर्वं श्रुत्वा समु-
द्रेणाऽपि तन्द्राकिशानार्थं^४ तददृष्टान्यपटतानि । तनष्टिट्टिभी शोकार्था भर्तार-
माह—‘नाथ ! कष्टमापतितम्, तान्यदृष्टानि मे नष्टानि’ । टिट्टिभोऽबद्ध-
‘प्रिये, मा भैर्याः’ । इत्युस्त्या पक्षिणां मेलकं^५ श्रुत्वा, पक्षिस्वामिनो गदहस्य
समीपं गतः ।

तत्र गत्या^६ सः सः नृत्तान्तं टिट्टिभेन भगवतो गरुडस्य पुरतो निवेदित-
—‘देव ! समुद्रेणाऽहं स्वगृहाऽवस्थितो विनाऽपराधेन^७ निगृहीतः । तत्तन्वद्

स्वदां=।रोगः ॥ १५५ ॥ कृन्त्रेण=मस्ता निर्वन्धन । (इति तत्र
समझने सुझने पर) । मा = टिट्टिभी । तत्रैव=समुद्रहृत्ते एव । तदृष्टानि=
दृष्टिमान्दृष्टानि । अपटतानि=धोरितानि ।

मेलकं=गजागमं । समान् । निगृहीतः=दृष्टितः, ज्ञेयितभ । गदहसा=गदहसेन ।
गृही=गिही=प्रपञ्चदृष्टः = समदुपति-सञ्जन-विनाशदेवुः । मीली = धिरनि ।

धोर भी—प्रपञ्च काय का आरम्भ, अपने स्वर्गों से धेर, बनवान् से स्वर्ग
धोर त्रिषी का विराम-ने कार काँ मृ य के हार की मुख्य ही दुर्गि है ॥१५५ ॥

धेर अपने स्वर्गों के बहन समझने सुझने से, बड़ी बड़ियाई से उमने काँ
ही मंगल उताप की (गरी करके दे दिए) । पर सब मनहर समुद्र में भी ठक
गिहरे के बहनगमन की जानने के त्रिष ही उमके करते हर त्रिये । तब का
गिही ही छोड़ से दुर्गि होकर अपने धरि से धीपी हि—दे नाथ ! बड़े ही मुख्य
की का है, मेरे तो सब करते नष्ट हो गए (समुद्र में अवरण्य कर लिए) । तब
का गिहीका छोड़ा वि—दे प्यारी ! दुम करो मत । ऐसा कह कर मय पक्षियों के
हवा करके उनसे मय ले कर पक्षियों के स्वर्गी धी गदह जी के वाग गया ।
धेर काँ का उम गिहरे में समुद्रकारा करने करते सुझने का सब समाय
मगवन् भी गदह जी के अपने दो बहा, वि-दे देव । मुझे अपने पर से रक्ष

१. बर्तारम्भः । २. ‘नतः स्वयि’ । ३. ‘कृन्त्रेण’ । ४. ‘तान्यदृष्टानि’ । ५. ‘तान्यदृष्टानि’
वर्तारम्भः । ६. ‘मेलकं गजागमं’ । ७. ‘विनासेन विनाशद्वारा विनाशद्वारा’
विनाश— । • ‘विनाशद्वारा’ ।

वचनमाकर्ण्य गह्वरता, प्रमुर्भगवान् नारायणः सृष्टि-स्थिति-प्रलयहेतु-
विक्षिप्तः । स समुद्रमण्डदानायाऽऽदिदेश ।

ततो भगवदाज्ञां मौलीं निधाय, 'समुद्रेण छान्यण्डानि टिट्टिभाय
समर्पितानि । अतोऽहं ब्रवीमि—'अङ्गाङ्गिभावमहात्वा' इत्यादि ॥ ० ॥

राजाऽऽह—'कथमसौ शातन्यो—'द्रोहबुद्धि'रिति ? ।' दमनको 'श्रुते-
त्वाऽऽसौ 'सदपः, शृङ्गाऽभ्यप्रहरणाऽभिमुखश्चकित इयाऽऽगच्छति, तदा
'प्यति स्वामी' । एवमुक्त्वा सञ्जीवकसमीपं गतः । तत्र गतश्च मन्दं म-
'मुपसर्पन्विरिमतमियाऽऽत्मानमदर्शयन् । ततःसञ्जीवकेन साऽऽदरमुक्तं-

श्रुती = सञ्जीवकः, द्रोहबुद्धिः = राजद्रोशीनि, कथं जानव्यः ? । सदपः =
रीदरः । शृङ्गाभ्यप्रहरणाऽभिमुखः = शृङ्गाभेण प्रहर्तुं मुयन् एव । चकित इव =
भयम् दत्तस्तनो विलोक्यन्निव । (चौमन्ना होकर) ।

विभिन्नमित्र = श्याकुलमित्र, शतमित्र च । भद्र = माधो । (भद्र = भाई) ।

ये को रिना अघराय ही समुद्र ने यह कष्ट दिया है ! । उसके यवनो को मुनकर,
ती गह्वर जी ने जगन् की सृष्टि स्थिति-प्रलय के कारण भगवान् प्रमु धी' नारायण
। यह सब निवेदन कर दिया । तब उन्होंने समुद्र को टिट्टरे के सत्र अण्डे दे देने
के आज्ञा दी । तदनन्तर भगवान् की आज्ञा को शिर पर धारण कर समुद्र ने उसके
३४ अण्डे (श्रीहरे को) सौंप दिये । इसीलिये मैं कहता हूँ, कि—अन्न (सदायक)
नौर अन्नो (मयान) को पूरा २ जाने रिना ही किसी के बल का अनुमान नहीं
इयाया जा सकता है, इत्यादि ।

दर दर राजा सिद्ध भोजी कि—यह कैसे जाना जाय कि इस पैल की मुक्त पर
रेबुद्धि है ? । दमनक भोजी कि—जब यह पमरुह से (बड़े ताराक से), अपने
गौली की नौक को सामने किये हुए, प्रहार करने की तैयारी में होकर, एवं चौमन्ना सा
रौधर आवे, तब आप जान लें कि,—हमके मन में कपट है, और यह राजद्रोही
है । देने कहकर यह दमनक उस सञ्जीवक के पास गया । और वहाँ जाकर
बँरे २ कपट कर, दरे हुए के समान ही अपने को उसके सामने दिवारा दुष्टा
रु पाकर गया हो गया । सञ्जीवक ने आदर सहित उससे पूछा कि—भाई ! आप

१. 'तत्रागेन गह्वरता' । २. 'समुद्रस्तान्पण्डानि टिट्टिभाय समर्पितवान्' ।
३. 'पुनरा' । ४. 'चकित' ।

‘मद्र ! कुशलं ते’ ? । दमनको म्रुते-‘अनुजीविनां कुतः कुशलम्’ । यतः-
 ‘सम्पत्तयः पराधीनाः, सदा चिच्चमनिर्गृतम् ।
 स्वजीरितेऽप्यनिधासस्तेषां ये राजसेवकाः’ ॥ १५६ ॥

अन्यथा—

‘कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो, त्रिपयिष्यः कस्याऽऽपदोऽस्तद्गताः,
 रीमिः कस्य न राण्डितं भुवि मनः, को नाम राज्ञा प्रियः ।
 कः कालस्य भुजाऽन्तरं न च गतः, कोऽर्थी गतो गौरवं,
 को वा दुजेनरागुरागु पतितः क्षेमेण यातः पुमान्’ ? ॥ १५७ ॥

अनुजीविनां=मेवकानाम् । सम्पत्तयः=सम्पत्तयः । पराधीनाः=परायथाः । अ-
 निर्गृतम्=अद्यान्तम् । अनुजिगम् । किमनिर्गृतं=ये राजसेवकास्तेषां स्वजीरिते-
 ऽप्यनिधासस्तेषां भवतीत्यन्वयः ॥ १५६ ॥

त्रिपयिष्यः=त्रिपयिष्यभोगप्रसक्तस्य । दूरं गता=दूरे गिताः । अपवाताः ।
 त्रिपयिष्यः=सदेव त्रिपयिष्यभोगप्रसक्तस्य । राण्डितं=घोषितं, पठितम् ।
 अर्धो=पार्श्वः, गौरवं=गौरवम् । दुजेनरागुरागु=लक्ष्ययवनकपटजादेषु ।
 क्षेमेण=पुण्येन, यातः=निर्गतः ॥ १५७ ॥

कुशल मे तो है । दमनक कोजा दि—सोखो की कुशल कहाँ है ।

वतीदि—ओ राजसेवक है, उमको कभी सम्पत्तयों पराधीन होती है, और
 गेनको का त्रिष (मन) भी कभी दुर्गो नहीं रहता है । अर्धो ये सदा दुर्गो
 ही रहते है । और तो कस, उ-है कसने कसने का भी त्रिषयमन(रहता है) ॥ १५६ ॥

और भी—कोन दुर्ग पत्र को पत्र पमलदी नहीं होता है । और त्रिषो
 के भवती त्रिषो कसने रहते ही है । और त्रिषो मे पुर्वी पर त्रिषय मन
 त्रिषय त्रिषो दुर्ग है । और त्रिषयों का त्रिष कोन है । और काल को
 दुर्गो के क्षेमे मे कोन नही जाता है । और त्रिष भवने पापे मे कसारी
 पतित है । और कोनदुर्गदुर्गो के अहमेक्षेमे कस कुशलतासे क्या है ॥ १५७ ॥

१. 'मद्र ! कुशलं ते' । २. 'अनुजीविनां कुतः कुशलम्' । ३. 'को नाम राज्ञा प्रियः' ।

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सग्रे ! ग्रहि, किमेतत्' ? ।

दमनक आह—'किं प्रवीमि मन्दभाग्यः ? । पश्य—

'मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पाञ्जलम्बनम् ।

न मृञ्चति, न चाऽऽदत्ते, तथा मुग्धोजस्मि सम्प्रति' ॥१५८॥

वचना—

'एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र बान्धवः ।

किं करोमि, क्व गच्छामि, पतितो दुःखसागरे' ॥१५९॥

—इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः । सञ्जीवको ब्रूते—'मित्र ! तथा-
पे 'सविस्तरं मनोगतमुच्यताम्' । दमनकः मुनिभृतमाह—'यद्यपि राज-

पयोराशौ = समुद्रे । सर्पाञ्जलम्बनम् = सरंरूपमखलम्बनम्, तद्युक्तं वृद्धादिक-
जलम्बनं वा । आदत्ते = शृङ्गानि । मुग्धः = मूढः । सम्प्रति = इदानीम् ॥ १५८ ॥

एकत्र = एकस्यां दिशि । (एक शोर तो) । अन्यत्र = अरुणने द्व । बान्धवः =
पुत्रः, भ्राता सञ्जीवकः, —नश्यतीत्यर्थः ॥ १५९ ॥

मनोगतः = मनसि विपत्तम् । मुनिभृतः = मुग्धम् । राजविश्वासः = राजमन्त्ररहस्यम् ।

सञ्जीवक बोला कि—'मित्र ! तुम ऐसे व्याकुल क्यों हो रहे हो ? ? ऐसी क्या
त है ?' दमनक बोला कि—'मैं तो बड़ा ही मन्दभाग्य हूँ, धार से क्या कहूँ ? ।

देतो—'जैसे समुद्र में डूबता हुआ पुरुष सर्प का अजलम्बन (सहाय) पाकर
तो उसे न तो छोड़ ही सकता है, और न उसे पकड़ ही सकता है, ऐसी ही इस
मन मेरी दशा है । और मैं अपना कर्तव्य निर्वाह करने में असमर्थ होकर

बहुत शोर-किङ्कलन म्मिडू हो रहा हूँ ॥ १५८ ॥

क्योंकि—एक शोर तो राजा का विश्वास नष्ट होगा है, और दूसरी ओर अपने
पुत्र (सन्धी, सञ्जीवक,) का गिराव हो रहा है । ऐसे दमकुन्ध के समुद्र में
पड रहा हूँ, समुद्र में नहीं आता है कि अब मैं कहाँ जाऊँ और क्या करूँ ? ॥ १५९ ॥

इस तरह बर-बर परलम्बी विश्वास ले कर उदास होकर बैठ गया । सञ्जीवक बोला
कि मित्र ! तो भी जो आनके मन में हो उसे आन गिलाह से कहिये । तब यह

१. 'दुःखितं मनोमनं कल्पतां' ।

‘मद्र ! कुशलं ते’ ? । दमनको प्रभू-‘अनुजीविनां कुतः कुशलम्’ । यतः-
 ‘सम्पत्तयः पराधीनाः, सदा चित्तमनिर्दृतम् ।
 स्वजीवितेऽप्यविधासस्तेषां ये राजसेवकाः’ ॥ १५६ ॥

अन्यथा—

‘कोऽर्थान्प्राप्य न गर्वितो, विषयिणः कस्याऽपदोऽस्तद्गताः,
 स्त्रीभिः कस्य न खण्डितं भुवि मनः, को नाम राज्ञां प्रियः ।
 यः कालस्य भुजाञ्चरं न च गतः, कौर्ष्यो गतो गौरवं,
 को वा दुर्जेनवागुरामु पतितः घेमेण यातः पुमान्’ ? ॥ १५७ ॥

अनुजीविनां=सौख्यवानाम् । सम्पत्तयः=समुद्भयः । पराधीनाः=परापक्षाः । अ-
 निर्दृतम्=अखण्डम् । अमुभिरम् । द्विषयिणः-ये राजसेवकास्तेषां स्वजीविते-
 ऽप्यविधासो मयत्तियन्वयः ॥ १५६ ॥

विषयिणः=विषयभोगप्रमत्तस्य । घरां गताः=दूरे गिताः । अयथागताः ।
 विषयिणः गतेषु विरम्यन्ता मन्वीर्ययः । लखितं=घोषितं, पठितम् ।
 अयो=वायव्यः, गौरवं=महत्त्वम् । दुर्जेनवागुरामु=राज्यचक्रवर्तीकालेषु ।
 घेमेण=गुह्येण, यातः=निर्गतः ॥ १५७ ॥

कुशलं ते मी है ? । दमनक बोला कि—सैरको की कुशल क्या है ? ।

वर्षोद—जो शास्त्रोक्त है, उसकी मानी सम्पत्तियाँ पराधीन होती हैं, और
 सैरको का चित्त (मन) भी कभी सुखी नहीं रहता है । अर्थात् ये सदा दुःखी
 ही रहते हैं । और जो क्या, उन्हें अपने चीने का भी विभाग नहीं रहता है ॥ १५६ ॥

और भी—कौन पुत्र पत्र को पाकर पसन्दी नहीं होगा है ? । और विषय
 के भोग्य की कितनी पक्षाः चली गयी हैं ? । और स्त्रियों से दृष्टी पर कितना न
 लखित नहीं हुआ है ? । और राजाओं का चित्त कौन है ? । और काल न
 पुत्रको के बीच में कौन नहीं छाया है ? । और द्विषय भोगने वाले में क्या
 नहीं है ? । और कौन पुत्र पुत्रों के अर्थ में पत्र पर कुशलता से क्या है ? ॥ १५७ ॥

१. ‘मद्र ! दमनक !’ । २. ‘सम्पत्तयः’ । ३. ‘को कस्य गतो गौरवं’ ।

सञ्जीवकेनोक्तम्—'सग्रे ! ग्रही, किमेतत्' ? ।
 नरक आह—'किं प्रवीमि मन्दभाग्यः ? । पर्य—
 'मज्जन्नपि पयोराशौ लब्ध्वा सर्पाञ्जलम्बनम् ।
 न मृञ्चति, न चाऽऽत्ते, तथा मुग्धोऽस्मि सम्प्रति' ॥१५८॥

कः—
 'एकत्र राजविश्वासो नश्यत्यन्यत्र धान्यवः ।

किं करोमि, क्व गच्छामि, पतितो दुःखसागरे' ॥१५९॥

—इत्युक्त्वा दीर्घं निःश्वस्योपविष्टः । सञ्जीवको व्रते—'मित्र ! तया-
 पि 'सविस्तरं मनोगतमुच्यताम्' । दमनकः मुनिभृतमाह—'यद्यपि राज-

पयोराशौ = समुद्रे । सर्पाञ्जलम्बनं = सर्पकृतमज्जलम्बनम्, अचुक वृक्षादिक-
 तम्बनं वा । आदत्ते = पकानि । मुग्धः = मूढः । सम्प्रति = इदानीम् ॥ १५८ ॥
 एकत्र = एकस्यां दिशि । (एक ओर तो) । अन्यत्र = अरुपने तु । धान्यवः =
 मृगः, मगान् सञ्जीवरुः—नश्यतीत्यवः ॥ १५९ ॥

मनोगतं = मनसि स्थितम् । मुनिभृतं = मुनूदम् । राजविश्वासः = राजमन्त्ररहस्यम् ।

सञ्जीवरु बोला कि—'मित्र ! तुम ऐसे व्याकुल क्यों हो रहे हो । ? ऐसी क्या
 बात है ?' दमनक बोला कि—'मैं तो बड़ा ही मन्दभाग्य हूँ, धार से क्या कहूँ !'

देतो—'मेरे समुद्र में डूबना हुआ पुरुष सर्व का अत्रतम्बन (सहारा) पार
 भी टके न तो हूँ ही सकता है, और न उसे पकड़ ही सकता है, ऐसी ही इस
 मन्त्र मेरी दशा है । और मैं अपना कर्तव्य निर्धारण करने में असमर्थ होकर
 डूब रहा हूँ और किञ्चित्म विन्दु हो रहा हूँ ॥ १५८ ॥

कौंठि—एक ओर तो राजा का विश्वास नष्ट होगा है, और दूसरी ओर अपने
 (सम्बन्धी, सञ्जीवक,) का विनाश हो रहा है । ऐसे समुद्र के समुद्र में
 डूब रहा हूँ, समुद्र में नहीं जाना है कि अब मैं नहीं जाऊँ और क्या कहूँ ? ॥१५९॥

इस तरह कहकर यह लम्बी श्वास ले कर उदास होकर बैठ गया । सञ्जीवरु बोला
 कि 'मित्र ! तो भी जो धारके मन में हो उसे धार गिहार में कहिये । तब यह

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

विश्रामो 'न पथनीयस्तथापि भवानस्मदीयप्रत्ययाद्गतः, सियतम् ।
'तन्नया परतो रार्थिनाऽवश्यं तव दितमारवयेम्' । शृणु—
अथ भवामा तवोपरि विकृतयुद्धो 'रहस्युत्थानम्'—'सञ्जीवकनेव

ह्यन्य स्वपरिवारं तर्पयामि' ।
एतन्मृत्या सञ्जीवकः पर विषादमगमत् । दमनकः पुनराह—'एतं
विषादेन, प्राप्तं ह्यन्य कथमनुप्रीयताम् ।
सञ्जायक एव विमृश्याऽऽह—'सुप्तु गन्धिदमुच्यते' । 'यतः—
'दुर्जनगम्या नार्यः, प्रायेणाऽप्यात्र भूद्भवति राजा ।
कृपाणाऽनुमारि च घनं, देवो गिरि-जलधिरप्यो च' ॥१६०॥

प्रमदीयन पथ २=प्रसन्नतास्वर्गभागम् । आगतः=हराऽऽगतः । परतो रार्थिनाः
पार्लो रार्थिनाऽर्थीन, समंभीकृष्ण । आनेव=कथनीयम् । स्वामी=राजा
गिरिः । विकृतयुद्धि = दुःसुखः । रहसि=प्रकृते । प्राप्तं ह्यन्यम् = अन्वयः
देहते वदिते विपश्चिन्मये वररानीयं तकार्यं विधिः ।
दुर्जनगम्या=गच्छन्नाऽनुभाः । प्रमात्रथ २=दुःखालकः । कृपयनुगारिः

दमनक बहुत दिनों हुए, पर २ उमरीकान से वो करने लगा कि—यजुरि राजा का
विनामना भी करना चाहिये, और राजा का पुं विचार भी करनी-रिती से प्रक
नदी करना चाहिये, तो भी प्राप्त हमारे ही मरोगे पर पशुं घाये दे, अतः मैं प्रारंभ
ति भी बात अन्वये अन्वय बहूँगा । वही कि मुझे भी-भी-क-लो-के-अभ है ।
अतः वो वदिते देते से मुझे भी तो पण लागेगा ही । अतः मैं परग हूँ मुनिदे—
पर मन्त्री अतः पर हुए अन्व अन्व दे, बलकि पर मुन्ने एकाप से अतः अन्व
तः कि—मन्त्री के अन्व पर उगते मन्त्र से ही अन्वते परिहार को का
हूँ बहूँगा । पर मुं पर मन्त्रीक वहा ही दु गी हुआ । पर पर एका
तिर केज—अहं ! विद मन्त्र को । ऐसी विधि के मन्त्र पर जो
तो ही मन्त्र ही उन्व अन्व को करना चाहिये । मन्त्रीक एका पर मुं जो बहूँगा ।
वदिते अन्व—पर बहुत सोच करण है ।
वदिते विदो मन्त्र मुन्ने ही पण जानी है, और राजा एकाप
१. 'विदिते अन्व' । २. 'वदिते' । ३. 'एकाप' । मन्त्र ।

['तथा च—

नीचमाश्रयते लक्ष्मीरकुलीनं सरस्वती ।

अपात्रं भजते नारी, गिरौ वर्षति वासवः] ॥

(स्वगतं—) किमिदं^१ दुर्जनचोष्टितं^२, न चेत्येतद्दण्डप्रहारान्निर्णेतुं शक्यते । यतः—

‘कथिदाश्रयसौन्दर्याद्वित्ते शोमामसञ्जनः ।

प्रमदालोचनन्यस्तं मलीमसमिवाऽञ्जनम्’ ॥ १६१ ॥

न (पुनः^३) विचिन्त्योक्तवान्—‘कष्टं, किमिदमापवित्तम्’ ? ! यतः—

शाराध्यमानो नृपतिः प्रयत्नान्न तापमायाति किमत्र चित्रम् ।

पं त्वपूर्वः प्रतिभाविशेषो, यः सेव्यमानो रिपुताम्रपतिः’ ॥ १६२ ॥

एतद्व्यसंगतम् । देवः=मेषः ॥ १६० ॥ ध्वजदारात्=प्रसङ्गात् । अधिदसत्रनोऽपि-
भवसौन्दर्यात्=प्राधारगौरवान्-शोभा घत्ते, यथा—प्रमदान्लोचनन्यस्तं=मुन्दरी-
निदिनं, मलीमसमपि=मलिनमपि, अञ्जनं=रत्न-शोभते इत्यर्थः ॥ १६१ ॥
शाप्यमानः=सेव्यमानः । शोभ=परितोषम् । अपूर्णः=अदृष्टपूर्वः । प्रतिभा-
तेयः=हरिणापैचिभ्यम् । रिपुता=शत्रुताम् ॥ १६२ ॥

नः अशात्री को ही घन देते हैं, घन भी कृपणों (पन्नों) के ही पास प्रायः
जा दे, तथा मेष भी पदाह और समुद्रों में ही व्यर्थ ही न्यारा बरतते हैं ॥ १६० ॥

(मन ही मन) परन्तु ये सब दमनक की बातें सचो हैं, या इनमें हताही
इका है (यह सब इसका पट्टयन्त्र ही है,) इसका पना इसके म्यभार से लगाना
कठिन है । क्योंकि कोई-कौड़े दुष्ट पुरुष आश्रय की सुन्दरता से ही शोभा पाते
। जैसे कि स्त्री के नेशों में लगा हुआ काला अञ्जन भी स्त्रियों के नेशों का आभय
पर ही शोभा पाता है ॥ १६१ ॥

हिर सञ्जनक विचार कर बोला कि—हा! मेरे ऊपर यह क्या कष्ट आ पड़ा ।
क्योंकि अत्यन्त प्रयत्न से संग करने पर भी यदि राजा प्रमत्त नहीं होता है,
तबने कोई आभय नहीं है, परन्तु अनोमी और अत्यन्त आभय की तो यही
। है, कि सेवा करने पर भी वह उल्टा शत्रु ही जाता है ।

१. कथिदः पाठः । २. किं वा । ३. ‘असद्विचेषितं’ ।

वदयमशास्त्रार्थः प्रमेयः । यतः—

‘निमित्तमुद्दिश्य हि यः प्रकृष्यति,
ध्रुवं स तस्याऽपगमे प्रसीदति ।

अकारणद्वेषे मनस्तु यस्य वै,
कथं जनमन्तं परितोषयिष्यति’ ? ॥ १६३ ॥

किं गत्याऽपगमे रातः ? । अथवा निर्निमित्ताऽपकारिणो भवति
राजान् । दमनसो मूते—‘एतमेवेतन् । शृणु—

‘निःस्निग्धरूपकृतमपि द्वेष्यतामेति कथिन्,
साक्षादन्यैरपकृतमपि प्रीतिभेदापयाति ।

चित्रं चित्रं किमपि नगितं नैकमात्राश्रयाणां,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः’ ॥१६४॥

अथवाप्यः = अथवाप्यः । प्रमेयः = नियमः ।

निमित्तं = कारणम्, उद्दिश्य = मनसि कृत्वा । ध्रुवं = दृशम् । तस्य = हेतुः ।
अपगमे = गतिः । प्रमेयी = प्रमाणी भवति ॥ १६३ ॥ निर्निमित्तापकारिणः =
निर्दोषं शोधितः । निःस्निग्धः = दुष्टः । गिनत्यैः = अनुगन्तव्यैः । अपकृतमपि =
‘अपकृतमपि’ इत्यः । द्वेष्यता = अविद्या । साक्षात् = अविद्या । अविद्यामयः । ‘अ

— वस्तु इत एत वा तो केहे उभाव ही नही हे । क्वचि—
तो विही कारण से केन वर ग हे, वर तो उग कारण के दूर ही जां
विधन ही प्रमन ही जाग हे । वस्तु जितना मन बिना कारण से ही बर
बता हे, उगहे मनुष्य जना केहे प्रमन वर नकता हे ! ॥ १६३ ॥
कोहे ही एत राजा वा कर्तार ही कवा बिना हे ! । अथवा राज
बिना कारण के ही कर्तार (दुर्ग) कवा कने ही हे ।
केहे मनुष्य तो बिना जना केहेतो तो कर्तार कने वर भी उन
ही कारण हे, कोहे ही जगते से (कर्तारो से) कारण ही कर्तार ।
१. ‘वरजः’ । २. ‘क्वचिन्ने हि’ । ३. ‘विधन वर्तन’ ।

अन्यथ—

‘कृतशतमसत्सु नष्टं, सुभाषितशानं च नष्टमबुधेषु ।
यचनशतमयचनरुरे, बुद्धिशतमचेतने नष्टम्’ ॥ १६५ ॥

किञ्च—

‘चन्दनतरुषु भुजङ्गा, जलेषु कमलानि, तत्र च ग्राहाः ।
गुणघातिनश्च भोगे खला, न च सुखान्यविघ्नानि ॥ १६६ ॥’

चिन्तयेति शेषः । प्रीतिमेव=प्रसन्नतामेव । चिन् = मर्ददेवाध्ययम् । नैकमायाभ्रवाप्या
= नानाविधरममावाभयाणां, रागां-चरितं किमपि त्रिचित्र मवतीत्यन्वयः । सेवा
एक-धर्मं, निवर्ता गहनः-योगिनामपि = अतीन्द्रियशानयालिनामपि, अगम्यः =
दृष्टेयः ॥ १६५ ॥

कृतशतम् = उपहनयतान्यपि । अबुधेषु = नूर्तेषु । अयचनरुरे = आशा-
निपातके । अचेतने = मूढे । नष्ट = गिरलम् ॥ १६५ ॥

भुजङ्गाः = सर्पाः । जलेषु = उल्लिखेषु । तत्र = ग्राहाः = मकरादयः । गुणघातिनः =
गुणनिघातकाः, गुणनिपातकाः, खला = दुःखाः । भोगे = सुतोयभोगेऽन्तरायभूताः ।
‘भोगे’ इत्यत्र ‘लोके’ इति पाठस्तु शोभनः प्रतिमाति । न च = नदि । गुणानि =

पर भी प्रीति को ही प्राप्त होता है—यह अत्यन्त आध्यय ही है । ठीक है, अनेक प्रकार
के भारों (विघ्नवृत्तियों) से मुक्त रहने वालों का चरित्र त्रिचित्र ही होता है । और
यह सेवा धर्म भी बड़ा कठिन है, योगियों से भी यह दुर्गम है ॥ १६५ ॥

और भी—दुर्जनों पर किए गए हजारों उपकार भी व्यर्थ ही हो जाते हैं ।
और भूतों को कटे गए सैकड़ों मुन्दर-मुन्दर दितकारक यचन भी व्यर्थ ही हो
जाते हैं और बहना न मानने वालों को कटे हुए सैकड़ों यचन भी नष्ट हो जाते
हैं । और जड़ पुरुष में सैकड़ों बुद्धियों भी नष्ट ही हो जाती हैं, अर्थात् उनसे
कुछ भी बचा नहीं होता है ॥ १६५ ॥

और—चन्दन के वृक्षों पर सर्प हैं, जल में कमल हैं, और वहाँ ग्राह भी हैं, भोगों
१. ‘गुणघातिनश्च निगुणा भोगे, न सुखान्यविघ्नानि’ ।

अन्यथा—

‘मूलं भुजङ्गैः, कुमुमानि भृङ्गैः

शाखाः स्रवङ्गैः, शिखराणि मल्लैः ।

नाञ्जस्त्येव तत्रन्दनपादपस्य,

यन्नाञ्जश्रितं दुष्टतरैश्च द्विसैः’ ॥ १६७ ॥

अयं हायल्ल्यामी १वाचि मधुरो, विषद्वयो २मया हायते’ । यतः—

‘दूरादुन्निघ्नतपाणिरार्द्रनयनः, प्रोत्सारिताञ्जस्रानो,

गाढाञ्जलिङ्गनतत्परः, प्रियरूपाप्रदनेषु दत्ताञ्जदरः ।

३अन्तर्गृहनिषो, यद्विर्मधुमयधाञ्ज्तीय मायापटुः,

फौनामाज्यमपूर्वनाटकनिधिर्यः शिदितो दुर्जनैः’ १ ॥ १६८

शोभाः, अस्तिनामि=रजगदिना न ॥ १६६ ॥

मूषमिति । मूषम्=अस्तिः । भुजङ्गैः=मृगैः । अश्रवैः=वाहरीः । मल्लैः=शयैः । (भाण्ड) । दुष्टतरैः=मलेः । द्विसैः । द्विसैः=पादुङ्गैः, अतीथ ॥ १६७ ॥

पादाभरे-शातः=दृश्यमानो मया । दूरादिति । उन्निघ्नतपाणि=दुष्टव्य
प्रभाव जागतिन्दगाः । नन्दनपाद, आशीर्षःशानाव कोपाविश्या हायती वा ।अन्तर्नयनः=अन्तर्नयनोच्यते । ३मोदयगद्वयः=विषयाः=विषयानि । द्विसैः
शोभाः=शोभाः । अस्तिनामि=अस्तिनामि । १ शोभाः=शोभाः । शोभाः । शिव

मै दुष्ट वा नाश करने वाले दुष्ट हैं । इस द्विवचिन शक्ति गुण वही भी नहीं है ।

श्रीरामो—अन्तर्नयन रूप की वह शक्ति से, पूरा भीते में, शाखा मानती से
श्रीरामो—अन्तर्नयन रूप से अन्तर्नयन है । अन्तः अन्तर्नयन के रूप का ऐसा को
भी भगवत नहीं है, जो अन्तर्नयन शक्ति जीतो में अन्तर्नयन नही हो । (भाण्ड रूप पर ।

पर जते है) ॥ १६८ ॥

श्रीरामो—अन्तर्नयन रूप से अन्तर्नयन है, पर अन्तर्नयन शक्ति में भगवत
है, पर अन्तर्नयन रूप से अन्तर्नयन है । १६८ दुर्जनैः दुष्ट में हाय उच्यते काले, अन्तर्नयन
१. ‘अन्तर्नयनैः’ । २. ‘अन्तर्नयनैः’ । ३. ‘अन्तर्नयनैः’ ।

कथाहि—

‘पोतो दुस्तरवारिराशितरये, दीपोऽन्धकाराऽऽगमे,
निघाति व्यजनं, मन्दाऽन्धकरिणां दपोपशान्त्यै सृष्टिः ।
इत्थं तद्भुवि नास्ति यस्य त्रिधिना नोपायचिन्ता कृता,
मन्ये दुर्जनचित्तवृत्तिहरये घाताऽपि भग्नोद्यमः’ ॥१६९॥

सञ्जीवकः पुनर्निःश्वस्य—(स्वगतं) ‘कष्टं भोः ! कथमहं सत्यमज्ञः
देन निपातपित्तव्यः’ ? । यतः—

पा=द्विपदभेदेषु च, दत्तादरः=दक्षितादरः । बहिरेव प्रणयपेक्षामिन-
रन्तनि—अन्तर्गूढनिघः=हृदयनिहितमशानिघः । ‘अन्तर्भते’नि वाटान्तरम् ।
सः=अमृतमधुरः । मायावदुः=कष्टघटनाकुशलः । दुर्जनैः=पत्नीः ॥१६८॥
पोतः=उदुपः । (जहाज) । दुस्तरवारिराशितरये=दुर्लभसमुद्रमलतरये ।
=प्रदीपः । निघाति=घाताऽभावे । सृष्टिः=अदृशः । दुर्जनचित्तवृत्तिहरये=
दपाऽऽनने । घाता=प्रज्ञानिरवि । भग्नोद्यमः=कुण्ठितन्यासारः ॥१६९॥

इ राने वाले, अपना आधा आत्मन देने वाले, निरुद में आलिप्तन करने
प्याही २ कथा और प्रभी में आदर करने वाले, और बाहर से भीठे के
। और भीतर शिव धारण करने वाले माया (उल्लरर) करने में बदे चतुर होने
अरूपं नोटक का यह कौन सा व्यवहार है, जो दुर्जनो ने छोपा है ? ॥१६८॥
दिग्ने ने क्या भी है कि—गहरे समुद्र को पार करने को जहाज, अग्नेरा
। को शीत, हग न होने पर हवा करने को पंखा, और मद से अन्ये हुए
। के पदरुद को शान्त करने के लिये शिथला ने अकुश-उत्तर निपा है ।
पर पूषो पर ऐसी कोई क्यु नहीं है, जिसके उपाय की चिन्ता प्रज्ञानी ने
। है, परन्तु दुष्ट के चित्त की वृत्ति को वशाने में तो प्रज्ञा भी हार चुके हैं,
में समझना है ॥ १६९ ॥

१. ‘समग’मिति आचिन्तम् । २. ‘ध्यायादपिन्द्रः’ ।

‘ययोरेव समं वित्तं, ययोरेव समं बलम् ।

तयोर्विवादो,’ मैत्री च, नोत्तमाऽधमयोः क्वचित् ॥१७०॥

पुनर्विचिन्त्याऽऽह^२—‘केनाऽयं राजा भमोपरि विकारितो, न जाने भेदमुपगताद्राशः सदा भेतव्यम्’ । यतः—

‘मन्त्रिणा पृथिवीपालचित्तं विघटितं क्वचित् ।

बलयं स्फटिकस्यैव, को हि सन्धातुमीधरः’ ॥ १७१॥

‘निराश्रितः’ इत्यथ ‘इत्याद्य’ इति पाठान्तरम् । वित्तं = धनम् । मैत्री = मीत्रादन्तम् ॥१७०॥ विघटितः = अन्वयपुष्टिः कृताः । (‘किसने बिगाड़ दिया है’ ‘नाराज कर दिया है’) ।

भेदं = निराश्रय । मन्त्रिणा = प्रमाणादिना सह । विघटितं = विघटं, निरुद्धं पक्षयं = करभूतान् । (चूटी) । सन्धातु = पुनः प्रवृत्तिमानेत्युत् । क ईश्वरः = कः समयः । न कोऽपि यथः ॥१७१॥

सद्योऽक निर दोरे इनास लेकर करने लगा दि—दाय, परे दुःख की बात । मैं तो पान की पान जाने जाता हूँ, छाः मैं निर से केने मारे जाने योग्य हूँ ।

करोँडि—अन दोनों का बराबर धन है, और मिनका बराबर बल है, उ दोनो में ही निवृत्त या विवाद होना उचित माना जाता है । परन्तु बरे कीर धे में ही विवाद की भी उचित नहीं होगा है ॥ १७० ॥

(निर मन ही मन विचार कर बेशा दि—) मैं पर भी नहीं जानता (कि किने हम शान्त को मेरे ऊपर अग्रमत्त (नाशक) पर दिया है ।) अ अग्रमत्त हुए (भेद को अग्र हुए) शान्त में कः करन ही पारिये ॥

करोँडि—यदि बराबर शान्त का मत करने मन्त्री में पर जाय, अन्त ही मन्त्र, तो निर उनका पुनः भेद क्या देने में विनी की भी कृति नहीं हो करे (नीति) की पूर्णता के दूर जाने पर पुनः उनको जोड़ देने को भी मन्त्र नहीं हो करे ॥ १७१ ॥

अन्यथा—

‘वज्रं च, राजतेजश्च द्वयमेवाऽतिमीषणम् ।

एकमेकत्र पतति, पतत्यन्यत्रमन्ततः’ ॥ १७२ ॥

ततः संग्रामे मृत्युरेश्वरम् । इदानीं तदाज्ञानुवर्त्तनमयुक्तम् । यतः—

‘मृतः प्राप्नोति वा स्वर्गं, शत्रुं हत्वा सखानि वा ।

उमापि हि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ’ ॥ १७३ ॥

अन्यथा—

आइवेपु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीधितः ।

युध्यमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपराद्मुखाः ॥

युद्धकालशास्यम्—

‘यत्राऽप्युद्धे ध्रुवं मृत्युर्युद्धे जीवितमंशयः ।

तमेव कालं युद्धस्य प्रवदन्ति मनीषिणः’ ॥ १७४ ॥

वज्र = दन्तोलः । एक = वज्रम् । अन्यत्र = राजतेजः । समन्ततः =
वैप विपुप्रसारणदिपु ॥ १७२ ॥

संशत्रुवर्त्तन = विरुद्धमतिशाखापालनम् । अयुक्त = नोचितम् ॥ मुखानि
= प्रसोनी-पन्थयः । शूराणां = महत्प्रामे युद्धमानानाम् । उभौ = १. गौ,
२. युक्तं च । सुदुर्लभौ = अत्यन्तदुरवस्थौ ॥ १७३ ॥

अप्युद्धे = युद्धादिकारे । मृत्युश्च = अश्चयम् ॥ १७४ ॥

श्रीर भी—वज्र और राजा का तेज ये दोनों ही बड़े भयङ्कर होते हैं । परन्तु
व (वज्र) तो एक ही जगह गिरता है, और दूमरा (राजा का तेज) तो सब
जगह गिरता है (सब युद्ध नष्ट कर देता है) ॥ १७२ ॥
इमन्निवे एव तौ इम राजा से लड़कर भेग युद्ध में मरना ही उत्तम है ।
इम राजा की छाशा का अनुकरण (पाछन)—धरना अयोग्य है ।

कथं च—शूरा या तो शूरा में स्वयं मरकर स्वर्ग जाना है, या शत्रु को मारकर
स्वर्ग जाना है । शूरो के ये दोनों शूरा बड़े ही दुर्लभ हैं । अर्थात् युद्ध करनेवाले
को ये दोनों ही हाथों में लड़ना है ॥ १७३ ॥

श्रीः एव तौ इव युद्ध का ही समय है । कथं च—
जहाँ युद्ध न करने से निश्चय मृत्यु होती हो, और युद्ध में जीने का संदेह
न हो, तर्फी को युद्धमन् युद्ध का समय कहते हैं ॥ १७४ ॥

१. रेशभोपतानिधि वरम् । २ काचित्कः पाठः । ३ ‘म्रुधं नाथो’ ।

यतः—

'अपुद्गे हि यदा परयेन किञ्चिद्विदितमात्मनः ।

युद्धयमानस्तदा प्राणो म्रियेत' रिपुणा सह' ॥ १७५ ॥

'जये च लभते लक्ष्मीं, 'मृत्युनाऽपि सुगङ्गनाम् ।

स्रग्विघ्नं सिनः कायाः, का चिन्ता मरणे रणे' ? ॥१७६॥

एतद्विदित्वा सतीवक आह—'मो मित्र ! कथममी मां जिषांस्तु-
रिति शान्त्यः' ? । 'दमनको प्रते—'यदाऽमी विद्वलकः' समुद्रतलाद्गृह्यते,
उत्प्रतनरणो, विद्वताऽऽपत्वां परयति, तदा स्वमपि स्वविक्रमं दर्शय-
त्यसि' । यतः—

अपुद्गे=युद्धाऽन्तरे । 'रिपुणा सह युद्धयमान' इत्यन्वयः ॥१७५॥

गुणानाम्=अनारतः । कायाः=शरीराणि । रणे=युद्धे च, मरणे=मृत्यौ,
का चिन्ता ? ॥१७६॥

मिषांस्तु=मां हन्तुमिच्छन्ति इति कथं शान्त्य इत्यर्थः । समुद्रतलाद्गृह्यते
उत्प्रतनरणः । उत्प्रतनरणः=उत्थापितपादाः, बद्धकमाः । विद्वताऽऽपः=
व्याकृताः । शरीरमे=शरीराणाम् ।

शरीरं—युद्ध में करने में जब कुछ क्षाना ही न देने, तो जो शत्रु है
- साथ युद्ध करना हुआ पर जाये वही परिहृत (भीति) है ॥ १७५ ॥

श्रीर विषय में लक्ष्मी को प्राप्ति होगी है, शीर मरणे पर भी लक्ष्मी से दण्ड
राई मिलती है । शीर वह शरीर जो अत्यन्त ही है ही, फिर युद्ध में मरणे में
कथा निन्ता है ॥ १७६ ॥

इया विषय पर, मञ्जीरक ने कहा कि—'मित्र ! पर देने जाना चार वि-
वह रामा मेरे मरणे को इच्छा रखता है । दमनक बोला कि—'जब व-
मिषा है वूँ उदाहर, उंचे थे, बिदे हुए श्री कुँ उदाहर गुणाही श्रीर देने,
दुन मरणे लेना, कि—वह युद्धे मरणे श्रीर उच मरणे दुन भी क्षाना व-
रिणाया । अर्थात् जो युद्धे करते वने जो युन भी क्षाना ।

१. 'विघ्नो' । २. 'म-रणेऽपि सुगङ्गना' । ३. 'लक्ष्मी' । ४. 'दमन-
क-वचनः, अत्यन्त-व्याकृतः, अत्यन्त-व्याकृतः' ।

‘बलवानपि निम्तेजाः कस्य नाऽभिमवाऽऽस्पदम् ? ।

निःशङ्कं दीयते लोकैः परय भस्मचये पदम्’ ॥ १७७ ॥

किं तु सर्वमेतत्सुगुणमनुष्ठातव्यम्, नो चेन्न त्वं, नाऽहम् । इत्युक्त्वा
नकः करटकसमापं गतः । करटकेनोक्तम्—‘किं निष्पन्नम् ? ।’

नकेनोक्तम्—‘निष्पन्नोऽनयोरन्योन्यभेदः’ ।

करटका मते—‘कोऽत्र सन्देहः’ । यतः—

‘यन्धुः को नाम दुष्टानां, कुप्यते को न याचितः ? ।

को न दृप्यति वित्तेन, कुकृत्ये को न पण्डितः’ ? ॥१७८॥

नित्तेजाः=वराक्रमविकलाः, निस्तरश्च । अभिमवास्पदम्=ग्रपमानमाजनम् ।

नवये=नस्मराशौ । निःशङ्कं=निर्भवम् । पदम्=वादः । दीयते=प्राप्यते ।

दीयते’ इत्यपि पाठः ॥ १७७ ॥

सुगुण = निष्कृतमम् । त्व न =त्व न स्यात्पनि । न तत्र कुलशुभ । अर्हं न=

च न स्यात्पामि । तिहोभ्रमाप्तिनाशविध्यतस्त्विवाशयः ।

अन्योन्यभेदः = परस्परान्नापः । याचितः = धनं याचिनः सन् । दृप्यति =

दुष्टपुरो भवति । कुकृत्ये = पापकर्मणि ॥ १७८ ॥

क्योहि-तेज से रहित होने पर बलवान् का भी अनादर कौन नहीं करता है ।

नो । मय (रास) के डेर पर सभी लोग निडर होकर पैर रखते हैं ॥१७७॥

और माई ! ये सब वानें तुम झिंर कर ही करना । नदी तो न मैं होऊँगा

‘र न तुम ही बचने पाओगे । अर्थात् तिह के रास तुम भी मारे जाओगे और

मौ मारा जाऊँगा’ । इस प्रकार सज्जोडक को डली सीधी वानें समझ कर यह

मनह करटक के पाम गया । करटक बोला कि—‘क्या कर आए ? । तब घट

मनह बोला कि—‘रासा और मन्त्री (तिह-नृपम) इन दोनों में आपुम में भेद

है’ । बाल थावा हूँ । करटक बोला कि—‘टोक दे, इसमें क्या सन्देह है ।

क्योहि दुष्ठी का क-गु नीन है, कोई नहीं । बार २ मॉने पर कौन शोष

गो करगा है ? । और भन में कौन इस (प-न्यदी) नहीं होता है ? । और घुरे कामों

के कामे में कौन पर्यवृत्त नहीं है ? ॥ १७८ ॥

१. ‘कु-ने हो नाऽनिवाचितः’ ।

अन्यथ—

‘दुर्धनः क्रियते धूर्तः श्रीमानात्मविष्टये ।
किं नाम रत्नसंसर्गः वुरुते नाऽऽश्रयाऽऽश्रयत् ? ॥ १७६ ॥

ततो दगनरुः पिङ्गलक्षसमीपं गत्वा-‘देव ! समागतोऽसौ पापाऽऽश्रयः, तत्-सञ्जाभूय स्थीयताम्’ । इत्युक्त्वा पूर्वोक्ताऽऽधारं कारयामास । सङ्गीव होऽप्यागत्य, तथाविधं विहृताऽऽकारं सिद्ध दृष्ट्वा, स्वाऽनुरूपं विक्रमं चकार । ततस्तयोर्व्युद्वे ‘सञ्जायकः सिद्धेन व्यापादितः । अथ पिङ्गलक्षः सञ्जायकं सेवकं व्यापाद्य, विधान्तः, सशोक इति प्रतिष्ठति । प्रश्नं च—‘किं मया दातव्यं कर्म कृतम्’ । यतः—

धीमान् = राजाधिपति । स्वभवात् = सन्नोऽपि, — प्राप्ताभिष्टये = स्वतन्त्रदेव ।
पूर्वः = पश्यते । दुर्धनः = दुर्गावारी । क्रियते = विधीयते । रत्नसंसर्गः किं नाम न वुरुते ? । सर्वमेवानर्गं त्वं । आभवात्पत् = अर्थात् । अस्मिन् सर्वं सा सर्वं वाङ्मयि भागीभोगि ॥ १७६ ॥ प. वाऽऽश्रयः = दुर्धनः । रा. होती । पूर्वोऽन्वारं = विष्टयाऽऽश्रयवृष्टि-पुष्टि, बद्धमय । तथाऽभिवृ = उ-पु-लादगुल, कृष्णम् ।

धीर भी— पूर्व भोग धरनी वृद्धि (लाभ) के त्रिये गमाया धीर ही को दुर्धन बना देते हैं । उ-दे धुरे धर्म पर बलाते हैं । ठीक है—दुरी का र प्राप्ति के समान ही धरने आभवात् भी क्या नाश नही बरना है ? ॥ १७६ ॥
इसके धरना-र वर धर्म-र विद्वत्त्व मित्र के पाप जाकर बोझ-देव । है वर धरनी लज्जोरक प्राण ही होगा, भी तैवर हीवर वैदिये । पर वर के उभने का पाने बहा दुष्टा वर (पैसा वः वर वैदना प्राप्ति) बरा दिया । लज्ज वर मे भी प्राणर वने ही मि. है दुर धरने मित्र को देण, धरनी र्द्धि के धरुमा वर धरुन । क्या धीः उम मित्र से लक्ष्मणा । धीर उन दोनों के मुद्र है धरना मे लज्जोरक लाग गया ।
इस विद्वत्त्व धरने मेरक लज्जोरक को मार कर क्या दुष्टा मा धीर हो कम दिया है ।
१. ‘द-प-वे-दु-पे-म-र-दे’ । २. ‘ध-प-र-र-’ ।

‘परैः सम्भृज्यते राज्यं, स्वयं पापस्य भाजनम् ।
धर्मातिक्रमतो राजा, सिंहो हस्तिवधादिव’ ॥ १८० ॥

अपरच्छ—

‘भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य,
भृत्यस्य वा बुद्धिमतः ‘प्रयाशो ।
भृत्यप्रयाशो मरणं नृपाणां,
नष्टागपि भूमिः सुलभा, न भृत्याः’ ॥ १८१ ॥ १

रागदिनः = इतः । दाढ्यां = दुष्टं, कूर्म । परैः = अन्तुभीविभिः, मन्त्रि-राजकुमा-
दिभिः । स्वयं = गमा । धर्मातिक्रमनः = धर्मोत्सङ्घनात् । पापस्य = बधव्य-
दिजन्यदुरितस्य । भाजनं = प, प्रम् ॥ १८० ॥

गुणान्वितस्य = गुणिनः । भूम्येकदेशस्य = भूगण्डस्य । बुद्धिमतो भृत्यस्य
न, प्रयाशो = विनाशो छति । नृपाणां योग्यम् वश्य मरण = शत्रु-मुपवनः । उभयोरपि
कथं विद्येयमाह—महाऽसीति । सुलभाः = पुनर्लभ्युं शक्या । योग्या भृत्यास्तु
इतरे सुलभाः ॥ १८१ ॥

कवोकि—राज्य का गुण तो दुमरे लोग मोगते हैं, और धर्म का उल्लंघन करके
पाप का भागी राजा होता है । जैसे सिंह हाथी के मारने से पाप ही करता
है । कवोकि—हाथी को मारना तो सिंह है, पर उसका मांस तो धन्यान्व पशु
एकदम खादि ही खाते हैं ॥ १८० ॥

और भी—बुद्धिमान् सेवक का और उत्तम गुणयुक्त पृथ्वी के एक देश
का मत—इन दोनों में से योग्य भृत्य का विनाश राजाओं के लिए मृत्यु के
समान ही है । कवोकि कोई दुई उत्तम भूमि (देश) तो फिर भी काठान्तर में
एक से नित्र सङ्गी है, पर योग्य सेवक जल्दी नहीं निवृत्ता है ॥ १८१ ॥

दमनको व्रते—'श्वामिन् ! कोऽयं नूतनो न्यायो यदरातिं हत्वा
सन्तापः क्रियते ! । तथा 'चोक्तम्—

'पिता वा, यदि वा आता, पुत्रो वा, यदि वा सुहृन् ।
प्राणच्छेदकरा राज्ञा हन्तव्या भूतिमिच्छता' ॥ १८२ ॥

अपि च—

'धर्मा-ऽर्थ-कामतपयज्ञो नैकान्तरुह्यो भवेत् ।
न हि हस्तस्यमप्यन्नं 'घमायान्भवितुं घमः' ॥ १८३ ॥

किञ्च—

'घमा शत्रौ च, मित्रे च, यतीनामेव भृषणम् ।
अपराधिषु सत्त्वेषु नृपाणां सैरदृषणम्' ॥ १८४ ॥

नूतनः = अभिनवः । अराति = शत्रुम् । प्राणच्छेदकराः = जीविनहोविष
भूति = बन्धनम् ॥ १८२ ॥ एवान्तरुह्यः = वेपथुदधारः । निजो दधार
घमान् = शत्रुः, घमाद्योः । घम = शत्रुः ॥ १८३ ॥

शत्रौ, मित्रे च इत्येव घमा ननु यतीनां = मन्वादिनामेव । भृषण-

तत्र दमनक बोद्धा कि—दे श्वामिन् ! यह क्या नई रीति है, कि शत्रु को
कर भी प्राण छेदाव करते हैं ।

यहा भी है—विना वा ध्याता वा पुत्र वा मित्र, इनमें से कोई भी हो,
करने प्रार्थी को नष्ट करने काहा हो, उन्हें देखकर बहाने काहा ।
अपराध हो नष्ट कर दे ॥ १८२ ॥

और भी—धर्म, अर्थ और काम (विहित पुण्याओं) के लक्ष्य को न
करने शत्रु को बर्हिद, कि यह अपिठ दधारगन्ध नहीं होत, क्योंकि क
घमा करने काहा पुण करने हाथ में धरे हुए अन्न को भी लक्ष्य में
नहीं होता है । अर्थात्-क य-न दवा और मृदुता भी हानि हो करती है ॥१८३

और—शत्रु को मित्र में बदल कर में घमा करना—यह लक्ष्मीको ।

१. 'नवदृष्टम्' । २. 'दमनकवचं घमायान्भवितुं घमः' ।

—

‘राज्यलोभादहङ्कारादिच्छिनः स्वामिनः पदम् ।

प्रायश्चित्तं तु तस्यैकं जीरोत्सर्गो, न चाऽपरम् ॥१८५॥

न्यस—

‘राजा घृणी, ब्राह्मणः सर्वमचः,

स्त्री चाऽवशा, दुष्प्रकृतिः सहायः ।

प्रेम्यः प्रतापोऽधिकृतः प्रमादी,

त्याज्या इमे, यश्च कृत्वं न वेत्ति ॥१८६॥

दूष्य = शोभाऽऽधायकम् । सत्वेयु = नावेयु । सेव = समैर ॥ १८५ ॥
 राज्येति । राज्यलोभान्, अहङ्काराद्वा । स्वामिनः = प्रभोः, पर = त्यागम्,
 रागम् । हृद्यता = वाञ्छतो जनस्य । जीरोत्सर्गः = वचः, प्रायश्चित्त्वागश्च ॥१८५॥
 घृणी = दयापरः । अवशा = स्वतः प्रा । दुष्प्रकृतिः = दुष्टस्वभावः । सहायः
 = अनुचरिवाणः, सत्वा च । प्रेम्यः = मृत्युः । प्रताप. = अननुकूलः । अवि-
 दः = अविधारी । प्रमादी = अनवधानः । यश्चेति । कृत्वं = कृतमुपकारं, न वेत्ति
 = न मनुने । कृतम् इत्यर्थः ॥ १८६ ॥

दूष्य है। और अपराधी जीवों पर घना करना राजाओं का दूष्य है ॥ १८५ ॥
 और भी, राग के लोभ से—या अहंकार से जो स्वामी के पर (राज्य)
 को हन्दा करता है, उसका तो मरना ही एक प्रायश्चित्त है, दूसरा कोई
 प्रायश्चित्त नहीं है ॥ १८५ ॥

और भी—अनप्रायियों पर दया करने वाला राजा, और सबके हाथ का और सब
 वस्तुओं का अन्न खाने वाला ब्राह्मण, उन्मत्त एवं स्त्रीयणी स्त्री, दुष्ट स्वभाव
 का सहायक बंधा नहीं मानने वाला नौकर, असंरधान अधिकारी (अरसर)
 और जो हिये हुए को न जाने (कृतम्)—इसका त्याग करना ही भेद
 है ॥ १८६ ॥

वयोपयम्—

‘सत्याञ्जना च, परुषा, प्रियवादिनी च,
हिंसा, दयालुरपि, चार्ज्यपरा, वदान्या ।
नित्यव्यया, प्रचुररत्नधनाऽऽगमा च,
वाराऽङ्गनेव नृपनीतिरनेकरूपा’ ॥ १८७ ॥

—इति करटवचनेन दमनकेन सन्तोषितः, स्यां प्रकृतिमापन्न
पिङ्गलकः, मिहामने समुरविष्टः । दमनकञ्च प्रहृष्टमना भूत्वा ‘विजय
महाराजः, शुभमानु सर्वजगताम्’ इत्युक्त्वा यगामुख्यमवधितः ॥३॥

भावेति । साया = स्यादपि, अन्ना = मिथ्यावाद्या, परुष = रूपाद्री ।
प्रियवादिनी = मनुष्यापणनगया । हिंसा = हिंसारराडि, दयापुः । चार्ज्यरा =
अपंगट परराडि । वदान्या = स्वागप्रवणा । प्रचुररत्नधनागमा = बहुतरत्न-
द्विलोकार्जनवता । वाराङ्गना = येश्वा । अनेकरूपा = विद्वज्जनाकरा ॥ १८७ ॥
प्रारम्भः = आगतः । प्रहृष्टमनाः = प्रमन्नमानसः । यगामुखं = मुखं यव

—छोर भी विद्वेष करने—आमाश्री की नीति, येश्वाश्री की तरह ही—मन की
फूट तो निश्चिन्त होती है, छोर पर कटोर होने हुए भी प्रिय होकरने वाली हो
करें वापस (यत्र संहर करने वाली, जोही र को कटार से वसूल करने क
होने हुई भी उदात्ता से यत्र हरव करने वाली गो होती है । छोर निव
की आनन्दनी करनेकाली होती है । हम प्रकार आमाश्री की नीति येश्वाश्री के
होते हैं । येश्वर्ये भी हमो प्रकार की जाना कष्ट रचनाये विवा ही करनी
॥ १८७ ॥

इस प्रकार दमनक के लक्षणे पर पर विद्वत्तक करने प्रमन्न प्रभाव क
हो, निरन्तर पर जा कर बैठ गया । छोर तब दमनक से कहा—महाराज
भव हो । भंरुं कष्ट का बन्धन हो । पर परहर पर भी गुण से बैठ गया

विष्णुशर्मोवाच—'मुद्गलेदः अतस्तावद्भवद्भिः ? ।'

राजपुत्र उचुः—'भवत्प्रमादान्छत्वा' सुखिनो भूता वयम् ।

विष्णुशर्मोऽप्रवीण, —अपरमपीदमस्तु—

'मुद्गलेदस्तावद्भवतु भवतां शत्रुनिलये,

सलः कालाऽऽकृष्टः प्रलयमृषसपत्वहरहः ।

वतो नित्यं भूयात्सकलमुखसम्पत्तिवसतिः,

कथाऽऽगमे रम्ये सततमिह बालोऽपि रमताम् । ११८।

इति श्रीविष्णुशर्मोक्तं हितोपदेशो मुद्गलेदो नाम द्वितीयः कथासंग्रहः ।

साधवा । प्रसादात् = रूपया । अपरमपि = अन्यःपि (शौर मी) ।

सहदिनि । मन्त्रां ये शत्रवस्तेषां निलये = मृते । सलः = दुःखः । कालाऽऽकृष्टः =
वमारुष्टः, दुर्दैवःकृष्टः सखिनि वा । प्रलय = विनाशम् । उपसर्तु = गच्छतु ।

प्राराः = प्रतिदिनम् । सल्लमुखसम्पत्तिवसतिः = सगुणैर्बुद्ध्यालम्बमृदिनियामः ।

कथाऽऽगमे = दिनोपदेशकथाप्रसङ्गत्वे उपपत्तेऽभिपत् । सतत = निरन्तरम् । बालो-

नी । अविद्याभ्याग्राह्यऽपि, बुद्धोऽपि च । रम्ये = शोभते । प्रसीदताम् ॥ ११८ ॥

इति मन्मथकलमातृवद्विद्वद्वीरेव-भीशङ्करावतार-नरैरक्ष भी १०८ अंस्तेद्विगमत्री-

काष्ठिकाभ्योदेव, न्यायचार्य-यद्विद्वत्प्रकाश-भी १०८ अंस्तेद्विगमत्री-

काष्ठिकाभ्योदेव, न्याय-अशकण दर्शनाच-अंशं गुरुगमादकाष्ठिका विर-

निगयो द्वितीयेकाभिनवकाष्ठिकाभ्यो द्वितीयं मुद्गलेदपस्तरणम् ।

११ विष्णुशर्मो बोले कि-दे राजपुत्रो । आर लोगोने मुद्गलेदो मुन ही लिया ।

राजपुत्र बोले कि-आरके प्रमाः से मुन लिया, शौर इन लोग हमसे बदे

ती प्रमा भी मुनी हुए । विष्णुशर्मो बोले कि-अच्छ, दूसरा पर भी हो, कि-

कारके शत्रुओं के घर में मुद्गलेद (परापर लडाई, पूर) हो, दुष्टजन

हूँ दे बय होकर प्रतिदिन प्रलय (विनाश) को प्रप्त हो, ममी मनुष्य सरा

लिये मुन सारति के भयहार बने । शौर इस संसार में बालक भी हम मुन्दर

की कथा आगम (कथांचि में, प्रसङ्ग में) निान्तर शोभा करे । अर्थात् हमे

॥ शौर मनन करे ॥ ११८ ॥

द्वितीयेका अ 'मुद्गलेद' नामक दूसरा कथा संग्रह समाप्त ।

१. 'पुण्य' । सुखिनो' ।

अथ विग्रहः ।

अथ पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रा ऊचुः—'आर्य ! राजपुत्रा वयम् ।
 तद्विग्रहं शीतुं न कुतूहलमस्ति ।' विष्णुरामणोत्तम्—'यदेव भवद्भयो
 शक्यते तन्न कथयामि । विग्रहः स्युता, यस्याऽऽगमाद्यः श्लोकः—

'हंसैः सह मयुराणां विग्रहे तुल्यविक्रमे ।
 विधाम्य यञ्चिता हंसाः कारुणैः स्थित्वाऽरिमन्दिरे' ॥ १ ॥

राजपुत्रा ऊचुः—वयमेतन्न ? । विष्णुरामा वययति—

ॐ अभिनयराजलक्ष्मीः ॐ

विग्रहं = पुद्गम् । नः = अगमाश्च ॥ यदेव = पुद्गमेव । यस्य = विग्रहस्य
 इतीति । तुल्यविक्रमे = समानराश्रीः । दृश्यन्तीः । अरिमन्दिरेः
 यत्र रात्रि—रामन्दिरे, वि. वा विधाम्य वादेदेता यञ्चिता इत्यन्वयः ॥ १ ॥

गाथागीत

इसके बाद फिर कथा के आरम्भ के समय वे राजपुत्र बोले कि—'हे आर्य !
 हम लोग राजपुत्र (पुद्गल) हैं । हमारे हम लोगों को विग्रह (पुद्गल) तुल्य
 वा वया वाच (बोट, सावधान) है । वह तुल्य विष्णुरामा जी को, कि
 लोग विग्रह का बर्तन मुनि है । यही मैं बर्तन करता हूँ । अब मैं
 समानराश्री के हंसों के साथ मरुतों के पुद्गल में बोली ने तुल्य हंस
 साथ में रहा कर कर उ-ई विग्रह देकर (उन हंसों को भोग देकर) वा
 का रिवाज ॥ १ ॥
 राजपुत्र बोले—'वा कथा देते हैं । विष्णुरामा कहने लगे कि—
 १. 'राजपुत्रेण' । २. 'विष्णुरामो वयम्' ।

'अस्ति कर्पूरद्वीपे पद्मकेलिनामधेयं सरः । तत्र हिरण्यगर्भो नाम
जहंसः प्रतिवसति । स च सर्वजलचरैः पक्षिभिर्मिलित्वा पक्षिराज्ये-
भिमिक्तः । यतः—

'यदि न स्यान्नरपतिः सम्यङ्नेता, ततः प्रजा ।

अकर्णधारा जलधौ विप्लवेतेह नौरिव' ॥ २ ॥

अपरञ्च—

'प्रजां संरक्षति नृपः, सा वर्द्धयति पार्थिवम् ।

वर्द्धनाद्रक्ष्यं श्रेयस्तदभावे सदप्यसत्' ॥ ३ ॥

पद्मकेलिनामधेयं=पद्मकेलिनामकम् । तत्र=सरसि । अभिमिक्तः=रथापितः ।
वसति । यदि सम्यक् प्रसारेण नेता=गल्लङ्कः, नरपति=राजा, न स्यात्ततः=
'न, प्रजा-इह=जगति । जलधौ=सागरे । अकर्णधारा=नादिकशून्या, नौरिव
=वर्णरिव-विद्वेन=जले निमज्जेत् ॥ २ ॥
सा=प्रजा । पार्थिवं=राजानम् । वर्द्धना=वनधान्यवर्द्धनात् । रक्ष्यम्=
रक्षितचरवृत्तं, भेषः=भेदम् । तदभावे=राजाऽभावे । सत्=शोभनमपि,

कर्पूरद्वीप से पद्मकेलिनामका एक सरोवर (भीम वातालाव) है । जहाँ हिरण्य-
गर्भनाम का राजहंस रहता था । और उसे सब जलचर पक्षियों ने मिलकर पक्षियों
: राज्य पर अभिमिक्त करा दिया था, अर्थात् उसे पक्षियों का विधिन्तु राजा
न दिया था ।

क्योंकि—यदि कोई अन्ध्रा राजा प्रजा का नेता (रक्षक) नहीं हो, तो प्रजा-
ना प्रजा के नार की समान ही इस अथाह सत्तार सागर में डूब जाती
॥ २ ॥

और भी—राजा प्रजा की रक्षा करता है, और वह प्रजा भी राजा को कर
प्र उसे बनाती है । परन्तु बढ़ाने की अपेक्षा से प्रजा की रक्षा करना ही अधिक
है । क्योंकि उसके अभाव में, अर्थात् ठीक २ रखा नहीं करने से, जो बन्धु
बन जाई) है, वह भी नहीं होने के समान ही हो जाती है । और राजा के

● अभिनवराजलक्ष्मीभापाटीकाविराजिते ●

एकदाऽसौ राजहमः मुबिरतीर्णकमलपर्यट्टे सुग्याऽऽसीनः परिवार-
परिवृतस्त्रिभुवि । ततः 'कुत्र'श्चदेशादागत्य दीर्घमुसो नाम बरुः प्रण्यो-
पर्यष्टः । राजोवाच—'दीर्घमुस' । देशाऽन्तरादागतोऽसि, वार्त्ता कथय ।'
स ब्रूते—'देव ! अस्ति महती वार्त्ता । 'तामाख्यातकाम एव सत्वरमागतो-
ऽहम् । ध्रुयताम्—

'अग्नि जम्बुद्वीपे विन्ध्यो नाम गिरिः । तत्र चित्रपर्णो नाम मयूरः'
पश्चिमांशो निवसति । तस्याऽनुषदैश्वरिभिः पश्चिमिर्हं 'दग्धाऽऽहयमप्ये
परमयलोद्धितः, वृष्टश—'कस्तवम् ? । तुतः समागतोऽसि' ? । 'तदा
विद्यमानमपि च वनादिभ्यम् । अस्तु = नष्टमेव । यदा वनादिभ्यम् अशोभनमेव
पतो राजान विनोर्गात्रिभ्योपि घनस्य विनाशादित्यर्थः ॥ ३ ॥

गुरीभ्योर्णो कपलमेव मत्तकस्तस्मिन् । परिवारपरिवृतः = स्वजनपरिवृतिः
वधः = वधः (वधुवा) । सः = बरुः । महती = निरती गुर्ती । आहवतुषः
वधुषामः । सत्वरं = मपेणम् । दग्धाऽऽहयमप्ये = तपाम्ना प्रतिद्वे वानने ।

विना वज्रा की कोई भी वस्तु सुरक्षित नहीं रह सकती है, अतः राजा का भाव
वस्तु ही गीरव पुनं है ॥ ३ ॥

वज्र के बाद एक समय वर रात्रहंम बहुत गिन्तुन कमल की शय्या
परने परिवार के साथ गुप्त से बैठे था, कि उसी समय किसी देश से आ
दीर्घमुस नामक एक बगवा प्रत्याम वर बैठ गया । तब वर राजा बोला कि -
तुम दूर देशभर से आर हो, अतः तुम वहाँ का देना गुना हुआ
का क्या करने के कारण है । उसे करने को हमें शय्या में वहाँ आना है ।
मुझे, कपल में एक विष्णुवत् पर्वत है । वहाँ पक्षियों का राजा विष्णु
नाम का एक मयूर (मोर) रहता है । वन में रहने हुए उसके अनुसर पंख
ने दग्धाऽऽहय से आते हुए बुद्ध देना कर दिया कि—तुम वहाँ हो, और

१. 'कुत्रोर्ण देवा' । २. 'न वधु' कथा । ३. 'दीर्घमुसमप्ये' का
४. 'न वधु' कथा ।

मयोक्तम्—'कर्पूरद्वीपस्य राजचक्रवर्तिनो हिरण्यगर्भस्य राजहंसस्या-
ऽनुचरोऽहं, कौतुकादेशाऽन्तरं द्रष्टुमागतोऽस्मि।' एतच्छ्रुत्वा पत्निभिरुक्तम्—
'अनयोदेशयोः को देशो भद्रतरः, राजा च' ? ।

'ततो मयोक्तम्—'आः किमेवमुच्यते, महदन्तरम् । यतः कर्पूरद्वीपः
स्वर्ग एव, राजहंसश्च द्वितीयः स्वर्गपतिः, कथं वणयितुं शक्यते । अत्र
मरुत्पत्ने पतिता यूयं किं कुरुष्व, 'आत्मदेशे गम्यताम् ।'

ततोऽस्मद्वचनमाकर्ण्य सर्वे 'पक्षिणः सकोपाश्चभूवुः । तथा चोक्तम्—
'पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विपवद्दनम् ।

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय, न शान्तये' ॥ ४ ॥

राजचक्रवर्तिनः—राजमण्डलाधिपस्य । महाराजाधिराजस्य । सम्राजः ।
अनुचरः—सेवकः । भद्रतरः—भेदः । अनयोर्मध्ये को वा राजा भद्रतर इति योजना ।
स्वर्गदेशः—स्वर्गप्रदेशवद्रमणीपः । द्वितीयः—अपरः । स्वर्गपतिः—इन्द्रः ।
मरुत्पत्ने—मरु-पत्न्यस्य मुन्यक्रे ॥ वयःपानं—दुग्धपानम् । भुजङ्गानां—सर्पणाम् ।
'रत्नं—नितराम् । विपवद्दनं—त्रियोत्तेजकमेव भवति ॥ ४ ॥

आर हो । तब मैंने कहा कि—'मैं कर्पूरद्वीप के चक्रवर्ती राजा हिरण्यगर्भ
का सेवक हूँ, और कौतुक देश ही इस देश को देखने आया हूँ । यह
नगर उन पक्षियों ने मुझसे कहा कि—'इन दोनों देशों में कौन सा देश भेद
। और इनमें से कौन सा राजा भेद है । मैंने कहा—'छोड़ । तुम लोग यह क्या
धते हो । इन दोनों में तो बड़ा अन्तर है । स्वर्ग—कर्पूरद्वीप तो दूसरा स्वर्ग
। है । और वहाँ का राजा राजहंस भी उस स्वर्ग का गण्य दूसरा इन्द्र ही है ।
जना क्या कथं क्विया जाय, उनका तो वर्णन हो ही नहीं सकता है । और
इन लोग वहाँ इस निर्जल रेतीले स्थल में पड़े हुए सब क्या करते हो ।
नारे देश में चलो । फिर मेरे इस वचन को सुन कर वे सब पक्षा ७६ मूढ हुए ।
। विभी ने ठीक ही कहा है—'बैते सर्वो' को दूय विद्वाना केरख उनका रिप
। है, बैते ही मूर्खों को भी उपदेश देना केरख उनके कोर को बहाने
के लिए ही होता है, उनका शान्ति के लिए नहीं ॥ ४ ॥

१. 'अ.' । २. 'स्वर्गदेशः' । ३. 'राजा च द्वितीयः' । ४. 'आग-
पत्न्यस्य मुन्यक्रे' । ५. 'सर्वे सकोपाः' इति, 'पक्षिणः सकोपाः' इति च पा० ।

• अधिनवराजलक्ष्मीमापाटीकाविराजिते ७

अन्य—

‘विद्वानेयोपदेष्टव्यो, नाऽविद्वांस्तु कदाचन ।
यानरानुपदिश्याऽथ’ स्थानत्रया ययुः सुगाः ॥ ५ ॥
राजोपाच—‘कथमेतत्’ ? । शीघ्रमुगः कथयति—

१ पक्षि-वानर-कथा ।

अस्ति नर्मदातीरे पयसोपन्यसायां विशालः शालमलीतकः ।
निर्मितनीडकांठे पक्षिणः सुगेन नियसन्ति । अथैकदा सर्वासु नीलपटैरिव
जलधरपटलैराश्रिते नमनन्ते । धाराऽऽसारेर्महती वृष्टिर्मभूय । ततो यान-
रांशः सरतनेऽयमिच्छाञ्ज्वीताऽऽपुलान्पम्पमानानबलोक्य, कृपया पक्षि-
भिरुत्सम्—‘मो भो वानराः ! शृणुन्—

अग्निज्ञानं = वृत्तः । रागाः = पांशुणः ॥ ५ ॥
परां गीतपदायां = परां गान्ममभूम्याम् । ‘उपत्यकाऽऽरेरामया भूमि’रिष्यन् ।

नीडकांठे = कुत्तावपुहरे । (पौनमे मे) । जलधरपटलैः = मेघदू-देः । धारासारेर्महती
श्रीर बदा भी है, कि-ग्निज्ञान् ही श्री उपदेष्ट देना चाहिये, मूर्खों को तो बड़ी
कुत्र उपदेष्ट नहीं देना चाहिये, क्योंकि वानरों को उपदेष्ट देने से ही वे सब पर्ये
स्वानुष्ठ हो गए थे ॥ ५ ॥

राजा बेला दि—वह क्या ब्रह्मे है ? । तब वर शीघ्रमुग ब्रह्मे लगा दि—
नर्मदा के किनारे वरुण के नाम की तराही में एक बड़ा मारी तैमर का वृष
है । उस वृष पर अग्ने २ धौंनमे बना वर पड़ी गय बड़े ही गुण से रहते थे ।
इसके अन्तर एक समय बरामन से नीच बलों की समान ही पौर भी २ बरबं
से सब काकाय काय-दिन हो रहा था उसी समय शौनी के साथ ही बड़े वेत
केर बर्त भी हो गई ।

नर्मदा वृष के नीचे डूँडे हुए, शौन से कहिन, शिदूरे हुए, श्रीर वं
दूर बनने को देन कर, उन पक्षियों ने कहा कि उन में बरा-दे का
अन्य ब्रह्म सुन्दर—

१. उप-ज्ञानम् । २. कान्गन् गद-मे । ३. शौ-गान् । ४. मू-य

‘अस्माभिर्निर्मिता नीटाथञ्चुमात्राऽऽहूतैस्तृणैः ।

इस्तपादाऽऽदिसंपृक्ता यूयं किमवमीदथ’ ॥ ६ ॥

तच्छ्रुत्वा यानरैर्जाताऽमर्षरालोचितम्—‘अहो ! निर्वातनीहगर्भा-
ऽवस्थिताः सुस्विनः पक्षिणोऽस्माज्जिन्दन्ति ! । ‘तद् भवतु तावद्दृष्टेरुप-
शमः’ । अनन्तरं शान्ते पानीयवर्ष, तैर्वांनरैर्युक्तमारुह्य, सर्वे नीटा मत्स्यः,
तेषामण्डानि चाऽपः पातितानि । अताऽहं प्रवीमि ‘विद्वानेषोपदेष्टव्यः’
इत्यादि ॥ ६ ॥

राजोवाच—‘ततस्त्रैः पक्षिभिः किं कृतम्’ ? ।

‘यकः कथयति—‘ततस्त्रैः पक्षिभिः कोपादुक्तं—‘केनाऽमौ राजहंसो

धारामपतैः । ‘आमारो येमसम्बरः’ इति कोशः ॥ नीटा=कुलायाः । (पौमला) ।

चञ्चुमात्राहूतैः=चञ्चुमात्रानीनैः । किं=कस्मात् । अवमीदथ=किंश्यमम् ॥ ६ ॥

जाताऽमर्षैः=अतक्रोशैः । निर्वातनीहगर्भावस्थिताः=वायुराहं कुलापमप्य-
स्थाः । उपशमः=निवृत्तिः । (यथा रुक्ने दो, तव इनको समझेंगे) ।

हम लोगो ने तो केवल अपनी छोटी सी चीज से ही तृण खाकर ये घरने पौमले
बनाए हैं, फिर हाथ पैर आदि से मुक्त होने पर भी आन लोग हम तरह क्यो
दुःखी हो रहे हो ! । आप लोग भी अपने रहने खावक पर क्यो नही बनते हैं ! ।

पर पान मुन कर उन वानरो ने क्रोधित होकर मन ही मन निवार क्रि-
श्रो । वायु और वर्षा के कण्डो से रहित घोंसलो में रहने के कारण ही ये मुभी
परो लोग हमारी निन्दा करते हैं । अच्छा वृष्टि की शान्ति होने दो, तब उन्हें हम
मनकेंगे । इसके अनन्तर जब वर्षा शान्त हो गई, तब उन वानरो ने वृक्षों पर
बदर उनके सब पौमले तोड़ डाले और उनके घरटे भी नीचे गिरा दिये ।
इसी क्षणे मैं कहता हूँ, कि—‘विद्वानो ही को उपदेश देना चाहिए, दूसरों को
नहीं’ ज्ञापति ॥

राजा बोला कि—‘रि उत पक्षिपो ने क्या किया ? । तब वह पण्डा बोला
कि—‘रि उत पक्षिपो ने क्रोध से कहा कि, उस राज्य को किमने राजा बनाया

१. ‘तदिति क्वचिन् । २. ‘तदा पक्षिभिः क्लिप्तम्’ । ३. ‘दीपंमुनः कथयति’ ।

राजा कृत' ? । सतो मयोपजातकोपेनोक्तम्—'अयं युष्मदीयो मयु
वेन राजा कृत' ? । ण्तच्छ्रुत्वा ते 'पक्षिणो मा हन्तुमुद्यताः । व
मयाऽपि स्वविक्रमो दशित', । यतः—

'अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेन योषितः' ।

पराक्रमः परिमये, वैपात्यं सुरतेष्विव' ॥ ७ ॥

राजा विद्वान् ॥—

'आत्मनश्च परेषां च यः समीक्ष्य धलाञ्जलम् ।

अन्तरं नैन जानाति, स तिरस्त्रियतेऽरिभिः' ॥ ८ ॥

उपमानकोपन = सजातकोपन । युष्मदीयः = वदीय । (तुभ्याम्) । स्वविक्रमः
= स्वपराक्रमः ॥

अन्यदेतः । पराभवाऽनिरिच्छे काले, योषिताः = त्रिष्याः, एषेव-मीडेव, पु
= युष्मदावाप, क्षमा भूषणम् । परिमये = निरस्कारकाले तु, पुस्तः पराक्रमो भूषणम्,
सुरतेषु त्रिष्या वधा वैपात्यं = पश्ये भूषणं, तद्विरिस्वयः ॥ ७ ॥

अ हर = धर्मेशम् । वशाः वशम् ॥ ८ ॥

हे ! । तब मैं भी बड़े कोप से बोला, कि—पुष्परे इस धोर को भी किंगने रा
जनाया है ! । पर तुने कर व मक मुझे माले लगे । तब मैंने भी अपना पराक
रिताया और मैंने भी उनको मूक मारा ।

श्लोक—अपने उपमान से और जगह तो पुष्पों का क्षमा ही भूषण है, वै
शिवो का भूषण क्षमा है, उभी तरह पुष्पों का भी पराभवाविरिच्छ समय
क्षमा ही भूषण है । पर तु अपनेमान होने पर तो पुष्पों का पराक्रम ही भू
है, जैसे शिवो का रति के मन्त्र भूषण पूर्वक अग्रे प्रहार से रति को
बचना ही भूषण (को-गदावद) है ॥ ७ ॥

— व शशा ईश्वर होता कि—

अपने और दूसरों के बलावश को देगवर भी जो मूर्ख दोनों में
(ईश्वर, मेरे,) नहीं जानता है, पर कपुष्पों में अक्षय ही निरस्कार का
है ॥ ८ ॥

‘सुचिरं हि चरन्वित्यं क्षेत्रे सस्यमबुद्धिमान् ।

द्वीपिचर्मपरिच्छन्नो, चाम्दोपाद् गर्दभो हतः’ ॥ ६ ॥

शकः पृच्छति—कथमेतत् ? । राजा कथयति—

२. व्याघ्रचर्मवृत्तगर्दभकथा ।

अस्ति हस्तिनापुरे विलासो नाम रजकः । तस्य^१ गर्दभोऽतिमार-
हनाद् दुर्बला मुमुषुरिषाऽभवत् । ततस्तेन रजकेनाऽसौ व्याघ्रचर्मणा
व्याघ्राऽरण्यसमीपे सम्यक्षेत्रे विमुक्तः^२ । ततो दूरात्तमपलोक्य
शय्यपुट्या क्षेत्रपतयः सन्यरे पलायन्ते ।

अथैवदा केनाऽपि सस्यरक्षेत्रेण धूसरकम्यलकृततनुश्राणेन धनुष्कायर्द

अबुद्धिमान्=बुद्धः । द्वीपिचर्मपरिच्छन्नः=व्याघ्रचर्मावगुण्डितः । चाक्षोपात्
=क्षेत्रस्य समीपे । हतः=क्षेत्रपतिना ध्वंसितः ॥ ६ ॥

रजकः=निर्धोशकः । (धोबी) । असौ=गर्दभः । व्याघ्रमुष्या=व्याघ्रोऽपमिति-
रूपा । सस्यरक्षेत्रेण=धूम्यरक्षेत्रेण क्षेत्रपतिना । धूसरकम्यलकृततनुश्राणेन=

शौरभी—चंते का चमदा छोड़कर एक मूर्ख गर्दभ ने बहुत दिनों तक
गाए ऐतों में बड़े-छोटे घान्य लाया, परन्तु वह केवल अपने अन्नवत्तर शोचने
के ही दोर सीमा राया ॥ ६ ॥

तत्र बगुने ने पूछा—यह क्या कैमे है ? । राजा कहने लगा कि—

हस्तिनापुर में विलास नाम का एक धोबी रहता था । उसका गधा बहुत
बुद्धिहीन से दुर्बल होकर मरणासन्न हो गया था । तब उस धोबी ने उसे भीते
लाकर छोड़ा कर, धन के समीप शय्य के किसी रीत में छोड़ दिया । तदनन्तर
उसे ही उमने देन कर व्याघ्र जानकर रीतों के शरामी लोग शय्य भाग जाते
थे । कुछ बाद के बाद एक समय कोई शय्य का रक्षक धूसर (धूमिले, धूमिल

१. 'सस्य' । २. 'मोचितः' ।

'सञ्जीव्युत्थाऽऽनतकायेनेहान्ते स्थितम् । तं च दूराद् दृष्ट्वा गर्दभः पुष्टाङ्गो,
यथेष्टमस्यमद्युज्जातबलो, 'गर्दभाऽय'मिति मत्वोद्यै शब्दं कुर्यात्-
स्तदभिमुखं पावित । ततातेन सायरक्षकेण चोत्कारशब्दात् गर्दभाऽय-
मिति निश्चिन्त्य, स्त्रीलयेव व्यापादितः । अथाऽहं प्रयोमि—'मुचिरं हि
चरन्निवृत्तम्'—इत्यादि ॥ ६ ॥

दोषमुक्तो प्रते—'ततः पश्चात् तैः पल्लिमिरुक्षम्—'अरे पाप दुष्टवह !
अस्माकं भूमौ चरन्तस्माकं स्वामिनमधिष्ठिपति ! । तत्र ह्यन्तव्यमिहा-
नीम्' । इत्युक्त्वा सर्वं मां पश्चामिहंत्वा, सकोपा उचु—'परय रे मूर !
म हंमत्तय राजा सयंया मृदुः । तस्य राज्याऽधिकारो नास्ति । यत्र

मूत्राणां कवचानाऽऽगुण्डनेन । यत्रुक्त्वापट=पनुर्दुर्बह । सञ्जीव्युत्था=मत्तवृत्त्या । प्र-
नतकायेन = निन्दितेहेन । तत्र=मत्तवृत्त्या । यथेष्टमस्यमद्युज्जातबल=वर्णानि-
क्षयिण्यापमद्युज्जातबलः । तदभिमुखं = तत्पश्चात्काऽभिमुखम् । स्त्रीलयेव =
अनावासेनेव, मत्ति । पाप=हे पापमन् । अधिष्ठितं = निन्दितम् । मृदुः =

रंग) के कवच ने अपने शरीर की रक्षा करके (कवच छोड़कर) पनुव बाणों
हाथ में लेकर, बाण चढ़ाकर, नीचे जाया करने (फिर करके) दृष्टान्त में बैठ
गया । और दृष्ट्वा पूर्ण (भर पेट) अन्न लाने में अत्यन्त कमजोर, और
पुनः शरीर वाजा यह गदहा 'यह भी कोई गया ही है' ऐसा जानकर, ऊँचा एग
करता (रोकता) हुआ, उसके सम्मुख रोका । तब पान के रघु ने लदरे के
पश्चिम दृष्ट्वा ही निधव करने यह जान लिया कि—'यह गया ही है ।' और
उसी समय उसे मृदु ही बाण में मार दिया । इससे ही कहना है कि—
'जिवाका ने नीचे में चरना हुआ यह गदहा क्षेत्रके से ही माया गया' इत्यादि ।

एव हीरुणु बंहा वि,— व उन पंडितों ने बर-अरे पुनः । पानी बह ।
इसी ही भूमि में पाना है, और इन्हीं ही म-नी को नि दा चरना है । । इसलिये
है जब पान जाने क्षेत्र नहीं है । यह बर कर के मव मुके और मे मागे पुनः
कोर मे व के कि—'रेण रे मूर ! यह तथा राजा सयंयानो निजान्त कोमव मर्हि
या (मृदु) ही है । अ- यह राजव व अ-यव र के क्षेत्र नहीं है । वनें व

१. 'अनन्यदेन' । २. 'अ-माय' । ३. 'अ-मा' । ४. 'सयंयानो' पं ।

एतान्तमृदुः फरतलम्यभयर्थं रक्षितुमक्षमः । स कथं पृथिवीं शान्तिं ?
राज्यं वा सस्य किम् ? । त्व च कूपमण्डकः, तेन तदाऽऽभयमुपदिशसि' ।
शृणु—

‘संवितव्यो महदाश्रयः फलच्छायासमन्वितः ।

यदि देवात्कलं नास्ति, च्छाया केन निवार्यते’ ? ॥ १० ॥

अन्यथ—

‘हीनसेना न कर्तव्या, कर्तव्यो महदाश्रयः ।

पयोऽपि शीण्डिकीहस्ते ‘वारुणी’त्यभिधीयते’ ॥ ११ ॥

नेत्रः । निर्भीषः । निस्तेजा इति यावत् । एतान्तमृदुः = निररा कोमलः ।
रथं = शान्ति । शान्ति = रक्षित । कूपमण्डकः = कूपमण्डक इत्येवान्तर्रीयमुपायनभिरः ।
श्राभयणं = तावहंसाभयवराजाभयणम् । निवार्यते = निरिष्यते ॥ १० ॥ महदाश्रयः
= महसेना । पयः = दुग्धमपि । शीण्डिकीहस्ते = रत्नपालग्रीहस्ते । मययीहस्ते ।
(कञ्जकार की छी के हाथ में) । वारुणी = मयम् ॥ ११ ॥

नेत्रान्त कोमल (कुबल) पुरुष होने के कारण अपनी दृष्टि में रस्तों हुए घन
में भी रक्षा करने में समर्थ नहीं है, तब वह पृथ्वी (राज्य) की रक्षा कैसे कर सकता
है ? और उनका शास्य ही किस गिनती में है ? और तू भी कूपमण्डक = कुएँ
का मण्डक ही है, रसीले तू उसके आश्रय का हमें उपदेश देता है । मुन—

एत शीर लाभा मे मुक्त किसी महान् श्रय का ही आश्रय लेना चाहिये ।
इन्दिओं वरानिन् पर श्रय देन योग से पञ्चहीन भी हो जाय तो भी उसकी
दास को हीन हो सकता है ॥ १० ॥

और भी-नीच ही सेवा कभी नहीं करनी चाहिये । इन्द्रु वदे का ही आश्रय
लेना चाहिये । देना, शीण्डिकी (कञ्जकारिन) के हाथ में यदि दूध भी हो तो
शरीर नरिय ही समझ जाया है ॥ ११ ॥

अन्यत्र—

‘महानप्यन्यतां याति निर्गुणे गुणविस्तरः ।
आधाराऽऽधेयभावेन गजेन्द्र इव दर्पणे’ ॥ १२ ॥

चिन्तु.—

‘अज्ञा मिहप्रसादेन घने चरति निर्मयम् ।
राममासाद्य लक्ष्म्यां लेभे राज्यं विभीषणः’ ॥ १३ ॥

विरोपलक्ष—

‘व्यपदेशोऽपि मिद्धिः स्यादतिशक्ते नराधिपे ।
शशिनीं व्यपदेशेन शशयाः सुखमासते’ ॥ १४ ॥

महान्तरं गुणवत्ता = गुणवृद्धिः, आधारादेवभावन = आभवाभविभावेन ।
आभवात् निर्गुणत्व दोषवत्तया, लक्ष्म्याया च, आभवादेवेण । निर्गुणे—गुणरह्ये
प्रत्ययानां = मन्त्रेण, याति = गच्छति । दर्पणे = आशये । गजेन्द्र इव = इत्थं
॥ १२ ॥ अज्ञा = अज्ञानी । (बद्धी) । आसाद्य = आभित्य ॥ १३ ॥
चिन्तु = चिन्तयति । नराधिपे = राजनि तति । व्यपदेशेऽपि = तत्र
व्यपदेशेऽपि । मिद्धिः = मिद्धिः । शशिनः = शशिमयः । व्यपदेशेऽपि = तत्र

शोर भी—आधार (रहने का स्थान) शोर आयेव (रहने वाले) के
सम्पर्क में निर्गुणी मनुष्य में विद्यमान गुणों का मूल भी सत्यता को ही प्रत्य
होगा है । जैसे दर्पे में दर्पण में बड़ा हाथी या लोग ही चीज ॥ १२ ॥
चिन्तु—चिन्तनी वस्तु (मित्र के आभवा) में बद्धी भी मनुष्य में निर्मा
होकर जाती है । जैसे आभवा की प्रकृत में ही विभवा ने बड़ा का सत्य प्र
कृत किया था ॥ १३ ॥

शोर विषय—वही प्रकृत, वही प्रकृत, शशिमन् राजा के नाम होने
के भी शोर के वही का प्रकृत ही शरी है । जैसे शरी (व द्रमा) का मन्
होने में व शशिमन् गुण में वही होने में ॥ १४ ॥
१. ‘अज्ञा’ । २. ‘व्यपदेशः’ । ३. ‘चिन्तयति’ । ४. ‘व्यपदेशः’ ।

मयोक्तं- कथमेतत् ? । पक्षिणः कथयन्ति—

३ गज-शशककथा ।

कदाचिद्रपांस्वपि वृष्टरभावात्तृपात्ता गजयूथा यूथपतिमाह—'नाथ ! कोऽभ्युपायोऽस्माकं जीवनाय ? । नाऽस्ति सुदृजन्तूनाम् ['अपि] निमज्जन-स्थानम् । यद्यं च निमज्जनस्थानाऽभावान्मृता^१, अन्यथा इव किं कुर्मः ? , कथं यामः ? ' । ततो हस्तिराजो नाऽतिदूरं गत्वा निमलं ह्रदं दर्शितवान् । ततो दिनेषु गच्छन्सु तत्तीरावस्थिता^२ सुदृशशरदा^३ गजपादाऽऽहति-मिरचूणिनाः । अनन्तरं शिलीमुखो नाम शशकश्चिन्तयामास—'अनेन गजयूथेन पिपासाऽऽकुलितेन प्रत्यहमप्रागन्तव्यम्, 'ततो विनष्टमभ्यकुलम् ।'

तृपाऽऽतः = त्रिपासाऽऽतः । यूथपतिः = गजयूथाऽधिपतिः । अभ्युपायः = उपायः । सुदृजन्तूनां = मृगयूथराजानां रक्षकानां जन्तूनामपि । निमज्जनस्थानं = स्नानयोग्यो जलाशयः । 'किं पुनरस्माकं' इति शेषः । निमज्जन = स्नानम् । सुदृशशरदाः = शरदाद्याः शरदाः । गजयूथरादाऽऽनिभिः = तत्त्वादितादृशैः । तेषां पादाऽऽपातः ।

मैंने कहा—यह क्या कैसे है ? । वे पक्षी बोले—
 एक समय वर्षाभरत में भी यहाँ नदी होने के कारण, व्यास से व्याकुल (पीड़ित) होकर हाथियों का यूथ (मुँह) व्याकुल होकर अपने यूथपति से बोला कि—हे नाथ (हे महाराज !) हमारे जीवनका अब क्या उपाय है ? । क्योंकि छोटे २ जीवों के स्नान करने लायक भी स्थान (जलाशय) नहीं रहा है । और हम लोग स्नान के योग्य स्थान (जलाशय) न होने से मृतक के समान और अन्ये के समान हो रहे हैं । यदि, अब हम लोग क्या करें ? , और क्यों मरें ? । यह सुन कर हाथियों के राजा ने आकर समीप में एक निम्न स्तूप उन्हें दिखाया । पीछे कुछ दिन बीतने पर उसके दिनारे पर रहने वाले बहुत से छोटे छोटे मरगोष्ठ हाथियों के पैरों की ठोसों से मरगठ, और बहुत से पैरों के नीचे दबकर मर गये । तब शिलीमुख नाम का एक मरगोष्ठ हाथी बचने लगा (और बोला) कि—तुम से पीड़ित होकर हाथियों का यह मुँह कितने दिन यहाँ धारेगा, और हमसे हमारा कुल ही नष्ट हो जाएगा । यह सुन

१ 'अपिः क्वचिन्' । २ यद्यपि निमज्जनाऽभावान्मृता इव कथं यामः, किं वा कुर्मः । ३ 'तत्तीरस्थिता' । ४ 'गजयूथ' । ५ 'अतो' ।

● अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

ततो विजयो नाम वृद्धराजकोऽचदत्-भा विषोदत्, 'मयाऽप्र प्रती-
कारः कसञ्च्यः ।' ततोऽसौ प्रतिशाय पलितः । गच्छता च तेनाऽऽलोचि-
तम्- कथं मया गजयूयनायसमीपे' स्थित्वा यच्छयम् ? । यतः-

'स्पृशन्नपि गजो हन्ति, जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः ।
'पालयन्नपि भूपालः, प्रहसन्नपि दुर्जनः' ॥ १५ ॥

अतोऽह पवंतरागरमाह यूननाथं संवादयामि ।' तयाऽनुक्तिं
'सति यूननाथ उवाच- 'कस्यम् ? कुतः समायात. ?'
म मत- 'शराकोऽहम्, भगवता पन्थेण भवदन्तिकं प्रेषित ।'
यूपवतिराह- 'वायमुच्यताम्' । विजयो मते-

पुत्रं=पुत्रः । मा ग्नीःत= मा ज्ञेयमनुमान ॥
राटमपि=पशमपि-पि । पानपन्=रघुनपि, पाटानरे=मानपन्नवि=
समानं दशपन्नपि=दशमं । प्रमन्=नसत्रपन्नो, इत्यपि, कीदृशं दशपन्नपि
व । दुर्जनः=पलुः ॥ १५ ॥
अभिवाःकामि=प्रणामानि । तेन गह यत्तं तप करोमीति गड्यः । त्रिप

वर त्रिपव नाम वा एक वृद्ध गणेश भोग वि-मुन लोग त्रिवाः मत को
मि इगडा उपाय करेगा । ऐसी प्रशिक्षा करके वह पत्नी और जाने जाने उन्ने
छत्रे मन से त्रिवा दिया कि-उं उन शक्ति के मुक्त के शक्ति राहा
देकर देने के दूना, की, उनमें देने का । करेगा ?
वपनि-श्री गुरु ही मार हावना है । गौर सुंदरी ही मार हावना है,
(वप लेना है), राधा व तन करना दुःख ही मार हावना है, और दुर्जन ही
दुःख ही मार हावना है ॥ १५ ॥
इति-दे-ने पं । की-की पर यह वर उम पूष के पत्नी से वां करेगा

देना त्रिपव वर उम गणेश ने देगा ही दिया । चर्कर यह पर्व त्रिपव
कर वर दक्षिण के राजा से वां करने छगा । मर हावना पूष का वरदाता है
वि-पु-वीर ही । यह वेदा-मि भागेश है । मगान् पन्थामे व
वम मुझे सेवा है । मर यह पूष का गामी वेदा वि-वद्वि, ।
द-पु-वरा वर दे । मर यह त्रिपव वेदा वि-
१ 'दो-वने मरा करेगा । 'इति-प्र-व-व' । २ 'मरपुनविषये मरा'
३ 'मर-व-व' । ४ 'द-व-व-व' । ५ 'म-व-व' । ६ 'दो-व-व' ।

‘उद्यतेष्वपि शस्त्रेषु दूतो वदति नाऽन्यथा ।

सदैवाऽवध्यभावेन यथार्थस्य हि वाचकः’ ॥ १६ ॥

तदहं तदाज्ञया प्रवीमि, शृणु—‘यदेते चन्द्रसरोरक्षकाः शशाङ्क-
न्यया निःसारितास्तदनुचितं कृतम् । ते शशाङ्काश्चिरमस्माकं रक्षिताः ।
अन एव मे ‘शशाङ्क’ इति प्रसिद्धिः ।’

‘एवमुक्तवति दूते यूपपतिभंयादिदमाह—’प्रणिये ! इदमज्ञानतः कृतम्,
पुनर्न तत्र गमय्यामि’ ।

दूत उवाच—‘यद्येवं तदत्र सरसि कोपात्कम्पमानं मगवन्तं शशाङ्कं
प्रणम्य, प्रसाद्य च गच्छ ।’

=प्राना दृष्टयुक्तः ॥ ‘दूतोऽन्यथा न वदती’-न्यून्यः । दूतस्य सर्वदेशाऽप्यनया,
४ = दूतः यथार्थस्य, वाचकः = कथयिता । यथा ॥ १६ ॥

शशाङ्कान् = स्वामिनश्चन्द्रस्याऽऽज्ञया । चन्द्रसरोरक्षकाः = एतच्चन्द्रसरोरक्षकाः ।
‘रे’ = दे दूत । । कोणात् = कोणात् । प्रसाद्य = प्रसन्न कृत्वा । तेन = दृष्टयुक्त्येन ।
= सरसि । अस्माकं रक्षिताः = मया प्रतिपालिताः । (हमारे सरो हुए है) ।

शशो के शीव में भी, हाथपारी के सामने भी, दूत कभी झूठ नहीं करता
क्योंकि वह तो अत्यन्त हीता है, अतः वह अत्यन्त होने से निरर होकर
अर्थ (सत्य) ही करता है ॥ १६ ॥

इसलिये मैं चन्द्रमा की आज्ञा से आरधे उनका सन्देश करता हूँ, चन्द्रमा
आज्ञा करता था है, कि जो चन्द्रसरोर के रक्षक सरसोय दूतने निकाल
है है, वह पुनने अयोग्य कार्य किया है । क्योंकि ये—गरसोय चिरकाल से
नरे जाने हुए है, रक्षी से मेरा ‘शशाङ्क’ यह नाम भी प्रसिद्ध है । दूत के यह कहने
‘यह यूपपति भय से बोला कि—छमा करिए, यह अज्ञान भाव जाने से ही
न्यूनो से हो गया है । फिर ऐसा कभी नहीं होगा । दूत बोला कि—जो ऐसा है,
‘दूत सरोर में कोन से कौनने हुये मगवान् शशाङ्क (चन्द्रमा) को प्रदान
नके धीरे उन्हे आर प्रसन्न करके, आरदर्श से कही अत्यन्त चके आहू । ऐसा

१. ‘नरिणाः’ । २. ‘तन्न मुक्त इत’ । ३. ‘कोरक्षकास्ते शशाङ्का मरीपा’ पा० ।
४. ‘रे’ । ५. ‘मगवन्तं चन्द्रमत्तं कोनाप्रहम्पमानं’ ।

• अभिनवराजलक्ष्मीमापाटीकाविराजिते •

ततमेतन् रात्रौ यूयपनि नीत्वा, तत्र जने पश्रालं चन्द्रविभवं दरायित्वा,
 'स यूयपतिः प्रणामं वारितः ।
 वश्रश्च मेन-द्रेष ! अज्ञानादनेनाऽपराधः कृतः, ततः सुग्यताम्, नैवं
 यारान्तरं विधायते ।' इत्युस्त्या प्रस्थापितः । अतो 'वयं मूमः-व्यपदे-
 गेऽपि सिद्धिं स्यात्' इति ॥ • ॥
 ततो मयोत्सम्-म एषाऽनत्प्रभू राजहंसो महाप्रतापोऽतिममयः ।
 शैलोक्यायाऽपि प्रभुत्वं तत्र युज्यते, किं पुना राज्यम्- इति । तदाऽ
 शैः पक्षिभि-दुष्ट ! कथमममदूभूमौ चरसि-इत्यभिधाय, रात्रिप्रवर्षणं
 समीपं नीतः । ततो रात्रः 'पुरो मां प्रदर्शय, तैः प्रणम्योत्तम्-देव ! इ
 धीयताम्, एष दुष्टोऽमरंशो चरन्नापि देवपादानधिधिपति' !

गारान्तरं=पुनराप । (फिर वही) ।
 मया = वचन मया । महाप्रतापः = अतिप्रभावः । अतितेजसो । अति-
 ममयः = अत्यन्तं मामयंशम्, शार्प्यं = पक्षिमात्रतायम् । शैः=पक्षिभिः ।

चरन्निवृत्ताम् = अज्ञानादनेन कृतम् । (यवान देव सुनिद) । देवपद-
 वरवर शक्ति मे उम पूज्यो । को मे जाकर, जल मे बनावमान पदमा वा प्र
 दिग्ग दिग्गार पूज्यो । मे प्रणाम करावा और उम गरमोठ मे बसा दि दे ।
 इनमे विना जो ही वद चरताव हो गया है, सो श्राव घुमा क प्रिये । दे -
 फिर देमा कनी नही करते । । देमा वरवर उमे पिता बरा दिवा । हममे मै
 बरा है दि-

'वश्र के वररोठ (नम लेने) मे भी बावें को भिदि हो जाती है' राजर्षि ।
 ममयं है । शीने लोको वा मो गगनिन उनके देव है, फिर वह वशिरो
 राज लेवरा नीम है । । पर मूनवर मे मर पक्षी को मे दि-करे दुष्ट । मूह
 राज मे वशो पूज्य फिरा है । । देमा वरवर मुझे चरने राजा के वा
 पद और वशो के चरने राजा को प्रणाम करते को मे देव । चार यान
 ह-ती व संज्ञा ह्यो । पर दुष्ट ब्रह्मा हमारे राज मे बरा है, और हमें

१ 'अति-ममयः' । २ 'अभि-न' । ३ 'मू' । ४ 'तेन दृष्टकेन म यूय'
 ५ 'अनेन वरवि' । ६ 'पुरा' । • 'दुरवशो' ।

राजाऽऽह—'कोऽगम् ? कुतः समायातः ।' ते ऊचुः—'द्विरण्यगर्भ-
नाम्नो राजहंसस्याऽनुचरः कर्पूरद्वीपादागतः ।'

अथाऽहं गृध्रेण मन्त्रिणा पृष्टः—'कतत्र मुख्यो मन्त्री'ति ? । मयोक्तम्—
'सर्वशास्त्रार्थपारगः सर्वज्ञो नाम चक्रवाकः ।'

गृध्रो ब्रूते—'युज्यते । स्वदेशजोऽसौ' । यतः—

'स्वदेशजं, 'कुलाऽऽचारविशुद्धमुपधाशुचिम् ।

'मन्त्रज्ञमव्यसनिनं, व्यभिचारविवर्जितम् ॥ १७ ॥

=भीमतो महाराजान् । अधि'वपनि=निन्दति । तत्र=कर्पूरद्वीपे राजहंस-
निकटे । युज्यते=प्रधानमन्त्रिपदाहं । कुलाऽऽचारविशुद्धं=विशुद्धिकुलोत्पन्नं,
शुद्धाऽऽचारश्च । उपधाशुचिम्=परीक्षामुं शुद्धम् । प्रसिद्धेऽपि नानाविधे
दोषाः यः स्वमर्षादीं नोत्सृजते, स 'उपधाशुचि'मित्युच्यते । 'उपधा ॥ धर्माद्यैर्व-
सरीचरान्'इति कोशः । शास्त्रं=शास्त्ररस्यविद्म् । अव्यसनिनं=

मैं दरिद्रा हुआ भी आपकी निन्दा करना है । राजा बोला कि—यह कौन है ?
कहाँ से आया है ? । तब वे सब पक्षी बोले—यह द्विरण्यगर्भनामक राजहंस का
सेवक है । कर्पूरद्वीप (जापान या फारसोमा) से आया है । तब उस राजा के
कन्ये ग्य ने मुझसे पूछा कि हमारे यहाँ प्रधान मन्त्री कौन है ? । मैंने कहा कि
सब शासकों का तजर जानने वाला 'सर्वज्ञ' नामक चक्रवाही हमारे यहाँ प्रधान
कन्ये है । सब गौर बोला—यह बात बिलकुल ठीक ही है । क्योंकि वह चक्र-
वाक राजहंस के अपने देश में उत्पन्न होनेवाला है । अतः उसको प्रधान मन्त्री
बनाना उचित ही है । क्योंकि—

राजा को धारिये कि—जो (पुरुष) अपने देश में उत्पन्न होनेवाला हो,
और बकुल प्रभु हो, आचार-विचार में शुद्ध हो, सब प्रकार की परीक्षाओं में
जय उभा हुआ हो, 'अर्थात् त्रिमूर्ति सघर्ष आदि की पूरी २ परीक्षा कर ली हो,
मन्त्र (सत्कार, राजनीति) को जाननेवाला हो, व्यसन रहित हो, व्यभिचा

१. 'कुलाचारविशुद्धम्' पठ्या० । २ 'शास्त्रं' ।

अधीतव्यवहाराऽर्थं^१ मौलं, ^२ख्यातं, विपश्चितम् ।

अर्थस्योत्पादकं चैव^३, विदध्यान्मन्त्रिणं नृपः^४ ॥१८॥

अत्राऽऽरे शुभेनोक्तम्—'देव ! कर्पूरद्वीपादयो लघुद्वीपा जम्बुद्वीपान्तर्गता एव, सत्राऽपि देवपादानामेवाऽधिपत्यम् ।' ततो राजाऽप्युच्यते—'पयमेव' । यतः—

'राजा, मत्तः, शिशुर्धर, प्रमदा', घनगन्तिः ।

अप्राप्यमपि वाञ्छन्ति, किं पुनर्लभ्यतेऽपि^५ यत् ॥१९॥

प्राशिभ्यमनश्नत्सम् । इविचारः=परशामयमर्थः । शत्रुगणान्तरानुरागम् ॥१०॥

अधीतव्यवहाराऽर्थम्=अध्वन्यमर्थसाधोऽव्यवहाराऽर्थम्, अर्थसाधनित्वात् । घनगन्तिः=प्रसिद्धम् । मौलं=कुलकमाऽऽगाम् । विपश्चितं=परिहृतम् । अर्थस्य=विशेषः । उत्पादकम्=उपायम् ॥ १८ ॥

अध्वानो=अग्निप्रेवाऽऽमरे । लघुद्वीपाः=छुद्रद्वीपाः । देवपादानां=मन्त्राणां । एव=न पयमेव । (टीका हे) ।

राजा=नृपः । मत्तः=उन्मत्तः । शिशुः=कर्पूरः । प्रमदा=धौवनमदेशमत्तः । गन्तिनी । अप्राप्यमपि=दुर्लभमपि यत् । वाञ्छन्ति=इच्छन्ति । किं पुनः=आदि देवो से शत्रु हो, इन्हें कर्पूर और राजनीति के साधन को पता हुआ हो, अन्तराल में अज्ञान हुआ एवं मुझसे विद्वान् हो और धन को उपार्जन करने में शत्रु हो, उमको ही अचना मन्त्री बनारे ॥ १७-१८॥

इसमें मैं लोग बेचम, कि—'दे देव ! ये जो कर्पूर और आदि छोटे-छोटे द्वीप हैं, वे सब जम्बुद्वीप के अधीन ही हैं । अतः एतद्विषय भी आर ही का अधीन है । अर्थात् यहाँ के भी आर ही राजा हैं ।

यत् पुनश्च राजा ने भी कहा कि—हाँ, देना ही है ।

कौटिल्य—राजा, उन्मत्त (पागल), कर्पूर, धौवनमदमत्त की गन्तिनी और धन के अधीन ही मुझ—दुर्लभ यत्तुओं को भी इच्छा किया करते हैं, फिर जो

१. 'अधीतव्यवहारं' व० । २. 'ख्यातं मौलं' । ३. 'मन्त्रिणं' इति पाठः ।

४. 'नृपः' । ५. 'अप्राप्यमपि' व० ।

ततो मयोक्तम्—'यदि 'वचनमात्रेणैवाऽऽधिपत्यं सिद्धयति, तदा तन्मृद्दीपेऽप्यस्मत्प्रभोर्द्विरप्यगर्भस्य स्वाम्यमस्ति ।' शुको 'मृते—'क्यमत्र नेर्णयः ? ।' मयोक्तम्—'संप्राम एव ।'

राज्ञा विद्वस्योक्तम्—'स्वस्वामिनं गत्वा सज्जीवुरु ।' तदा मथोक्तम्—'वदूतोऽपि प्रस्थाप्यताम्' । राजोवाच^३—'कः प्रयास्यति दौत्येन ? । मत्र त्वपभूतो दूतः कार्यः^४—

'मक्तो, गुणी, शुचिर्दक्षः, प्रगल्भोऽव्यसनी, क्षमी ।

माक्षयः, परममज्ञो, दूतः स्यात्प्रतिमानवान्' ॥२०॥

सम्यं = शुभमम् ॥ १६ ॥

मया = वक्त्रेन । आधिपत्यं = कर्षूऽदीपे आधिपत्यम् । संप्राम = मुदम् । उवाच = स्वानुवाचिनः श्लोवाच । (यतः = कर्षोकि) । एवविषः = दंष्टरो वक्ष्य-
मात्पशुविशिष्टः । मक्त इति । गुणी = गुणान्वितः । क्षमी = क्षमावान् । प्रगल्भः =
दूतः । प्रतिमानवान् = प्रतिमायाली । ठत्तरे, प्रत्सुत्तरे च प्र-मुपत्तमनिः ॥२०॥

शुको मिला सज्जी है, उसके लिये तो कहना ही क्या है ? ॥ १६ ॥

तब मैं (शुक) बोला—यदि केवल कहने से ही स्वामिन मिद होना है, तो इस जन्तुदीप में भी हमारे स्वामी द्विरप्यगर्भ का ही स्वामिन है । तब तोना बोला दि—तब इसका निर्णय कैसे हो ? । मैं बोला—संप्राम (मुद) में ही हो जायगा ।

तब वह राजा हंसकर बोला—अच्छा, अपने स्वामी को जाकर मुद के लिये दूत भरो । मैं बोला—आप भी अपना दूत मेरे साथ भेजिये । राजा बोला दि—कौन दूत होकर जायेगा ? । कर्षोकि दूत ऐसा करना चाहिये—

को शरानी मक्त हो, और गुणी, पत्रि, कार्यकुशल, प्रगल्भ, (पशु)
क्षमवान्, क्षमावान्, जानिहा मानुष, पराये मेड का जानने वाला और
मिन् हो ॥२०॥

१. 'यदि वचनेन तत्रापि क्षीमदेववाशनामाधिपत्यं सिद्धयति' । २ 'शुक एव' । ३ 'राजा—कः प्रयासु' ।

गृध्रो यदति—'सन्त्येव' दूता यद्वः, किन्तु ब्राह्मण एव 'कर्त्तव्य यतः—

'प्रसादं कुरुते पत्युः, सम्पत्तिं नाऽभिवाञ्छति ।

कालिमा कालकूटस्य नाऽर्पतोऽधरसङ्गमात्' ॥ २१ ॥

राजाऽऽह—'ततः शुक्र एव अजसु । शुक्र ! त्वमेवाऽनेन सह तः गन्वाऽऽमदभिकल्पितं ब्राह् ।' शुक्रो^१ अने—'यथाऽऽज्ञापयति देवः । विन्त दुजनां यथाः, तदनेन सह न^२ गच्छामि' । तथा^३ चोत्तम—

ब्राह्मणो हि पशुः=२ मित्रो राजादेः । कालकूटस्ये—शुभोध । प्रसादं शोभा, वृद्धिश्च । सम्पत्तिं=शोभा, समृद्धिश्च । ईश्वरसङ्गमात्='सयकपटसम्बन्धात् राजसम्बन्धात् । कालकूटस्य=रिपस्य । कालिमा=कालुष्यम्, मारकत्वं । नोपी=न दूरीभजति । यथा गगलं शिवकण्ठे स्थितमपि शिव शोभा, स्वप्नदासम्बन्धः न कोरयति (गच्छति), किन्तु स्वकालिमानमेव सम्पत्ते, तपि^४ ब्राह्मणेऽपि राजसम्बन्धेऽपि स्वदारिद्र्यं नैव जहाति, राटः सम्बन्धं मुञ्चति, किन्तु विपरीतं-नीलकण्ठस्य गले स्थितमिव, तस्य राटः शोभानेव वर्द्धयत्पाठयः ॥ २१ ॥

तुल्य पथेति । शुक्रस्य पशितु पाठपर्येन ब्राह्मणम्पानीयत्वात् । अनेनः

तव दूत बोधा—वर्षादि दूत तो बहुत हो सकते हैं, पर किसी ब्राह्मण को दूत बनाना चाहिए ।

वर्षा ६—यह ब्राह्मण गामी को प्रमत्त करता है, और उसकी सम्पत्ति हथ्वा नहीं करता है । येने ईश्वर (भगवाँदेव) का मन्त्र होने में भी शिव की शपथ नहीं जाती है । अर्थात्—सम्पत्ति को देवदर भी ब्राह्मण का नितीय स्वम नहीं बालता है ॥ २१ ॥

राजा बोला कि—अच्छा, तो दूत बनकर यह तोता ही जाये । हे शुक्र तुम ही इसके साथ जाकर राजा हम में मेरी हथ्वा को करो ।' तोता बोला—'तब । राजा की येनी आता । मैं जाने को तैयार हूँ । पशु या बगल दूत भी है, राजा मैं इसके साथ तो नहीं जाऊँगा । वर्षा ६, कहा भी है—

१ 'गन्धर्वभूत वरुण' । २ 'दूतः कर्त्तव्य' । ३ 'तपि'णि कारित्वम् । ४ 'दुःखोःनः' । ५ 'न ब्रह्म'नि । ६ 'तथाऽऽह' ।

‘सलः करोति दुर्घृत्तं, नूनं फलति साधुषु ।

दशाननोऽहरत्सीतां, ‘बन्धनं स्यान्महोदधेः’ ॥ २२ ॥

अपरञ्च—

‘न स्यातव्यं, न गन्तव्यं दुर्जनेन समं क्वचित् ।

काकमद्गाद्वतो हंसस्तिष्ठन् गच्छंश्च वर्तकः’ ॥ २३ ॥

राजोवाच—‘कथमेतत् ?’ शुकः कथयति—

४ हंस-काककथा ।

अस्युज्जयिनीवर्त्मप्रान्तरे त्र्यल्लतकः । तत्र हंस-काकौ नियतवः ।

एतेन । तत्=तस्मान् । दुर्घृत्तं=दुराचाम्, उपद्रवश्च । फलति=तत्फलश्च
साधुषु परतीत्यर्थः । यथा रावणसम्बन्धादेव हि-समुद्रव-धन=समुद्रे सेतुस्थाना-
भूति-रायणः ॥ २२ ॥ काकेन सह तिष्ठन्, तत्सजादयो एतः, काकेन सह
व्यथ वर्तकः (बटेर) एत इत्यन्वयः ॥ २३ ॥

अजयिनीवर्त्मप्रान्तरे = उज्जयिनीदुर्गममार्गमहावने । ‘प्रान्तरं दूरश्च योज्या’

दुर्जननो दुष्टकर्म करते हैं, और उमका फल निश्चय करके साधुओं को
ता पड़ ॥ है । देखाए, रावण तो सीता को हर ले गया, पर उसका फल समुद्र
धन हुआ, अर्थात् रावण के पास रहने से निरपराध समुद्र ही भ्रम्य में बान्धा
॥ २२ ॥

और—दुष्ट के साथ कहीं भी नहीं जाना चाहिये और न उसके साथ रहना
चाहिये । क्योंकि, कौड़े के साथ रहकर निरपराध इस माया गया था । और
के सम जाना हुआ बेचारा निरपराध बटेर भी मारा गया था ॥ २३ ॥
तोना बोला कि—यह क्या जैसे है ? तोना बोला कि—

अजयिनी के समवे, निर्जन, बोरड़ मर्ग के निष्ठ एक सिप्यन्न (या पाहर)
• बन्धनन्तु महोदधेः’ पा० । २ ‘त्र्यल्लतकः’ इति, ‘महान् सिप्यन्नश्च’
पा० ।

७ अभिनवराजसूदमीभापाटीकाविराजिते •

कदाचित् प्रीत्यासमये परिभ्रान्तः पश्चित्पथिकस्तत्र तरुतले घनुष्पाटं
 संनिपाय सुन. । तत्र सृणाऽन्तरे तन्मुखाद्दृष्टन्द्वायाऽवगता । 'ततः स्यं-
 भेजमा तन्मुखं व्याप्तमपलाय्य', तद्दृष्टवितेन पुण्यशीलेन शुचिना
 राजहसेन कृपया पत्नी प्रमायं पुनस्तन्मुखे द्याया क्रमा । ततो निर्भरनिद्रा-
 मुग्धिरना पथिभ्रमणपरिभ्रान्तेन' पान्थेन मुखक्यादानं कृतम् ।
 अथ' परमुत्तमसहिरण्युः स्यभाषदोर्जन्येन स कावस्ताय मुने
 पुरीषोत्तमं कृत्वा पलायितः । ततो यात्रदसौ पान्य कथायोर्ध्वं निरीक्षते,
 तावत्तेनाऽवशोदितो हंसः काण्डेन हतो, व्यापादितः । अतोऽहं मयाभि-
 'न स्यातव्यमिति' ॥ • ॥

हयगर. । (मानर = उजाद, विवागन) । घनुष्पाट = घनुरूपकम् । अगमग
 = दूरीभूता । (हट गद) । तन्मुख = पथिकमुखम् । शुचिना = शुद्धाऽवधारणेन ।
 परावेण । तन्मुखे = पान्थमुखे । निर्भरनिद्रामुग्धितेन = गाढनिद्रामुग्धचित्तम् ।
 व्यादानं = विवादानम् । (मुँह गोल दिवा) । पुरीषोत्तमं = विश्वा यामं । कावसेन
 = कासेन ।
 का वृष है । उस वृष पर हम कौन कौन से दो पत्नी रहा करते थे । पुण्य का
 के बावू बनी प्रथम ममव (गामी के भीमम) में यथा दुष्टा कोई परि
 (मुग्धिर) उस वृषके नीचे घनुर बाण शिरशने रग कर सो गया । तब !
 ममव के बावू (धनमात्र से) उसके मुँह पर से वृष की लूया हट गई । तब
 की भूज ने उसके मुँह को धरम देग कर उस वृष पर बैठे हुए गानु-गभा
 हंस ने हवा बरके अरने पण देवावर उसके मुँह पर लड़ा कर दी । तिससे पर
 शिर लारी निद्रा से सो गया । तब मुण से सोने हुए उस पथिक ने अरना मुँह
 देग दिवा (मोह दिवा) । उसी ममव पयागे मुण को नही सह मकने गङ्गा
 पर कौन अरने गङ्गा की दुष्का मे ही उस पथिक के मुँह से कीट काके मग
 र्णा । फिर जब उस मुग्धिर ने उठ कर ऊपर की ओर देना, तब हंस को व'
 देना-र हुए ऊपर बैठे देना और उमे देवकर पर 'हमो ने सोने मुण से व'
 की देना देना जान कर, उस पर लीर पञ्चा दिवा और उमे मग थापा ।
 फिर ही बरना है कि 'हंस के माथ बनी नही रहना पर 'दे' हयगि ।
 १. 'अथ' । २. 'शुचिना पुनरागता पत्रादिना तस्मिन्कृष्णवदन-
 त्तरुतले वृते' । ३. 'अनन्तरुत्तमसहिरण्युः' । ४. 'पलायनी-पापलुण' ।
 ५. 'हंस' ।

['कथाघोषः—

त्यज दृजनममर्गं, भज साधुसमागमम् ।
 कुरु पुण्यमहोरात्रं, स्मर नित्यमनित्यताम्] ॥
 'देव । यत्तं कुरुयामपि कथयामि । श्रूयनाम्—

५ काक-वर्त्तकीकथा ।

१ परुत्र वृत्ते काक-वर्त्तकी सुखं निवसतः । परुदा भगवतो गरुडस्य
 पात्रापसङ्गेन सर्वे पक्षिणः समुद्रतीरगताः^३ । ततः कारेण सह घर्त्तकश्च-
 ज्ञेनः । अथ गच्छतो गोपालस्य मस्तकाऽवस्थितदधिभाण्डाद्धार वारं तेन
 ज्ञकेन दधि स्यापते । ततो यावदसौ दधिभाण्ड भूमौ निघायोर्ध्वमव-
 गच्छेत्, तावत्तेन काक-वर्त्तकी दृष्टो । सतस्तेन 'दृष्टः काक पलायितः ।
 ततः स्वभाषनिरपराधो, मन्दगतिस्तेन प्राप्तो, व्यापादितः । अतोऽहं
 शोभ-न गन्तव्यम्' इत्यादि ॥४॥

ततो मयोक्तम्—'भ्रातः शुक्र ! किमेवं प्रचीपि ? । मां प्रति यया
 यात्रापसङ्गेन = दर्शनप्रसङ्गेन । तेन = गोपालेन । 'खेदित' इति पाठे—

हे महाराज अथ बटेर की भी क्या फस्ता है, मुनि—
 एक वृक्ष पर कौश और बटेर ये दोनों पक्षीमुख से रक्ष करते थे । एक समय

भगवान् गरुड की यात्रा (दर्शन) के प्रसङ्ग में सभी पक्षी मनुद के किनारे
 पर जा रहे थे । तब उसी समय कौश के साथ साथ एक बटेर भी बर्षा जाने की
 बचन पड़ा । इसके पछे कौश ने राह में जाते हुए एक ग्वाले के दही के बर्तन
 में से बार बार दही लाना प्रारम्भ किया । तब ज्योंही इन ग्वाले ने दही का
 बर्तन धूभी पर रख कर ऊपर की ओर देगा, त्योंही कौश और बटेर ये दोनों
 ही साथ साथ जाते हुए दिलाई पक्षे, परन्तु यह कौश तो उसके गददेने पर (पौड़ा
 बर्तन पर) दूर भाग गया, पर स्वभाव से निरपराध और धीरे धीरे चलते हुए
 बटेर को उसने पा लिया (पकड़ लिया), और उसे उमने मार डाला । इसी
 ही में बर्ता है, कि—'दृष्ट के साथ कभी कही नहीं मना चाहिये' इत्यदि ॥
 तब मैं (भगवा) बोला कि—माई तोने ! भाव यह क्या करने है ! ।

१. बर्त्तन । २ 'एकः काको वृक्षशालायां स्वस्थिति । घर्त्तकश्चापस्ताद्-
 न्ते मित्ती' । ३ 'तीरं प्रचलिताः । तत्र' । ४. 'खेदित' इति पाठान्तरम् ।

श्रीमदेषपादास्तथा भवानपि ।' शुकेनोक्तम्^१—'अस्त्वेषम्' । किन्तु—
'दुर्जनैरुच्यमानानि संमतानि, प्रियाण्यपि ।

अकालवृमुमानीव भयं सञ्जनयन्ति हि' ॥ २४ ॥

दुर्जनत्वं च भयतो^२ वाक्यादेव शावं, यदनयोर्भूगलयोर्वि
भयद्वयनमेव निदानम्^३ । परम्—

'प्रत्यघेऽपि कृते दोषे, मूर्खः सान्त्वेन तुप्यति ।

रथकारो निजां मायां सजागं शिरसाऽकरोत्' ॥ २५ ॥

राज्ञोक्तम्^४—'कथमेतन् ?' । शुकः कथयति—

शेरितः = भगिनः (लक्ष्मीदेहा गया) । तेन = गोपेन । श्रीमदेवः = अस्मत्
द्विरप्यगमः । समतानि = दृशानि । 'वाक्यानी'नि केयः ॥ २४ ॥

अनयोः = हंसमयूरयोः । विघ्ने = पुत्रे । भयद्वयनं = २ दृश्याभयमे
निदानं = शापम् । सान्त्वेन = केवलं मयुरमामवाशयेन । निजां = स्वीय
सजागं = जागेरगममपि । शिरसाऽकरोत् = शिरसोदपदत् ॥ २५ ॥

शुकः श्रीमते इमरे महागम है, वेने होशुन भी हा । तव वह तीः। बोझा
बडाचिन् दिमा ही होगा । परन्तु—

दुर्जन के बदे हुए भीठे भीठे बचन भी यदि वे अपने सम्पत् और
भी ही तो भी-कुमय के पुत्रों के समान ही वे भय उत्पन्न करते हैं । अ-
पने यदि विमा पुत्र में पुत्र का अर्थ तो वह उत्पन्न माना जाता है, श्री-
अरिष्ट पुत्र ही होता है ॥ २४ ॥

श्रीमद्-राज दुःखता तो तुम्हारे बचनो से ही जानी गई । क्योंकि इन
उपायों की लक्ष्मी हर्ष में तुम्हारे बचन ही प्रधान कारण है ।

दोनों-अ-वध होना (अन्याथ) करने पर भी शृंगं खोला ही भीड़ी २ बातों से ।
ही अर्थ है । जेने एक बचन (बर्त) ने अरिष्टी श्री को जार गदिन (व-
गण) उत्पन्न भा तिर पर अर्थ पर सिद्धा पा ॥ २४ ॥

वह दुःखता गमा केन्द्र कि—वह क्या बने है ? • तोः। करने लगा कि

१ 'दुर्जी अतः' । २ 'भगिनः' । ३ 'वाक्यानी'नि केयः ।

४ 'राज्ञोक्तम्' निः पाठः ।

६ रथकार-तद्ग्रह-जारकथा ।

अस्ति^१ यौवनधीनगरे मन्दमतिर्नाम रथकारः । तत्र च स्वभार्या^२ बन्धकीं जानाति । किन्तु जारेण समं^३ स्वचक्षुषा नैद्ग्रह्याने पश्यति । ततोऽग्री रथकारः 'ब्रह्ममन्य मामं गच्छामी' त्युक्त्वा चलितः । स क्रियद्दूरं गत्वा पुनरागत्य^४ पयङ्गुने स्वगृहे निमृत्त स्थितः । 'अयं^५ रथकारो मामा-
रेण गतः' इत्युपजातविश्वासः स जारः सन्त्याकाल एवाऽऽगतः । पश्चात्तेन आरोण सम तमिमन्पयङ्गे निभरं क्रीकन्ती, पयङ्गुनलविद्यतस्य भनूः किञ्च-
इत्तरशोत्सवामिनं मायाविन विहाय, मनसि सा विषण्णाऽभवत् ।

बन्धकीम् = अस्तीम् । (बन्धकन) । एभ्याने = रहसि । (एका-त में) ।
द्विद्दूर = निश्चिन्तान्तरम् । (कुछ दूर जाकर) । पयङ्गुने = उभयापा
प्रसक्तम् । (पल्लव के नीचे) । निभृत = पच्छिमं (द्विपकर) । इति = इत्यम् ।
प्रागतः = रथग गृहे आगतः । निभरम् = मृतम् । (खूब) । मायाविन = कपट-

धीनमनगर (भोसी) में मन्दमति नाम का एक रथकार (बर्द) रहता
था । वह अपनी स्त्री को बन्धक रिकी (दिनार) तो जानता था, परन्तु जार के
विश्व अपनी स्त्री को एक स्थान में अपनी आरा से नहीं देख पाता था । इसी से
उसको दृष्ट नहीं दे सकना था । तब वह रथकार में दूर गे गाँव का जाता
'देना अपनी स्त्री से कहकर बाहर चला गया । और कुछ दूर जाकर छि
ले पर पर ही लौः आया और अपने पल्लव के नीचे छिप कर बैठ गया ।
वह वंदे 'रथकार दूर गे गाँव है' ऐसा विश्वास होने से वह पार (पार)
रिहा ही को निर्भय होकर उसके पर पर आगया । पीछे उस पर के साथ उस
विषय का दा करनी हुई उन स्त्री का कोई अन्न पल्लव के नीचे रिपत अपने
के रिमा अन्न से छु गया, तब वह स्त्री 'यह मायावी मेरा स्वामी ही है'
उत्तर कर मन ही मन बहुत दुःखी हुई

१. 'धीनगरे' पा० । २ 'एभ्याने स्वचक्षुषा न पश्यति' । ३ 'स्वगृहे
पयङ्गे' । ४ 'मायावी प्रामान्तर गत इत्युपजातविश्रयसया सन्त्या ररजारः
नेरुत्' ।

● अभिनवराजलक्ष्मीमापाटीकाविराजिते ●

ततो जारेणोक्तम्—'किमिति त्वमद्य मया सह निमरं न रमसे ? ।
 विमिमेव प्रतिमासि मे त्यम् ? ।' अथ तयोक्तम्—'अनभिहोडसि, योऽसौ
 मम प्रायेभरो—येन मयाऽऽफीमार सख्यं, सोऽद्य मामाऽन्तरं गतः,
 तेन विना सरुजजनपूर्णेऽपि मामोमां प्रयरत्ययत्प्रतिमाति। किं भावि ? ।
 तत्र परत्याने किं खादितवान् ? । कथं या प्रमुनः ? ।—इत्यरमदपुद्वरं
 विदीयते ।

'जातो मृते—'तव किमेयं विद्या स्नेहभूमी रयकारः ? ।'
 'वन्दययवदत्—'दे वरं ! किं वदसि ? । शृणु—

पम् । विपत्ता = दुःखिता । निर्भंगम् = अनिभंगम् (तुने मन से) । रमसे =
 शीहमि । विमिमेव = विमिमेव । ('अनमनीयो' 'एवहाई दूई सी') । प्रतिमासि
 = दशमे । अनभिः = अन्तः । (दुन क्या जानो) । प्रायेभरो = प्रियः पति
 आद्यपात् = काननपु शृणुः । किं भावि = किं नतिपति । इति = इति
 निरकंठनेन । स्नेहभूमिः = प्रत्यपमानम् । व-पत्नी = वरपत्नी, रयकारमार
 वरं = वरं मृतं ।

तव वर जा उरमे भोगा कि-तुं आत मेरे भाव अरपत्नी प्रवार सम्य वरो
 मरी कली है । आत तो तू मुझे कुछ पवइ है दूई तो जान पवती है । तव
 वरा-तुं नही जाना है, कि मेरा प्रायेभर, अितने दि-मेरा पुमार आत
 (काननपति) मे ही सख्य है, वर आत दूमे गो-वो गया है । उमके वि
 म मनुष्यो मे मया दूसा वर गो-मी मुझे मन के समान हो दूया मा ।
 वर मा है । मेरा वर पति मां देते होगा, वारेण मे उतने क्या
 होगा ? । और वर देते भोग होगा ?—इत्यदि निमाद्यो मे मेरा दःख
 है । तव वर अर वेषा कि-वरा उम रयकार मे तव देगा तव मोर (' ।
 है । तव वर (दूसा) को-की कि-करे मृतं, वर तू क्या करना है ।

१. 'अभिनव-राज-लक्ष्मी-मापाटी-का-विराजिते' ।
 विद्या-स्नेहभूमि-मते-मर्त्या-वद-वारा-व-० । २. 'व-पत्नी-मृतं' ।

‘परुषाण्यपि या प्रोक्ता, दृष्टा या ‘क्रोधचक्षुषा ।

सुप्रसन्नमुखी भर्तुः, सा नारी धर्ममाजनम्’ ॥२६॥

अपरश्च—

‘नगरस्यो, वनस्यो वा, पापो वा, यदि वा (ऽ) शुचिः ।

यासां स्त्रीणां प्रियो भर्ता, तासां लोका महोदयाः’ ॥२७॥

अन्यथ—

‘भर्ता हि परमं नार्या भूषणं भूषणैर्विना ।

एषा निरहिता तेन शोभनाऽपि न शोभते’ ॥ २८ ॥

एवञ्च जारः पापमतिः, मनोलील्यात्पुनतामूलसदराः कदाचित्-

पदवादि—रुद्राणि वाक्यानि । मनुः क्रोधचक्षुषाऽपि दृष्टा या नारी सुप्रसन्नमुखी भवति, सा धर्ममाजन—धर्मरक्षमागिनी भवति ॥ २६ ॥ शुचिः=

परपत्नी । महोदयाः=सर्वसुखदाः, सर्वभेदाश्च लोका भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

नार्या भर्ता हि=भर्तव्यं, भूषणैर्विनाऽपि भूषणम् । एषा=यदृते-स्त्री । मूलमप्ये-

षा च । शोभना=सर्वगुणान्विताऽपि, तेन=एतया । निरहिता=रहिता, न

रते=न रोचते (रामायणस्य पद्यमेतत्) ॥ २८ ॥

पापमतिः=दुःखदुःखिः । परदारान्मर्शावापश्यन् । पुनतामूलसदराः=

सुप्रसन्नमुखी और बहुत से बचन बोलने पर भी, तथा पति के क्रोधमयी

रूप से देखने पर भी जो स्त्री पति के आगे सदा प्रसन्नमुख हो रहती है, वही

धर्ममागिनी होती है ॥ २६ ॥

और भी—नगर में रहने वास्ता, अथवा वन में रहने वास्ता, या पपी या

शुचि, वैशा भी धरना पति हो, वही जिन स्त्रियों को प्यारा है, उन्हीं जिनको

महोदय सोह (स्वर्ग) प्राप्त होते हैं ॥ २७ ॥

और भी—भूषण के बिना भी स्त्री का पति ही परम भूषण है । श्री (भूषण

के बिना) शोभापमान नहीं होती है ॥ २८ ॥

और जो पापमति है, उसे रोचने मन की चञ्चलता से ही

१. 'रुद्र' ।

सेच्यसे, कदाचिन्न सेच्यसे च । स च पुनर्मे स्वामी, मां विक्रेतुं, देवेभ्यो,
 मादयेभ्यो वा दातुमीश्वरः* । किं बहूना ? । तस्मिंस्त्रीषति जीषामि,
 तन्मरणे चाऽनुमरणं करिष्यामीति प्रतिज्ञा* यत्तते । यतः—

‘तिस्रः कौट्योऽर्घ्यकौटी च यानि लोमानि मानये ।

तात्कालं वसेत्सर्गं भर्चारं याऽनुगच्छति’ ॥ २९ ॥

अन्यथा—

‘ध्यालद्राही यथा ध्यालं *बलादुद्धरते विलात् ।

तद्वद्भर्तारमादाय *स्वर्गलोके महीपते’ ॥ ३० ॥

सखादुद्धरत्यः । (यान पते को तरह फल छोड़ी देर की मन बरसाव की
 चीज तालक कर हो) । ईश्वरः = समर्थः । तस्मिन् = मम यथो रथरारे ।
 लोमानि = वेद्याः । मानये = मनुष्यदेहे । तात्कालं = तार्थविशेषीवत्सरपयंभाम् ।
 (ए दे तीन बगोड़ यथं तक) ॥ २९ ॥

भगवतः = धारितृपिठकः । (‘सपेता*वाशयेतिवा’) । ध्यालं = तस्मिन्
 ध्यायाम् = तस्मिन् गी मादयि स्वमर्तरे एवुपवद्वहादुद्धरत्यः । महीपते = पूजते,

तेषां पूजयान के समान कथा २ उपनाम करती हैं, कभी मही मी करती हैं ।
 पर वह तो मेरा स्वामी है । वह मुझे वेपने को छोड़ देना या मादणो को
 भी देने को भी मन्थं दे । छोड़ बहुत करने से क्या है । उसके जीने से ही
 मैं जीने हूँ, और उनके मने पर उसके साथ ही मैं भी लगी होऊँगी, उसके
 साथ ही । ॥ ३० ॥ मे अग्रवर ही मन्थी—यही मेरी प्रतिज्ञा है ।

कौटि—श्री मी पति का अनुमान करती है (पति के साथ लती होती
 है) वह श्री मनुष्य के शरीर में निम्ने शेर है उलने हो तन्व तद्व चर्मा
 तदे तान बगोड़ यथं तद्व तर्ग से बगती है । (मनुष्य के शरीर में तदे तीन
 बगोड़ तर्ग से है) ॥ ३० ॥

श्री भो-देवे तर्ग वा पवदने कदा न्देवा म्त्र के बल से तर्ग को

१. ‘तर्ग मन्थं’ । २. ‘इ देव से निधनः’ पा० । ३. ‘विद्वद्दुद्धरते विलात्’ ।
 ४. ‘देवे तद्व मन्थी’ ।

अपरश्र—

‘चितौ परिष्वज्य विचेतनं पतिं,
प्रिया हि या मुञ्चति देहमात्मनः ।

कृत्वाऽपि पापं शतलक्षमप्यसौ,
पतिं गृहीत्वा सुरलोकमाप्नुयात्’ ॥ ३१ ॥

वचः—

‘यस्मै दद्यात्पिता त्वेनां, भ्राता वाऽनुमते पितुः ।

तं शुभ्रपेत जीवन्तं, संस्थितञ्च न लक्षयेत्’ ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा मन्दमतिः स रथकारः—‘घन्योऽहं यस्येदृशी प्रिय-

मनुमतिश्च ॥३०॥ नितौ = चिनायाम् । परिष्वज्य = आलिङ्गय, विचेतनं =
मृतम् । असी = अनिमता स्त्री । सुरलोक = स्वर्गम् ॥ ३१ ॥

एनां = कन्याम् । तं = पतिम् । शुभ्रपेत = सेवेत । संस्थितं = मृतमपि ।
न लक्षयेत् = नाऽतिचरेत् । किन्तु एमनुगच्छेत् ॥ ३२ ॥

अपरश्री विल से निकाल (स्त्री) लेता है, उसे ही पतिव्रता स्त्री भी अपने
पति को नरक से निकाल कर उसे स्वर्गलोक में ले जाती है, और पति की प्यारी
शरीर उसके साथ स्वर्ग लोक में पूजित होती है ॥ ३० ॥

और भी—मरे हुए पति का आलिङ्गन करके चिता में जो पति की
पत्नी स्त्री अरनी देह को छोड़ती है, जो यदि वह सैकड़ों पाप करने वाली हो तो भी
वह अपने ठम पति को लेकर स्वर्गलोक में पहुँचती है ॥ ३१ ॥

क्योंकि—कन्या (स्त्री) को चादिये कि उसका पिता, या पिता की अनुमति
से बरा भारी दिसको देदे, जिसके साथ रिवाज करदे, उसकी याया जीवन सेवा
से, और उसके मरने पर भी उस का उल्लासन न करे । अर्थात् उसके साथ
चिता में जलकर मर जाए ॥ ३२ ॥

एतत्सर्वं श्रुत्वा मन्दमतिः स रथकारः मन ही मन प्रसन्न होकर बोला कि—अहो !

१. ‘घन्योऽहं’ । २ अविग्रह । ३ ‘रथकारोऽनदत्’ । ४ ‘एतादृशी भाषां
भरती विचरादिनी’ ।

● अभिनवराजलक्ष्मीमापाटीकाविराजिते ●

यादिनी, स्वामियत्सला च भार्येति मनसि निषाय, तां रट्टयां स्त्रीपुण्य-
 साहिता मूर्ध्नि पृष्ट्वा, सानन्दं ननत्त। अतोऽहं मयीम—'प्रत्ययेऽऽ
 हृत्वे दावे'—इत्यादि ॥ ● ॥
 ततोऽहं तेन रासा यथाव्यवहारं सम्पूज्य प्रस्थापितः। शुषोऽ
 मम पश्चादागच्छन्नास्ते। एतत्सर्वं परित्याय यथाकलेव्यमनुसन्धीयता
 यमयाको विद्वस्याऽऽह—'देव। यदेन सावदेशान्तरमपि गत्या र
 शक्ति राजकार्यमनुष्ठिनम्। किन्तु देव ! स्वभाव एव मूर्खानाम्'।
 पठः—

स्त्रीपुण्यमहिता = लग्नी-जार सहिताम्।
 तत्र = शुष्कावधयत्नानन्तरम्। तेन = मयूरेण। यथाव्यवहारं = यथा-
 वेगम्। आगच्छन्नास्ते = अनुसन्धीयतायेव। (साही रदा है)। सर्वं = पदुष्टम्।
 देव = इ राजन्। 'राजकार्यमनुष्ठिनम्' इति सेऽनुष्ठानं यथा। यदेन दीरात्प
 दाता विरदि निवर्तित इति तु लक्षणेऽर्थः।

मैं धन्य हूँ, जिसके ऐसी परीक्षा एव निषेचन करने वाली और (य
 ही शेर को बाली मार्ग है। और ऐना मन ही मन निधय काके पर र
 (बाई) स्त्रीपुण्य सहित उम लाट को ही छिर पर उठा कर बड़े ही छ
 से नाचने लगा। इनप्रदे में करता हूँ कि—'दाव्य दोन करने वा भी
 भीत्री भीत्री को मे बरबाव में छात्राण है' इत्यादि ॥

द्वि उम रासा मयूर ने यथोचित व्यवहार के अनुसर मेरा तत्
 कुम्भे (बनुके को) विदा कर दिया। लोग भी मेरे वंगे की छात्रा ही हो
 एवं जानकर ऐना करना चाहिये, तो आप विचार करिये।

एव पश्चात् स्त्री यथावह रत्नकर होम्—'दे देव। इत व
 देहत्तर से भी प्रकर यथास्तत्र रासा का कर्षं कर ही दिया। आ
 यथास्तत्र दुरग मे का को निम्नि में (अर्थ के भगई में)
 - काट्टु दे देव। ऐना मूर्खों का सामान ही होगा है। यथोक्त—
 १. 'अर्थात्'। २. 'ठीक' यथाव्यवहारं मनुष्य-बोधना'।

‘शतं दद्यान्न विन्दे’दिति विद्वस्य संमतम् ।

विना हेतुमपि द्वन्द्वमेतन्मूर्खस्य लक्षणम् ॥ ३३ ॥

राजाऽऽह—‘अलमनेनाऽनीनोपालम्भनेन, प्रस्तुतमनुमन्धीयताम्’ ।

चक्रवाको प्रते—‘दिव ! विजने प्रवीमि’ । यतः—

‘वर्णा-ऽऽकार-प्रतिध्वाननेत्र-वक्त्रविकारतः ।

अपूहन्ति मनो धीरास्तस्माद्रहसि मन्त्रयेत्’ ॥ ३४ ॥

सतो राजा, मन्त्री च ‘सत्र स्थिती, अन्येऽन्यत्र गताः । चक्रवाको

विद्वस्य = विदुषः । हेतु = कारणं विनाऽपि । द्वन्द्व = कलहः ॥ ३३ ॥

सम्यग् = निन्दा । (कोसना) । अनुमन्धीयता = चिन्तयताम् । विजने = दृष्टे ।

वर्णेन = मुखवर्णेन, आकारेण = आहृत्या, प्रतिध्वनेन = प्रानिना । नेत्र-

पारेण = नेत्रशो हितादिना, वक्त्रविकारेण = मुखमङ्गलभेदेन च । धीराः =

द्विजानपत्यः । मनः = मनोगतमपि भावम्, ऊहन्ति = तर्कयन्ति । रहसि =

॥ ३४ ॥

ऐहिको कस्ये दे दे परन्तु किसी के साथ विवाद न करे, यह छानी पवित्रता
'सना (मिदान्त) है, और विना कारण के भी कलह करना-यह मूर्खों
लक्षण है ॥ ३३ ॥

राजा बोला कि—गई बात के बारे में अब किसी को बलहना देने से
न काम है । अब तो हमें प्रस्तुत विषय का ही अनुसन्धान (विचार) करना
पड़े । चक्रवाक बोला कि—देव ! मैं आप से एकान्त में ही इस विषय में
मना मन बहूँगा ।

वर्ण-रंग, आकार, शब्द, चेष्टा तथा अंगों पर मुख के विकार
। नी दिवान् भोग मनुष्य के मन की बात की जान लेते हैं, इसलिये एकान्त
में संवत् (मन्त्र, सलाह) करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

एक राजा तथा मन्त्री ये ही दोनो वहाँ रह गए और दूसरे सब समासद ठटकर
एकीकृत चले गये ।

१. 'विमतीतोपालम्भनेन' । २. 'स्थिती सत्र' ।

प्रते—देव ! अहमेवं जानामि—‘कस्याऽप्यसमन्नियोगिनः प्रेरणया
वप्रेनेदमनुष्ठितम्’ । यतः—

‘यैधानामातुरः श्रेयान्, व्यसनी यो निवोगिनाम् ।

विदुषां जीवनं मूर्खः, ‘सद्वर्णो जीवनं सताम्’ ॥ ३५ ॥

राजाऽमधीन्—‘भवतु, कारणमत्र पश्चान्निरूपणीयम्, सम्प्रति
यत्प्रसंग्यं ‘सन्निरूपयताम्’ । चक्रवाको मूते—‘देव ! प्रलुभितावस्य

निवोगिनाः=राजसोवहाः, राज्याधिकारिणो वा । [‘अवसर’ ‘अहलक्ष्म’
‘राजकर्मचारी’] ।

आतुरः=रोगी । भेषान्=वृत्तिपदानेन गुणः । व्यसनी=विपतिप्रदा ।
निवोगिनाः=राजपापशरिणाम् । जीवनं=जीवितासाधनम् । सद्वर्णः=ब्रह्म-
वैश्वदेविविधादिः । मां=तापूनाम् ॥ ३५ ॥ अत्र=मनुपगिते सत्त्वामे ।
साप्रति=इदानीम् । निरूपयतां=वच्यताम्, अथधार्यताम् । प्रलुभिः=परः ।

तब चक्रवाक बोला—दे देव ! मैं ऐसा जानता हूँ कि हमारे किसी राजकर्मचारी
को भीारी प्रेरणा से ही हम वगुने से ऐसा भगदा लडा दिया है ।’ बोले—

बैतों के लिए रोगी अर्थात् है । अर्थात् रोगी होने से ही वह वैद्य को कुछ
देगा, अतः उसके लिए रोगी ही कामदायक है । निवोगिवो (अधिकारिवो)
के लिये स्वगनी राजा—अर्थात् मुद आदि विपत्तियों से तथा तथा मर, गुण-
वैश्वदेव आदि स्वगनी से चेला हुआ राजा (रोगी) अर्थात् होता है, कौ-
निकानो के लिए जीवन (अर्थात् प्राणी, का देने वाला) मूर्ख है । कौ-
निकानो के लिए—उत्तम वर्ण (वैश्व वैश्व आदि) है ॥ ३५ ॥

एव वह राजा अर्थात्—टीक है,—‘मो भी मुद ही, पत्तु हमका कारण दे
दिए सोचना । हम भगद ही को करना चाहिये, उसे निरूपय करना सोच है ।

एव चक्रवाक बोला—देव ! पहले तो तुम के राज्य में किसी प्रलुभ (गुण दू-

१. ‘अहमेवं जानामि’ इति कटे—अहमेवं=वच्यतावमानः । जानामि=
वदः, ज्ञः=बोधः । न ननु गतो अहमेवो मयः पयोः । २. ‘अहमेवं’ ।

प्रहीयताम् । तदस्तदनुष्ठानं, बलाऽवलं च जानीमः' । तथाहि—

‘भवेत्स्व-पर-राष्ट्राणां कार्या-ऽकार्याऽवलोकने ।

चारथक्षुर्महीमर्तुं यस्य नास्त्यन्ध एव सः' ॥ ३६ ॥

स च द्वितीयं विश्वामपात्रं गृह्णत्या यातु । तेनाऽसौ स्वयं तत्रा-
ऽवस्थाय, द्वितीयं तत्रत्यमन्त्रकार्यं मुनिमृतं निश्चित्य, निगद्य, प्रस्था-
पयति' । तथा चोक्तम्—

(ज्ञानम्) । प्रहीयतां = प्रेष्यताम् । तदनुष्ठानं = शत्रुमन्त्रय, तदभिमतं वा ।

अवेदिति । स्वराष्ट्रपरराष्ट्राणां कार्यं-य, अकार्यं-य च = उचितानुचितयो-
रवलोकने, राशीं चारा एव चक्षुषि भवन्ति । चारसदितस्तु राजा चक्षुःशून्योऽप्य-
परोत्पर्यः ॥ ३६ ॥

स च = प्रविधिश्च । द्वितीयं = स्वसहायक कथनाऽपरं प्रविधिम् । असौ =
प्रविधिः । तत्र = शत्रुराज्ये । तत्रत्यमन्त्रकार्यं = शत्रुपक्षमन्त्रादीनि, तत्रत्यानि
कार्यान्त्य च शत्रुभिर्निश्चयानि, तं कथयित्वा निभूतमत्र प्रेषयिष्यति ।

श्री मेघना चारिये, जिससे हम शत्रु के कर्त्तव्य और बलाबल को जान सकें ।
ऐसे बहा भी है—

अपने और पराये राज्यों के कार्य और अकार्य के देखने के लिए राजा
के चार (दूत) ही भेज होते हैं, जिस राज के पास वे (चार) नहीं हैं,
वह राजा अन्धा ही है ॥ ३६ ॥

श्री को दूत भेजना है, यह अपने साथ दूसरे विश्वासरात्र को साथ लेकर
जिससे वह आप बही रहकर, यहाँ की गुप्त बातों को सुनचार बढ़ी साम-
रती से जान कर, परी लखों को एकत्रित करके, दूसरे को यहाँ की गुप्त बातें
इसी प्रकार समझ कर, यहाँ सूचना देने को भेज सके ।

‘तीर्थाऽऽश्रम-सुरस्थाने शास्त्रविज्ञानहेतुना ।

तपस्त्रिव्यञ्जनोपेतैः स्वचरैः सह ‘संपसेत्’ ॥ ३७ ॥

गूढचार्या—थो जले, स्थाने च^३ परति । ततोऽसावेव यको नियुग्-
णम् । एतावरा ण्य क अइको द्वितीयत्वेन प्रयातु । तद्गूढलोकाश्च^३
राजद्वारे तिप्र तु । किन्तु एतदपि सुगुणमनुष्ठात-यम् । यत —

तर्पति । पुण्ये तु तीर्थस्थानेषु, कलाचयेषु, मुपाशीनामाभममुनि, देव
स्थानेषु च । शास्त्रविज्ञानहेतुना = शास्त्राज्यामदान-विज्ञान-बलाबोधसमाप्त्या-
दिव्यमिदं चि प्रदर्शन—निरूपण पठनादिसाजेन । तपस्त्रिव्यञ्जनोपेतै =
तपस स्थानि चक्षु-प्रव-वार्ता दनिष्ठपारिधि । स्वचरै = स्वगूढपुरुषैः सह
प्रतिधि = राजद्वारनिधि, प्रधानगूढभाषुण्यध । संपसेत् = निष्ठेत् । ‘सं-देत
रति मुद्रियु तक्ष टात्त नाडीकाऽतुगु ६’ ॥ ३७ ॥

गूढचार्य = प्रधानप्रतिधि । ‘त एव मगितुं योग्य’ इतिरेयः । यानि =
वन्द्यनि । राजद्वारे = राजम ने । निष्ठेत् = प्रतिभूतया निष्ठेत् । (आग्नि की
व पद की तरह वही रहे, जिससे वह प्रतिधि कुछ गहवद व राग्य के मा

येना वहा है कि प्रतिधि-तीर्थ, आश्रम कीर देवालय आदि में शास्त्र (वि-
ज्वयन, बला बोधक विषय आदि) जानने के दगु, (द्यप) से, या तपसि
के बिहो में पुत्र हो कर, अपनी दूरी के साथ नियम करे ॥ ३७ ॥

और गूढतुन वही होने के योग्य है, जो मनु में कीर स्वतः में रा-
ज्य से बह गहन हो । रमन्तिर यह बगला ही प्रतिधि के रूप में ।
निवरा विषा आर, और इनके साथ देना ही कोई दूसरा बगला व
कीर इन दोनों के कर के क्षेत्र (य पुत्र आदि) राजद्वार में आग्नि के
थे रहे । जिसके के क्षेत्र रागा के मय दिव्य गहन न कर गहरे कीर
वर्षों भी रहे लगे । परन्तु वे सब कर्ते भी अन्य दिशा बगली बन्धिये । बन्धि

‘पट्कणो भिद्यते मन्त्रस्तथा प्राप्तश्च वार्त्तया’ ।

इत्यात्मनाद्वितीयेन मन्त्रः कार्यो महीभृता’ ॥ ३८ ॥

‘पर्य—

‘मन्त्रमेदेऽहि ये दोषा भवन्ति पृथिवीपतेः ।

न शक्यास्ते समाघातु’ मिति नीतिनिदां मतम्’ ॥ ३९ ॥

राजा विभ्रयोवाच—‘प्राप्तस्तथन्मयोत्तमः प्रणिधिः ।’ मन्त्री मूले-
देव ! कदा सहृष्टामे विजयोऽपि प्राप्तः ।’

(साधन न कर सके) । एतदपि = प्रणिधिमेषणम् ॥ पट्कणः = त्रिभिः पुरुषैः
नः । पार्त्तया प्राप्तः = पुरुषान्तरादिद्वारा, पत्रादिद्वारा वा दूरादेर रुन्दिष्टः ।
विद्योपत्री से, वा दूत द्वारा की गई मन्त्रणा एवं गुप्त सन्नाह) । इति =
नि हेतोः । आत्मनाद्वितीयेन = आत्मना, मन्त्रिणा च एवादिना । द्वाभ्यामेवेति
परत् ॥ ३८ ॥

मन्त्रमेदोपिता दोषाः समाघातमपि न शक्यन्ते इति नीतिनिदां मतमित्यर्थः ।
३९ ॥ उत्तम = सर्वगुणोपेतः । भेष्टः । प्राप्तः = प्राप्त एवेत्यवेत्यर्थः । मया सुगूढ-
देशे पूर्वमेव तत्र प्रणिधिः कथन निवृत्त एवेति यावत् ।

धः जानो से की हुई संनति (मन्त्र, गुप्त बात चीत) कभी द्विती नहीं रहती
। तथा पत्र आदि से, अथवा दूतरे मनुष्य के द्वारा (दूत आदि से) प्राप्त
प्राप्त हुआ मन्त्र भी द्विती नहीं रह सकता है । इसलिए राजा की उक्ति
दि वह स्वप्ना-अपने, श्रीर दूतरे मिससे मन्त्र करना हो वह, ये दो व्यक्ति
एकान्त में बैठकर मन्त्रणा करें ॥ ३८ ॥

हेतिये—मन्त्रमेद (गुप्त संनति के प्रगट होने) से राजा के लिए जो
वहने हैं, (आरत्तियाँ जानी है) उनका समाधान हो ही नहीं सकता है,—
। न के जानने वालों (राजनीतिज्ञों) का मत है ॥ ३९ ॥

तथा पत्र होकर बोला कि—प्रणिधि तो मैंने उत्तम पा ही लिया है ।
दो वर दिया है) । मन्त्री बोला कि—तो फिर आपने मुझ में निश्चय भी पा ही

१. ‘द्वय’ । २. ‘जयोऽपि’ ।

• अग्निवराजलदमीमापाटीकाविराजिते •

अग्रऽन्तरे प्रतीहारः प्रविरय प्रणम्योवाच—'देव ! जम्बूद्वीपादागं द्वारि गुरुमिच्छति ।' राजा चक्रवाकमालोकते ।
 चक्रवाकेणोक्तम्—'कृताऽऽवासे तावद् गत्या तिस्रु, पश्चादा-
 वृष्टव्यः ।' 'यथाऽऽतापयति देवः' इत्यभिधाय 'प्रतीहारः शुक्रं गृहो-
 तमायामस्थान गतः । रामाऽऽह—'वि' हस्तावत्समुपस्थितः ।' चक्र-
 मते—देव । 'तथापि सत्मा विषहो न विधिः' । यतः—

'स सिमृत्यः, स किमन्त्री य आदावो भूपतिम् ।
 युदोघोगं, व्यभूत्यागं निर्दिशत्यभिचारितम्' ॥ ४० ॥

कृताऽऽवासे = दूतावर्यं कल्पिते आगते । (अग्निविभवने) । दृष्टव्यः =
 उपरिगच्छ । तं = दूतं शुभम् । विप्रः = पुत्रम् । तान् = सर्वभोगोमानेन ।
 कृता = आशयेन । न विधिः = नेचिः ।

विगृह्य = प्रवेगेषो गृह्यः । अमरम त्वाः । किमन्त्री = कुमिगोऽप्याया । आशये
 एषोनापरिवागेनऽऽशयेन । गृह्यमाण = एतन्नापरिवागम्, एतन्नापरिवागं, वा
 यन्त्र । निर्दिशति = उपदिशति । अग्निवराजम् = विचार विभेद ॥ ४०

त्रिधा है—वही समझते । अर्थात्—जिम राजा के पास उत्तम प्रतिधि (जगन्म)
 है, उस राजा की निश्चय निश्चिन्ता ही है ।
 इसी वीच में इतरत्र ने आधर प्रदान कर बश कि हे देव ! जापूरी
 —वा हवा दूक गुणा (लोग) करर गदू दे । एव राजा यही की तरह देव

अपरंच—

‘विजेतुं प्रयतेताऽग्नीन् युद्धेन कदाचन ।

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युध्यमानयोः’ ॥ ४१ ॥

अन्यथा—

‘साम्ना, दानेन, भेदेन, समस्तैरथवा पृथक् ।

साधितुं प्रयतेताऽग्नीन्, न युद्धेन कदाचन’ ॥ ४२ ॥

अथवा—

‘सर्व एव जनः शूरो क्षनासादितविग्रहः ।

अदृष्टपरसामर्थ्यः सदर्पः को भवेन्न हि’ ? ॥ ४३ ॥

अग्नीन् = अग्निन्, युद्धेन विजेतुं न प्रयतेन, यतः—युध्यमानयोर्दयोर्विजयः—अनित्यो कोके प्रायेण दृश्यते ॥ ४१ ॥

महा = साम्नेन । एभिर्ह्यभिहृगयैः । पृथक् पृथक्वा, समस्तैः । अग्नीन् = अग्निन् । साधितुं = वशः कर्तुं—प्रयतेत, पर तु युद्धेन अग्निन् यथाकर्तुं कदापि न प्रयतेन ॥ ४२ ॥ क्षनासादितविग्रहः—अशास्यबुद्धः, सर्व एव जनः शूरः ।

विचारे रहने ही अपने शत्रु के उद्योग करने की शयरा अपनी भूमि (राज्य) का त्याग करने की (भाग जाने की) मलाह दे ॥ हे ॥ ४० ॥

और भी—अपने शत्रुओं को युद्ध से ही जीतने का कमी भी प्रयत्न न करे । मनु जाँ तक हो सके शान्तिमय उपायों से ही अपने शत्रुओं को अपने का प्रयत्न करे । क्योंकि युद्ध करने वालों में से किसी का भी रिक्त निमित्त नहीं रहा है । न जाने, दोनों लड़ने वालों में से कौन सा जीते और कौन सा हारे ? ॥ ४१ ॥

और भी—भाम (शान्ति) से, दान से, शौर्य से, (कुट्टाखर) मनु प्रदेह उपायों से, अथवा संमिलित इन तीनों उपायों से ही शत्रुओं को पराजित करने का प्रयत्न करे, परन्तु युद्ध कभी न करे ॥ ४२ ॥

और भी—युद्ध प्राप्त होने के पहिले तो सभी मनुष्य शूर होते हैं ।

किञ्च—

‘न तयोत्याप्यते ग्रावा प्राणिमिदंरुखा यया ।
अन्योपायान्महामिद्विरेतन्मन्त्रफलं महत्’ ॥ ४४ ॥

किन्तु विषहमुपस्थितं विलोम्य व्यवहियताम् । यतः—

‘यथा फालकृतोयोगात्कृषिः फलरती भवेत् ।
तद्वन्नीतिरियं देय । निरात्फलति, न क्षयात्’ ॥ ४५ ॥

प्रद्वयपरगाम्यं = अ-गुप्ततपुबलः, अनरकोदितपरसामर्थ्यः । कः—सर्पः =
सगती-न भवेत् । सर्वोऽपि सगती भवदेवेत्यर्थः ॥४३॥ क हादि सापन्नं विना प्राणा
= प्रभारा, तथा = प्रनाशनेन नो यावद्विषुं शक्यते, यथा दादला = दश-
दिताधनैनाप मेनेत्यादिषुं शक्यते, एवमेव अज्ञोरापान्महाशर्वादिदित्येव
मन्त्राय पञ्चम् । तथैव च अत्रिष्टो मन्त्रिता ॥ ४४ ॥

उपविताम् = उ-विशानि । विलोम्य = गत्या । व्यवहियताम् = उपाय
द्विषताम् । देव = दे शक्यम् । कात्रहृतेयोगात् = कृषिसमुत्पन्नममवृत्तादुदे-
गात् । कृषिः पञ्चरात्रे = मासा, मीरु, एवमिव नीतेः = रात्रन्तीति,
मन्त्रेऽपि च । विना = विदता वाक्येः—गन्ती, न एतात् = न तु मय एव ।
विनिश्चये शोभते तन्निश्चये एते तन् पञ्चति, किन्तु कृषिनि कात्रहृतेवते

यदि कृषु वा मादर्थं (बह्वीष्य) देवने के पहले तो नीन पुत्र्य पञ्चरात्र
नती हीन है ॥ ४३ ॥

धीरभी-विनी गालम मे मनुष्य ब्राह्मी रहस्यता मे, शीरे मय
मे ही वने बडे पक्षी को उठा मरणा है, वेगा जिना बन्ध के नती उठा ता
है, हमो प्रहार पक्षी मे प्रजन मे भी बहुत बड़ा क्षाम विगते हो गडे-नी ।
(पञ्चाह, उपजा) श्रेय है ।

यानु अत्र ही विद (ब्रह्म) उन्निता हो ही मता है-देगा मन्त्र बरहे
ही मय व पक्षे बान्ना च दिते । ब्रह्म है देव । नीने मन्त्र वा दिते दूर उपाय
के शोरी पक्षी है, नीने ही पक्ष-नी (मय) भी दूर ब्रह्म के बर ही

अपरं च—

‘दूरे’ भीरुत्वमासन्ने शूरता महतो गुणः ।

‘निपत्तौ’ हि महालोकैः घोरत्वमधिगच्छति ॥ ४६ ॥

अन्यथा—

‘प्रत्यूहः सर्वसिद्धीनामुत्थापः प्रथमः किल ।

अतिशीतलमप्यम्भः किं भिनत्ति न ‘भृशतः’ ? ॥ ४७ ॥

इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

मये दूरे सति भीरुता, परन्तु मये समामन्ने तु—शूरता = शौर्यमारथाय
उत्थितप्रवृत्तः—अथमेव मरुतः = महात्मना, गुणः । लोकै हि—यतो निपत्तौ
सत्तां मान् घोरताम् अधिगच्छति = पतिव्यते, आगिच्छतीति ॥ ४६ ॥

उत्थापः = अथैवम्, प्रथमः, प्रथमः, (पर्वतानां, जहरी तारम होना) ।
सर्वसिद्धीनां-प्रथमः=प्रथमः, प्रत्यूहः=विष्णुः । किल = प्रसिद्धमेतत् । अम्भः=
—दन्, अतिशीतलमपि, भृशतः = पर्वतान् । भिनत्त्येव = विदारयत्येव । एवञ्च
उपनिषदे एव कार्यं सिद्धयति, उच्चापेन तु कार्यं शान्तिर्भयवतः क्रोशः भृशतः
प्रथम इत्यर्थः ॥ ४७ ॥

दूरी है, न किं सुखमर मे ॥ ४५ ॥

घोर भी-बड़े लोगो का—निपत्ति दूर हो तो भीरुता रचना, और निपत्ति जब
नहीं है ही था जाने तो शूरता दिलाता यही गुण है । क्योंकि बड़े लोग निपत्ति
। घोरता रमते हैं—एह लोक प्रसिद्ध है ॥ ४६ ॥

घोर भी—घोरता छोड़ना और पर्वत जाना—ही सगुण सिद्धियों का
प्रथम (प्रथम) है । देतो—ठटा भी जल तथा पहाड़ को नहीं फेंक देता
। प्रथम ही फेंक देता है । अतः शीतलता और शान्ति से ही बड़े से बड़े
कार्य प्रत्याप्त हो हो सकते हैं ॥ ४७ ॥

१. ‘मानी दूरभीरुत्वमासन्ने शूरता गुणः’ पा० । २. ‘निपत्तौ च’ ।
३. ‘महात्मनः’ पा० । ४. ‘भृशतम्’ ।

विरोधतश्च देव ! महानलोऽसौ^१ विप्रवर्णो राजा । यतः—
 'बलिना सह योद्धव्य' मिति नाऽस्ति निदर्शनम् ।
 तद्युद्धं हस्तिना सार्द्धं नराणां मृत्युमाप्नुहेत्' ॥ ४८ ॥

अन्यथ—

'स मूर्खः कालमप्राप्य योज्ज्वकर्त्तरि वर्तते ।
 कतिर्यत्नता साधं कीटपक्षोद्गमो यथा' ॥ ४९ ॥

द्विष्ट—

'कीमं सद्गोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत् ।
 'प्राप्तकाले तु नोतिष्ठ उत्तिष्ठेत्क्रूरसर्पयत्' ॥ ५० ॥

निःशंभम् = ममाद्यम् । उदाहरणम् । पदवाग्विद्या मनुष्यस्य हस्तिना ।
 मनुष्याय मृदुरेव न सद्यः ॥ ४८ ॥ यः कालम् = अथाप्य-अन्यसरे ए'
 अथकर्त्तरि वर्तते = तेन सह युद्धं करोती, स मूर्खः । यत्नतः । सह बलि-
 निवाः । कीटपक्षोद्गमो यथा = कीटानां पक्षोद्गम इय-एतन्निवाद्यपि सव-
 (को/को के पक्ष तो उनके उस धाने के शिबे ही आते हैं) ॥ ४९ ॥

कनिष्ठ- = न किञ्चित्तः । कीमं = इच्छामान्निर्गम, सद्गोचम् = अदृश्य

कीमं हे महाशय, विरोध करके यह बात भी है कि वह विप्रवर्ण राजा क
 बन्धु है ।

कीमं—इच्छामान्निर्गम के भाव लक्षणा, यह शब्द कीमं इच्छामान्निर्गम से सं-
 नती है । क्योंकि शब्दों के साथ युद्ध करने (सहने) से तो मनुष्य कीमं
 ही होती है ॥ ४८ ॥

कीमं—इच्छामान्निर्गम है, जो बिना उचित समय के (बेजोहे) ही अथवा
 एवं बन्धुत्वं तदुद्योगे वा सः स्यात्कालम् । क्योंकि बन्धुत्वं तदुद्योगे वा
 युद्ध करना तो व युद्ध के पक्ष निवृत्तने के पक्ष अर्थात् मृत्यु का ही बात
 है ॥ ४९ ॥

कनिष्ठ- = न किञ्चित्तः । कीमं = इच्छामान्निर्गम, सद्गोचम् = अदृश्य

१. 'मया विप्रवर्णः' । २. 'मया बन्धुः' ।

‘महत्त्यल्लेऽप्युपायज्ञः सममेव भवेत्कमः ।

समुन्मूलयितुं वृक्षांस्त्रुणानां च नदीरयः’ ॥ ५१ ॥

मतो ‘दूतोऽयं शुकांऽयाऽऽश्वास्य तावद्घियता ३ यावद्दुर्गं सत्त्वोक्रियते । यतः-

‘एकः शतं यो घयति प्राकारस्थो घनधर्मः ।

शतं शतसहस्राणि, तस्माद् दुर्गं भिशिष्यते’ ॥ ५२ ॥

प्राकाराय = अ भिय, प्रकाशमि परैदत्तं मयकेत् = सदेत । प्रातकालतु = प्राता-
इतरतु । कृमय त् सहसा उत्तिष्ठेत् = शभी प्रसरेत् ॥ ५० ॥

वृक्षाश्च = उरायकुशलः, महति = बलवति । स्वल्पे = निर्घनेऽपि च,
तन्मेव = दुल्पमेव, क्षमः = समर्था भ.नि । उन्मूलयितुं क्षमः = गिराशक्तिं
द्वयो भवेत् । यथा नदीरयः = नदीवेगः, लघुन वृक्षानीर, महतो वृक्षानपि
वपावकलेन नीतिविकूलन्तं, निर्घलश्च ३रपु नारायतु शक्त इत्ययः ॥ ५१ ॥

प्राकाराय = मानव्यचनैराधास्य । भिषताम् = इहावस्थापनाम् । एतोऽपि धनु-
र्गो दुर्गप्राकारायः शतं यो घयति, - एवमेव प्राकारस्थाः शत भयाश्च शतसहस्राणि
वृक्षानि परसेनाभरान् यो घयन्ति, तस्मात् दुर्गं प्रशस्तम् । (माहा = ‘दिल्ले
रगोदा’ ‘दिल्ले जी वीशल’) ॥ ५२ ॥

शरी को भी सहन करे और अपनी समय प्राप्त होने पर क्रूर सब के समान
सहा हो, और शत्रु पर आक्रमण कर दे ॥ ५० ॥

और नवाय का मानने याज्ञा, बड़े और छोटे सभी शत्रुओं के दबाने में बानर
सम्य होता है । जैसे नदी का वेग छोटे छोटे निम्नका क समान हो बड़े से बड़े
हो के भी उलाड़ने में समर्थ होता ही है ॥ ५१ ॥

इसलिये जब तक हम रा दिला लकड़ के लिये सब सामग्रियों से सुसज्जित
होकर, तब तक हम दुर्ग को भी आधासन दे करके (इधर उधर की
सी युद्धा बालो में घटका कर) टहारा रखना चाहिये ।

इसका - दिल्ले में गिन एकही धनुर्गी बोदा एकही शरी के साथ
विपत्ता है, और ही बोदा जानों के साथ युद्ध कर सकते हैं । इस दिय
रगो का दिल्ले दिल्ले का बड़ा महत्त्व है ॥ ५२ ॥

१. ‘प्राकारदूतोऽप्युपायज्ञः’ । २. ‘दुर्गः’ ।

द्वि—

‘अदुर्गाविषयः कस्य नाऽरेः परिमयाऽऽस्पदम् ।

अदुर्गोऽनाथयो राजा पोतन्युतमनुष्यवत्’ ॥ ५३ ॥

‘दुर्गं कुर्यान्महाराजतमुचप्राकारसंपुतम् ।

सपन्नं, सजलं, शूल-सग्नि-मरु-वनाऽऽश्रयम्’ ॥ ५४ ॥

‘विष्ठीर्यताऽतिपैषम्यं, रसधान्येष्वमंग्रहः ।

प्रपैराधाऽपसारथ समैना दुर्गसम्पदः’ ॥ ५५ ॥

अदुर्गाविषयः=दुर्ग-न-दे-उ-को-टा-दि-न-स-दि-नो-रा-जा । कस्य अरेः=कस्य शत्रोः, प-
मयाऽऽस्पदं=विश्रामस्थानं, निःश्रेयः, न भवति । अपि तु म सामान्यस्य विद्य-
यस्य न-दुर्गा । यतो हि-अदुर्गः=दुर्गरदिगात् एव अनाथयो राजा पोत-
न्युत-वत्=विशेषविष्ठीर्यवत् । (अश्वमेधे गिरे इत्य यात्री श्री उर-
द्यामविभक्तिने उर एव वाऽनाथो जले निमग्नो भवति ॥ ५३ ॥

महामार्गं=महाविष्ठीर्यम् । प्राकारः=दुर्गनिधिः । सपन्नं=सुदं-
दो-दुर्गा-व-व-विष्ठीर्यम् । मरुत्तं=उष्णस्थानम् । शीलेति । पदान-
म-न-ना-त-व-व-दुर्ग-म-म-विष्ठीर्य-व-व- ॥ ५४ ॥

विष्ठीर्यता=विष्ठीर्यम् । अतिपैषम्यं=अतिदुर्गम् । रसधा दे-

द्वी ३—‘इति मे रदि राजा वा कीन शत्रु विरक्त नही करे
हे । करोदि विजे मे रदि हीने से, मुदद आधय रदि राजा अश्वमे
दुत्त मनुष्य के दुन्व ही अनाथ होय है, छोरे गाधारण शत्रु मे भी अनाथाम
पद पगाय ही काय है ॥ ५३ ॥

छोरे विजे के परो छोरे भीही मारै तथा ऊँची हीराग होनी का
छोरे शत्रो (शत्रु छोरे) मे छोरे जय मे विजे को मुनिका एवना पारि
छोरे पारद, नही, विष्ठीर्य होय छोरे बन इनमे दुष्ट दुर्गम राजा मे ही वि-
वनाय पारिदे ॥ ५४ ॥

छोरे विष्ठीर्य (पूरि का देव) अति-रम्य (स्थली का दुर्गम पद से
भी-का होना) एव, अथ अथ इत्यन छोरे को उर-पेगी का दुर्ग है उनके भी

जाऽऽह—‘दुर्गाऽनुसन्धाने को नियुज्यताम्?’ । चक्रवाको वृते—

‘यो यत्र कुशलः कार्ये तं तत्र विनिषोज्जवेत् ।

‘कर्मस्वदृष्टकर्मा यः शास्त्रज्ञोऽपि विमुह्यति’ ॥ ५६ ॥

तदाहृतं सारसः । तदाऽनुष्ठिते सति समागतं सारसमत्रलोम्य

विवाच—‘भोः सारस ! त्वं सत्वरं दुर्गमनुमन्धेहि ।’

सारसः प्रणम्योवाच—‘देव ! दुर्गं तापदिदमेव चिरात्सुनिरुपिन-

दः=परायण जल धान्य-काष्ठ दिसप्रदः । प्रवेष्टः=निगूढनानाप्रवेशमार्गाः । अत्र-

।=मनादिषा गूढपलायनमार्गाः । एताः सतः दुर्गमन्वदः=प्रशस्तदुर्ग-

मन्वदो वेषाः ॥ ५५ ॥

दुर्गमनुसन्धाने=दुर्गभूमिनिरीक्षण-परीक्षणार्थं, दुर्गमजोहरणे च । यः

वृत्तं=वृत्तं=वृत्तं । अदृष्टकर्मा=अकृतकर्मा । स एतन्नु शास्त्रज्ञोऽपि=

शास्त्रज्ञोऽपि, मुष्यति=वृत्तः=वृत्तं=वृत्तं व्याकुलो भवति ॥ ५६ ॥

सारस=गण्डदुर्गरक्ष-वनेत्तारं सारसम् । सुनिरुपितः=सुगमो वृत्तम् ।

‘न, श्रीर जने श्रीर जने के गुन द्वार—ये दिले का सान सारसो हें ।

‘न—इन सारा बानी से किला उत्तम कोटि का करलाना है ॥ ५५ ॥

एव यह राजा बोला कि—दुर्ग (दिले) के निधित करने श्रीर उत्तमी

। या या मे कौन व्यक्ति निपुण दिया जाए ? । तब चक्रवा बोला कि—

जो जिस कार्य में अत्र हो उसको उसी कार्य में लगाना चाहिए । क्योंकि

‘वने जान न दिया हो, श्रीर न देना हो, तो यह यदि शास्त्र का जानने वाला

‘ही तो भी उस काम में अक्षय गड़बड़ा जाता है ॥ ५६ ॥

इन दिने सारस को सुनवारये । येसा किये जाने (सारस को पुत्रवाने)

‘न—ये दूर उस सारस को देखकर यह राजा बोला—हे सारस ! तून दोग ही

‘न—दुर्ग (दिला) ठीक करो । सारस प्रदान कर बोना—महाराम । दुर्ग

‘न—हे श्रीर तो यह बड़ा सरोवर हो उत्तम है, और यह दुर्ग बहुत बाल

मास्ते महत्सरः । किन्चेतन्मध्यदीपे^१ द्रव्यसंपहः क्रियताम्^२ । यतः—

‘धान्यानां सङ्ग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसङ्ग्रहात् ।

निचितं हि मुखे रत्नं न कुर्यात्प्राणधारणम्^३ ॥ ५७ ॥

विद्य—

‘ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः ।

गृह्णीयात्तं, विना तेन ध्वञ्जनं गोमयायते^४ ॥ ५८ ॥

राजाऽऽह—‘सत्वरं गत्वा सवमनुष्ठीयताम्^५ ।’ पुनः प्रविश्यप्रतीहारं
 प्रते—‘देव ! मिहलक्ष्मीपादागतं मेघवर्णं नाम यायसः सपरिवारं
 द्वारि^६ वसाने । सा च देवपादान् द्रष्टुमिच्छति ।’ राजाऽऽह—‘काश्च

एतन्मध्यदीपे—तत्परोक्षमायवर्तितानि द्वारे । प्राणधारणम्—ऽऽरुणितं
 द्वारं प्राणधारणम् ॥ ५७ ॥ ख्यातः—प्रसिद्धः । तं गृह्णीयात्—रुद्रगृहीतवत्
 तं विना—सर्वम् विना । ध्वञ्जनं—भक्ष्यभोग्यादिकं सर्वमपि । गोमय इत्य-
 धरत्—गोमयायते—गोमय इत्याऽश्रमादादितं भवतीत्यर्थः ॥ ५८ ॥

परिले ही मे अक्षो तरह मे मेगा ठीक दुष्ठा है । किन्तु हम सगे र पे की
 के द्वार मे आवश्यक काम हम द्वारि यन्त्रको वा सवय कर लेना चाहिये
 क्योंक, हे राजन् ! द्वारो वा सम्बन्ध करना सब संभवो मे उत्तम है । क्यों
 मुह मे खया दुष्ठा भी गन (हीरा पद्मा एवं मोना चन्दी) प्राणो को नही वा
 सवया है ॥ ५७ ॥

द्वार की—सब रसो मे सख्य (निमोन) रस सब रसो मे उत्तम क
 मया है, क्योंक निमक के बिना सभी भोजन संवर के समान स्वाद रसि
 ही होते है ॥ ५८ ॥

हम राजा मे वह राजा के—पुनः अगि आकर हम सब आशयक काम
 वा सम्बन्ध वाके दुर्ग को दुर्ग करके तीव्र करयो । फिर द्वार पर आकर वेलापि
 ‘देव ! मिहलक्ष्मी मे आया दुष्ठा मेघवर्णं नाम वा बीवा परिवार मर्ति वा
 उरुणित है, यह अक्षय प्राणो वा दानं वाया सवया है । राजा केस-

१. ‘मिहलक्ष्मी’ पठः ।

२. ‘सङ्ग्रहः’ ।

३. ‘प्राणः’ ।

४. ‘वयसः पुनः सवय’, अष्टाश्रयः ।

प्रहो, बहुदया च, तद्भवति स समाह्वः ।

पद्माको मते—'देव ! अस्त्येवं, किन्तु अस्मद्विपक्षः कारुः स्थल-
पः । तेनाभमद्विरक्षपक्षे नियुक्तः कथं सङ्गृह्यते ? ! तथा चोक्तम्—

'आत्मपक्षं परित्यज्य, परपक्षेषु यो रतः ।

स परैर्हन्यते मूढो, नीलवर्णशृगालरत्' ॥ ५६ ॥

राजोपाय—'कथमेतत् ?' । मन्त्री कथयति—

७. नीलवर्णशृगालकथा ।

['अस्त्यरण्ये] कश्चिच्छृगालः श्वेच्छया नगरोपान्ते ३ध्वान्य-
नीलोमाण्डे निपतितः । पश्चात्तत उत्यातुमसमर्थः, प्रातरात्मानं मृत-

प्रातः = पर्यहृतः । बहुदया = बहुभुतध ।

रिपव = स्थलचरतया जलचराऽ-माद्विपक्षभूतः । रतः = अनुत्तः । परे =
पक्षे ॥ ५६ ॥ श्वेच्छया = यच्छया । नगरोपान्ते = नगरसमीपे । नीलसन्धान-
रत् = नीलीरामनिर्माणपात्रे । (नील रंग बनाने के वर्तन में 'नींद में') ।

—निधय ही बीके सब कायों के जानने वाले और बहुभुन तथा दूरदर्शी एवं
दूर होने हैं । इसलिये इसरो अपने आधय में रगना उचिन ही है । तब
पदा जोडा हि—दे देर । यह तो ठीक है, परन्तु बीरा हो स्थल पर घनने
जा हीगा है, और हम लोग जलचर है, अतः यह सो हमारा निरव्यो है,
यः यह बीके रगने बोध हो सकगा है ? । अर्थात् इसे यहाँ नहीं रगना चाहिये ।
ना क्या भी है—

घनने पक्ष को छोड़कर जो परपक्ष में प्रीति करना है, वह मूर्ख नीले रङ्ग-
रत्ने हुए उत शृग ल के समान ही दूमरी से मारा जागा है ॥ ५९ ॥

रामा ने पूजा हि—यह क्या बीमे है ? । मन्त्री बंझा हि—

एक वन में कोई गिवार रहता था । यह अपनी इच्छा से नगर के पास
राम-दिरता नील रंग से भरे हुए कुत्ते में गिर पडा । दिर लक यह उपने

१. 'सद्व्याहः' । २. 'अ-वि-वः पाठः । ३. 'ध्वान्' ।

यत्तमन्दर्यं स्थितः । अथ नीलीभाण्डस्याभिना 'मृत' इति ज्ञात्वा,
 तस्मात्तन्मुखाप्य, दूरे नीत्वाऽसौ परित्यक्तः, तस्मात्पलायिनः ।

ततोऽसौ घने गत्वा आत्मानं नीलवर्णमवलोकयत्तद्विन्तयन्—
 'अहमिदानीमुत्तमयणः, तदहं स्वकीयोत्तर्यं किं न साधयामि'—
 इत्यालाप्य शृगालानाह्वय, तेनोत्तम्—'अहं भगवत्या घनदेवतया
 स्पष्टं नाऽरह्यराज्ये सर्वाधिभरमेन उभिषिक्तः । ['परगन्तुं मम
 यणम्] । तदशारण्याऽस्मदाशयाऽभिभ्रमत्ये व्ययहारः पार्थः ।'

शृगालाश्च तं विशिष्टयणमवलोक्य, साष्टाङ्गपानं प्रणम्योचुः—'यथा-
 ऽऽशापयमि देवः' इति । अ-नैव तन्नेण मर्येत्परह्ययासिध्याधिपत्यं

तः=नीलीभाण्डम् । नीलीं=राजराजिना=रज्ज्वेन । (नीलगर ने) क्षमी=
 क्षमापुत्रः । उत्तमयणं=भेदार्थः । (चतुर्विधे नीले रंगवा ला) । घनदेव-या=घनाधिक-
 रिदवा देव्या । अभिषिक्तः=आभ्ये स्थाविः । व्य-हारः=विचारपद (मुहूर्त्त) निरूपणम् ।

मे नहा निवृत्त मथा, तब वह मुख होन पर अपने की मरे हुए के तमान रिक्त
 कर पड़ गया । जब उस नरक शूद्र के मुँह के सामने नीलगर ने 'वह तो मर
 गया है' ऐसा जान कर उस मुँह में से उसे निकाल कर दूर लेजा कर वहीं बैठ
 गया, तब वह वहाँ से उठकर भाग गया । फिर वह वन में जाकर अपने की
 नीला रंग हुआ देवकी विचार करने लगा कि—'मैं तो जब उत्तम नील शूद्र
 बन गया हूँ । अतः अब मैं अपनी प्रियता क्यों न बढ़ाऊँ ।' ऐसा विचार
 कर उसने दूसरे सब शृगालों की कुमाकर बना, कि—'मगरनी घनदेवी ने अपने
 हाथों में घन के भाव के सिद्ध सब कीर्तियों के रंग में मेरा अन्विष्ट कर
 दिया है । अतः आज मे इस वन में मैं ही राजा हूँ और इन सब लोग सब
 मेरी आज्ञा में ही सब काम बिना करेंगे ।

वह मुख कर सब शृगाल उसकी विधि, विधि समझ के नीले शृगालात्रा देव
 कर, सब छुटकर छुटकर प्रकृत बरके के वि-देवी आरकी आरा देम ही हम सं-
 १. 'तस्मात्तन्मुखाप्य' इति अन्विष्टम् । २. 'उत्तमयणः' इति अन्विष्टम् ।

१. 'तस्मात्तन्मुखाप्य' इति अन्विष्टम् । २. 'उत्तमयणः' इति अन्विष्टम् ।

३. 'उत्तमयणः' इति अन्विष्टम् ।

तस्य यमूय । ततस्तेन स्वशातिभिरावृतेनाऽऽधिषयं माधितम् । ततस्तेन
 व्याघ्रमिहादीनुत्तमपरिजनान्प्राप्य, सदासि शृगालानवलोक्य लज्ज-
 मानेनाऽप्यशया^१ स्वशातयः सर्वे दूरीकृताः । ततो विषण्णान् शृगालानव-
 लोच्य येनापिद् वृद्धशृगालेनैतत्प्रतिपातं—'मा विषादत, यदनेना-
 ऽनीतिज्ञेन ययं 'ममंशा ['स्वसमीपत्] परिभूतास्तथाऽयं नरपति
 तथा विधेयम् । गतोऽमी व्याघ्रादयो बर्णेमात्रावप्रलब्धाः शृगालमशात्वा
 राजानमिमं मन्यन्ते । तज्जथाऽयं परिचीयते तथा पुरुत । 'तत्र
 प्येयमनष्टेयं, यथा वशमि-सयं मन्याममये तस्मिन्निधाने महाराजमेन्द्रेय

कावाऽहर्षं भेषभ । आधिषय = अमानिधेयम् । माधितम् = कृतम् । अधि-
 गन् । उत्तमपरिजनान् = उत्तमा भेदान् । अनुवरपरिचारद्वयान् । तेन =
 शृगालेन । सदासि = ममायान् । अनगव = निरवृत्त्य ।

विषयकान् = दुःखितान् । स्वशातयः = स्वशातयः शृगालाः । ममंशाः =
 स्वराज्यविशेषः । परेभूताः = निरवृत्ताः । बर्णेमात्रावप्रलब्धाः = स्वपरिदत्त-
 मावरशिवाः । परिनीवने = व्याजादिभिः स्वस्वतो ज्ञाने । महाराज = महान्तं
 इरगे । इमी मम मे सिद्ध, व्याघ्र आदि सब बन्ग'मयो पर भी उसका
 हानि र हो गया ।

इस प्रकार अपने क्यु बन्धु शृगालों से गिरा हुआ वह नील शृगाल
 अपने को बहुत बड़ा घादमी समझने लगा । और उसने व्याघ्र, सिद्धादि
 नाम परिजनो को पाहर सना में शृगालों को देखकर लज्जा से
 ली होकर अपने जाति भाई सब शृगालों को अपनेमात्र करके समा निहलया
 था । फिर सभी शृगालों को आपन दुःखीदोग करिभी एक बूढ़े शृगाल
 पर प्रीटा की दि-नुन लोग गेद भर करे । क्योंकि इस घदानी ने नीति
 र परम के जानने वाले हम लोगों को अपने पाम से निहल ज दिया है, अतः
 मे भी यह नष्ट होगा वैसा ही मैं बर्कगा । कबोदि—ये निह व्याघ्र आदि
 के नीचे रत्न से ही बचित होकर (भुजारे में घाहर) इसको शृगाल नही जानकर
 पाशा मान रहे हैं । सो जैसे वह निह व्याघ्र आदि से पहचाना जाय ऐसा

१. 'अशया दूरीकृताः सर्वे स्वशातयः' । २. 'अननिधेन नीतिविशे ममंशा-
 न्' । ३. 'परिचीयते भवति' । ४. 'अप्येयमनुष्ठेयं पत्' ।

हरिष्यय । ततस्तं शब्दमाकर्ण्य जातिस्वभावात्तेनापि शब्दः कर्तव्यः
यतः—

‘यः स्वमाद्यो हि यस्याऽस्ति स नित्यं दुरतिक्रमः ।

आ यदि क्रियते राजा, ‘तर्हि नाऽश्नात्युपानहम्’ ? ॥६०॥

ततः शब्दादभिज्ञाय स न्य घेण हन्तव्यः । [३. ततस्तथाऽनुष्ठिते सा
तद् वृत्तम् । । तथा चोक्तम्—

‘छिद्रं, मर्म च, धीर्यं च, सर्वं वेत्ति निजो रिपुः ।

दहत्यन्तर्गतथैव शुष्कं वृक्षमियाऽनलः’ ॥ ६१ ॥

शब्दः । जातिस्वभावात् = शृणुन्नानिस्वभावात् । दुरतिक्रमः = दुर्लभः
उपानह = मर्मगतशरणम् ॥ ६० ॥

ततः = तद्धे कृते मनि । रिपव = शृणुसोऽपमि रान्ता ।

निजः = परत्रनः । रिपुः = शत्रुः । छिद्रं = रमम् । मर्म = रक्षयम् । धीर्यः

ही उपाय करो । छीर रम रिपव में देना करना चाहिये कि तुन सब छं
सापह्लास में उमके पग ही में जाकर एक माय सब निज पर निजाने
तो उग छत्र को तुन कर जातिके शमान के कात्य वह भी शब्द जकर करेगा

हवके छत्रअर उन भोग शृणुसो के एक साथ निजवर निजाने
वेगा ही दूषा, चर्कर उम नीज शृणुस ने भी चयनी जातियो के सा
निजवर निजाना प्राथम विदा ।

बरोदि—जो जिनका उपाय है, वह छत्रिना में भी बरता नही जा सक
है । कर्तव्य कि कुल कयो राजा नी बन दिवा जद तो भी बना वह न
(दूषा चयन, शृणु हनु छदि) नही बर वेगा । । जकर चयोगा ॥ ६०

जि शब्द से पहचान कर उमे गिद, ध्यान छदि सब निज कर म
काहो । देना बडा नी है—

जो जाना शत्रु—जाने छिद्र छीर मर्म छीर परत्रन (वध) छदि स

१. ‘वय भवाऽप्युत्तरी’ । २. ‘तर्हि नाऽश्नात्युपानहम्’ । ३. सर्वं वद
छदिद्वय ॥ १ ॥

‘ततस्तथाऽनुष्ठिते सति तद् वृत्तम् । अतोऽहं प्रथमि—‘आत्मपक्षं
परित्यज्ये’ इत्यादि ॥ • ॥

राजाऽऽह—‘यद्येवं, तथापि दृश्यतां तत्र दयं दूरादागतः । तत्सङ्-
ग्रहे विचारः कार्यः’ । अक्रो मते—‘देव ! प्रणिधिस्तावत् प्रहितो,
‘गर्ग्य सञ्जीवितम् । अतः शुक्रोऽऽशनीय प्रयाप्यताम् । किन्तु ‘योष-
लसमन्वितो भूत्वा, दूरादेव तपयलोक्य’ । यतः—

ऋष्य वेत्ति = जानानि । अन्तर्गन्धैव = अन्तःस्थित एव, शुक्रं वृक्षन्तर्गतो-
नल ह्य दर्शित ॥ ६१ ॥

तथाऽनुष्ठिते = सम्भूय सर्वैः शब्दे कृते सति । तद् वृत्तं = ‘जम्बूकेऽय’मिति
नेहित्य व्याप्तेण हनोऽभौ वराको जम्बुकः । दृश्यतां = दशनं तावत्स्य दीयताम् ।
उद्ग्रहणिये पद्मादिचारं करिष्याम इत्यर्थः । प्रणिधिः = शत्रुभाये प्रयानो
तुद्धरः । आनीय = राजमभामानीय । प्रयाप्यतां = निरुभ्यताम् । योषयैः =
तथै नेक्षयलेन सह, दूरादेव = विपद्ग्रहेऽस्थित एव । तं = दूतम् । वाप्यः =

जानना है, यह भीतर प्रवेश कर के बैठे हो जला देता है, जैसे एगो हुए वृक्ष
को अग्नि जला देता है ॥ ६१ ॥

तब उन सिपायों ने उसके पास जाकर बिलाना आरम्भ किया । तब वह शृगाल
भी बिलाने लगा । तब निह, स्वप्न आदि ने उसे शृगल जानकर भार डाला ।

इमन्निष्ट में बदना हुई कि—अग्ने पक्ष को छोड़कर जो दूसरे पक्ष के लोगों
से अनुयाय बनना है, वह उस शृगल की तरह ही मारा जाता है—इत्यादि । तब
एक घोड़ा कि—वचन यह प्राप्त होती हा है, तो भी हमसे मिलना जरूर चाहिये,
क्योंकि यह बहुत दूर से आया है । फिर इसने अग्ने पक्ष में रहने के नियम में
रिवाज करेंगे । तब चक्षुषा पक्षा कि—हे देव ! दूत भेजा जा चुका है, और
भेजा भी तैयार हो गया है । अब उस घोड़े को भी बुला लेजिये । परन्तु
अग्ने मन्त्री आदि पूरे दलपक्ष के साथ और सेना को सजिज करके दूर से
ही उससे आर बाध करिये ।

आमापय, हन्मि चैनं दुष्टशुक्म् ।' सर्वज्ञो राजानं, काकं च सान्त्वयन्
मृते—'मद्र ! मा मीयं । शृणु तान्—

‘न सा समा, यत्र न सन्ति वृद्धा,
वृद्धा न ते, ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो, यत्र न सत्यमस्ति,
सन्त्यं न 'तद्यच्छलमभ्युपति' ॥ ६३ ॥

यतो 'राजपमंभैः—

‘दूतो श्लेच्छोऽप्यवध्यः स्याद्राजा दूतमुत्तो यतः ।
उद्यतेऽपि शस्त्रेषु दूतो वदति नाऽन्यथा' ॥ ६४ ॥

।=आशा देदि । सर्वज्ञः=सर्वज्ञात्मा चन्द्रशेखर-श्री । मा मीयं=मा मीयं कुरु ।
मृतेति । यथा समायां वृद्धा न सन्ति, सा समेति नोभयने । ये च धर्मं
वदन्ति ते 'वृद्धा' न । यत्र च सर्वं जानि स धर्मो न । श्लु=श्लुत् ।
शेति=तेन सहितो मरति । सन्त्यं न, कन्त्यं नोभयनिर्दयः ॥ ६३ ॥

श्लेच्छः=अश्लीलशक, दुष्टमायी, क्षेपणकारि च । किं पुनर्जातयः ।
तो दूतपुत्रा दि राजानो मरति । अतः=शस्त्रेषु यनेषु=उत्पारितेषुपि शस्त्रेषु,
श्लेच्छया=निष्ठा, नैव वदति ॥ ६४ ॥

व । आशा दे तो मी इस दुष्ट तोते को मार जानूँ ।' अत्र यह सर्वज्ञ (संपन्न मन्त्री
। ६३) राजा श्रीर कीर्ति को शान्ति करता हुआ संज्ञा कि—हे मद्र ! ऐसा मत करो ।
। जो वह समा—समा नहीं है, जहाँ वृद्ध लोग नहीं हैं । श्रीर जो धर्म न बताते,
। इस नहीं है । श्रीर जितने सत्य नहीं है, वह धर्म नहीं है । श्रीर यह सत्य
परी है, जो श्लु में मिला हुआ है ॥ ६३ ॥

। क्वचित् यह राजाओं का धर्म है, कि—दूत श्लेच्छ (कटुमायी, दुष्ट, नीच)
नो हो तो भी वह अवध्य है, क्वचित् दूत राजा का पुत्र है, अतः राजा के (नगी
शस्त्रों के) सामने भी दूत कभी झूठ नहीं बोलता है ॥ ६४ ॥

अन्यथ—

‘स्वाऽपरुषं, परोत्तरुषं दूतोक्तैर्मन्यते तु कः ? ।

सदैवाऽऽध्यभावेन दूतः सर्वं हि जल्पति’ ॥ ६५ ॥

रानी राजा, कारुण्य र्यां प्रकृतिमापन्नौ । शुकोऽप्युत्थाय पण्डितः ।
पद्माद्यश्याकेलाऽऽनीय, प्रबोध्य, कनकाऽलङ्कारादिकं दत्त्वा, सम्प्रणितः ।
स्वदेशं ययौ । शुकोऽपि विन्व्याऽपलं गत्वा, स्वस्य राजानं विप्रपर्य
प्रणयवान् ।

तं विनोम्य शत्रोयाप—‘शुक ! का वार्ता ?, कीदृशोऽमी देशः ? ।

शुको ब्रूते—‘देव ! संक्षेपादियं वार्ता,—ममप्रति मुद्रोयोगः

दूतोक्तेः—दूतगणैः । शत्रुपर्ये—मन्यन्ती । परोत्तरुषं—शत्रुगंदत्तम् ।

कः—को हिदम् मन्यते ? । न कीदृशेषमः । हि—यतः । उदेश—संदेशः ।

सार्वाणि दद्यात् । अध्यभावेन—आप्यथा, निर्भयः गत् । दूतास्ये—पदे,
व्यनुत्तरमाश्रय, (निष्ठा, श्रुति वा) जल्पति—मन्यते ॥ ६५ ॥

ममप्रतिमाश्री—एति जल्पन्तुः । प्रबोध्य—मनारस्य, मन्दविना ।

श्रीरानी—अरानी नीना श्रीर दूतरे (शुक) की उषण (वार्ता)
केस्य दू के बहने मे ही क्या बोन मानेगा ? । क्योंकि सः आप्य होने से
दूत नी गरी कृप बर मरणा है ॥ ६५ ॥

वद गुन पर वः राजा श्रीर कीरा अरानी ममप्रति पर आगये (शां ही मर) ।
श्रीर वर लोग नी बीच से उठ कर बर बर वरा, वरगु बरने ने उमे कुमावर तथा
समयः दुःख-वर, भोले के आ-भूतम् आदि देकर उमे प्रमथ पर रिःा दिया । श्रीर
वर अरने देव को बहा मना । फिर नीने मे भी विन्व्यापक के राजा को मार,
मरण दिया । राजा बोवा वि-ने मुक ? बहो वरि का क्या कर दे ? । वर देव
बैल है ? । लोग बोवा वि-ने देव ? मरिय से वरी का है, वि कर आर कु

१. ‘विश’ ।

२. ‘विन्व्यापकतावर्त मरणात् ॥’

३. ‘स्य’ बरे व विपश्यो ममः ॥’

क्रियताम् । देशाश्चाऽपि कपूःश्वोरः स्वर्गोऽदेशा, राजा च द्वितीयः स्वर्ग-
पतिः कथं वर्णयितुं शक्यते ।' ततः 'सर्वाञ्छिष्टानाह्वय राजा मन्त्र-
यितुमुपविष्टः । आह च तान्—'सम्प्रानि' कर्त्तव्ये विमहे यथाकर्त्तव्य-
मुपदेशं मृत । विमहः पुनरवश्यं कर्त्तव्यः' । तथा चोक्तम्—

'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः, सन्तुष्टाश्च महोद्युजः ।

सलज्जा गण्डिका नष्टा, निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः' ॥ ६६ ॥

दूरदर्शी नाम गृध्रो मन्त्री मूले—'देव ! व्यसनितया विमहो न
विधिः' । यतः—

'मित्राऽमान्यसुहृद्दुर्गा यदा स्पृष्टमक्तयः ।

शत्रूणां विपरीताश्च, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा' ॥ ६७ ॥

प्रसूतवान् = नमश्चक्रे । विष्टन् = अतः मन् । मन्त्रणः । तन् = राजाऽपि ॥

द्विजा = राजाणाः । नष्टाः = निरुपमाया एव । महोद्युजः = राजानः ॥ ६६ ॥

व्यसनितया = प्रहृतिः शोकादिभिर्दुःखभङ्गना । अर्थात्-स्वगृहे प्रहृति विरोधे

न ह्यन स्वर्गोत्थानपदः निश्चयमागच्छिष्यते इति ॥ मित्रेण । यदा स्वस्य मित्रादयो

वि-न् दृष्टवन्तः, शत्रोश्च मित्रादयो यदा तन्ने विपरीता = अथ अ-नुरागास्तदा,

। उद्योग कीर्तये । और यह कपूःश्वोर देश, जो स्वर्ग का एक दुःख ही है ।

और वहाँ का राजा भी दुमरा स्वर्ग का शासी इन्द्र ही है, उमका शत्रु से

जैन प्रसाधा है । यह मृत कर सब भेटी (मन्त्रियों) को मुक्ति कर यह राजा

उह करन बैदा और शत्रु—अब दुष्ट में जो करना चाहिये, यह आप लोग

तरीश गीतिये । और दुष्ट जो हमें आर्य हो करना है । येना कि क्या है—

अमरुष्ट नष्टा, सन्तुष्ट राजा और सखा बाकी बैया एव निर्लज्ज

कुलाङ्गना—ये मर नष्ट हो जाती हैं ॥ ६६ ॥

तब दूरदर्शी नामक गृध्र बोला कि—दे दे ! । करने प्रया और करने निश्च

देश मन्त्री-कादि जब करने अनुष्ठान नहीं हो, तब कदापि दुष्ट करना नहीं

करिए । क्योंकि करने निश्च, मन्त्री और सुदुष्टन जब करने में दृढपक्ष हो,

१. 'सर्वान्' पा० । २. 'सम्प्रानि दत्तंभं दृष्टन्' । ३. 'कुलश्रियः' ।

अन्यथा—

‘भूमिप्रियं, हिरण्यं च, विग्रहस्य फलं त्रयम् ।

यदेतन्निधितं भारि, कर्त्तव्यो विग्रहस्तदा’ ॥ ६८ ॥

राजाऽऽह—‘मदुलं’ तावदपलोकयतु मन्त्री । तदेतं वामुपयोगं
ज्ञायताम् । तत्रमाह्वयता मौक्तिकः । म ‘याजार्थं शुभलक्षणं निर्वा
ददातु’ । मन्त्री’ मृते—‘देव’ ! ‘तथाऽपि सहसा यात्राकरणमुचितम्’
या’—

‘विजन्ति सहसा मृदा येऽनिरार्थं द्विपट्टलम् ।

राट्प्रपागपविष्णुं लभन्ते ते मुनिधितम्’ ॥ ६९ ॥

विष्णुः=सुद कर्त्तव्यं, नाः=यथेवम् ॥ ६७ ॥ वरा ए त्=भूषणविष्णुम् ॥ ६८ ॥
अ-भोऽप्यु=पीठम् । तदा=परीक्षान्तरम् । उपवेश=का
पगत । कर्त्तव्यं=कर्मणीयम् । मौक्तिक=मौक्तिकः । यथाऽऽह=
इदंवाच्यम् ।

ये मृदाः=मृदा, अन्वितं=कर्मण्युत्सवमन्त्रणम्, द्विपट्टलं=
द्विपट्टलम्, विष्णुं=विष्णुं ते मुनिधितं=भूषणं, राट्प्रपागपविष्णुं=
कर्मण्युत्सवमन्त्रणम् (द्विपट्टलं) विष्णुं हो, तयो वामा वो मुद
वत्ता मृदि ॥ ६७ ॥

मौक्तिको (मन्त्री), निवसन्तः (यत्र) ये तीर्थे हो सुद के
जा है । तत्र के सुद का तो निर्माता, तयो सुद वत्ता मृदि ॥ ६८ ॥

राजा होना है—‘मन्त्री’ ! यथेवम् यती जेना वो देविष्णु कर्म
उत्तं देवता उभयो त्रयं देवता जोक विष्णु । तथा सुदुं विष्णुमेव सा त्रयो
सुद ना ॥ ६७ ॥ मौक्तिक वरके मन्त्र अन्वितं व ॥ ६८ ॥ मन्त्री वामा—‘मौक्तिको
सुद ये वामा वत्ता उचितं मन्त्री है ।

कर्मण्युत्सवम्, या वत्ता विष्णु दे विष्णु हो मन्त्रा सुदये कर्म वद

१. ‘मन्त्री वामा’ । २. ‘मन्त्री वामा’ । ३. ‘मन्त्री वामा’
४. ‘मन्त्री वामा’ । ५. ‘मन्त्री वामा’ ।

राजाऽऽह—'मन्त्रिन् ! ममोत्साहमद्गं सर्वथा मा कृथाः । विजि-
गीषुर्यथा परभूमिमाक्रामति' तथा वथय ।' ३'शृणो प्रते—'देव' !
वत्कथयामि । किन्तु तदनुष्रितमेष फलप्रदम्' । तथा चोक्तम्—

'किं मन्त्रेणाऽननुष्ठाने शास्त्रवत्पृथिवीपतेः ।
न ह्योपधपरिज्ञानाद्दयाधेः शान्तिः क्वचिद्भवेत्' ॥ ७० ॥

राजाऽऽदेशाऽनतिक्रमार्थायः । —'इति यथाश्रुतं निबद्दयामि ।
शृणु—'देव' !

कराजसंधाराऽऽलङ्घनपूर्वकं मृत्युं, लभन्तः=प्र मुवन्ति ॥ ६६ ॥
सयय=नेनाऽपि कारणेन । (मिलकुल ही) । मा कृथाः=मा कारीः ।
(मत करो) । विजिगीषुः=दिग्विजयायत्नी । तन्=परभूमि कनयप्रकारमेव ।
अनुष्ठानमेव=कृतमेव । 'न धुनमाश्रयिनि शेषः ॥

राजन्=राज्येण । पृथिवीपतेः=राजः । मन्त्रेणाऽपि=अननुष्ठाने=
अनुष्ठानाचरणे मति-हि=किं फलम् ? । न किमपि यथैः । नहि=यान्द्राटनमायेव
अनुष्ठानमाचरन् कथितानी भवति । एव देवतान्त्रो, राजानानिदुष्टतमनिवादि-
वत्कथयामि=यान्द्राटनमायेवने । तदेवाह=नहनि ॥ ७० ॥ राजादेशः=
राजा । अनतिक्रमार्थाय=अनुष्ठानार्थायः । इति=अतो ह्यतोः । देव=राजन् ।

६६, ये अग्रय हो ललार को धार पर कट मरते हैं ॥ ६६ ॥

राजा बोला कि—'हे मन्त्रिन्, श्राव हिमो प्रहार से भी मेरे उम्माह को भग्न
कर दिये । किन्तु भीने की इच्छा करने वाले राजा जैसे पगई धूम को जोते
की वही उरदेश करिए । शृणु बोला—'हे देव ! कहता हूँ, परन्तु वह कान से ही पक
ता । वैसा कहा भी है—

राज्य का जानने वाला भी राजा यदि मन्त्र का अनुष्ठान न करे तो उस
पर मे क्या होमकता है ? । क्योंकि केंचम श्रोत्रि के जानने ही से रोग शीर
न की शक्ति कभी नहीं होती है । किन्तु उम श्रोत्रि के मेहन से ही लाभ
मकता है ॥ ७० ॥

श्रीरामा की छाया भी उल्लङ्घन नहीं करनी चाहिये, इस लिये प्रेषा
शृणुको ने मुना है, वैसा ही कहता हूँ, मुनि—

१. 'तयोपदिष्ट' । २. 'शृणुऽऽश्रुत्' । ३. 'देव' नि क्वचित् ।
४. 'इति क्वचित्' । ५. 'तन्निषेदयामि' ।

‘नय-द्रि-वन-दुर्गेषु यत्र यत्र मयं नृप ! ।

तत्र तत्र च सेनानीर्यायाद्वयुद्धीकृतर्षलैः’ ॥ ७१ ॥

‘यनाऽध्वघः पुरो गायत्प्रवीरपूरुषाऽन्वितः ।

मघ्ने कनत्रं, स्वामी च, कोशः, फल्गु च यद्वलम्’ ॥ ७२ ॥

‘पार्श्वयोः समोर ग, अस्मानां ‘पार्श्वतो रथाः ।

रथानां’ पार्श्वतो नागा, नागानां च पदातयः’ ॥ ७३ ॥

‘पश्चान्नापनिर्वात्सिन्धुनासासयञ्छनैः ।

मन्त्रिभिः सुमर्त्यैः प्रतिगृह्य बलं नृपः— ॥ ७४ ॥

मर्त्यान् । नय-द्रि-वन-दुर्गेषु = नदी-नगर-यनादिदुर्गमन्दिरेषु भवन्ति
स्थानेषु । नृप इति = राजा नृपिणा, आकृतिरियेषु विद्यते र्षलैः = र्ष-
कृत्, सेनानिः = यज्ञात्पदः, यावात् = अन्तरे ॥ ७१ ॥

यत्र यत्र = सेनाभिः । पुत्रः = अश्व । प्रवीरपूरुषाद्विः = भेद ॥ योः
समन्वितः । कनत्रं = गजानां पुत्रम् । स्वामी = राजा । च = युवा । यद्वलम् =
नागानाम्, सप्तर्षलम्, कृत्स्नं मघ्ने रथास्य मघ्नैः ॥ ७२ ॥ नागा = गजाः ।
पदातयः = अश्वानाम् । (देः म सेना) ॥ ७३ ॥ सिन्धुना = भागान् । र्श्व-
नापनिर्वात्सिन्धुनासासयञ्छनैः ॥ मन्त्रिभिः, सुमर्त्यैः

दे राज्ञः । मर्त्यान् मर्त्यान्, यज्ञात्, सिन्धुना अदि हर से स्थान ही, मर्त्या
सेनानि सेना को पूर्ण रूप से मरद करके और नृप बनाकर (दह याव कर)
बले ॥ ७१ ॥

कोः सिन्धु नृप कीले से युद्ध होकर सेनादि आदि यने कोः शीघ्र से शत्रु
कोः रानी (गजा) यथा गजानां कोः यावात् (सिन्धु) सेना बले ॥ ७२ ॥

कोः इन्हे सेना बले से सेना कोः शीघ्र से, के बल से रथ को रथो
के बल से रथो, कोः रथो के बल (सेना कोः) से रथे बले ॥ ७३ ॥

कोः से मन्त्रिभिः, सुमर्त्यैः कोः सुमर्त्यैः कोः मन्त्रिभिः से मन्त्रिभिः सुमर्त्यैः
॥ ७४ ॥

समेयाद्विषमं नागैजलाऽऽह्वं' समहीधरम् ।

सममधैर्जलं नौमिः, सर्वत्रैव पदातिमिः' ॥ ७५ ॥

'हस्तिनां गमनं प्रोक्तं प्रशस्तं जलदाऽऽगमे ।

तदन्यत्र तुरङ्गाणां, पत्नीनां सर्वदेव हि' ॥ ७६ ॥

'शैलेषु, दुर्गमार्गेषु विधेयं नृपरचक्षम् ।

स्वयोर्यं रचितस्याऽपि शयनं 'योगनिद्रया' ॥ ७७ ॥

दुर्गोपेयं युक्तो पत्नी-सेनां, प्रशस्तं-ममाशय, जलदां प्रदेशं, पर्वतं
 व (जलाद्वय-नागं) गमैः, समेयात्-गच्छेत् । समप्रदेशय-प्रशस्तैर्वावात् । जलं-
 त्वादिप्रदेश च-नौमिः समेयात् । पदातिमि सर्वत्र-समे, त्रिपदे वा पापादि-
 पर्यः ॥ ७५ ॥ एतदेव त्रिपदपति-हस्तिनामिति । तुरङ्गाणाम्-अश्वानाम् ।
 पत्नी-सर्वेणाले एव ॥ ७६ ॥ शैलानिषु, दुर्गमार्गेषु च यतो रक्ष्य सर्वथा
 विषमं अन्यथै रचितस्याऽपि मुशालस्य च-रतिगार्ग्यः, योगनिद्रया-अप्रगल्भ-
 त्तयैव, शयनं-शयनमुचितम् । 'योगनिद्रया'ति पाठेऽपि शैलियनवदप्रगल्भ-
 त्तये वेदाऽप्यः ॥ ७७ ॥

हीनो को आश्रामन देता दुःख सेना को लेकर चले ॥ ७५ ॥

और ऊँचे नीचे, तथा जल से युक्त, और पर्वत वाले बारह प्रदेश में
 हरिषो से, बराबर समतल प्रदेश में घोड़ों से, पानी में नाव से यात्रा करे । और
 देव सेना से सब अगद यात्रा करनी चाहिये ॥ ७५ ॥

और वर्षा के समय हरिषो से गमन करना अच्छा है, और अन्य समय में
 देवों से यात्रा उचन होनी है, और यैःसांका गमन तो सदा ही अच्छा है ॥ ७६ ॥

और पर्वतों और कठिन मार्गों में यात्रा की रक्षा करनी चाहिये । और अपने
 शैलियों से रचित होकर भी यात्रा को योगनिद्रा से ('उपमहृत् निद्रा से'
 करनी है') ही सोना चाहिये ॥ ७७ ॥

१. 'अश्वानाम् महीधर' मिल पाठा ।

२. 'योगनिद्रया' ।

● अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते ●

'नाशयेत्कपयेच्छत्रुन्' दुर्ग-कण्टक-मर्दनैः^३ ।
 परदेशप्रवेशे च कुर्यादाटविकान्पुरः ॥ ७८ ॥
 'यत्र राजा तत्र' कोशो, 'विना कोशं न राजता ।
 'सुमटेम्यन्ततो दद्यात्, को हि दातुर्न युष्यते' ॥ ७९ ॥

यतः—
 'न नरस्य नरो दामो, दासस्त्वर्थस्य भूयते ! ।
 गौरयं, लापयं घाजपि घनाञ्घननिघन्घनम्' ॥ ८० ॥

शत्रुं नाशयेत्—इत्यादेव । अथवा दुर्गकण्टकमर्दनैः = दुर्ग-मणि-क
 विनाशनाशिनः, कर्षयेत्=श्रेष्ठयेत् । निघंलं कुर्यात् । तत्र कण्टकानि = वि
 श्रुमेना-भावादिवाः ॥ 'कण्टक' इति पाठे-कः=तेना । घाटीकाः=व-
 विरागाः=वनरत्ना राजपुत्रायाः । पुरः=ग्रामे, तान् मार्गप्रदरुं कान् कुर्यात् ॥ ७८ ॥
 वनेति । तत्र-कोशः-रथान्य' इति शेषः । राजता=मूर्तिन् । न-मनोः
 शेषः । ताः=कोशात् । दातुर्न को न युष्यते, अत्र तु शत्रोर्न युष्ये-
 श्यथः ॥ ७९ ॥
 हे भूयो ! नरो न नरस्य दामः, अत्र तु अर्थस्यैव नरो दामः । गौरयं =
 मर्तां च राज्ञो घननिघन्घनमेव । लापयं = अणुनय-घननिघन्घनम् = घन-

— शीरविले को तोड़कर शीर मार्ग की निशानाघातों को नष्ट कर, शत्रुओं का नाश करे शीर नाना प्रकार से शत्रु को वीरिन करे । शीर शत्रुओं के देश में प्रवेश कर के जिसे पहले मार्ग छोड़न करने वाले ब्रह्ममी भीम आदि को घाते करे ॥ ७८ ॥
 शीर नहीं शत्रा है, वही पर कोश-नशाना मी रचना पादिसे बचेदि तत्र के रिज शत्रा का राजन्य नही हो सकन है । शीर उग कोश में तो घनेको को लूठ बन देवे, बचेदि देने बन्ने के निमित्त कोन युद्ध नही बलन ।
 अर्थात्-घन वाद्यु मदी युद्ध करी है ॥ ७९ ॥
 बर्षा—हे शत्रु ! शत्रुघ्न वा-शत्रुघ्न दाम मरी होना है, शत्रुघ्न को भी घन के ही दाम होने हैं । शीर शत्रुओं से बर्षा शीर शत्रु मी घन

१. 'श्रेष्ठयेच्छत्रु' । २. 'कण्टकमर्दनैः' । ३. 'कोशः' । ४. 'विना कोशं न राजता' ।

‘अमेदेन च युध्येत, रवेचैव परस्परम् ।

फल्गु सैन्यं च यत्किञ्चिन्मध्ये व्यूहस्य कारयेत्’ ॥ ८१ ॥

‘पदार्तांश्च महीपालः पुरोज्जीकस्य योजयेत् ।

उपरुध्याऽरिमासीत्, राष्ट्रं चाऽस्योपपोडयेत्’ ॥ ८२ ॥

‘स्यन्दनाऽश्वैः समे युध्येदनुपे नौ-द्विपैस्तया ।

वृचगुल्माऽऽवृते चापैरसिचर्माऽऽयुधैः स्थले’ ॥ ८३ ॥

नपरतुहमेव ॥ ८० ॥ अमेदेन = परस्पर मिलित्वा । अन्योन्य सहत्य । परस्पर
= नभग्न्यस्पर-रवेच । फल्गु = असार यत्किञ्चिदनि से-य । (ओं निर्बल सेना
; उमे) । व्यूहस्य मध्ये कारयेत् = स्थापयेत् ॥ ८१ ॥

अनीकस्य = सेनायाः । ‘अनीकोऽग्नी रसो सैन्ये’ इति मेदिनी । पुरः =
गः । अरि = शत्रुम् । उपरुध्वा = पीडयित्वा । (‘रोक कर. घेर कर) ।

‘सं = मिष्टेत् । चाप = रिषोः । राष्ट्रं = राज्यञ्च — उपनीडयेत् = वृष्यादि-
वृत्तेश्चयेत् ॥ ८२ ॥ स्यन्दनाः = रथाः । अश्वैः = घोडकाः, तै । समे =

स्यन्दने । अनुपे = जलबहुले । ‘जलमायमनूय स्या’ इत्यमरः । नौद्विपैः =
‘नौद्विपिणां यथायोग्यम् । वृचगुल्माऽऽवृते = तद्वलतादिगहने देशे ।

‘चर्माः = श्वभुभिः । स्थले = समभूमौ, अमिचर्मावृषे = गजचर्मरथधादिभिः ।
‘र-युध = युद्धनिष्ठेत्-युयात् । (युधः क्यच्) ॥ ८३ ॥

य से और निर्पन्नता के कारण से ही होती है ॥ ८० ॥

और सनी सैनिकों को आपुस में मिलकर ही युद्ध करना चाहिये और
देशों को भी करनी चाहिये, और ओ निर्बल सेना हो उसे व्यूह (दल)

में युद्ध में राजा पैदल सेना को और सेना के आगे करे । और शत्रु को नारों
घेर कर सेना का पड़ाव डाले और उसके राज्य को भी पीड़ा दे ॥ ८२ ॥

और और घोडों से सम देश में युद्ध करे और जलबहुल देश में नार
दलों से युद्ध करे, वृचगुल्म से आन्दादिन स्थानों में शत्रुओं से युद्ध
करे और दाल आदि से स्थल पर युद्ध करे ॥ ८३ ॥

‘दूपयेन्वाऽस्य सततं यवसाञ्जो-दके-न्धनम् ।
 भिन्द्यान्चैव तडागानि, प्राकारान्परिखास्तथा’ ॥ ८४ ॥
 ‘बलेषु प्रमुखा इस्ती, न तयाऽन्यो महीपते’ ।
 निजगणयवरेव मातङ्गोऽष्टापुत्रः स्मृतः’ ॥ ८५ ॥
 ‘बलमश्वथ सैन्यानां, प्राकारो जङ्गमो यतः ।
 तस्मादश्वाथिरो राजा रिजयी स्यलविग्रहे’ ॥ ८६ ॥

अस्य = शत्रोः । यवसानोदकं = वृणपासाऽन्योवपुश्चम् । दूपयेत् =
 शिखादिना, उपाधान्तरेण च दूषितकुर्वात् । किञ्च शत्रोर्दुर्गमाकारपरिखाऽङ्गम दिवं
 भिन्द्यात् ॥ ८४ ॥

बलेषु = गे-देषु मध्ये । प्रमुखाः = मुखाः । मातङ्गः = मत्स्यः । निजे =
 स्त्रीषुः । अष्टापुत्रः = शुभहाऽष्ट-पुत्र-दम्पत्युक्त-वारचतुर्दशभिर्भूत-
 तैः शोऽष्टापुत्रः । स्मृतः = उक्तः ॥ ८५ ॥ गे-वानां मध्ये कथञ्चन वपुषु तेषु
 अश्वन = चक्रः, प्राकारः = प्रागौर, मत्स्य = मत्स्यः । अतः-अश्वत्थिनः = अश्वत्थः
 वपुश्चक्र-वपुः, राजा श्वत्थिरोऽयं = श्वत्थपुत्रे-विजयी भवति ॥ ८६ ॥

शौर शत्रु की रसद की (अन्न, जल शौर हैं-न चादि की) बराबर नष्ट कर
 देदे शौर शत्रुकी की, शिषे की शीशरी की तथा परिखाकी की लोड़ ह हें ॥ ८४ ॥
 शौ दे शत्रु । सेनाको में शत्रु ही मुक्त है, शत्रु के ममान शौर व
 दृग्ग नशो है, कश्चि अश्वने ही अश्वतो से शत्रु छाड चलोव,या बहा गया
 बग-भूद, बौद, ही शौ, अश्व वेर-इतककठ शत्रु से शत्रु मुद में ॥
 ८५ ॥

शौर शत्रुकी सेनाको का शिष्टव बह है, कश्चि अश्व एक अश्वने व
 अश्व (शौ) के ममान ही है । अश्विद शत्रु शत्रुको-छा शत्रु शत्रु
 मुद में ममान शिव बग है ॥ ८६ ॥

‘तया चोक्तं—

‘युध्यमाना हयाऽऽरूढा देवानामपि दुर्जयाः ।

अपि दूरस्थितास्तपां वैरियो हस्तवर्तिनः’ ॥ ८७ ॥

‘प्रथमं युद्धकारित्वं, समस्तबलपालनम् ।

‘दिङ्मार्गाणां विशोधित्वं, पत्तिकर्म प्रवचते’ ॥ ८८ ॥

‘स्वभावशूरमस्रव्रमविरक्तं, जितश्रमम् ।

प्रसिद्धचत्त्रियप्रायं बलं श्रेष्ठतमं विदुः’ ॥ ८९ ॥

‘यया प्रथुकृत्वान्मानायुध्यन्ते ध्रुवि मानवाः ।

न तथा बहुमिर्दत्तैर्द्रवियौरपि भूपते’ ॥ ९० ॥

इयारूढाः=अथाऽऽरूढाः । युध्यमानाः=युद्ध कुर्वन्ती, देवानामपि दुर्जयाः, पुननुष्णायाम् । येषाम्=अथारूढानाम्, दूरस्थिता अपि वैरियोः=हस्त-
वर्तिनः=हरणियता इव भवन्ति ॥ ८७ ॥

‘प्रथमं पदातिकर्म निर्दिशति—प्रथममिति । प्रथमम्=प्रथमः । समस्तबलपालनं=
समस्तबलपालनम् । दिङ्मार्गं शोधयत्यत्र पदातीनां कर्मोत्पर्यः ॥ ८८ ॥

स्वभावशूरं=महतिशूरम् । अग्निकर्म=अनुरक्तम् । जितश्रमम्=भ्रमसहम् ।
प्रसिद्धचत्त्रियप्रायं=सौकरप्रसिद्धचत्त्रियबहुलम् । बलं=सैन्यम् ॥ ८९ ॥

यया=रामकृतात् । मानात्=संक्रातात् । द्रवियोः=पनैरपि ॥ ९० ॥

‘यथा श्री है—शोदे पर चड कर युद्ध करने बाजोको देखा श्री जीव नही
है । और दूर देश में स्थित शत्रु भी मानो उनके हाथ में ही रहते हैं ॥ ८७ ॥

‘प्रथमं प्रागे कृदना, और सब मेना की रक्षा करना और चारों दिशाओं
को शुद्ध करना—यह वैदल सेना का काम है ॥ ८८ ॥

‘स्वभाव से शूर, अग्निविद्या के जानने वाले, शत्रुओं को अनुशासन रखने-
वाले (सतने) वाले, ऐसे प्रसिद्ध शूरवीर चत्त्रिय जिसमें अधिक
शक्ति श्रेष्ठ कहा जाती है ॥ ८९ ॥

‘यया=रामकृतात् । मानात्=संक्रातात् । द्रवियोः=पनैरपि ॥ ९० ॥

• अमिनवराजलक्ष्मीमायाटीकाविराजिते •

‘परमल्पपलं सारं, न कुर्यान्मृषट्टमण्डलीम् ।
कुर्यादसाग्मज्ञो हि मारमद्गमपि स्फुटम्’ ॥ ६१ ॥
‘अप्रगादोज्ञधिष्ठानं, देयांश्चाहरणं च यत् ।
पालयापोऽप्रतीकारस्तद्वैराग्यम्’ कारगम् ॥ ६२ ॥
‘अपीडयन् षलं शत्रून् जिगीपुरमिपेगयेत् ।
मुग्गमाध्यं द्विषां मेन्यं दीर्घयानप्रपीडितम्’ ॥ ६३ ॥

‘दायादादपरो यस्मान्नास्ति मेदकरो द्विषाम् ।
तस्मादुत्थापयेद्यत्नादायादं तस्य विद्विषः’ ॥ ६४ ॥

‘सन्धाय पुत्रराजेन, यदि वा मुख्यमन्त्रिणा ।
अन्तःप्रकोपणं कुर्यादभियोक्ता’ स्थिरात्मनः’ ॥ ६५ ॥

अन्तं सेन्य-द्विषां = स्वशत्रुभिः-मुग्रसाध्यम् = अनायासजिनायनीयं भवति ।
(न्यादा दूर चलने से यकी हुई सेना को शत्रु लोग अनायास ही मार गिराते हैं, अतः धीरे २ ही चले) ॥ ६३ ॥

यस्मात्-द्विषां = शत्रूणां, मेदकरः = विपटकः । दायादात् = अपरिपक्वात् ।
(‘पहीशर’ ‘गोनिया’) । अपरः = अन्यः । नास्ति = नैवास्ति । तस्मात्-तस्य =
विजयेत्यस्य । विद्विषः = शत्रोः । दायादम् = मागहरम् । यत्नात् = प्रयत्नात् ।
उत्थापयेत् = तेन सह विरोधयेत् ॥ ६४ ॥

अभियोक्ता = विजिगीषुः-पुत्रराजेन, मुख्यमन्त्रिणा वा सन्धाय = गूढं सन्धि
कृत्वा-स्थिरात्मनः = मुदृढस्य, अभिमुग्धमानस्य बलवतः शत्रोः । अन्तःप्रकोपणं
कुर्यात् । ‘अन्तःप्रकोपणं कार्यमभियोक्तुः स्थिरात्मनः’ इति पाठे तु-अभियोक्तुः
= मुदृढमानस्य, स्थिरात्मनः = दुर्गाद्याभयात् विजयेत्यस्य, अन्तःप्रकोपणं = परमुद,
विद्रोहं वा कारयेदित्यर्थः । यद्वा-अभियोक्ता = विजिगीषुः, अभिमुक्तस्य विजयेत्यस्य
रिपोन्तःप्रकोपणं कुर्यादित्यर्थः ॥ ६५ ॥

पर चढ़ाई करे । क्योंकि ज्यादा दूर मार्ग को ते करके चढ़ाई हुई शत्रुओं की पकड़
हूँ सेना मुग्रसाध्य होती है, अर्थात् यकी हुई शत्रुसेना को जीतना मुगम होता
है । अतः सेना को जिस प्रकार यकायक न धावे-उतना ही मार्ग चले ॥ ६३ ॥

धीरे शत्रुओं में मेद (विनाश) करने वाला उनके दिसेदारो के सिवाय
अप अन्य नहीं होता है । इसलिये बल से शत्रु के कंधु-बाँधवों को मड़काकर
नभो अन्ते पक्ष में करे और उनमें भगड़ा राड़ा करा दे ॥ ६४ ॥

धीरे विजिगीषु को धारिये कि वह जिस पर चढ़ाई करे उस शत्रु के पुत्रराज
वा उसके मुख्य मन्त्री से ही मेल करके उस पैरो के पर में ही मीतरी
का उभाड़ दे ॥ ६५ ॥

१. ‘अभियोक्तुः’ वा० । ‘अभियोक्ता स्थिरात्मनः’ इति तु गौडाः पठन्ति ।

‘क्राडमित्रं’ रये चापि महं दत्त्वा विधातयेत् ।

‘अथवा गोघ्नहाऽऽकृष्ट्या, तन्मुख्याऽऽश्रितवन्धनात्’ ॥९६॥

‘स्वराज्यं वासुधेद्राजा परदेशाऽपहरणात्’ ।

अथवा दान-मानाम्यां वामितं धनदं हि तत्’ ॥ ९७ ॥

अथवा* किं बहुनोदितेन—

‘आत्मोदयः, परग्लानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।

तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतापते’ ॥ ९८ ॥

क्राडमित्रं रये विधायतं दत्त्वात् । अघ्नः=पराजयः । अथवाऽऽभिनवन्धनात्=
शत्रुविषयपुत्रादिबन्धनात् । गोघ्नहाऽऽकृष्ट्या=पत्न्यवन्धनेन गोघ्नदण्डपत् । यथा कस्ये
दहीने गौः स्वयमेव तन्मुयाति, तथा पराविश्वशत्रोः पुत्रादेर्दण्डेन शत्रोः विपर-
मानुद्वह्यं, तद्वन्धनश्च सम्पाद्यते । ‘क्रां मित्रं’वि० मुद्रितवन्धनात् विनयः ॥ ९६ ॥

परदेशाऽपहरणात्=राजदेशमुद्राभ्य । (उजाह्वर) । स्वराष्ट्रं=स्वदेशं,
वासुधेम् । अथवा=शत्रुवज्राभेनवदानमानादिना यशोहृत्य स्वराष्ट्रे नाम कारयेत् ।
तत्=दान-मानाम्यां यशोहृत्य वामितं शत्रुम् ॥ ९७ ॥

उदितेन=कविपतेन । आत्मोदयः=समृद्धिः । परग्लानिः=शत्रुहानिः ।

और क्रूर अमित्र (दुष्ट शत्रु) को जीव करके उमे मरवा डाले । अथवा
कैते बन्धु के पदक लेने से ही सर्वकाम में आजागी है, ऐसी ही उमके पुत्र आदि
शत्रुण्य बन्धुओं को बन्धन में करके उमको पदके और उमे मारे वा अरने अनुकूल
कर से ॥ ९६ ॥

और शत्रुओं के देह में मनुष्य आदिओं को अरन खाकर राजा अपने
राज में बगाने, अथवा शत्रु की प्रजा को दान और मान आदि में अरने शत्रुकुल
बाधे अने राज में से जाकर बगाने । कसोई राज और उम न से बगान
हुया देह मिथप करके धन (कान) वा देने काजा होगा है ॥ ९७ ॥

[अथ (वा अथवा) वेंना—और]] बहुत करने में क्या है ।।

अथवा अथ (अथ) , और शत्रु की हानि देने की ही लो । अथवा के अथवा

१. 'क्रा मित्रं' । 'अमित्रं' । २. शत्रुकोदय अमित्र शत्रुः । अथवाः
। 'अथवा' । 'अथवा' । ३. अथवा=अथवाऽऽकृष्ट्या-किं बहुनोदितेन-आत्मोदयः-
हिं वरिषत्तः ।

राजा' विहस्योक्तं—'सर्वमेतद्विगोपतश्चोच्यते' । किन्तु—

'अन्यदुच्छृङ्खलं सत्प्रमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।

सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः' ? ॥ ९९ ॥

उत इत्याय राजा मौहूर्तिकाऽऽवेदितलप्ते प्रस्थितः ।

अथ प्रणिधिप्रहितश्चरो हिरण्यगभमागत्य प्रणम्योवाच—देव !

। = इयमेव । इयती = एतावन्मात्रमेव । नीतिः = राजनीतित्वमस्ति । तत् = नितित्वम् । ऊरोरुच्य = स्त्रीरुच्य । कृतिभिः = विद्वद्भिः । वाचरपत्य = वाग्मि- । प्रतापते = इत्युच्यते ॥ ९८ ॥

दुच्छृङ्खलं = स्वेच्छाप्रवर्धितम् । बलिनः = सत्त्वं = तेजः । अन्यत् = अन्यविषयम् । निषन्वर्त = शास्त्रोदाहृतमार्गानुसारि । निरंलैरुदतम् = सत्प्र = तेजः ।

। तेजस्तिमिरयोः = विरुद्धयोरुत्पत्तकारप्रकारयोः । सामानाधिकरण्य = यानं । कुतः = कथं भवेत् ? । नैव तथा सम्मरनीत्यर्थः । एवञ्च शास्त्र- । लदुक्तं निरंलविषयं, नाभमाभिरुदत्तुं शक्यमित्याशयः ॥ ९९ ॥

हृत्तिक्त्वावेदिते = ज्योतिर्विकोक्ते । प्रणिधिप्रहितः = प्रधानगुणचरमेयितः ।

१. इन्हें स्वीकार करके ही परिदत्त (मन्त्री) जन अपनी परिदत्ताई दितार- । अर्थात्—सर राजनीतिज्ञ विस्तार इन दो सिद्धान्तों पर हाँ होना है । तब

ही (या राजा) हँस कर बोला कि—विशेष कर यह सब सब ही है—

। अर्थात् मन से कार्य करना और बात है, और शास्त्र से नियत मार्ग

। और काम करना और है । इन दोनों में बड़ा भेद है । क्योंकि प्रकाश

। कार का एक स्थान में एक साथ रहना बेमेल धन सङ्घा है ? ॥ ९९ ॥

मन से उठ कर राजा ने ज्योतिर्विदों के बलवाये हुए गुणरुप में प्रधान

पर बर्दाई करदी) । और उपर गुणचर बगुने का भेजा हुआ दूत आकर

गर्भ में बोझा दि-दे देव ! राजा बिभर्त्सना या पहुँचा है । वह इस

रा निहस्योक्तं—सर्वं सत्यमेतत् । किन्तु' इति । 'मन्त्रिणा विहस्योक्तं'

• । २. 'प्रदितः प्रणिधिप्रहितः' पा० ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

समागतप्रायो राजा विप्रयणः । सम्प्रति मलयपर्यव्याप्तित्यहायां
 समाधासितच्छत्रो यत्तते । दुर्गशोधनं प्रतिक्षणमनुसन्धातव्यम् । यतोऽसौ
 गृध्रो महामन्त्रा । हि य खेनचित्सद तस्य विश्वाप्तक्याप्रसङ्गेनैतद्विद्वि-
 मयगतं मया, यन्—'अनेन बोऽप्यस्मद्दुर्गे प्रागेव नियुक्तः ।' चन्द्रबाहो
 मृतं—'देव ! काष्ठ एवाऽसौ सम्भवति ।'

राजाऽऽह—'न वदाचिदंतम् । यद्येवं तदा कथं तेन शुभस्याऽभि-
 भवांशोग कृतः ? । अपरत्र शुभस्याऽऽगमनात्तस्य विप्रदोस्तादः ।
 स य चिरादप्राऽऽने ।' मन्त्री मृते—'तथाऽप्यागन्तुकः शङ्कनीयः ।'
 राजाऽऽह—'आगन्तुरा अपि कदाचिदुपपारका दृश्यन्ते' । गृह्यु—

परा = गृहपुत्र । गुमनः । मलयपर्यव्याप्तः = दक्षिणतमुदतीत्यतिमय-
 पर्यव्याप्तदेश (मत्तावाके वास) । समाधासितच्छत्रः = (सावित्रिच्छत्रः) । (परा
 बाहुरा है) । महामन्त्री = महान् पट्टमन्त्री । रक्षिा = मनीमारः । नियुक्तः =
 गुप्ततो नियुक्त भ्रष्टे । अतो = उपुत्रर्षिः । विश्वे-भावा = सुदोतर
 स य = काष्ठ । निरन् = दूतागमनापूर्वमेव । एतन्न नासी उपुत्रर्षिः
 सम्भवा वाच्यः ।

समय मन्त्रर्षि (मन्त्रावा) की ऊंची भूमि में अपने चक्र (सेना) की
 तरफ घुसा है । इन्हींके चार तरफे दिशि की निरन्तर जाँच करने रहे । क्यो
 इम राजा का मन्त्री मृते बड़ा भारी गम्भीर है, यह कोई राज भ्रष्ट
 बनेगा । जोर दिशि के साथ उगड़ी गुप्त बया पाणी के समग्र में यही उगड़
 दृष्टाग मीने जाना है कि, उगने कोई गुप्त दूत हमारे दिशि में नियुक्त भी
 रिवा है । अतः अतः हमने लक्ष्यन रहे । परदा बोधा कि—देव । यह गुप्त
 पर कोउ ही होगा । राजा बोधा कि—यह कभी नहीं हो सकता है । जो दे
 दे, तो देने हमने लीं को जाने का उद्योग रिवा पा । जोर लीं के का
 समय में ही उग राजा का पुत्र का उगार हुआ है, जोर पर बीरा तो बहुत
 कल में ही वहाँ तरंग हुआ है । मन्त्री बोधा—'तो भी जाने कबने पर लक्ष्य
 हो- ली है । अतः बोधा कि—यह मे जाने कबने बहुत से तरापी भी होी है ।

‘परोऽपि हितवान्वन्धुर्वन्धुरप्यहितः परः ।

अहितो देहजो व्याधिर्हितमारण्यमौषधम्’ ॥ १०० ॥

अपरञ्च—

‘आसीदीरवरो नाम शूद्रकस्य महीभृतः ।

सेवकः, स्वल्पकालेन स ददौ सुतमात्मनः’ ॥ १०१ ॥

चक्रवाकः पृच्छति—‘कथमेतन् ? ।’ राजा कथयति—

८. शूद्रक-वीरवर-कथा ।

अहं पुरा शूद्रकस्य राज्ञः क्रीडासरसि कर्पूरकेलिनाम्नो राजहंसस्य । कर्पूरमञ्जर्यां सहाऽनुरागयानभवम् । तत्र वीरवरो नाम [महान्]

पुनः कुतश्चिदेसादागत्य, राजद्वारमुपगम्य, प्रतीहारमुवाच—‘अहं

राः=दूरतरोऽपि । हितवान्=हितकारकधेत्-बन्धुमंत्रिणि । बन्धुरपि अहितधेत्यरः

वति । देहजोऽपि—अहितः = शत्रुः । आरण्यं = वने भवम् ॥ १०० ॥

स्वल्पकालेन = स्वल्पकालमात्रपरिचयेनैव । आत्मनः = स्वल्पे गुण=पुत्रं,

पुत्रं ददौ ॥ १०१ ॥ अनुरागवान्=तस्यामनुरक्तः । प्रतीहारं=

राज्ञे—यदि शत्रु भी हित करने वाला हो तो वह भी बन्धु ही है, और अहित

वाला यदि बन्धु भी है, तो भी वह शत्रु ही है । क्योंकि देह से उपन्न

रोग) भी अहित (शत्रुता) करता है, और वन की ओरपि भी हित

ही होती है ॥ २०० ॥

। भी मुनिश्च—शूद्रक राजा का वीरवर नाम का एक सेवक था । उमने

। बोहे से ही समय में भी अपने स्वामी के लिए अपने पुत्र को भी दत्त

ग ॥ १०१ ॥

। ने पूछा कि—वह क्या बीते है ? । राजा करने लगा—

। समय की बात है—यै शूद्रक राजा के क्रीडा के सरोवर में रहने वाले

। एक राजहंस की पुत्री कर्पूरमञ्जरी के ऊपर आसक्तः (अनुरागी)

। वहाँ वीरवर नाम का महान् राजपुत्र किसी देश से आकर राजद्वार

। चत्कः पाठः ।

'तावद्दर्शनार्थी राजपुत्रः, मा राजदर्शनं कारय ।' ततस्तेनाऽसौ राजदर्शनं कारिता मृते-देव ! याद मया सेवकेन प्रयोजनमस्ति, तदाऽऽमद्रक्षन् क्रियताम् ।

शुद्ध उवाच—किं ते वचनम् ? । 'वीरवरो' मृते—'प्रत्यहं सुवर्ण-पद्मरातानि देहि' । राजाऽऽह—'हा ते सामग्री' ? । 'वीरवरो मृते-
'द्वी वाहृ कृत्वावज्ञ गृहः ।' राजाऽऽह—'नेतृदक्ष्यम् ।'
तच्छ्रुत्वा वीरवरः प्रणम्य चलितः । अयं मन्त्रिभिरुक्तम्—'देव !
दिनचतुष्टयस्य वचनं दत्त्वा सायतामस्य स्वरूपं, किमुपयुक्तोऽवमेतावद्
वचनं गृह्णाति, अनुपयुक्ता वेति ? । ततो मन्त्रिवचनाद्वाहृव' वीरवराय
शाम्यन् दत्त्वा पद्मरातानि सुवर्णानि दत्तानि ।

वाप्राज्ञम् । वचनार्थी = जीविषाधी । (नीदरी के द्विए उगुह) । राजपुत्रः =
एरिवपुत्रः । वचनं = वचन, जीविषाधम् । सामग्री = सामानम् । एतद् = एतावद्-
नेशनम् । उरगुहः = वेशवा । स्वप्न = नानम् । [टव] ।

पर उरगुहः वीर वराय मे वेशा-मै जीविषा (नीदरी) की इच्छा करने
गया एक रातगुह है । अतः मुझे राजा का दर्शन कराओ । फिर जब ठाने उमको
राजा का दर्शन करावा, तब वह राजपुत्र गणा मे वेशा दिन्दे देव । जो मेरे येने
वेशा मे 'मक छेने ? ।' वीरवर वेशा-प्रतिभिन पत्र भी मीर (अर्थात् वी)
मुझे दी-गये । राजा वेशा-पुत्री वना मामदी है । वीरवर वेशा-दो पुत्रा
की लीनी गउरर । राजा वेशा-इतना वदन तो नहीं दिया था मगना है ।
वद गुनवद वद वीरर वद वद । तब मन्त्रियों मे वरा-दे देव । चार दिन
का मे-न देवर हमका शक्य प्रजमा पन्दे, कि वह इतना बेच-जो लेगा दे,
एक के वेश वद है वा नहीं ? मग राजा मे मन्त्रियों के करने मे उमे पुष्पावर
उम वीरर को पत्र देवर वीर भी अर्थात् वे दो वीर उमका मर्जा द्विते

१. 'वचनार्थी वचनम्' । २. 'दीपकोटि-प्रवर्ण मुद्रादंष्टरापुत्रपत्रम्'
वचनम् । ३. 'दीपकोटि-प्रवर्ण' । ४. 'रघुप लक्ष्मी' इत्या एतद्

['यतः—

'ताम्बूलं कटु, तिक्तमुष्णमधुरं, चारं, कपायान्वितं,
वातघ्नं, कफनाशनं, कृमिहरं, दौर्गन्ध्यदोषाऽपहम् ।
वक्त्रम्याऽऽभरणं, मलापहरणं, कामाग्निमन्दीपनं,
ताम्बूलस्य सखे ! त्रयोदश गुणाः स्वर्गेऽप्यमी दुलभाः'] ॥

यत्तन्निर्वाणयोगश्च^१ राक्षा सुनिभृतं निरूपितः । तदर्थं वीरचरेण
देवेभ्यो, प्रादक्षिणेभ्यो दत्तम् । शिथलम्याऽऽर्द्धं दुःगितेभ्यः, तदघशिष्ट भोज्य-
विलासव्ययेन । एतत्सर्वं नित्यवृत्त्यं कृत्वा, राजद्वारमहर्निशं स्रग्धराणिः
सेवते । यदा च राजा स्वयं समादिशति तदा स्रग्धरमपि^२ याति ।

अथैकदा कृष्णचतुर्दश्या रात्रौ स राजा सकरुणमन्दनध्वनि
शुभाय^३ । "तच्छ्रुत्वा राजा प्रतः—'कः कोऽत्र द्वारं 'निष्ठानि' ? ।
तदा सेनोक्तं—'देव ! अहं वीरवरः ।' राजावाच—'मन्दनाऽनुसरणं
क्रियताम् ।' वीरवराऽपि—'यथाऽऽज्ञापयति देवः' इत्युक्त्वा चलिता ।

यत्तन्निर्वाणयोगः = एहीनवेतनव्ययप्रसारः । सुनिभृत = गुनपुरणः प्रच्यवम् ।
स्रग्धरं = सेननादम् । स्रग्धराणिः = वरभूतकरवासाः । समादिशति = धारापयति ।

द्वारके देवने के लिए शुभचर्चा को नियुक्त कर दिया । तब उसने उस सेनाने से
प्राधा तो देव ! और प्रादक्षिणों को अर्पण कर दिया । बचे हुए का प्राधा दीन
दुर्गियों को दे दिया । और शेष घन अपने भोजन और विलास की धारावक
वस्तुओं में लक्ष्य कर दिया । और अपना नित्य का कृत्य कर, रात दिन शय में
तब लिये यह राजद्वार पर बैठा रहना था । जब राजा स्वयं उसे पर जाने की
प्राधा देता था तभी यह अपने घर जाता था ।

एक सनप कृष्णपत्र की चौदस की अ-पेरी रात में राजा न करो जोर से रोने
का शब्द सुना । तब यह राजा शूद्रक बोला—'द्वार पर कौन है ? । यह वीरवर
बोला—'दे देव ! मैं वीरवर उपस्थित हूँ । राजा बोला—'रम रोने के शब्द का
म सगावो । वीरवर बोला—'देव ! जो प्राधा, मैं जाना हूँ । यह कह कर यह चल

१. कल्पितः पाठः । २. 'तद्विर्वाणयोगश्च' । ३. 'स्रग्धरमेव' । ४. 'मकरुणं
मन्दनध्वनि स राजा शुभाय' । ५. 'शूद्रक उपवाच' । ६. 'द्विषती'ति कल्पितम् ।

राजा च विन्तितम्^१—'अयमेवाकी राजपुत्रो मया सूचीभेद्ये तमसि^२
प्रदितः । नैतदुचितम् । तदहमपि गत्वा 'किमेत'दिति निरूपयामि^३ ।'

ततो राजाऽपि रज्जुमादाय तदनुसरत्यक्रमेण नगराद्दहिर्निर्जंगाम । ततो
गत्वा (च) शीरषरेण रुद्रता, रूपयोगनसम्पन्ना, मर्यालद्वारभूषिता
ष्वाचिन्त्री दृष्टा, पृष्ठा च—'का त्वम् ? किमर्थं रोदिषि ? इति । त्रियो-
चम्—'अहमेतस्य शूद्रकस्य राजसदसीः, धिरादेतस्य भुजन्द्धापायां महता
मुनेन विमान्ता, इदानीमन्यत्र^४ गमिष्यामि ।' शीरषरो मने—'यत्राऽपायः
सम्भवति, तत्रोपायोऽग्नि, तत्कथं^५ स्यात्पुनरिहाऽऽशासं भवत्याः ? ।'

रुद्रमीकयाच—'यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिपरं द्वात्रिंशत्सप्तोपैतं
कथयति । रुद्रनं=रोदनम् । पुत्रं=भेद्ये=प्रतिपत्ने पौत्रस्यकारे । प्रदिनः=प्रेरितः ।
तदनुसरत्यक्रमेण=तदनुसरन्निमनुमन् । अपायः=रिपयिः । द्वात्रिंशत्सप्तोपैतं=

पदा । पुत्रः राजा मे गोत्रा—यह गोत्र नहीं कि चक्रे हम राजपुत्र को मैं हम गोत्री-
द्वेष धीर महा अन्धकार में भेजू । आः मैं भी पड़े पीड़े जाकर देर ॥ हूँ कि यह
क्या का है ? ऐसा विचार करके राजा भी लज्ज लोकर उगरे पीड़े-पीड़े नगर के
कार निजता । शीरष ने जाकर, रूप शीर शीरष ने परिपूर्ण, तारे आ-भूषणों से
दोषित, त्रिणीएक रोगी हुई श्री को देगा शीरषूदा-नू चीन है ? क्यो रोती है ? श्री
कोत्री—मैं हम शूद्र की राजसदसी हूँ, शूद्र समथ से रतकी मुमादा त्वा
में मैं बड़े गुण से रहा, अब मैं दुमगी नगर जाऊंगी । क्योंकि देवी दुर्गा (वा
कालीनी) के अगम्य मे तीसरे दिन यह राया मर जाएगा । तब शीरषर
दोहा कि—यहाँ अगम्य (दुर्गा) रोग है, यहाँ उगचा उगम्य भी रह ॥ है । श्री
दुर्गाया पुत्रा यहाँ रतना जैसे ही मरगा है ? शक्यी कोत्री—तो तूँ मादृष्टिक
साधनं=कालीम कण्ठी (विद्वो) मे दुष्ट करने पुत्र शक्तिपर को मगवती

१. 'राजा विन्तितम्'—'दुःखम् । अयमेवाकी' । २. 'प्रेरितः' । ३. 'अह-
मपि गत्वा निरूपयामि—किमेत'दिति' । ४. 'देव्या अयमेव मुनेन विमान्तापयानं
मुनेन' । (देव्या = दुर्गाया, अयमेव वा) । अहमपि गत्वा निरूपयामि । इदानीं
नगरं अनुसरन्निमनुमन् । ५. 'कथं पुनरिहाऽऽशासं भवत्याः ?' ।
६. 'पुत्राय शक्तिपरं द्वात्रिंशत्सप्तोपैतं मने' । 'यत्राऽपायः सम्भवति' । 'तत्रोपायोऽग्नि' । 'तत्कथं स्यात्पुनरिहाऽऽशासं भवत्याः ?' । 'यदि त्वमात्मनः पुत्रं शक्तिपरं द्वात्रिंशत्सप्तोपैतं कथयति' ।

भगवत्याः सयमङ्गलाया उपहारीकरोपि, तदाऽहं पुनरत्र सुचिरं निवसामि'।
इत्युक्त्वाऽहरयाऽभवत् ।

ततो घोरखरेण स्वगृहं गत्वा, निद्रायमाणा^१ स्ववधूः प्रयोधिता,
पुत्रत्र । तौ निद्रां परित्यज्योत्थायोपविष्टौ । घोरखरस्तत्सर्वं लक्ष्मीवचन-
मुच्यमान् । तच्छ्रुत्वा साऽऽनन्दः^२ शक्तिधरो मृते-^३ 'धन्योऽहमेवंभूतः,
सामिराज्यरक्षार्थं यस्योपयोगः । तात ! ^३तत्कोऽधुना विलम्बस्य हेतुः ? ।
प्यांनिधे कर्मणि देहस्य विनियोगः श्लाघ्यः । यतः—

महापुरुषस्य च यथाशक्तिः । तानि च—नेत्रान्तमाग-हरजल-पादतल-नाल्लोष्ठ-
शिखा-नखानि सप्त रत्नानि, वक्षः—रक्तच-नख-नामिका-पट्टि-मुलानि षट्
उपतानि, मस्तक-ललाटो-रः स्थलानि शीघ्रि मितृत्नानि, शीरा-जह्वा-लिङ्गानि
शीरेण हस्तानि, नामि-कण्ठस्वर-स्वभावाः प्रयो शंभीराः, भुज-नासिका-नेत्र-जानु-
करोत्रनि पञ्चदीर्घाणि, स्वक् केश-शोभ-रन्ता-शुक्तिमन्त्रयः पञ्च सूक्ष्मा भवन्तीनि
महापुरुषाणां द्वात्रिंशच्चिह्नानि सामुद्रिकशास्त्रोक्तानि बोध्यानि । सर्वंमन्त्राणाः =
मन्त्राणाः, भीमहाह्वया वा । निद्रालसा = निद्राऽऽसलोचना । स्ववधूः = स्वमिया ।
प्रयोधिता = उदयापिता । पुनश्च उत्थापितः । उपयोगः = विनियोगः ।

निद्रालसा (शालीत्री) को भेंट करे, तो मैं फिर यहाँ चिरकाळ तक रह सक्ती
। पर वह कर यह राजलक्ष्मी तो धनपात्र हो गई ।

अनन्तर घोरखर ने अपने घर जा कर सोनी हुई अपनी छी को घोर अपने
को जगाया । वे दोनों भी नींद से जागकर उठ बैठे । तब घोरखर ने उनसे
को के उन सब वचनों को कहा । यह सुन कर शक्तिधर आनन्दित होकर बोला
—दे निजः ! मैं धन्य हूँ, शमी के राज्य की रक्षा के लिये मेरी धृष्टि भी
प है । सो अब देर का क्या काम है ! । इस प्रकार के कार्य में देर का
रना सर्वोत्तम कार्य है ।

१. 'निद्रालसा' । २ 'शक्तिधरः सानन्दं मृते' । ३ 'तात ! 'कोऽधुना
रः । इत्युक्त्वाऽहरयाऽभवत्' ।

‘धनानि, जीवितश्चैव परार्थे प्राप्त उत्सृजेत् ।

तन्निमित्तो वरं त्यागो, विनाशो नियते सति’ ॥ १०२ ॥

शक्तिपरमातोषाच^१—‘यद्येतन्न वृत्तव्यं, सत्केनाऽन्येन कर्मणा गृही-
तस्य महावचनस्य निष्कृत्यो भविष्यति ।’ इत्यालाच्य सर्वे सखमङ्गलायाः
स्थान गताः । सत्र सखमङ्गलां सम्पूज्य, वीरवरां व्रते—‘देवि ! प्रसोद,
विजयता शुद्धो महाराजः, गृह्यतामयमुपहारः ।’—इत्युक्त्या पुत्रार्थं
शिरश्चिन्द्रेद् । सतो वीरपरश्चिन्तयामास—‘गृहीतराजयत्सनस्य निन्तार
वृत्तः । अपुना निष्पुत्रस्य मे जीवनेनाऽज्ञम्^२ । इत्यालाच्याऽऽमनः
शिरश्चिन्द्रेद् ।

ततः स्त्रियाऽपि स्वामि-मुत्रसौकाऽऽसंया वदनुष्ठानम् । तत्सर्वं^३ एषा

निन्तारः = अनृषवन् । धर्मोः = यम्या भय । उपहारः = व्रतिः । गृहेतीति ।
गृहीत्व महती रात्रौ नग्वाऽऽनृषवन्तिवर्मा । तदनुष्ठानम् = स्वर्गार्थिन वृत्तम् ।

वर्षोऽपि—मुदिमान् पुत्रस्य को उचित है, कि अपने धन और जीवित को वरों
उपहार के लिए त्याग करे । वर्षोऽपि तब वह उपहार प्राप्त होनेवाला ही है,
उगवा पुत्रों के निमित्त त्याग करना ही भेद है ॥ १०२ ॥

और शक्तिपर की मांग भी कोही हि—ओ वर कार्य नही दिया जायेगा
तो फिर जीवित में बड़े कर्म के ह-सोग रात्रा से बहुत लम्बे वेतन लेने का बर
पुत्रार्थे । यह विचार कर ये सब सर्वमङ्गला (बाह्य, दुर्गा) के स्थान पर गये
वहीं सर्व-पूजा (बाह्य) की एक ही प्रकार पूजा करके उपहार को प्राप्त होवे । प्रा
प्रसन्न होत । महाराज शुद्ध की लक्ष विजय हो । और यह उपहार प्राप्त
करे । यह कर कर उगने करने पुत्र का शिर काट जाता । फिर वीरवरे ने तो
हि—रात्रा को नीचरी में ओ धन देने दिया था, उगवा वःका तो देने पुत्र
दिया, अब मेरा पुत्रार्थ का लोकार में जीवित सर्व ही है—यह लोच कर उग
कदना फिर भी बर जाता । फिर स्वामी और पुत्र के लोच से दुःखो होकर भी
भी पैसा ही दिया । (कदना फिर कदना मगनी को पड़ा दिया) । यह ध

१. ‘इ-’-अ-नृषवन्तिवर्मा इत्येवमवन्त्य, २. ‘इ-’-रात्रौ नग्वाऽऽनृषवन्तिवर्मा निन्तार वर
मन्तिवर्मा । ३. ‘इ-’-सर्वमङ्गलाऽऽसंया । ४. ‘ओ-’-नीचरीधनम् । ५. ‘ध-’-त, दृष्टा ध-’

राजा साऽऽश्चर्यं चिन्तयामास—

“जायन्ते च, म्रियन्ते च मद्रिषाः क्षुद्रजन्तवः ।
अनेन सदृशो लोके न भूतो, न मरिष्यति” ॥ १०३ ॥

तदेतत्परित्यक्तेन मम राज्येनाऽपि किं प्रयोजनम्? । अतः शूद्र-
क्षेत्राणि ग्यशिररक्षेत्तु स्वह्नः समुन्यापितः । अथ भगवत्या सर्वमह्नजया
प्रत्यक्षभूनया राजा हस्ते घृत, उच्छ्व—‘पुत्र ! प्रसन्नाऽस्मि ते, एता-
वता साहसेनाऽहम् । जीवनान्तेऽपि तव राजमह्नो नास्ति ।’

राजा च साष्टाङ्गपार्तं प्रणम्योवाच—‘देवि ! किं मे राज्येन ?,
द्विषाः=माहत्याः ॥ १०३ ॥ एतत्परित्यक्तेन = वीरवरराज्येन । उत्पापितः =

न कर राजा आश्चर्य से चकित होकर विचार करने लगा—

मेरे समान तुच्छ जीव तो बहुत से जन्मते हैं और मरते हैं । परन्तु इस
द्वार के समान महामत्स्य मनुष्य सत्सार में न तो कोई दुश्मा है और न आगे
॥ समय ही है ॥ १०३ ॥

अतः इस वीरवर के बिना मेरे को इस राज्य से भी क्या प्रयोजन है ? ।
विचार कर उस शूद्रक राजा ने भी अपना विर काटने के लिए लक्ष
का । तब भगवती सर्वमहला (बाली)ने प्रत्यक्ष होकर उस राजा का हाथ
‘कर कहा—हे पुत्र ! मैं तुम्हने प्रसन्न हूँ । तु देमा साहस मत कर । वीर
वीरन के उपरान्त भीतेरा यह राज्य भङ्ग नहीं होगा । तब वह राजा साष्टाङ्ग
। कर बोला—हे देवि ! मुझे राज्य से क्या प्रयोजन है, वीर इस वीरन से

१ ‘जायन्ति च’ । २ ‘राज्येनाऽप्यप्रयोजनम्’ । ३ ‘ततः शूद्र-
क्षेत्राणि ग्यशिररक्षेत्तु’ । ४. कानितकः पाठः । ५. ‘करे घृतः । उच्छ्व’ ।
अन्तं साहसेन । इदानीं ते राजमह्नो (राज्यमह्नो) नास्ति । ७. ‘राजा
प्रणम्योवाच’ । ८. ‘न मे राज्येन, जीवितेन, भिषा या प्रयोजनमस्ति ।
९ अनुहन्ता म्रियते तथा’ ।

• अमिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

जीयतेन वा किं प्रयाजनम् ? । यगद्मनुष्मनोयस्तदा ममाऽऽपु रोने-
 शाप्यं मदारपुत्रो 'वीर-रो जीवतु । अन्यथाऽहं यथाप्राप्तं गति
 गच्छामि ।' मगधन्युवाच—पुत्र ! अनेन ते सद्योत्कर्षण, मृत्यवात्सन्धेन
 'य सवंधा संतुष्टाऽसि । गच्छ विजयी भव । अथमपि सर्वास्वतो
 राजपुत्रो जीवतु ।' इत्युक्त्वा दंष्ट्रयाऽभयत् । ततो वीरवरः सपुत्र-
 दारः प्रातर्जीवनः स्वग्रहं गतः । राजाऽपि तैरसाहितः 'सत्यरमन्त पुरं,
 प्रविष्टः ।

अथ 'प्रभाते वीरवरो द्वारस्यः पुनर्मंपालेन पृष्टः 'सम्राट्—
 'देव ! सा दक्षी मामयलोक्याऽहरयाऽभयत् । न काऽप्यनवा वार्ता
 विपत्ते । तद्वचनमाहरयं मन्नुष्टो' राजा स धर्म्यं चन्तयामास—'बधमयं

उचो'द- (उडावा) । भवा = रा = द्वा = या । अनुः = या । मदापुत्रा =
 गच्छपुत्र । यथाप्राप्तो = मा = य = श्लि = शम् । गति = मृत्युम् । सागेऽप्येव =
 श्रीशवी-चपेन । ते = वीर-भाः = मि । अलक्षितः = अरुः । अ-त-पुर =

भी क्या प्रदीपन है । जो मरे ऊपर चाप ही पूपा है, जो मरी मंग चापु से बं
 पर वीरव भी-पुत्र मरिा जीवतु हो मार, -री भी भी वनागत गति ।
 मगती कोभी द पुत्र । तेरे इन माहम के उ हयं मे, और अने मयक
 ऊपर इन प्रवर को'न के उचंन से मे ह्यम पर बंधू प्रमम हूँ । मा गृहि
 होगा । और वीरव म'द'न पर वीरव भी जी उठेगा । ऐसा बर बर है
 करव हो लं । नि वीरव जी भी पुत्र गहन अने पर मया गया । राजा
 भी अने 'दु' का जोन ही अने अनयम से बला गया ।
 निर जा ब न क म व ल'हो पर देष्ट हू'न क'रर से म'भ'ने म'त काह'क
 बर द'न'न व तुमो ब'रा वि—रे देव । नर मीगी हूँ वी मुझे देन का दिव
 (अ-प-न हो लं । समे अ'विक को'र पुत्र का'न म'री हूँ । पर वन म'
 १. 'म-पुत्रो' । २. 'य-द-म' । ३. 'मनुष्यो' । ४. 'म-पुत्रो' । ५. 'म-पुत्रो' । ६. 'म-पुत्रो' । ७. 'म-पुत्रो' । ८. 'म-पुत्रो' । ९. 'म-पुत्रो' । १०. 'म-पुत्रो' । ११. 'म-पुत्रो' । १२. 'म-पुत्रो' । १३. 'म-पुत्रो' । १४. 'म-पुत्रो' । १५. 'म-पुत्रो' । १६. 'म-पुत्रो' । १७. 'म-पुत्रो' । १८. 'म-पुत्रो' । १९. 'म-पुत्रो' । २०. 'म-पुत्रो' । २१. 'म-पुत्रो' । २२. 'म-पुत्रो' । २३. 'म-पुत्रो' । २४. 'म-पुत्रो' । २५. 'म-पुत्रो' । २६. 'म-पुत्रो' । २७. 'म-पुत्रो' । २८. 'म-पुत्रो' । २९. 'म-पुत्रो' । ३०. 'म-पुत्रो' । ३१. 'म-पुत्रो' । ३२. 'म-पुत्रो' । ३३. 'म-पुत्रो' । ३४. 'म-पुत्रो' । ३५. 'म-पुत्रो' । ३६. 'म-पुत्रो' । ३७. 'म-पुत्रो' । ३८. 'म-पुत्रो' । ३९. 'म-पुत्रो' । ४०. 'म-पुत्रो' । ४१. 'म-पुत्रो' । ४२. 'म-पुत्रो' । ४३. 'म-पुत्रो' । ४४. 'म-पुत्रो' । ४५. 'म-पुत्रो' । ४६. 'म-पुत्रो' । ४७. 'म-पुत्रो' । ४८. 'म-पुत्रो' । ४९. 'म-पुत्रो' । ५०. 'म-पुत्रो' । ५१. 'म-पुत्रो' । ५२. 'म-पुत्रो' । ५३. 'म-पुत्रो' । ५४. 'म-पुत्रो' । ५५. 'म-पुत्रो' । ५६. 'म-पुत्रो' । ५७. 'म-पुत्रो' । ५८. 'म-पुत्रो' । ५९. 'म-पुत्रो' । ६०. 'म-पुत्रो' । ६१. 'म-पुत्रो' । ६२. 'म-पुत्रो' । ६३. 'म-पुत्रो' । ६४. 'म-पुत्रो' । ६५. 'म-पुत्रो' । ६६. 'म-पुत्रो' । ६७. 'म-पुत्रो' । ६८. 'म-पुत्रो' । ६९. 'म-पुत्रो' । ७०. 'म-पुत्रो' । ७१. 'म-पुत्रो' । ७२. 'म-पुत्रो' । ७३. 'म-पुत्रो' । ७४. 'म-पुत्रो' । ७५. 'म-पुत्रो' । ७६. 'म-पुत्रो' । ७७. 'म-पुत्रो' । ७८. 'म-पुत्रो' । ७९. 'म-पुत्रो' । ८०. 'म-पुत्रो' । ८१. 'म-पुत्रो' । ८२. 'म-पुत्रो' । ८३. 'म-पुत्रो' । ८४. 'म-पुत्रो' । ८५. 'म-पुत्रो' । ८६. 'म-पुत्रो' । ८७. 'म-पुत्रो' । ८८. 'म-पुत्रो' । ८९. 'म-पुत्रो' । ९०. 'म-पुत्रो' । ९१. 'म-पुत्रो' । ९२. 'म-पुत्रो' । ९३. 'म-पुत्रो' । ९४. 'म-पुत्रो' । ९५. 'म-पुत्रो' । ९६. 'म-पुत्रो' । ९७. 'म-पुत्रो' । ९८. 'म-पुत्रो' । ९९. 'म-पुत्रो' । १००. 'म-पुत्रो' ।

रत्नाप्यो महासत्त्वः । यतः—

‘प्रियं ब्रूयादकृपणः, शूरः स्यादविकल्पनः ।

‘दाता नाऽप्यात्रयी च, प्रगल्भः स्यादनिष्टुरः’ ॥ १०४ ॥

एतन्महापुरुषस्य लक्षणमेतस्मिन्सर्वमस्ति । ततः स राजा प्रातः शिष्ट-
सयां कृत्वा, सर्ववृत्तान्तं प्रस्तुत्य, प्रसादात्तस्मै कर्णाटराज्यं ददौ ॥ ॐ ॥
तद्विद्वान्मागन्तुश्चो जातिमात्राद्दृष्टः ? । तत्राऽप्युत्तमाऽधममध्यमाः
सन्ति । चक्रप्रायो व्रते—

‘योऽकार्यं कार्यवच्छास्ति स किमन्त्री नृपेच्छया ।

वरं स्वामिमनोदुःखं, तन्नारो न त्वकार्यतः ॥ १०५ ॥

एतन्नुम् । रत्नाप्यः=प्रशंसनीयः । महामत्तः=उप-प्रेताः । प्रवर्मात् ।
राजाऽपि-नपुरभाती । शूरोऽपि-आ मरुत्ताराय वः । दानाऽपि-स-नाप्रमदः ।
तन्=द्वि-भावि-नोपि । अनिष्टुरः=अनूरः, अवयवश्च ॥ १०४ ॥

सना=पौरलोकात्साम् । (२४०१) । तत्रारि=प्र ग-नुरेध्वरि ।
य इति । यो मन्त्री नृपेच्छया=राजप्रियनिर्वाहार्थं वा, अकार्यं नपि-कार्यं नृपे=

राजा न सोवा कि-दरो ! यद केना प्रशस्तापाम् महापुरुष हे ! ।
करोति—उदार दानी को प्रिय बोलना उचित है, शूरो-वीर को आत्मरक्षारी
‘होना चाहिये, दाता को अभावपूर्वी नहीं होना चाहिये और प्रगल्भ को
नहीं होना चाहिये ॥ १०४ ॥

इसमें ये सभी महापुरुष के लक्षण विद्यमान हैं । फिर उस राजा ने
‘प्र गिट् पुस्तो (मन्त्रियों आदि) की सना करके शक्ति का मंत्र वृत्तान्त
पर प्रमत्तता में उसे पारिलोपिक में कर्णाटक देश का राज्य दे दिया ।

एनी क्या मुनाहर यह राजा राजदम बोला—क्या दूर से आया दृष्टा
न मे ही दृष्ट हो जाय है ! । उनमें भी उत्तम, मध्यम और अधम होते
। नव ब्रह्मा बोला कि—

‘मत्तो राजा को इच्छासे ही अकार्यं को भी कार्यं के समान बनाय दे, वर
.. ‘राज स्यात्प्रयी स्वतः’ । २. ‘किमगन्तुरेव विद्वः’ ।

‘यद्यो, गुरुश्च, मन्त्री च, यस्य राज्ञः प्रियंवदाः’ ।

शरीर-धर्म-कोशोम्यः^३ क्षिप्रं स परिहीयते’ ॥ १०६ ॥

शृणु—देव !

‘पुण्याद्युच्यं यदेकेन तन्ममाऽपि भविष्यति ।

इत्या मित्रं यतो मोहाधिष्यर्थी नापितो^३ हतः’ ॥ १०७ ॥

राजा वृन्दति—‘कथमेतत् ?’ । मन्त्री कथयति—

कार्यनिर्वाहस्तुरदिशति, ॥ किमन्त्री=तुम्हारे मन्त्री । यः=यस्य। मिनोदुःखं=

राजमनोदुःखं, वर=विशिष्टोष्ठं । तु=परन्तु । अकार्यतः=अकार्यकारण

कारणः=राजनिवासी, न=नकारम् ॥ १०५ ॥ प्रियंवदाः=पटुशरः । वि

विभीषणाऽकार्यमिनः (गुणामयी) स्युः, स राजा क्रमशः शरीरेण, धर्म

धर्मेण च हीनो भवति । प्रपस्तस्य नश्यन्त्यर्थः ॥ १०६ ॥ यत्-एकेन पुरुषेण

हर्षं कर्त्तुं मयि भविष्यतीति त्वया मित्रं इत्या, निष्यधी=निषिद्धे

माने राजपुरुषैर्ध्यायिताः ॥ १०७ ॥

अथोप्य मन्त्री है । यद्योऽ राजा के मन में योही देर के लिए मोहा हुआ

होना तो टीका है, परन्तु अकार्य के उगका निवासी होना तो कथमपि कथ

नही है ॥ १०५ ॥

श्रीः—जिस राजा के वैद्य, गुरु, और मन्त्री, येशीनो विष को हने वाले हैं

हैं, अर्थात् हाँ में हाँ लिखाने वाले होते हैं, वह राजा शीघ्र ही मरणः शरीर धर्म

कोट में हीन हो जाय है । अर्थात् त्विन्द्र, वैद्य, गुरु के जब गुणामयी हैं

एव राजा के दिन को हर्ष ही होगी । इनको तो दिन की साथी बात ही क्या

करिसे, इसी में राजा का दिन है ॥ १०६ ॥

और भी दे देव । अन्तर, जो पशु विगी ने लगया, मगर श्री पुरुष

वर्ष है, परी पशु दुर्भे भी निष ज पगी, देमा कर्त्तव्य नही होकरा था है

देवत, दूर से बो देगा देगी निष का चरने कथा पर कोनी नई—नि

को मर कर मर भी मरग लका का ॥ १०७ ॥

एव मे दृष्टा है—एव कथा हैवे है । मरी करने कथा—

१. ‘विद्वत्’ । २. ‘कोशोम्य’ । ३. ‘क्षिप्रं’ ।

१. निधिलुब्धनापितकथा ।

अस्ययोऽप्यायां पुरि चूडामणिनाम सृत्रियः । तेन घनाऽर्थिना महता
 क्लेशेन भगशीश्च द्राघं चूडामणिश्चिरमाराधितः । ततः क्षीणनापोऽसौ
 स्वप्ने दर्शनं दत्त्वा, भगवद्देशाद्यक्षेत्रेणाऽऽदिष्टो^१ यन्-त्वमद्य प्रातः
 घोरं^२ क्षारयिष्या, लगुहहरः^३ सन् स्वगृहद्वारि निभृतं स्थास्यसि, 'ततो
 धर्मनाऽऽगतं भिक्षुकं प्राङ्गणे पर्यभि, तं निर्दयं लगुहप्रहारेण हनिष्यसि ।
 ततोऽसौ । मल्लुक्त्वात्तणान् सुयणकनसो भविष्यति । तेन त्यया यावज्जीवं
 मुदितना भवितव्यम्^४ । ततस्तथाऽनुष्ठिते तद् वृत्तम् ।

तत्र^५ घोरक्षरणायाऽऽनीतेन नापितेन तत्सर्वमालोक्य^६ चिन्तितम्-
 'क्ये' निधिप्रानेरयमुपायः ! । 'तद्दहमप्येयं किं न करोमि' ? । ततः

पुरि=पुरान् । चन्द्रार्धचूडामणिः=चन्द्रोत्तरः शिवः । यक्षेत्रेण=कुक्षेत्रेण ।
 गरिह=घातः । तथाऽनुष्ठिते=भिक्षुके हते सति । तद्दत्त=रथोक्त कुक्षेत्रेण तजानम् ।

अथोपा नगरी में चूडामणि नाम का एक छत्रव रहता था । उसने घन
 चूडा से बड़े क्लेश से चन्द्रार्धचूडामणि (जिन के शिरपर आधा चन्द्रमा
 देवे) भगवान् शिव जी की बहुत समय तक सेवा की । जब वह पाररहित
 र शुद्ध हो गया, तब भगवान् की आज्ञा से स्वप्न में दर्शन देकर यज्ञों के
 कुक्षेत्र जी ने उसे आज्ञा दी कि—तू पर पर जा कर शीर घोर क्षारहर लकड़ी
 में सेहर, द्विहर बैठ रहना । तब तू अपने पार्के घातन में द्रापे हुए
 भिक्षु को देनागे तब उसे तुम निर्दय होकर लज्जा से मार डालना । शिर
 देने का पड़ा हो जायगा । उससे तू जीवन पर्यन्त मुक्त रोगा । कुक्षेत्र जी
 तथा से देमा काने पर बैसा ही हुआ । अर्थात् वह साधु दसदे से मारने पर
 न मरा हुआ राजाना बन गया । शीरबर्ही घोर करने को आये हुए नाई ने
 न कर सोना-घरों, राजाना निष्ठने का सर्वोत्तम उपाय पर है, मैं भी

१. 'व' इति कश्चित् । २. 'घोरं कृत्वा लगुहं ह्ये कृत्वा निभृतं' ।
 ३. 'निभृतं तत्रो ममागर्भं भिक्षुं पर्यभि, तं निर्दयं लगुहप्रहारेण हनिष्यसि ।
 ४. 'ततोऽसौ भवितव्यम्' । तेन त्वं यावज्जीवं मुदितना भविष्यसि' । ५. 'ततः
 ६. 'नन्तिनेनालोक्य' । ६. 'घरो, निधि' । ७. 'दहमप्येयं' ।

ॐ अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते ॐ

प्रमृति स नापितः 'प्रत्यह तयाविधो जगुद्दहतः सुनिभृतं मिशोरामगनं'
प्रनीयते । एतदा तेन' प्राप्नो मिशुलंगुहेन व्यापादितः । तामार-
परापात्मोऽपि नापिनो राजपुरुर्यैर्वापादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—'पुर्या-
म्लानं यदेवेने'—त्यादि ॥ ॐ ॥
राजाऽऽह—

'पुरावृत्तकयोर्गारैः कथं निर्णीयते परः ।
'स्यान्निष्कारगपन्धुर्यां, किं वा विश्वामघातकः' ? ॥१०८॥

"यातु, प्रसृतमनुमन्धीयताम् । 'मलर्गापत्यकायां वेद्विप्रयणं
सदधुना किं विषेयम् ?' मन्त्री वदति—'देव ! आगतप्रतिधिमुत्तरन्मप,

प्रदेवने=प्रतिगच्छति ।
पुरावृत्तकयोर्गारैः=पुरावृत्तकयोर्गारैः । परः=
अन्त्या । आगन्तुकः ॥ १०८ ॥ यातु=जातु । (जाने भी दो) ।
वही क्यों न करे ? । तब तो लेकर वह नारी प्रतिदिन बैने ही लक्ष्मी हाथ में ।
निये हुए दिग्बर मिथुन के घाने का मंगल देवता रहा । एक समय ^{उत्प्रे}
अरने पर मे आए हुए मिथुन को लक्ष्मी ने माथ । तब वह मिथुन मर गया ।
इस अवस्था से उस नारी का राजपुरुष पकड़ कर ले गये श्री वर राजा ।
घाटा से मंगल गया । हमने ही करना है कि—'पुण्य विनय से एक में जो कर
पर हमको भी होगा—वह कभी नहीं सम्मन्ना पाए' हाथदि ॥
राजा बोला कि—पुरावृत्त कथाओं के करने भाव से ही शिरी का निर्णय है
ही भया है, कि—वह निष्कारगपन्धुरी ही है, वा विश्वामघातक है ॥ १०८ ॥
अ. ३, जाने दो, जो बर्मान है, उसी वा अनुमन्धान करो । मन्त्रदि
उंची भूमि तक तो विषयों का तथा है, अतः अब क्या उपाय करना चाहिए

१. 'मन्त्रदि मन्त्रः प्रतिदिनः' । २. 'मिथुनगतमन्त्रदेवने' । ३.
मन्त्रो मिथुनो जगुदेन दह व मन्त्रदिनः । तेन अन्त्यायेन मिथुनि मन्त्रिणे
पुरावृत्तकयोर्गारैः कथं निर्णीयते परः' । ४. 'किं वा विश्वामघातको कथुः' । ५. 'य'
मन्त्रोऽहं ब्रवीमि' । ६. 'मन्त्रदि मन्त्रः प्रतिदिनः' । ७. 'मन्त्रदि मन्त्रः प्रतिदिनः' ।

श्रुतं. यन्—महामन्त्रिणो गृध्रगोपदेशो चित्रवर्णनाऽनादरः कृतः ।
ततोऽमी मूढो जेतुं शक्यः' । तथा चोक्तम्—

'लुब्धः क्रूरोऽलमोऽमृत्यः, प्रमादो, मीरुरस्थिरः ।

मूढो, योधाऽवमन्ता च सुखच्छ्रेयो गिपुः स्मृतः' ॥ १०९ ॥

ततोऽमी यावदस्मद्दुर्गशररोधं' न करोति, तावन्नद्यद्रिवनवर्त्मसु
तद्गलानि हन्तुं शारसाक्ष्यः' सेनापतयो नियुज्यन्ताम्' । तथाचोक्तम्—

'दीर्घवर्त्मपरिश्रान्तं, नद्यद्रिवनमद्गुनम् ।

घोराजनिमयसन्त्रस्तं, क्षुत्पिपासाजर्दितं तथा ॥ ११० ॥

चित्रवर्णेन = मरूरेण राजा । मूढः = मूढत्वात् । योधावमन्ता = ऐनिकतिरस्कृतां ।

प्राच्येयः = अनापामेन विनाशयितुं शक्यः ॥ १०९ ॥ असी = चित्रवर्णः ।

यद्रिवनवर्त्मसु = दुर्गेषु सतित्वरंनकान्तरमार्गेषु । तद्गलानि = चित्रवर्णपलानि ।

वंशवर्त्मपरिश्रान्तं = दूरवर्तमानमनभन्तम् । नद्यद्रिवनाङ्गिनमीनम्,

विगमवारीर्दितं, प्रमत्तम् = असावधानम्, भोजनप्रमत्तं, व्याप्यादिपीडितम्,

कीकोला हि—देव ! आये हुए दूर के मुँह से मैंने सुना है, कि महामंत्री गृध्र
उपदेश पर उम चित्रवर्ण ने अनादर दिया है, अतः (इस कारण से) वह मूढ

रव भी जा सकता है ।

वेना कहा भी है कि—लोभी, क्रूर, अज्ञानी, झूठा, प्रमादी, शरपोक,

र, मूख और शैथिली का अग्रमान और निररकार करने वाला शत्रु दुर्ग से

क्या जा सकता है ॥ १०९ ॥

हमदिये वह जब तक हमारे दिले के द्वार को आकर न रोके, तब तक ही

पहाड़ तथा घन के मार्गों में उसकी सेना को मारने के लिये सारस आदि

पक्षियों को भेज देना चाहिये ।

वेना कहा भी है, कि—राजा को चाहिये, कि—शत्रु मार्ग बदलने से बचे

नदी पहाड़ तथा दुर्गम घन में दंडसे हुए, पौर अग्नि के मय से दुःखित

(क्षुधा व शून्या से पीडित, एवं-प्रमत्त, भोजन बनाने, लाने आदि में दंडसे

१. 'दुर्गवरोधं न विदधानि' । २. 'शारसाक्ष्यो नियुज्यन्तां सेनापतयः' ।

प्रमत्तं, भोजनव्यग्रं, व्याधिदुर्मिषपीडितम् ।
 असंस्थिनमभृषिष्ठं, वृष्टिवातसमाकुलम् ॥ १११ ॥
 पद्मपांशुजलाऽऽच्छन्नं, सुव्यस्तं, दम्पुमिद्रुतम् ।
 एवम्भूतं महीपालः परसैन्यं विघातयेत् ॥ ११२ ॥

अन्वय—

‘अवस्कन्दमयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम्’ ।

दिग सुप्तं ‘समाहन्यान्निद्रान्याकुलमैनिकम्’ ॥ ११३ ॥

अनागतस्य प्रमादिनो बलं गत्वा यथापकारं दिवानिशं हनन्वत्स
 स्तेनापतयः । तथाऽनुष्ठिते विप्रवर्णस्य सैनिकाः, सेनापतयश्च बहु
 निद्रताः । ततश्चिप्रवर्णो विषण्णः स्वमन्त्रिणं दूरदर्शिनमाह—‘ताव

अवस्कन्दमयाद्राजा प्रजागरकृतश्रमम्, स्वल्प, वृष्टिवातसमाकुलम्, अक्षरद्व-पुष्पा-
 पीडितं, दम्पुमिद्रुतम् (दम्पु=शुष्क) च । परसैन्यं=शत्रुसैन्यं, -महीपालः=राज
 दिवादेरु=दिनाशदेरु ॥ ११२ ॥ अवस्कन्दमया=प्राक्कामिनाऽऽनमत्तद्वया
 प्रजागरकृतं=निद्राशिराशुभं । दिगसुप्तं=दिपमनिद्रितं । निद्रताः श्वाकुल
 पीडिताः समिभ्य-परसैन्यं=राजा इत्याह ॥ ११३ ॥ प्रमादिनः=प्रमत्तस्य
 अनागतेः । मन्त्रिणाश्चाननुकृतिनः । बलं=वीर्यम् । यथापकारं=यथासमम्
 तथाऽनुष्ठितो=महत्तद्व्ययते इति मतिः । विषण्णः=दुःखितः । तावः

दूर, व्याधि शीर दुर्मिष मे पीडित, अमिष, संख्या मे कम, तथा पशु शीर शी
 मे श्वाकुल—॥ १११ ॥

एवं कीच, धृती च अत्र शक्ति मे विरे द्रुष्ट, वदे श्वाकुल, तथा श्वाकुलो
 कश्चि एवं गत्वा दूर एव, के सैनिको वा निद्रता वदे ॥ ११२ ॥

शीर मी-राजा को उच्यते है, कि यथापक यद् ई के भय मे शक्ति मे अत्र
 के अमिष मे शक्ति मे मंत्री हुई शीर निद्रा मे श्वाकुल दूर एव, की सेना
 अक्षरी प्रका मे निद्रता वदे ॥ ११३ ॥

इतिहासे उक्त प्रमादी की सेना को हमारे सेनापति काकर समथ काकर का
 दिन लोहित को शीर उ-दे गारे । देमा करने से विषण्ण की सेना शीर वदु
 केमर्तः मी गदे गदे । अनागत विषण्ण मे दुःखी होकर अपने मंत्री दूरगो

• द्वितीयोपदेशो विप्रदः •

१ किमित्यस्मदुपेक्षा क्रियते ? । २ किं क्वाप्यश्विनयो ममाऽपि
तथा चोक्तम्—

‘न राज्यं प्राप्तमित्येव वदितव्यममाग्रतम् ।

श्रियं श्विनयो हन्ति जरा रूपमित्रोत्तमम्’ ॥ ११४ ॥

३ अपि च—

‘दक्षः श्रियमधिगच्छति, पथ्याशी कल्पतां, सुखमरोगी
उद्युक्तो विद्यान्तं, धर्मार्थयशांसि च विनीतः’ ॥ ११५ ॥

मरोगः । शत्रोति—पितृवृक्षेत्यर्थं वा । किमिति=कुतो देतोः । श्रियं
वाच्यम् ।

नेति । मया राज्यमधिगतमित्येवायता, अमाग्रतम्=अयुक्तं, न
ह्यम् । ‘युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने’ इत्यमरः । दि=यनः । श्रियं=राजस्य
प्रतिपत्तौ=प्रौढत्वम् । हन्ति=विनाशयति । जरा=वर्षत्वम् ॥ ११४ ॥
कुपयः । कल्पतां=नीरोगताम् । ‘कल्पो नीरोगः च यो’ इति कोशः । उद्युक्तः

यदा हि—दे तात ! इस प्रकार आप हमारी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं ?
दिनी वत में मैंने कोई अश्विनय (भूल, प्रुष्टि, गलती, उच्छृद्धता) किया

केसे कहा है, हि—‘मैंने राज्य पालिया है’ ऐसा समझ कर राज
प्रवृत्ति व्याहार न करे, क्योंकि अश्विनय खदनी को ऐसे ही नष्ट कर दे
देवे मुन्दर रूप को हृदावस्था नष्ट कर देतो है ॥ ११४ ॥

और भी—चतुर मनुष्य—खदमी को पाता है, परन्तु भोगन करने
प्रतोगता को पाता है, निरोगी-मुग्ध को पाता है, उद्योगी पुण्य-विद्या के
प्राप्त है, और नम्र पुण्य-धर्म, अर्थ तथा यश को पाता है ॥ ११५ ॥

एव गिद्ध बोद्धा हि—दे देव ! मुनिदे—

गृध्रोऽयदन्—'देव ! शृणु'

'अग्निद्वानपि भूपालो विद्यावृद्धोपसेवया ।

परां त्रियमवाप्नोति जलाऽऽसन्नतरुयथा' ॥ ११६ ॥

अन्यथा—

'पानं, स्त्री, मृगया, धनमर्थदूपणमेव च ।

वान्दण्डयोश्च पारुष्यं, व्यसनानि महीसुजाम्' ॥ ११७ ॥

द्विज—

'न साहमेहाऽन्त-रसा-ऽनुवर्तिना,

न चाप्युपायोपहताऽन्तरात्मना ।

विभूतयः शस्यमवाप्तुमृजिना,

नये च, शौचै च यसन्ति सम्पदः' ॥ ११८ ॥

उद्योगशीलाः । अन्त = परंपमानम् ॥ ११५ ॥ अग्निद्वान् = गृध्रोऽपि । विद्या-
वृदानो = विदुषाम् । उपसेवया = मेधनेन, पणान् = उत्तराम् ॥ ११६ ॥

पानं = मद्यपानम् । धनमर्थदूपणम् = अर्थोऽप्युद्विः, प्रथम्योपकारार्थमद्यपानम् ।
धनद्वयोश्च इवः । पारुष्यार्थं = क्रूरव्यवहाराणां । दण्डण्डार्थं = क्रूर-
दण्डः । व्यसनानि = विषाः । महीसुजाम् = मृगयार्थं धनं चोपेयमन्वये' इत्यमरः ।
॥ ११७ ॥ साहमे च एवमेव तस्य = देवोऽनुवाचः, तमनुवर्तितुं शीघ्रमाय, तेन ।
गर्हयेत्यप्यवर्तते । साहमे इत्यवर्तिना । उपायोपहताऽन्तरात्मना = उपायविजो-

मूर्धं तथा धीरिद्वान् एदिदो को मेत वाते से, अर्थात् उनके मत के
दृष्टान्त वाच्यं करने में, अज्ञ के समीप में विद्या दूप वृद्ध के समान ही लक्ष्मी
(सोना और मन्त्र) को प्राप्त है ॥ ११६ ॥

श्री ३०—मद्यपन, स्त्री, मृगया (शिकार), दूषण, धन को व्यर्थ नष्ट
करना, क्रूर व्यवहार करना, और दण्ड में बर्तना, देवताओं के उद्योग
है ॥ ११७ ॥

साह—को मद्यपन के मत अनुसार, करने वाला हो, पर पर उपस्य करने में

त्वया स्वयलोन्साहमवलोक्य, साहसैकरसिकेन मयोपन्यस्तोऽपि
मन्त्रेप्यनवधानं, वाक्पारुष्यं च कृतम् । अतो दुर्नीतिः फलमिदमनुभूयते ।
तथा चोक्तम्—

‘दुमन्त्रिणं कमुपयान्ति न नीतिदोषाः, ?

सन्तापयन्ति कमपथ्यभुजं न रोगाः ? ।

कं भीरुं दर्पयति, कं न निर्हन्ति मृत्युः, ?

कं स्त्रीकृता न विषयाः परितापयन्ति’ ? ॥ ११६ ॥

पराधेयता । केवलं नीतिनिर्षण-तद्विचारदिमात्रपादयेन । कर्मिताः =
रिपुताः । विभूतकाः = सन्तः । अवाप्तुं = प्राप्तुं, न शक्यं = न शक्याः । ‘श.श.प’-
निनिरिवचिप्रतिरूपकमप्यम् । वनः = नये = नीतौ, शीर्ये = साहसी च । उभयत्र
एदानीनिगो, नत्वेकमेति भावः ॥ ११६ ॥

मदा = श्रेष्ठेण मन्त्रिणा । मन्त्रेण = नीतिविबिन्दु । अन्तरपातम् = अनादरः ।

नीतिर्दोषाः = मन्त्रदोषा यथ-म-च-रिनाशादयः । अत्रपथ्यभुजः = अत्रपथ्या-

दिनम् । दर्पयति = मर्दयति । स्त्रीकृताः = स्त्रीसर्वन्यतः । विषयाः = वशादादयः ।

परितापयन्ति = संक्षोभयन्ति ॥ ११६ ॥

प्रसावधान हो, तो यह कमी विपुल ऐश्वर्य की नदी या सज्जा है, क्योंकि सपत्निया
की नीति और शरता में ही निवास करती हैं ॥ ११६ ॥

और आपने अपने बल और उत्साह के अनुसार साहस करके मेरी बही हुई
झार में अनादर किया है, और मेरे प्रति आपने बठोर बर्तनों का भी
लोग दिया है, अतः उसी दुर्नीति (भूल) का यह फल आप लोग रहे हैं ।
यह भी है, कि—

किमप्युच्यते मन्त्रोऽपि नीति के दोष नहीं माने होते हैं । किमप्युच्यते भोजन

के लोको रोग नहीं सगते हैं । और एदानी किमको पन्थही नहीं बना देती है ।

दुःख किमको नहीं मारती है । और स्त्री के सम्बन्ध में किमप्युच्यते निरवो-

र किसे संसार (दुःख) नहीं देते है ? ॥ ११६ ॥

अपरं च—

‘सुदं विपादः, शरदं हिमागम-
न्तमो विस्वान्, सुकृतं कृतघ्नता ।

प्रियोपपत्तिः शुचमापदं नयः,
त्रियः’ समृद्धा अपि हन्ति दुर्नयः’ ॥ १२० ॥

ततो मयाऽप्याक्रोषितम्—‘प्रब्रह्मीनोऽयं राजा, न चेत्क्यं नीति
शास्त्रेऽथाऽऽमुदी वागुन्मामिस्तिमिरप्यति’ १ । यतः—
‘यस्य नास्ति स्वयं प्रया शारां तस्य करोति रिम् ? ।
लोगनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति’ ? ॥ १२१ ॥

शुः=शुभं, विपादो दुःखं । शरदं—हिमागम. = देवस्तनुं विहन्ति । तमः =
अच्छा, विस्वान् = सर्वं । प्रियोपपत्तिः = प्रियपत्तिः । शुचं = शौचं इति ।
प्रारं = प्रवृत्ति, नयः = नीति इति । समृद्धामपि भियं—दुर्नयः = दुर्नीति इति ॥ १२० ॥
मया = अहमेति । नीतिशास्त्रेऽथाऽऽमुदी = नीतिशास्त्रेऽप्यहमेति । (उत्कृष्टः = सुदं ‘सुमास’) ।
मिभिरपि = अहमेति । निरवनीति नीटे. शोभितो पाठे व—दूरीकरोति,
अनेकं विज्ञानेऽप्यभवेति यतः ।
शुचं शुभं. = शुचं = प्रामाण्यं, प्रण = कुर्वन्ति, तस्य शारां किम् उप-

— शेर भी—एक को विपद नष्ट कर देता है शरदं शत्रु की शोभा को—रिम
शुभ (सुख) का प्रदान नष्ट कर देता है, इमा प्रकार श्रेष्ठों को सुख, गुण
को दुर्नी । (दुर्नयः अर्थ) नष्ट कर देता है ॥ १२० ॥
शौचं शुचं । तस्य नीति शोभा वि—एक राजा निरुद्धि है, नीति
को नीति शास्त्र को अहमेति तस्य नीति शोभा वि—एक राजा निरुद्धि है, नीति
नष्ट (मूर्खता, अज्ञानता इति) करती ।
शोभितो—शुभ को शुभ बुद्धि नष्ट है, उपरं तस्य शरा उपरं नष्ट कर
१. ‘शरदं शत्रुद्वारा’ । २. ‘शुचं शुभं’ ।

—इत्यालोच्याऽहमपि तूष्णीं स्थितः । अथ राजा यद्वाऽऽञ्जलिं राह—
‘ताव ! आत्ययं ममाऽपराधः, इदानीं यथाऽहमवशिष्टबलसहितः प्रत्या-
इत्य विन्ध्याफलं गच्छामि, तयोपदिश ।’ गृध्रः स्वगतं चिन्तयति-
‘क्षिप्रतामत्र’ प्रतीकारः’ । यतः—

‘देवतासु, गुरो, गोषु, राजसु, ब्राह्मणेषु च ।

नियन्तव्यः सदा कोपो, बाल-शृद्धा-ऽऽतुरेषु च’ ॥ १२२ ॥

‘मन्त्रो प्रहस्य ब्रूते—‘देव ! मा भेषीः, समाश्रसिहि । शृणु देव !

‘मन्त्रिणां मित्रसन्धाने, मिपजां सांनिपातिके ।

कर्मणि व्यज्यते प्रज्ञा, सुस्थे को वा न पण्डितः’ ? ॥ १२३ ॥

करोति । नैव किमपीत्यर्थः । शोचनाम्ना=नेत्राम्ना, निहीनस्य=अन्वस्य, दर्पणः कि
करिष्यति=किमुपकरिष्यति, न किमपीत्यर्थः ॥ १२१ ॥

ब्रह्मज्ञानः—ब्रह्मकरमगुदः । प्रतीकारः=उपायः । देवागणु=देवेषु । गुरो =
गुरुनिषे । छात्रः=शेरो । नियन्तव्यः=निर्णेतव्यः । (शेरुना चादिष्ट) ।
॥ १२२ ॥ मन्त्रिणाम् = अमान्यानाम् । मित्रसन्धाने = विद्वत्समाकरणाऽन्तरे ।

१ । । शोचो मे रहित अथे को मला दर्पण क्या उपकार करेगा ? ॥ १२१ ॥

पर सोच कर में चुन ही रहा । इसके बाद वह राजा शपथ जोड़ कर बोला
कि—दे ताव ! अगस्य ही यह मेरा एक अपराध है । अब जैसे भी हम बाकी बची
पोहीमी सेना सहित शीट कर विन्ध्यावनत को कामके देता ही उपदेश प्राप्त करिये ।
तब गिद मन में सोचने लगा कि—अब इसका उपाय करना ही उचम होगा ।

बर्षादि—देवता, गुरु, गौ, राजा, ब्राह्मण, ब्राह्मक, शूद्र और छात्र, इन
पर क्रोध को सदा शेरुना ही चाहिये । अर्थात् इन पर मोच नहीं करना
चहिये ॥ १२२ ॥

तब मन्त्री हंस कर बोला कि—दे देव ! आप दरिये मत । घोडा धैर्य धारण
करिए । हे महाराज ! मुनिदे—

विपदा बानो को बनाने में, अर्थात् शत्रुओं की नीति को (असाधारण चाशी

१. ‘वेनाऽहमपि तूष्णीं स्थितः’ । ‘इत्यालोच्य तूष्णीं स्थितः’ पा० ।
२. ‘ब्रूते च विरस्य’ ।

अथगद्य—

‘आरमन्तेऽप्यमेवाऽऽताः, कामं व्यग्रा भवन्ति च ।

महाऽऽरम्भाः कृतधियस्मिष्ठन्ति च निरादुलाः’ ॥ १२४ ॥

‘नद्यत्र भवत्यतापारेव दुर्गं भवत्युत्था, फीतिप्रनापमहितं त्वामचि-
देव’ कालेन विन्यापकं नेष्यामि ।’ राजाऽऽह—‘व्यमधुना स्वल्पेन
स्वल्पपत्ते ?’ गृध्रो वदति—‘देव ! सर्वं भविष्यति । यतो विजिगीषो-

(गिरी को राजा को पुनः बताने में ही) । साभिप्रायै=सविचाररोगविभिन्नायाम् ।
निरता=कैदायाम् । कामं=कामदे । व्यग्रा=शयने । गृध्रे=गृहीये
तु । ४: पंचको न । ननु सर्वैरपि पंचकोः ॥ १२३ ॥

अथा=तथाः । अरमन्तेऽप्यमेवाऽऽरम्भो, कामं=पदोपदेशः, व्यग्रा=व्यग्रव्याप्तं
मर्त्याः । कृतधियः=पंचकोः, महारम्भा अवि—निरादुलाः=सम्प्रायुक्ता अप
विदुः-पदोः ॥ १२४ ॥

दुर्गं=राजदुर्गम् । फीतिप्रनापमहितं=ममि-रां लो, त्वामचि-
देव=ममि-रां लो, त्वामचि-देव=ममि-रां लो, त्वामचि-देव=ममि-रां लो,
विदुः=विदुः । अथा=तथाः । अरमन्तेऽप्यमेवाऽऽरम्भो, कामं=पदोपदेशः, व्यग्रा=व्यग्रव्याप्तं
मर्त्याः । कृतधियः=पंचकोः, महारम्भा अवि—निरादुलाः=सम्प्रायुक्ता अप
विदुः-पदोः ॥ १२४ ॥

अथा=तथाः । अरमन्तेऽप्यमेवाऽऽरम्भो, कामं=पदोपदेशः, व्यग्रा=व्यग्रव्याप्तं
मर्त्याः । कृतधियः=पंचकोः, महारम्भा अवि—निरादुलाः=सम्प्रायुक्ता अप
विदुः-पदोः ॥ १२४ ॥

अथा=तथाः । अरमन्तेऽप्यमेवाऽऽरम्भो, कामं=पदोपदेशः, व्यग्रा=व्यग्रव्याप्तं
मर्त्याः । कृतधियः=पंचकोः, महारम्भा अवि—निरादुलाः=सम्प्रायुक्ता अप
विदुः-पदोः ॥ १२४ ॥

१. ‘देव ! सर्वं भविष्यति । यतो विजिगीषो-

‘यः काङ्क्षिणीमप्यपयप्रपन्नां
समुद्रेन्निष्कसदस्रतुल्याम् ।

कालेषु^१ कोटिष्वपि मृक्तहस्त—
स्तं राजसिद्धं न जहाति लक्ष्मीः’ ॥ १२५ ॥

अन्यथ—

‘प्रती, विवाहे, व्यसने, रिपुचये,
यशस्करे कर्मणि, मित्रसंग्रहे ।

प्रियासु नारीष्वधनेषु^२ बान्धवे—
प्वतिव्ययो नास्ति नराधिपाऽष्टमु’ ॥ १२६ ॥

य इति । यो रासा काङ्क्षिणीमपि = एकां कपर्दिकांमपि । (काङ्क्षिणी = ‘कीटो
या ‘दुब्धा’ २ पैला = २० कीटो) । अयमप्रपन्नाम् = अयमानपतिनाम्, निष्क-
सदस्रतुल्यामिभ = मन्यमानः । (निष्क = मंने की मोहर या चांदी का करपा) । समुद-
रे = उपायचये । कालेषु = कालवसारे य । कोटिष्वपि = गुणानुरूप्यककोटिष्वपि
(कीटो करपो की मी) । मृक्तहस्तः = तद्वयसे विचारं नाचरति । (मृक्ते हाथ
लथं काया है) । तं राजसिद्धं = शत्रुभेदं, राजसद्वयनेनं स्वगनीचर्यः ॥ १२५ ॥

हे नाराधिन ! अष्टमु अयमधनेषु अतिव्ययो न कल्पयो इत्यर्थः । प्रती = यजे
ध्याने = तिनः । रिपुचये = शत्रुनाशे । यशस्करे = कीर्तिप्रदे । कर्मणि = कार्ये
अधनेषु = अतिव्यये ॥ १२६ ॥

कपोति—को कतुनिव भाग्ये स्वने होनी हुई एक टमही की मोहमार अष्टदिवसे
के सातान ही बसाग है, और समय बदने पर कपोतो बरहे भी पानी की तरफ ही
स्वयं चर देता है, उम राजसिद्ध को लक्ष्मी कनी जही लोदगी है ॥ १२५ ॥

और दूसरे—हे शत्रु ! यज, निराद, अनाथ, शत्रुनाश, यज बदने बहा
कर्म, निराद, निव की को अगमना, और निर्वन भई कथु की गहापना, स्व
अनाथ कपो के अतिर से इन्व लक्ष्मी (देना या स्वयं करना) अतिव्यय
है, अष्टमु इका लथं नही बदला है ॥ १२६ ॥

१ ‘कालेषु’ । २ ‘अधनेषु कथु, अति’ ।

यतः—

‘मूर्खः स्वल्पव्ययत्रासात्सर्वनाशं करोति हि ।
कः मुषीः सन्त्यजेद्द्राण्डं शुल्कस्यैवाऽतिसाध्वसात्’ ॥१२७॥

राजाऽऽह—‘कथमिह समयेऽतिव्ययो युज्यते ?’ उत्तरञ्च—‘आपदये
अनं रचेत्’ इति । मन्त्री प्रते—‘भीमता कथमापदः’ । राजाऽऽह—‘कदाचि-
‘द्विडा’ लक्ष्मीः ।’ मन्त्री प्रते—‘सञ्चिताऽपि^२ विनश्यति ।’ तदेव ! कार्पण्यं
विमुहय स्वभटा दान-मानाभ्यां पुरस्त्रियन्ताम्’ । तथा चोक्तम्—

सल्पव्ययत्रासात् = स्वल्पव्ययभीत्या । (थोड़े से लच के डर से ही) । सर्व-
ण्यं = निपुण्यनविनाशम् । मुषीः = परिहृतः । माण्ड = रिक्तम् । (माण्ड = माल) ।
नश्य = राजदेयकरस्य । (चुंगी) । त्रासात् = भयात् । (क्या ‘चुंगी’ व ‘जकात’
डर से अपने बहुमूल्य माल को कोई समझदार मनुष्य फेंक देता है !) ॥१२७॥
ह = प्रगिनत् विरचितसमये । भीमता = घनिता, माण्ड्यालिनाय । सञ्चिताऽपि =
गणनीयः । ‘सञ्चिताय’ इति पाठे—सञ्चिताऽर्थः = सञ्चितविद्योऽपि ।
योऽपि नश्यति’ इति तु गौडाः पठन्ति ॥

क्योहि—मूर्ख तो थोड़े लच के डर से ही अपने सर्वस्व का भी नाश कर देता
है । पर बौन परिहृत मनुष्य शुल्क अर्थात् राजदेय कर (चुंगी) के डर से अपनी
बहुमूल्य वस्तुओं को फेंक देता है ? ॥१२७॥

राजा बोझा हि—इस निपत्ति के समय बहुत लच करना कैसा उचित होगा ? ।
मा भी है हि—आपत्ति के लिए धन की रखा करनी चाहिए । मन्त्री बोझा
हि—भीमानों को (माण्ड्यालियों को) धारात कैसा प्राप्त हो सकती है ? । तप
रा बोझा—यदि कभी लक्ष्मी खली जाए तो ? । मन्त्री बोझा—नब तो संचय
का हुआ धन भी नष्ट हो ही जायगा । अतः दे देव ! छोन छोड़कर इस समय
र और मान आदि से अपने शूर धीरों का मत्कार करना चाहिये ।

१ ‘द्विडा’ । २ ‘सञ्चितायो विनश्यति’ । ३ ‘दानमानाभ्यां स्वमुपयाः’ ।

‘परस्परशाः, संदृष्टास्यक्तुं प्रायान् सुनिश्चिताः ।

कुलीनाः, पूजिताः सम्यग्विजयन्ते ‘द्विपदलम्’ ॥ १२८ ॥

अपरश—

‘सुमटाः, शीलमम्पद्याः, संदृष्टाः, कृतनिश्चयाः ।

अपि पञ्चशतं शूरा मृद्नन्ति ‘स्त्रिणाहिनीम्’ ॥ १२९ ॥

द्विपद—

‘शिशैरप्यविशेषत्र, उग्रत्र, कृतनाशकः ।

त्यज्यते, किं पुनर्नोऽन्यैर्यथाप्यात्मम्मरिर्नरः’ ॥ १३० ॥

कारंश्यं = कदंबंशम् । त्रिमुष्प = त्रिहाप । (कङ्कमी श्लोक ४८) । परस्पर
शा = संदृष्टाः, परस्परदृष्टेः शेषः । संदृष्टा = प्रसन्नाः । प्रायस्त्वाने कृतनिश्चयाः
कुलीनाः = सत्पुत्रमय्याः । सम्यग्विजयन्ते = सत्कृत्याद्य भयाः शत्रुवर्षं मृ
दिशन्ते इत्यर्थः ॥ १२८ ॥

शुषटा इति । शीलमम्पद्याः, मृदुना परस्परं निश्चिताः, प्रायस्त्वाने कृत
निश्चयाः पञ्चशतं शूराः स्त्रिणाहिनी = सत्पुत्रनामसि, मृद्नन्ति = मर्दयन्ति ॥ १२९ ॥

अपि पञ्चशतं = शत्रुनाशकविशेषत्रः । उग्रः = मूः । कृतनाशकः = प्रह-
रकः । आत्मम्मरिः = शत्रोः सम्भवत्कः । नरा = राजादिः । ‘मृत्’ इति क्लि-
प्तञ्जि । द्विपद-सामुद्रमाध रत्नि । श्वापने = वशिष्टीपने । किं पुनः-अर्थैः =
अतिशैः, नाम्ना-वैद्य-न = नैव त्यागने । अपि तु शूरादेव श्वापने ॥ १३० ॥

येना वहा भी है—परस्पर के जानने वाले, (एक एक अपने वाले)
प्रसन्न, प्रसन्नो को लोहने का निश्चय विद कुट, कुलीन, सत्पुत्र शूरसि श्रेण-
शत्रु की सेवा को सम्यगी तरह से (बरा की बरा में) जीत लेते हैं ॥ १२८ ॥

शौर भी—शौरकुल, शत्रु से सहने वाले, शत्रुनाश करने वाले, निर कुटिलाने,
दोनों बरा में शूरसि भी शत्रु की दूरी की दूरी सेवा को भी मार मरने हैं ॥ १२९ ॥

शौर भी—शौरकुल शत्रुनाश का न करने लहा शत्रु मरने, तथा शत्रुके
शत्रुको शौर शत्रु ही दे शत्रुने बहा है, उसे द्विपद शूर भी शत्रु देते हैं
द्विपद शत्रुनाश शत्रुके का लो बहा ही बहा है ॥ १३० ॥

यतः—

‘सत्यं, शौर्यं, दया, त्यागो नृपस्यैते महागुणाः’ ।
 एतैस्त्यक्तो महीपालः प्राप्नोति खलु वाच्यताम् ॥१३१॥

‘ईदृशि प्राप्तावेऽभात्यास्तावदवश्यमेव पुरस्कृतव्याः । तथा चोष्ण-
 यो येन प्रतिबद्धः स्यात्सह तेनोदयी, व्ययी ।
 स विद्यतो निपोक्तव्यः, प्राणेषु च, धनेषु च’ ॥ १३२ ॥

यतः—

‘धूर्तः, स्त्री वा, शिशुर्यस्य मन्त्रिणः स्युर्महीपतेः ।
 अनीतिपन्नचित्तः कार्याञ्छ्यौ स निमज्जति’ ॥ १३३ ॥

यतः = शून्यः । वाच्यता = निन्दनीयताम् ॥१३१॥ तान्त्व = त्वयम् । यः =
 न-वदिः । येन = राजादिना । प्रतिबद्धः । तेन = राजादिना सह च । उदयी =
 स्याद्धी, व्ययी = दानियुक्तम भवति, स सचिवः, प्राणेषु = शरीररक्षादिषु च,
 स विद्यतः = अधिहारो कर्तव्यः ॥ १३२ ॥ धूर्तः = बलवान् । अनीतिपन्न-
 चित्तः = अनोचितरागुचित्तः । अनीतिपन्नवशः सन् । अकार्यान्धो = अकृत्यमदार्णवे ।
 ‘दत्त-नी’ इति पाठे—कृत्यसद्यसागरे । निमज्जति = मग्नो भवति । (दूब जाता
) ॥ १३३ ॥

श्लो०—सत्यं, शौर्यं, दया और उदारता पूर्वक दान—ये चार गुणों के बड़े
 हैं । इन गुणों के बिना राजा अथवा निन्दा को प्राप्त होता है ॥ १३१ ॥
 और ऐसे प्रसन्न में (ऐसे भीके पर) मन्त्रियों को भी अथवा पुरस्कार देना
 ही । श्लो०—
 देना करता है, कि—जो जिसके साथ सख्त है, और जिसकी उपनि या
 उपायों के साथ ही है, यही सच्चा विरागताम है, इसलिये उसी को
 प्रसन्नो की रक्षा में और धन की रक्षा के कार्य में समाना चाहिये ॥१३२॥
 और जिस राजा के ली, या पालक, या धूर्त ही मन्त्री हो, वह राजा अनीति
 पन्नो में फँस हुआ कार्य संशय के मज्ज में दूब जाता है ॥ १३३ ॥

‘दया त्याग’ । २ ‘शयो गुणाः’ । ३ ‘अभिनुक्तो’ । ४ ‘ईदृशि प्राप्तावेऽभात्यास्तावदवश्यमेव पुरस्कृतव्याः’ । ५ ‘देनोदयी’ । ६ ‘विद्यतोऽकार्यान्धो’ ।

शृणु देव !

‘हर्ष-क्रोधौ यतौ यस्य, कोपः स्वल्पव्ययेन च ।

नित्यं मृत्याञ्चवेत्ता’ च, तस्य स्याद्धनदा धरा’ ॥१३१॥

यिषां राज्ञा सह स्यातामुद्ययाऽपचयौ ध्रुवम् ।

‘अमात्या’ इति तान् राजा नाऽवमन्वैत्कदाचन’ ॥१३२॥

‘महीभुजो मदान्धस्य सङ्कीर्णस्येव दन्तिनः ।

‘स्त्रालतो हि कराऽऽलम्बः सुशिष्टैरेव दीयते’ ॥ १३६॥

यगै = सपत्नी, स्थायीनी । ‘अमी’ इति कनिष्ठाः । कोपः = स्वल्पव्ययं
हर्षाः = स्थायीनः । नित्यं च यो भूयान् पर्वपक्षे, तस्य राशो धरा = पूर्ण
धनदा = सित्तम भवति ॥ १३४ ॥

देवान् = अमं पानान् । उच्यन्वापचयो = वृद्धिज्ञाती । ध्रुवं = नून
मीमान् = नृनिनिपुणः । कश्चिन् = कश्चिन्निदधि, नापमन्वेत = न
रुदीर ॥ १३५ ॥

मदान्धस्य = राजपमरेणमत्ताऽऽपचयेवाऽमनोद्वेषारिणा । महीभुजो =

क्षीर भी मुनिव महाशत्रु । शत्रु के हर्षं क्षीर शोच संवत् ई, क्षीर कम
कामे मे शत्रुका शोच (लक्षणा) भी भरा पूरा है (क्षीर शत्रु शत्रु के क्षी
लक्षणा है), क्षीर शत्रु महा शत्रुको को शिना है, उच्यते यह श्रुती महा
देनेवाही शत्रु है ॥ १३४ ॥

क्षीर शत्रुकी शत्रु के शत्रु ही वृद्धि क्षीर इति होती है, ये ही अमाप च
है । अमाः राजा उच्यते अमाः क्षीर उच्यते उच्यते कथो न करे ॥ १३५ ॥

कश्चिन् = कश्चिन्ने हाथी के मगान गिरने हुए मर मे कश्चिन्ने राजा

१. राजानो मदान्धस्य । २. महीभुजो च । ३. अमापचयौ नित्यं
धरा । ४. महीभुजो मदान्धस्य । ५. महीभुजो मदान्धस्य । ६. महीभुजो
मदान्धस्य । ७. महीभुजो मदान्धस्य । ८. महीभुजो मदान्धस्य । ९. महीभुजो
मदान्धस्य । १०. महीभुजो मदान्धस्य । ११. महीभुजो मदान्धस्य । १२. महीभुजो
मदान्धस्य । १३. महीभुजो मदान्धस्य । १४. महीभुजो मदान्धस्य । १५. महीभुजो
मदान्धस्य । १६. महीभुजो मदान्धस्य । १७. महीभुजो मदान्धस्य । १८. महीभुजो
मदान्धस्य । १९. महीभुजो मदान्धस्य । २०. महीभुजो मदान्धस्य । २१. महीभुजो
मदान्धस्य । २२. महीभुजो मदान्धस्य । २३. महीभुजो मदान्धस्य । २४. महीभुजो
मदान्धस्य । २५. महीभुजो मदान्धस्य । २६. महीभुजो मदान्धस्य । २७. महीभुजो
मदान्धस्य । २८. महीभुजो मदान्धस्य । २९. महीभुजो मदान्धस्य । ३०. महीभुजो
मदान्धस्य । ३१. महीभुजो मदान्धस्य । ३२. महीभुजो मदान्धस्य । ३३. महीभुजो
मदान्धस्य । ३४. महीभुजो मदान्धस्य । ३५. महीभुजो मदान्धस्य । ३६. महीभुजो
मदान्धस्य । ३७. महीभुजो मदान्धस्य । ३८. महीभुजो मदान्धस्य । ३९. महीभुजो
मदान्धस्य । ४०. महीभुजो मदान्धस्य । ४१. महीभुजो मदान्धस्य । ४२. महीभुजो
मदान्धस्य । ४३. महीभुजो मदान्धस्य । ४४. महीभुजो मदान्धस्य । ४५. महीभुजो
मदान्धस्य । ४६. महीभुजो मदान्धस्य । ४७. महीभुजो मदान्धस्य । ४८. महीभुजो
मदान्धस्य । ४९. महीभुजो मदान्धस्य । ५०. महीभुजो मदान्धस्य । ५१. महीभुजो
मदान्धस्य । ५२. महीभुजो मदान्धस्य । ५३. महीभुजो मदान्धस्य । ५४. महीभुजो
मदान्धस्य । ५५. महीभुजो मदान्धस्य । ५६. महीभुजो मदान्धस्य । ५७. महीभुजो
मदान्धस्य । ५८. महीभुजो मदान्धस्य । ५९. महीभुजो मदान्धस्य । ६०. महीभुजो
मदान्धस्य । ६१. महीभुजो मदान्धस्य । ६२. महीभुजो मदान्धस्य । ६३. महीभुजो
मदान्धस्य । ६४. महीभुजो मदान्धस्य । ६५. महीभुजो मदान्धस्य । ६६. महीभुजो
मदान्धस्य । ६७. महीभुजो मदान्धस्य । ६८. महीभुजो मदान्धस्य । ६९. महीभुजो
मदान्धस्य । ७०. महीभुजो मदान्धस्य । ७१. महीभुजो मदान्धस्य । ७२. महीभुजो
मदान्धस्य । ७३. महीभुजो मदान्धस्य । ७४. महीभुजो मदान्धस्य । ७५. महीभुजो
मदान्धस्य । ७६. महीभुजो मदान्धस्य । ७७. महीभुजो मदान्धस्य । ७८. महीभुजो
मदान्धस्य । ७९. महीभुजो मदान्धस्य । ८०. महीभुजो मदान्धस्य । ८१. महीभुजो
मदान्धस्य । ८२. महीभुजो मदान्धस्य । ८३. महीभुजो मदान्धस्य । ८४. महीभुजो
मदान्धस्य । ८५. महीभुजो मदान्धस्य । ८६. महीभुजो मदान्धस्य । ८७. महीभुजो
मदान्धस्य । ८८. महीभुजो मदान्धस्य । ८९. महीभुजो मदान्धस्य । ९०. महीभुजो
मदान्धस्य । ९१. महीभुजो मदान्धस्य । ९२. महीभुजो मदान्धस्य । ९३. महीभुजो
मदान्धस्य । ९४. महीभुजो मदान्धस्य । ९५. महीभुजो मदान्धस्य । ९६. महीभुजो
मदान्धस्य । ९७. महीभुजो मदान्धस्य । ९८. महीभुजो मदान्धस्य । ९९. महीभुजो
मदान्धस्य । १००. महीभुजो मदान्धस्य ।

अथाऽऽगत्य प्रणम्य मेघवर्णो व्रते—देव ! दृष्टिप्रसादं कुरु ।
'इदानीं विषयो दुर्गोद्धारि वर्त्तते । तदेवपादादेशाद्बहिर्निःसृत्य स्वविष्कम्भं
इदंयामि । तेन' देवपादानामानुष्यमुपगच्छामि ।'

वक्रवाद्यो व्रते—'मेघं, यदि बहिर्निःसृत्य योद्धव्यं, तदा दुर्गा-
ऽऽग्रयणमेव निरयोजनम्' । अपरञ्च—

'विषमोऽपि' यथा नक्रः सलिलाग्निःसृतोऽश्वराः ।

'वनाद्दिनिर्गतः शूः सिद्धोऽपि स्याच्छृगालवत्' ॥ १३७ ॥

नक्षत्र, स्थलनः=विषमस्य, पद्मादिमन्त्रस्य, दन्तिनः=दन्तिन-इव, मुष्टिष्टैः=ग्रमर्चैः,
वक्रवर्त्तितभिः, शिष्टैरमात्स्यैश्च, करालम्बः=इस्तालम्बः-दीवते इत्यर्थः । पाटान्तरे
इत्यर्थमागरे=अहत्याऽथो निमज्जतः, मदीभुजः=राजः । स्थलनः=भूमितः,-
स्यपत्नान्, मुष्टिष्टैः=सायुसमाचारैरमात्स्यादिभिरेव । करालम्बः=इस्तावलम्बः ।
दीवते=निरीयते । अन्वस्वापि जले निमज्जतस्तीरवर्तिभिः सन्नैर्इत्यावज्ञमो
भित्ते एव ॥ १३६ ॥

मेघवर्त्तः=यमुप्रतिपिपांसवः । दृष्टिप्रसादं=दर्शनानुग्रहम् । विषयः=शत्रु-
र्षः । विषमः=भीषणः । नक्रः=मकरादिः ('नाका'मगर') । सलिलात्=स्रस्तात् ।

एव, यत्रन अमान्य आदि मित्र वर्ग ही शाय का सहारा देते हैं, शीर उन
ए (सहायक अमान्य) आदि का समुचित सामयिक कर्त्तव्य ही उस रागा के
दे शाय के सहारे के समान है ॥ १३६ ॥

इसके बाद आकर प्रणाम कर मेघवर्ण की ग बोला कि—दे देव ! दयादृष्टि
द (इच्छाकर मुनिय) । अब रुष्ट दिले के द्वार पर आ गया है, अतः
ही आशा ही तो बाहर निकल कर मैं अपना पराक्रम दिनाऊँ, विमुक्त श्राव
पहात के शय्य हूँ । ऐसा सुन कर प्रधान मन्त्री चढ़वा बोला कि—ऐसा
मा करना । जो बाहर निकल कर ही दुःख करना होता तो फिर किसे का
र ही क्यों करते । अथवा दिले में फिर क्यों आकर बैठते ।

शीर भी—जैसे विषम (मयंकर) नाका (मगर मच्छ, घाद, घदिपाल)

१. 'एव युदाधी तिरयो दुर्गोद्धारि निवृत्ति' । २ 'तेन देवप्रसादमप्यऽऽनृत्यते' ।

३ 'वो हि' । ४ 'विर्गतीऽवराः' । ५ 'वनात्तु प्रव्युः' सपत्न' इति तु मुन्दर-

गम् ।

● अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते ●

['वापसो मते—] 'देव ! स्वयं गत्वा हरयतां युद्धम्' । यतः—
'पुरस्थत्य पलं राजा योधयेद्वलोक्यन् ।

स्वामिनाऽधिष्ठितः श्वापि किं न सिंहायते ध्रुवम् ॥१२८॥
'अथ ते सर्वे दुर्गाद्वारं गत्वा महाऽऽह्वयं कृतवन्तः । अपरेषुभिः

पथो राजा गृध्रमुयाच—'सात ! स्वप्रतिशातमपुना' निर्वाह्य ।'
गृध्रो मूते—'देव ! शृणु तापत'—

निःशून्यः = बरिनिर्गतः । अगस्त्यः = हरयतेऽप्यसमर्था भवति । पनाशिराजः
शूरः = मिश्रेऽनि—शृगानर—शतरना गच्छति, क्षीरनिदधने च, तपिर दुर्गं
निर्गतो बीगे, राजाऽपरायः स्वाशिवयः ॥ १२७ ॥

बल = सेनाम् । पुरस्थत्य = सन्त्य, अमः कृत्वा च । अश्लोक्यन् = मत्त
परम् । योधयेत् = युद्धे निवोधयेत् । स्वामिना = प्रमुखा । अधिष्ठितः = सनापः
स्वाऽपि = कुक्कुटोऽपि । सिंहायते = मिर द्वावति ॥ १२८ ॥
ते = आग्रहादौ, पकटादाश्च । अपरेषु = अररिभिः । वाडान्दरे = परेद'

जल तो निकलने पर पराधीन क्षीर निर्वन्त हो जाता है, क्षीर धिये व
निकलता हुआ पाम शूचीर सिंह भी शृगाज (गीःद) के समान ही निर्द
जाता है, जैसे ही बिन्धे में निकलता हुआ शूचीर घोडा भी निर्दल क्षीर चल
जाता है ॥ १२० ॥

एव बोधा बोधा हे देव ! अत्र सर्वं यद्यत्तु दुःखं वी देविने, कथं वि—
राजा को वादि कि वह अत्र हरय देगा । हुआ सेना को छोड करके दुःख
बगने । कर्णेक स्वामी को अधिष्ठित होने पर क्षीर उन्मत्ति बिद जाने पर कुला की
बना गिद को लर वरकम नही सिगाग है । अगस्त्य सिगाग है ॥ १२८ ॥
इसके बाद वे राजा मन्त्री अदि सब बिन्धे के द्वार पर जन्म पननेर दुःख
बाने लर । हमरे दिन निरलं गृगा गिद मे बंटा कि—हे ताप । अन्त
की सेवा को अब निर्वाह । एव गिद बोधा कि—हे देव ! परसे दुर्ग (बिन्धे
के बोधे (कुक्कुटो) को युद्धे—

१ 'अश्लोक्यन्' । २ 'अपरेषु' । ३ 'मपुना' विरिधने

‘अकालसहमत्यल्पं, मूर्खं-व्यसनि-नायकम् ।

अगुप्तं, मीरुयोधं च दुर्गव्यसनमुच्यते’ ॥ १३६ ॥

तावदत्र नास्ति ।

‘उपजापथिराऽऽरोधोऽवस्कन्दस्तीव्रपौरुषम् ।

दुगस्य लक्ष्मनोपायाथत्वारः कथिता इमे’ ॥ १४० ॥

अत्र यथाराक्तिं श्रियते यत्रः । ‘कस्यै कथयति—एवमेवम् ।’ ततोऽ-
नुदित एव भास्करे चतुर्थ्यपि दुर्गद्वारेषु प्रवृत्ते युद्धे, दुर्गाभ्यन्तरगृहेष्वेफदा^१

परिभ्रमरि-इत्यर्थः । अकालसरम् = कालविक्रमवाऽसरम् । अत्यल्पं = अल्पम् ।

मूर्खं नायकं, धूममत्तपानप्रमदादिव्यसनाऽऽसक्तखड्गम्, अगुप्तम् = अराजितम्,

मीरुयोध = धानरमट्टोनि-दुर्गविषद उच्यन्ते ॥ १३६ ॥ अत्र = शत्रुदुर्गे ।

वज्रायः = मेदः । चिरारोपः = बहुकालारोपः । अवस्कन्दाः = सदाशा धामम् ।

(पात) । तीव्रपौरुषम् = अतिपरानमः । लक्ष्मनोपायाः = विजयोरपायाः ॥ १४० ॥

अत्र = दुर्गलक्षणे । अनुदिते = अनमुदिते । एफदा = एवकालमेव, युगपत् ।

शत्रु समय तक चिरे रहने में असमर्थ हो, अतिबुद्ध (द्वेष) हो, और मूर्ख (जानसे

ने) तथा व्यसनी (घूत खेलने वाला, मद्य पीने वाला) जिस दिले का स्वामी

हो, और जिस दिले की टीकरवा न की गई हो, तथा जिसमें अरपोक मोझागप रहते

हो, वह दुर्ग हीन ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि ये सब दुर्ग के दोष हैं ॥१३६॥

एतन्मुद्देशो तो यहाँ हैं नहीं । अतः ऐसे समय में दिले को लेने के ये उपाय हैं—

दिले की भीतरी चीज में किसी प्रकार जायूसी द्वारा पूट करा देना, निरकाळ

युद्ध दिले को घेरे रहना, तथा चारों ओर से एक साथ घात बोज देना और

एकदम सान्ध्य दिग्गता, ये चार ही दिले को जीने के उपाय हैं ॥ १४० ॥

अतः एष नियम में यथायोग्य यत्न दिया जा रहा है । (निरकाळ में बोझा-मैने

‘‘ में मेघार पहिले से ही ऐसा गुन प्रकल्प कर दिया है । गिर हल के उदय

ने के दिते ही दिले के चारों दारों में कससा-पनपोर बुद्ध दिद्द गया ।

१. निरकार्यः कथयति-एवमेव । २. मया प्रथममेव शत्रुदुर्गे यथापि-
रने नूननामाह कार्यसाधको भाग्यवत्-वर्षः ।
‘दुर्गाभ्यन्तरे एते कारकैरुदाभिनिर्दिताः’ ।

काक्षेत्रिर्निष्पिणः । ततः 'गृहीतं गृहीतं दुर्गम्' इति बोलाहलं भुत्वा^१
मर्षत प्रदीप्ताऽग्निमपलोम्य, राजहंसमेनिवा, बहयो दुर्गवासिनप्र सन्धरं
हृदं प्रविष्टाः । यतः—

'सुमन्त्रितं, सुविक्रान्तं, सुपुदं, सुपलायितम् ।
कार्यकाले ययाशक्ति कुर्यान्न तु निचारयेत्' ॥ १४१ ॥

राजा हंसश्च स्वभायान्मन्दगतिः, सारसद्वितीयश्चित्रयर्णस्य सेना-
पतिना कुक्कुटेनाऽऽगत्य वेष्टितः । दिरष्यगर्भः सारसमाह—'सेनापते !

बोडइलं = शत्रुमेना-स्वरपबाडइदारि-बसकलन् । पावकं = बद्धिन् । हृदं =
गठेरं, बहदुगन् । प्रविष्टाः = यज्ञाय प्रविष्टाः ।

प्राग्वाने = अघसरे सप्राने । ययाशक्ति स्वरितमेव ययायोग्यमेनाभि बुर्वाइ
गुमन्त्रित = गुप्यु मन्त्रयाम् । सुमन्त्रितं = पराक्रमानिष्ठयदशंनम् । गुरडाविर्णं =
ज्ञानेय पलापनम् । सुपु वाग यम्पाजसट समागतगामुवायं भर्षिनि कुर्या

बद्धयेरो नाजोविा इरययं ॥ १४१ ॥
सारसद्वितीयः = दुर्गनापतेन मेनाभिनना सारसेन सहिः । वेष्टितः

घोर इतने में ही बिने के भीरी परो में कीरो ने अघसर पाकर एक साथ क
हगती ॥ अन्धर 'विज्ञा ले त्रिपा, किहाले त्रिपा' देना बोडारस गुन कर घा
पातो घोर बहने हुई अग्नि को देगवर रासर्ग को सेना घोर बिने के निवामं
श्रीव ही बड़ी बड़ी भंजी घोर लतावो में आगकर गुन गये ।

बोडि—बायं के ममप-अन्दी गामर्षि, अन्ध पराक्रम, अन्धा मुद कं
दोहा का पदने पर अन्दी तरह में भागता, दो पार बाँगे ममप पर बपाट'
घोर वह गया रासर्ग लोमन्ध ही मे अन्धः लो पाघोर गगम ही घने
ब्रमवा गगपक उनके जग था । अन्ध उम सन्ध विवर्णों के मेनान'। कु
मे अन्ध उमे घेर विवा । लव वह शिवनगर्भ गगम मे बोडा दि-दे मे

१ 'अन्धः पदः' य अन्ध घरेन अन्धेदाः अन्धेन' । २ 'अन्धः पदः' । ३ 'अन्धः पदः' । ४ 'अन्धः पदः' ।

सारस' ! ममाऽनुरोधादात्मानं कथं व्यापादयति । ('अधुनाऽहं गन्तुमस-
 मर्थः), त्वं गन्तुमधुनाऽपि समर्थः । तद्रत्वा जलं प्रविश्याऽऽत्मानं परि-
 रक्ष । 'धम्मत्पुत्रं चूडामणिनामानं सर्वहस्य संमत्या राजानं करिष्यमि' ।
 सारसो मृते—'देव ! न वक्तव्यमेवं दुःसहं वचः, यावच्चन्द्राकी'
 दिवि तिष्ठवस्त्वावद्विजयतां देवः । अहं देव ! दुर्गाधिकारी । 'तन्मम
 नांसाऽमृगिबलिनेन द्वारवत्माना सावत्' प्रविशतु रात्रः' । अपरश्च—देव !
 'दाता, घमी, गुणग्राही स्वामी दुःखेन लभ्यते' ।
 राजाऽऽह—'वत्यमेवैतन्' । किन्तु—

'शुचिर्दसोऽनुरक्तश्च जाने भृत्योऽपि दुर्लभः' ॥ १४२ ॥

द्वारवत्मानः । (पेर लिया गया) । अनुरोधान्=अपेक्षणात् । अनुवर्त्तनात् । दुःसहं=
 दुःखकरम् । देवः=महाशक्तः । भगवन् । दुर्गाधिकारी = दुर्गापतिः । मामाहृगि-
 बलिनेन=दधिरमांसभक्षकमित्येन । द्वारवत्माना=दुर्गाद्वारमागोत् ।
 घमी=घमावान् । गुणग्राही=गुणानुरक्तः । शुचिः=शुद्धः । दसः=

दस । मेरे कारण से अपने को क्यों निपति में डालते हो, गुम तो घमी भी भागन
 समर्थ हो । अतः जल में (सरोवर, भीरु आदि में) गुमकर गुम तो अपनी
 ग कर लो । और चूडामणि नामक मेरे पुत्र को सर्वह मन्त्रीकी संमति से राजा
 देव । सारस बोला कि—दे देव ! आप ऐसा दुःसह वचन मत कहिये, जब तक
 और एवं आकाश में रहें, तब तक आरभी विजय हो (आर राज्य करें) ।
 दे देव ! मैं दुर्गा का अधिकारी हूँ, अतः मेरे मांस और रक्त से जिन द्वार के
 से ही शत्रु हिले में प्रवेश कर सकते हैं, ऐसे नहीं । अर्थात् मेरे मरने पर
 व शत्रु आ सकते हैं, इसके पहले तो मैं शत्रुओं को कमी नहीं आने दूंगा ।
 और भी—दाता घमावान् और गुणों का ग्रहण करने वाला स्वामी बड़े मात्र
 दया है, इस लिये उसे छोड़कर अपनी रक्षा करना कभी उचित नहीं है ।
 व राजा बोला—पर तो सत्य (ठीक) है । परन्तु—
 नैव, (सत्य), चतुर, और अनुरागी (भक्त, प्यारा) भूय भी दुर्लभ

वर्त्तित-क. पाठः । २ 'त्वमधुना गन्तु शक्तः' । ३ 'अपुत्र' । ४ 'चन्द्राकी'
 ५ 'मन्मासा' । ६ तावदिति वाचिष्म् । ७ 'वत्येव, किन्तु' ।

“स्वाम्यमात्यश्च, राष्ट्रं च, दुर्गं, कोशो, बलं, मुहूर्त् ।
राज्याङ्गानि प्रकृतयः, पौराणां श्रेणयोऽपि च” ॥ १४५ ॥
देव ! त्वं च स्वामी, सर्वथा रक्षणीयः । यतः—

“प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा समृद्धाऽपि न जीवति ।
अपि धन्वन्तरिर्विद्यः, किं करोति गताऽऽयुषि” ? ॥ १४६ ॥

अपरम—
“नरेशो जीवलोकोज्यं निमीलति, निमीलति ।
उदेत्युदीयमाने च स्वाविव सरोरुहम्” ॥ १४७ ॥

स्वामी=राजा । राष्ट्रं=राज्यम् । पौराणां=पुरनियामिनाम् । भेषयः=
मन्त्रलानि-पतानि अथवा राज्याङ्गानि-‘प्रकृति’पदेनोच्यन्ते ॥ १४५ ॥
समृद्धाऽपि=धनधान्यादिसम्पन्नाऽपि, प्रकृतिः=राष्ट्रादिरूपा पूर्वोक्ताऽङ्गानि
महतीः । स्वामिनं=राजानं—विहाय न जीवति । यतः—गताऽयुषि=छीनायुषि
युषि । प्रायेण च गतेषु । मृते वा रोगिणि । धन्वन्तरिरिति द्विरर्थो । न
द्विर्नान्यर्थः ॥ १४६ ॥

नरेशे=रूपे । निमीलति=सद्व्युचिनि सति, मृते, विरग्ने च सति । जीवलोकोज्य=
स्वामी, मन्त्री राज्य, विद्या, राजाना, सेना, दृष्ट् और नगरवासी (प्रजा)
कोश मन्त्र वे आठ राज्य के अंग हैं । वे आठों प्रकृति कहलाते हैं ॥ १४५ ॥
देव ! (इन आठों प्रकृतियों में भी मुख्य) आर स्वामी हो, हमलिये परसे
र ही रक्षा सब प्रकार से करनी चाहिये ।

कवोकि—यदि प्रकृति (मन्त्री, राष्ट्र, प्रजा आदि) समृद्ध होने पर भी
नो भी छोड़ दे, तो वह जी नहीं सकता है । धीमे आयु व्यतीत होने पर
न्तरि देव भी क्या कर सकता है, अर्थात् मुहूर्त् नही । अतः राजर में राज्या
ज्य है ॥ १४६ ॥

और भी—राजा के नेत्र मूँदने पर सारा संसार (प्रजा) भी अर्थात् मूँद ले ग है,
१. ‘देव ! त्वं च स्वामी सर्वथा रक्षणीयः । यतः—राज्याङ्गानि’ । २ अरि
‘प्रकृतिः स्वामिनं त्यक्त्वा’ । ३ कावप्र ।

‘अथाऽपि प्रथानाऽङ्गं राजा ।

अथ कुक्कुटेनाऽऽगत्य राजहंसस्य शरीरे सरस्वरनद्याऽऽपातः कृतः ।

‘तदा सत्वरमुपसृत्य सारसेन स्वदेहाऽन्तरिक्षो राजा जले दितः’ ।

‘अथ कुक्कुटनद्यप्रहारजर्जरीकृतेनाऽपि सारसेन कुक्कुटसेना घटुरो
हृता । पश्चात्सारसोऽपि बहुभिः पक्षिभिः समेत्य’ अन्नुप्रहारेण
विभिद्य व्यापादितः । अथ चित्रवर्णो दुर्गं प्रविश्य, दुर्गाऽवस्थितं द्रव्यं
प्राहयित्वा, पन्दिमिर्जयशब्देरानन्दितः’ स्वस्वन्धाऽऽधारं जगाम ।

प्रादिगह्वारोऽयम् । निमोक्षः=निषेधे । उदीवमाने=उत्काशमाने, अम्बुदपमानि च
नृपे, रथी—सरोरुदमिष = कमलमित्र, उदेति = बसते, त्रिकर्षि च । यथा एषोऽदे
कमलानां त्रिकाशः, तदस्वगमने च तेषां सङ्कोचो भवति, तथैव सरोऽम्बुदपे ॥
प्रथमगृहीतः, तन्नाशे च प्रथमानाद्य इत्याद्ययः ॥ १४७ ॥

सरस्वरनद्याऽऽगत्य=सरस्वरनद्यराऽऽगतः । स्वदेहान्तरितः=स्वशरीरेणाऽऽन्त-
रितः । त्रिकर्षि=विशेष । व्यापारितः=दूषितः । समेत्य=समागत्य । पाठान्तरे—सामूह
=मिद्विता । दुर्गं=राजहंसद्विषयमङ्गुलं । प्राहपि या=प्राशय । सास्वन्धाधारं=

अपान् रात्रा के मर होने पर प्रजा भी मरनाय हो जाती है । और रात्रा के
उदय (सुनी, प्रगम) होने पर (प्रजा) उदयपात्री (सुनी) होती है । धीमे एष
के उदय तथा अस्त होने से कमल निवृत्ता और बन्द होता है ॥ १४७ ॥

इसके बाद कुक्कुट ने घाट पर राजहंस के शरीर में अपने बड़े बड़े लीवण नद्यो
से प्रहार दिया । जब शीघ्रता करके सारस में अपने देह से तिराकर राजा को जल
में डूब दिया । कुक्कुट के नभ के प्रहार से लीवण होकर भी उग सेनाती सारा
ने घटुर ही कुक्कुटो कीसेना को भार दिलाया । फिर सारस कोभी घटुर से पक्षियों
में अपनी धंभो के प्रहार से देह कर मार डाला । उभी समय निवर्तन विजे में
पुग कर दर्श को सब धन अन्वय को लेकर बन्दीयों के जब प्रदवार छभी से
अनन्दिता होग हुआ अपने केनभियेठ (पद्म, हृदयी, मेला) को पछा गया ।

१. क. निवृत्तः पक्षीः । २. ‘गः कर्षः’ । ३. ‘अन्वयं कुक्कुटेन
उपगत्य सरोरुदमिषं त्रिकाशं सारसेन स्वदेहान्तरित्य राजा जले दितः’ ।
४. कुक्कुटिर्जयशब्देन सारसेन सपञ्चुदरलेन त्रिकर्षि व्यापारितः ।
५. ‘सास्वन्धाधारं’ । ६. ‘उदयपक्षेनाऽऽधारं’ ।

अथ राजपुत्रैरुच्छम्—‘तस्मिन् राजसवले’ पुण्यवान् स सारस’ एव,
येन स्वदेहत्यागेन स्वामी रक्षितः’ । अतः—

‘जनपन्ति सुतान् गावः सर्वा ण्व’ गमाञ्छुनीन् ।

विषाणोत्लिखितस्कन्धं काचिदेव गवां पतिम् ॥१४८॥

विष्णुशर्मोवाच—‘स ‘तापत्सत्त्वकीतानद्ययलोकान् विद्याधरी-
परिवृतो’ऽनुभवतु महासत्त्वः’ । तथा चोक्तम्—

‘आहवेपु च ये शूराः ‘स्वाम्यर्थे त्यक्तजीविताः ।

मर्त्यमक्ताः, कृतज्ञाश्च, ते नराः स्वर्गगामिनः’ ॥ १४९ ॥

सत्त्वोत्सर्गनिवेशं । पुण्यवान्=पुण्यवात्मा । स्वामी=राजसवले राजा । गमाञ्छुनीन्=प्रममा-
नाहनीन् । पत्नीवर्दान् । विषाणोत्लिखितस्कन्धं = सन्तुष्टममन्दशंसनसमानरोपाये-
रेन तन्मृगविशारितवृक्षस्कन्धम् । गवां विषाणोत्लिखितो स्कन्धो यस्येति वा । एतेन
एव भीमार्थानिश्चयः सूचितः । गवां पति = गोसङ्गमुच्यते । (शा० ३०) ॥१४८॥

सत्त्वकीतान्=सत्त्वबल-पौष्ट्यक्रीतान् । द्ययलोकान् = द्ययवर्गादि-
लोकान् । विद्याधरीपरिवृतः=विद्याधरमुन्दरीगणपरिवृतः । महासत्त्वः = महासु-

इसके बाद यह कथा सुन कर राजपुत्रों ने विष्णुशर्मा से कहा कि—‘उस
राजसवले की सेना में तो यह सारस ही बड़ा पुण्यवात्मा था, जिसने अपने देह को
त्याग कर भी अपने स्वामी की रक्षा की । मैंने कहा भी है—

यदि सभी गावों बैलों के समान ही पुत्रों को पैदा करती हैं, परन्तु जिसके
कन्धे (१४८ में) सींगों से छत-निचत हो ऐसे गोरुगि (सी०) को तो कोई कोई
गाव ही उत्पन्न करती हैं । सच ही नहीं ॥ १४८ ॥

उस विष्णुशर्मा बोलें कि—यह महापुरुष (मारु) तो अब विद्याधरियों के
मुँहों से स्वर्ग का अनुभव आनन्द भोग रहा है ।

मैंने कहा भी है कि—स्वामी के मक्त और भिये उपहार को मानने वाले जो
दूर-दूर संज्ञान में स्वामी के लिये अपना जीवन छोड़ते हैं (शा० याग करते हैं)
वे मनुष्य मर्त्य स्वर्ग में जाते हैं ॥ १४९ ॥

१ ‘तस्मिन् राजसवले’ । २ ‘पुण्यवान् सारस एव’ । ३ ‘स पुण्यवान् सारस एव’ ।
४ ‘उच्छम्’ । ५ ‘सवले’ । ६ ‘कचिदेव’ पा० । ७ ‘स तापत्सत्त्वकीतान्परिवृतः’
विष्णुशर्मोवाच । ८ ‘महासत्त्वः’ । ९ ‘विद्याधरीपरिवृतोऽनुभवतु’ । १० ‘स्वाम्यर्थे’ ।

● अभिनवराजलक्ष्मीमायाटीकाविराजिते ●

‘यत्र तत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवेष्टितः ।
अवर्षाद्भ्रमते लोकान्यदि क्लेशं न गच्छति’ ॥ १५० ॥
अथ विष्णुरामो प्राऽऽह—
विग्रहः भक्तो मयद्भिः । राजपुत्रैरुक्त्वम्—‘भ्रुत्वा मुसिनो भूता वयम् ।’
विष्णुरामोऽब्रवीत्—‘अपरमत्येवमस्तु—
‘विग्रहः परितुङ्गपत्तिभि—
नों कदापि भवतान्महीसुजाय् ।

नीतिमन्त्रपरनैः समाहताः
संश्रयन्तु गिरिगह्वरं द्विपः’ ॥ १५१ ॥

इति श्रीनारायणपरिवहत्कृतो हितोपदेशो—
नीतिशास्त्रे विग्रहो नाम तृतीयः कथामंमहः ॥१॥

नामः । आशु = सुदेशु । यत्र = यत्र कुत्रादि इत्यने । परिवेष्टितः = आश्रितः ।
हः = मृगधेयु । अवर्षन् = नित्यन् । शोचन् = मत्स्यारिबोधन् । क्लेशो =
मज्जेति । श्रेयं = कलरमात्म ॥ १५० ॥
कविशुभ्रतविभिः = इत्यवशाः । तत्र, कदाचिदपि विग्रहः = सुद, नीति
भक्त्या = मयम् । नीतिमन्त्रपरनैः = नीतिमन्त्रद्वयपरनैः = आहताः । विग्रहः
= राजविग्रहः । मयद्भवन् । विरिण्डरं = तत्रैव समाभवन् ॥ १५१ ॥
इति कंगुदरकण्ठकविश्रवितः श्रीविश्वेश्वरस्य हितोपदेशोऽर्थशिवराजब्रह्मणो
विग्रहो नाम तृतीयः तन्त्रम् । इति हितम् ।

होर् जो ह्मारे कोडा वागे होर् ते ह्पुसो ते पिरा हुमा कर्हा वही भी
मग मग है. वर वरि कंगुम न बरे (केड न रिगारे), तो कवर्ष हो वा
अवर्ष पुदर भोरो को पाग है ॥ १५० ॥ पुनः विष्णुदत्त को—
अथ शोरो ने ये विग्रह की कवर्ष पुन ही ही है । एव राजपुत्र
कोरो—एव कवर्षो को मूनका इत्येव कवर्ष ही कवर्ष होर् कंगुमं हुद है ।
एव विष्णुदत्त को रो—कवर्षो तो हिर वर कोर् भीरो विग्राहो को वा पाग
ते ह्मो रो को रो है: तो पुन कवी न ही, विष्णुदत्त को मगी (उप
मग) की कवर्ष ते व इव हो:ए ह्पुम कवर्ष की मुराको वा कवर्ष ले
कवर्ष कवर्षो को कवर्ष मगी एव ह्पुसो को मग मग कवर्ष ॥ १५१ ॥
विग्रह का विग्रहकवर्ष तंगुम कवर्षकवर्ष मगम ।

अथ सन्धिः ।

पुनः कथाऽऽरम्भकाले राजपुत्रैरुक्तम्—‘आर्य ! विप्रहः श्रुतो-
ज्जमाभिः । सन्धिरघुनाऽभिधीयताम् ।’ विष्णुरारम्भणोक्तम्—‘धूयताम्,
सन्धिमपि कथयामि । यस्याऽयमाद्यः श्लोकः—

‘वृत्ते महति संग्रामे राज्ञोर्निहतसेनयोः ।

स्येषाम्यां गृध्र-चक्राम्यां वाचा सन्धिः कृतः क्षणान् ॥१॥

राजापुत्र उच्युः—‘कथमेतन् ?’ । विष्णुरारम्भ कथयति—

‘तन्मतेन राजहंसेनोच्छं—केनाऽरम्भदुर्गे निक्षिप्तोऽग्निः ? । किं पार-
स्येष ?, किं याऽरम्भदुर्गवासिना केनापि’ विपत्तप्रयुक्तं ? ।’ अक्रमाफो

• श्रीगुरुप्रसादशास्त्रिहृता अभिनयराजलक्ष्मीः •

कथाऽऽरम्भकाले = पुनः कथाप्रारम्भमये । आर्यं = हे पूज्य । विप्रहः = मुदम् ।

विः = मेहनम् । तदनुबन्धी कथासत्र इति वाचन् । वृत्ते इति । महति संग्रामे =
तरो युद्धे । वृत्ते = निष्पत्ते । संग्रामे सति । निहतसेनयोः = इतसेनयोः ।

विः = विवरणं-राजहंसयोः । स्येषाम्यां = मयस्याम्याम् । ‘स्येषो विगदरयानस्य
द्विः, पुरोहिते’ इत्यमरः । गृध्र-चक्राम्यां = गृध्र-चक्राङ्गाम्यां मुषरमन्त्रिण्याम् ।

वाचा = वाट्मानेनैव । सन्धिः = सन्धानम् । कृतः = निष्पादितः ॥१॥
अय तेन = इतसेनेन कथञ्चिद्विनेन हिरण्यगर्भेण । पारस्येषु = पराधीयेषु,

दिरपुनः कथा के आरम्भ समय में वे राजा के पुत्र बोलें कि—हे आर्य ! इन लोगों
के विपद् ही आर से मुना, अब सन्धि अर्थात् मेल का भी आर चलने की प्रिये । तब

निष्पत्तमां बोले कि—‘गुनिदे, सन्धि भी कहता हूँ । जिसका परला शकोद पर है—
उन दोनों राजाओं में बड़ा युद्ध हो जाने पर शीर उममें दोनों पक्षों की बहुत सी

पक्षों के मारे जाने पर प्रधानमन्त्री गिद और मध्ये ने मन्त्रय होकर घर मर
वा थीं करके मेल कर लिया ॥ १ ॥
दरपुन बोले कि—पर कथा कैसे है ? । निष्पत्तमां बोले—

इसके बाद उस राजहंस ने मन्त्री अक्षये से पूना कि—इसारे विस्रे में किसने
१. ‘केचिन्’ ।

प्रते-देव ! भवतो निष्कारणपुत्रसौ मेघपथः सपरिवारो न^१ दरपं
सन्मन्ये तस्यैव विचेष्टितमिदम् ।
राजा ह्यु पिचिन्त्याञ्छ-अस्ति तापदेवं, मम दुर्देवमेत

तया चालम्-
'अपराधः म देवस्य, न पुनर्मन्त्रिणामयम् ।
कार्यं गुचरितं क्वापि देवयोगाद्दिनरयति' ॥ २ ॥
मन्त्री प्रते-उत्तमवैतन-

'विषमां हि दशां प्राप्य देवं गर्हयते नरः ।
आत्मनः कर्मदोषान् नैव जानात्यपिहितः ॥ ३ ॥

उत्तमवैतना । शिशुपदुष्टेन = शिशुपदुष्टिना । निष्कारणपुत्रः = अकारणपुत्रः ।
पथे' १ । = सपथः । स ग तापदेवम् = स ग तापदेवम् । दुर्देवं = दुर्भाग्यम् ।
अथ = अपराधः । देव-पराधः = देवदुष्टिनिमित्तम् । नाथ मन्त्रिणा दोषः ।
गुचरितं = गुचरितमिति, कार्यं-देवयोगाद्दिनरयति = देवयोगाद्दिनाद्यं कर्तव्यं ॥ २ ॥
विषमां = विषमताम् । दशां = दशम् । देव = भाग्यम् । गर्हयते =
निन्दति । आत्मनः = स्वयम् । कर्मदोषान् = विषमतायाः पराधम् ।
अस्ति वेदो भी । क्वा गुचरितं के विमोक्षाय मे, वा इदारे दुर्गं मे ही गणे वा
विभी वेी मे मित्रे दूष मे ।' क्वा गुचरितं वे-देव । आरथा अकारण व
वद मेघपथं (की ॥) ही परिवार मर्ति वही नरी दीपता है । दशः मे तो उ
को वद क्वापि जानः है । त्व गणा द-नाथ भोवदर कोषा वि-वही ।
है । वद त्व मेघ ही दु-गण अथ अप दे ।
येन क्वा भी है-वग-वगःपा (टीक टीक विवा क्वा) वग भी माय के
मे ही उद हो जान है । इन्मे माय वा ही अथ अप है, मर्तिवो वा नरी ॥
त्व वद मर्ति वे-देव-वगः भी है-
दूष मर्ति वि-वग मे वदव, पुगे दश को वग देव, माय की
वगः है, क्वापि वद क्वापि । वमे दूष वग के वे-वो को नरी जानः है ॥
१. 'वदः' । २. 'वदः वदः' । ३. 'दुर्भाग्यदेव' । ४. 'वदः
वदः वग । ५. 'दोषः' ।

अपरञ्च—

‘सुहृदा हितकामानां यो वाक्यं नाऽभिनन्दति ।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति’ ॥ ४ ॥

अन्यथ—

‘रक्षितव्यं सदा वाक्यं, वाक्याद्भवति नाशनम् ।
हंसाभ्यां नीयमानस्य कूर्मस्य पतनं यथा’ ॥ ५ ॥

राजाऽऽह—‘कथमेतत् ?’ । मन्त्री कथयति—

१ हंस-कूर्म-कथा ।

अलि मगधदेशे पुच्छोत्पलाभिधानं सरः । तत्र^२ चिरं सद्गृहविष्ट-
कामानो हंसो नियसतः । तयोर्भिन्नं कम्बुपीयनामा कूर्मश्च प्रतियसति ।

अलिः = अलिमूरयकारी, मूलः ॥ ३ ॥
हितकामानां = हितैषिणान् । सुहृदा = मित्रकम्बुवाण्ययानाम् । न अभिनन्दति =
। नृणोऽपि, न तदनुकूलमाचरति च । कूर्मः = कच्छरः । दुर्बुद्धिः = दुर्बुद्धिः ।
। गृहोऽपि, न तदनुकूलमाचरति च । भ्रष्टः = गतिनः । विनश्यति = विनाशमुपयानि । भ्रियते
५ ॥ वाक्यं = वाक्यं । रक्षितव्यं = न नृणा वक्तव्यम् । केनाऽपि सह नृणा
। शोऽपि न कार्यः । नाशनं = विनाशः ॥ ५ ॥

श्रीरभी—हित चाहने वाले अपने मित्रों के दुश्मनों को जो नहीं मानता है,
एक ठम दुर्बुद्धि (लोथी बुद्धिवाला) कछुए की तरह ही सद्गृही (अपने
दुश्मन) से गिर कर नष्ट हो जाता है ॥ ४ ॥

श्रीरभी—मनुष्य को क्या नहीं बोलना चाहिए, क्योंकि अविष्ट बोलने
विनाश (हानि) ही होता है, जैसे दो हंसों से हो जाया जाता दुष्ठा यह कम्बुपी
का बोलने से ही गिर कर मर गया था ॥ ५ ॥

गया बोला कि—‘यह क्या बोल रहे हैं ?’ । मन्त्री कहने लगा—
मगधदेश में पुच्छोत्पल नाम का एक सरोवर है । वहाँ बहुत सनर से संघट
विष्ट नाम के दो हंस रहते थे । श्रीर उन दोनों का एक मित्र कम्बुपी
१. कर्त्तव्यः कश्चिन्मैव वदति । २ ‘चित्’ ।

• अभिनवराजलक्ष्मीभाषाटीकाविराजिते •

अथैकदा धीवरेणाय सत्रोच्छं, यत्—अत्राऽऽमाभिरुतोपिन्वा प्रा
 मन्त्यहूर्मादयो ध्यापादयितव्याः । तदाकर्ण्य कूर्मो हंसावाद—'सुहृदं
 भ्रतोऽयं धीवराऽऽलापः । अथुना किं मया कर्तव्यम् ?' । हंसावाद्दत्तु
 'आयतान्तावत्, पुनस्तावत्प्रातर्यदुचितं सत्कर्तव्यम्' । कूर्मो प्रः
 भैषम् । यतो दृष्टव्यतिकरोऽहमत्र' । तथा चोच्छम्—
 'अनागतविधाता च, प्रत्युत्पद्यमतिस्तथा ।
 द्रावेतौ सारमेधेते, यद्भ्रमिष्यो विनश्यति' ॥ ६ ॥

तावाद्दत्तु—'कथमेतत् ?' । कूर्मः कथयति—

धोः=मत्स्यपत्राऽऽशीघ्रः । (धीवर) । तत्र=प्रसिम्तागि । उरिग=
 पिन्वा । ध्यापादयितव्याः=हन्तव्याः । आकर्ण्य=धृत्वा । हंसो=हंसी प्रति ।
 द्वितीया तमेत् । तावत्=यावत् । गणना=हिमेते कुर्यान्ति, तत्रयोदशगणनावत् ।
 उच्यते=योग्य प्रतिनिधानम् । दृष्टव्यतिकरः=उपेक्ष्यते मानिनी वा हन्तिः
 वा कर्त्तव्यमत्स्यविनाशकृता मया इति ।
 अतिह्रमेकद—अनागतोति । अतो=एतत्प्राप्तो मरुतो । कूर्मं च
 स्वाकृता । एधेते=गुणं जीवतः, वदते च ॥ ६ ॥

नाम वा कर्तुमा धीवरोरुताया । एवमनव धीवरो (मनुष्यो) मे वरौ धार ।
 कि—इत एव वरौ एव वर प्रायः कश्च मनुष्यो, अत्रुते धारि मागे धीर
 टिक्ता वरौ । पर गुण वर वदन्तु हंसो मे वरौ कि—मे मित्रो ।
 धीवरो वा वर वदना गुण हो प्रिया होगा । बहिष् कश्च इम क्या उपाय करे
 वे इम हंसरे कि—इतको वरने हीचिये, फिर प्रायःकश्च भो योग्य होगा सो
 वदन्तु हंसरे कि—देगा न वरौ, क्योंकि देने मागतो मे उपेक्षा करने
 निजि हन्तो है, वर ही देन गुण हैं ।
 येना कि वरौ ही है—अनन्तरप्रायः (अग्रमेकी,) धीर प्रा
 (मनुष्य के अन्तुपर कर्त्तव्य करने कथा) के हंसो तो गुण मे वरौ
 कर्त्तव्य (हंसरेण वा विद्वान् करने वाना) नर हो प्रायः है ॥ ६
 एव एव हंसो मे इत् कि—एव क्या वेगो है । वदन्तु वरौ

१. 'दृष्टव्यतिकरः' ।

२. अनागतविधात्रादिमत्स्यत्रयकथा ।

पुराऽस्मिन्नेव^१ सरस्येवंविधेष्वेव^२ धीवरेषूपस्थितेषु मत्स्यत्रयेणा-
 ऽऽशोषितम् । तत्राऽनागतविधाता नामैको मत्स्यः । तेनोक्तम्—'अर्ध
 तात्रज्ञानायाऽन्तरं गच्छामि' । इत्युक्त्वा स हृदान्तरं गतः । अपरेण
 प्रत्युत्पन्नमतिनाम्ना मत्स्येनाऽभिहितं—'भविष्यदर्थे प्रमाणाऽभावालुत्र
 मया गन्तव्यम् ? । 'तदुत्पन्ने यथाकार्यं तदनुष्ठेयम्' । तथा चोक्तम्—
 'उत्पन्नामापदं यस्तु समाधत्ते स बुद्धिमान् ।

यणितो भार्यया जारः प्रत्यक्षं निद्घृतो यथा' ॥ ७ ॥

यद्भविष्यः पृच्छति—'कथमेतत् ? । प्रत्युत्पन्नमतिः कथयति—

पुरा=पूर्वकाले । (पहिले भी) । एवविधेषु = ईदृशेषु । उपस्थितेषु = मत्स्या-
 त्रयापंभागतेषु । मत्स्यदर्थे = छायाभिनि विषये । प्रमाणाभावात् = निधया-
 नात् । तत्र = ताम्नात् । उत्पन्ने = मये समापतिते । यथाकार्यं = कार्यमनुष्ठेयम् ।
 तेषाम् करणोपम् । समाधत्ते = दूरीकरोति । यणितः = शैत्यम् । प्रत्यक्षं =
 तपुः पुरतोऽभि । निद्घृतः = कपनीतः । (दिशा लिया) ॥ ७ ॥

परसे भी इसी सरोवर में ऐसे ही बीसों के आनेपर, वहाँ रहनेवाली तीन
 त्रयो ने भी विचार लिया था । उनमें से अनागतविधाता नामकी एक मद्दती
 थी । उसने कहा कि—मैं अभी दूसरे जलस्थानको जाती हूँ । ऐसा कर कर वह
 ने दूसरे वाक्याव में चली गई । दूसरी प्रत्युत्पन्नमति नाम की मद्दती ने विचार
 किया कि—इसने काले माती कार्य में प्रमाय (निधय) न होने से अमी में
 था काहें ? । अतः समय पड़ने पर ऐसा करना योग्य होगा ऐसा ही करूँगी ।
 ऐसा ही कहा भी है—बुद्धिमान् यद्द है, जो काहें हुई आवति का तद्दत्त
 कर (उपरति) को दिशा लिया था ॥ ७ ॥

प्रत्युत्पन्नमति कहने लगा कि—
 १ 'एवविधेषु' । २ 'एवविधेषु' । ३ 'तदुत्पन्ने कार्ये यथाकार्यमनुष्ठेयम्' ।

३. वणिग्भार्याजारकथा ।

'पुत्र' विप्रमपुत्रे समुद्रदत्तो नाम वणिगस्ति । तस्य^३ रत्नप्रभा ना
गृहिणी स्वमेयकेन सह सदा रमते । यतः—

'न स्त्रीणामप्रियः कथिन्, प्रियो वाऽपि न विद्यते ।
भारस्त्रुणामिराजरस्ये प्रार्थयन्ते नवं नवम्' ॥ ८ ॥

अर्थवद्वा सा रत्नप्रभा तस्य सेवकस्य मुने पुण्यनं ददती समुद्रदत्ते
नाऽप्यलोकिता^३ । ततः सा पन्थकी मत्वर भर्तुः मर्मापं गत्याऽऽद-
'नाय । पत्न्य सेवकस्य महती निवृत्तिः । "यतोऽयं चौरिषा कृत्वा
कूपर ग्राहती"ति मगाऽप्य मुग्धमाप्राय ज्ञानम् । तथा चोपम—

गृहिणी = भार्या । रमते = मृगमृगमनुभवति । नव = नवीनं पुत्रानम् ।
प्रां वने = तादृशिन ॥ ८ ॥ कथिन् = कथनी । ('दिनास' 'पुण्या') । स्तारं =
स्व'रामेय । निवृत्ति = टापम् (बड़ी दुश्ता है) । 'निवृत्ति'ति मुद्रितं पाठम् ।
वशे विप्रपुत्रे समुद्रदत्त नाम वा एक पौरव या, उगरी रत्नप्रभा नाम

की स्त्री कपने शेरव से बनी थी, और उसके साथ सदा स्त्रीहीनविका बरती थी
कथिन्—शिवो का न तो कोई सदा प्रिय है, और न कोई धर्महीन है ।
वि. पु. शेरव स्वयंसे नई नई पत्न को दृष्ट दृष्ट कर बरती है, दैते ही प्रियों के
महा महा महा दुश्को को बरती रहती है ॥ ८ ॥

पुत्र वत्त को भी वा किसी समय अपनी स्त्री उग रत्नप्रभा को किसी ने
के पुत्र से पुत्र देते हुए मद्रदत्त से देना दिया । अब वह पुत्रवती है
उगरी स्वयं के मर्त्य पाषाण को ही वि—ने नव । देना, अपना वह तो
वह ही दृष्ट (दृष्ट) है । वचन—वह को भी बरके प्रिय बुर नव ।
दोने कभी हमका दृष्ट दृष्ट कर वह वा ज्ञानी है ।

१ 'दृष्ट' विद-पुत्र । २ 'वचन' स्वयं-श्री वपुः के मर्त्य पाषाण से
जोना मने । ३ 'दृष्ट' विद-पुत्र । ४ 'वचन' स्वयं-श्री वपुः के
मेयना बर्तमानवत् । वपुः स्वयंसे पुत्रो दृष्टं मद्रदत्त-पुत्र ।

‘आहारो द्विगुणः स्त्रीणां, बुद्धिस्तासां चतुर्गुणा ।

पङ्गुणो व्यवसायश्च, कामश्चाष्टगुणः स्मृतः’ ॥ ९ ॥

‘वच्छ्रुत्वा सेवकेनापि प्रकृष्योक्तं—‘नाय ! यस्य स्वामिनो

गृहे एतादृशी भार्या तत्र सेवकेन कथं स्यात्तव्यम् ? । यत्र च प्रतिक्षणं

गृहिणी सेवकस्य मुरं जिघ्रति ! । ततोऽसाबुन्याय चलितः । साधुना च

बनान्नयोष्य घृतः । अतोऽहं मघोमि—‘उत्पन्नामापदम्’ इत्यादि ॥ ९ ॥

‘पदमावि न तद्भावि, भावि चेन्न तदन्यथा’ ।

इति चिन्ताविपद्घ्नोऽयमगदः किं न पीयते’ ? ॥ १० ॥

न महानुगुणः । (निवृत्तिः=मुग्धम् । शील्यम्) । अयस्यः=उद्यमः ॥९॥
 विप्रति=अन्यमुनादत्ते । असी=सेवकः । अदिति । ‘यन्न मन्विभ्यति, तस्यैव

मन्विभ्यति, यच्च मन्विभ्यति, तस्यैव केनापि दूरीकृतुं शक्यते’ इत्ययं चिन्ता-
 भाषितः—अगदः=मेरुगन्धु, कुतो न लोकेः पीयते ? । अयस्यमिदं वेयम् ॥९॥

कैसे किसी ने कहा मीरे—‘तुमको का आहार पुरुषों से द्विगुण होता है, उनको
 बुद्धि पुरुषों से चौगुनी होती है, पराक्रम उनका (उद्योग) छै गुना होता है और
 काम पुरुषों से आठ गुना होता है ॥ ९ ॥

पर मुन कर यह सेवक भी क्रोध करके बोला कि—‘दे स्वामिन् । जिस स्वामी
 के घर में ऐसी स्त्री है, जो प्रतिक्षण सेवकों का मुग्ध ही सुँपती रहती है, वहाँ
 सेवकों का निरतं कैसे हो सकता है । ऐसा कहकर यह सेवक उठकर जाने लगा ।

य उपदेश ने उसे वही पल से समझ बुझकर किसी तरह रक्खा । इमच्छिदे में
 गूँ है—‘विप्रति घाने पर जो उसका तत्काल समाधान कर सके, वही बुद्धि-
 न है’ इत्यादि । यह मुनकर पुनः यह यद्मन्विष्य बोला कि—

‘जो नहीं होनेवाला है, यह कभी हो नहीं सकता है, और जो होनेवाला है,
 वही टूटा नहीं जा सकता है, अर्थात् यह होजा ही है ।—चिन्तारूप नियमों
 के लिये पर भीपति क्यों नहीं पीते हो ! ॥ १० ॥

‘उत्पन्नामापदम्’ । २ ‘उपकृष्योक्तं’—यस्य गृहे ईदृशी ।

ततः प्रातर्जलिन बद्धः प्रत्युत्पन्नमतिर्मृतवदात्मानं सन्दरश्य सियतः । ततः
जालादपसारितो 'ययाशक्त्युत्प्लुत्य गमीरं नीरं प्रविष्टः । यद्भविष्य
धीवरीः प्राप्नो, व्यापादितः । अतोऽहं प्रधीमि—'अनागतविधात
य' इत्यादि ॥ • ॥

तद्ययाऽहमन्यं हर्षं प्राप्नोमि तथा^१ क्रियताम् ।^२ हंसायाहृतः—'जला
शयाऽन्तरे प्राप्ते तव कुरालम् । स्थले गच्छतस्ते को विधिः ? ।' कूर्मं भाद-
'ययाऽहं भयद्रुणां सदाऽऽकारावर्त्मना यामि, तथा^३ विधीयताम् । हंसो
मृतः—'कथमुपायः सम्भवति ? । कच्छपो वदति—'युवाभ्यां पञ्चपुत्रै-
षाऽन्यएहमेकं मया मुग्धेनाऽयत्नम्वितज्यम् । 'तत्रश्च युवयोः पञ्चपत्नेन
मयाऽपि मुग्धेन गन्तव्यम् ।' हंसो मृतः—'सम्भवत्येष उपायः' । किन्तु—

अपसारितः = धीवरीर्नभ्रासिउः । प्रप्ते = सत्ये स्याउ तु । स्थले = भूमौ ।
विधिः = उपायः । आकारवर्त्मना = गगनमार्गेण । सम्भवति = का पपपुत्रायः ।

द्वि प्राःकात्त तव बह प्रपुत्रममी जाह्र मे पम गवा भो यह अपने को मरा
हुआ ना दिशाग हुआ श्याग लीनहर बह गवा । तव अनुयो नं ठते मरा हुआ
जानकर जात से निहालकर बाहर देकर दिया । इसके बाद जाह्र से निहलने पर
यह अपनी सामर्थ्य के अनुसार वेग से टाढ़बहर गहरे जल में जा गुमा छोड़ बच गया ।
पान्थु बद्धस्थि धीवरी से पकड़ा बाहर मारा गया । इसप्रिये में बहना हूँ कि-
'अनागत विधात की प्रपुत्रममी' के दोनो लो गुण से रहे, और बद्धस्थि
मरा गया' इत्यादि । अतः धीमे में दूसरे ताकाव में पहुँचें, ऐसा कोई उपाय
बनो । तब इस कोसे दूसरे जहाज में पहुँच जाने पर लो काका हुआ है, पर
भूमि में बहो हुए पड़े काकोसे लो काक के बचने का क्या उपाय है । काका
कोसे कि—'धेमे में भी काक के साथ आकाशमार्ग से जा सकूँ बैगा हो बने । इस बंटे
कि—'लोग क्या उपाय हो गवा है ।' पपुत्राकोकाकि—'दुन दोनो पांव में बह का
दब हुआ बह बने और में उपायो मुँह से लेलूँगा और इस प्रकार दूसरे पपुत्र
के बचने में भी तुमसे बहा जाऊँगा ।' इस बंटे कि—'यह उपाय दोनो गवा है ।

१. 'ययाऽहं भयद्रुणां सदाऽऽकारावर्त्मना यामि' । २. 'हंसायाहृतः' । ३. 'म उपायो विधीयते' ।
४. 'अने मराये बह' ।

‘उपायं चिन्तयन्प्राज्ञो, ‘क्षपायमपि चिन्तयेत् ।

परयतो बकमूर्खस्य ननुलैर्मचिताः प्रजाः’ ॥ ११ ॥

हृन्ः वृच्छति—‘कथमेतत् ? ।’ तो कथयतः—

४. बक-नकुल-कथा ।

‘अत्युत्तरापये ‘गृध्रमूटनाम्नि पर्यते महान्पिप्पलवृक्षः । तत्राऽनेके
 वृक्षा निवसन्ति । तस्य’ वृक्षस्याऽधस्ताद्विषरे सर्पस्तिष्ठति । स च दक्षानां
 वानाऽपत्यानि स्यादति । अथ’ शोकार्तानां विलापं श्रुत्वा, ‘केनचिद्ब्रह्म-
 क्त्वेनाऽभिहितम्’—‘भो एवं कुरुत, यूयं मत्स्यानुपादाय’, ननुनविषरा-
 तस्य सर्पविषरं यावत्पङ्क्तिक्रमेण ‘एकैकरां विचिरत । ततस्तदा-
 तनुर्ननुलैरागत्य सर्पां द्रष्टव्यः, स्वभायद्वेषाद्दुःखापादयितव्यश्च ।’

ही, वह उपाय है तो, परन्तु) । प्राणः = विद्वान् । क्षपायं = क्षानिपरि । प्रजा =
 ज्ञानि । ‘मुता’ इति, ‘बका’ इति च बहुव पाठः ॥ ११ ॥ विषरे = विले ।
 वरत = विचिरत । (परेरे दो) । तदाहातुणोः = मत्स्याऽऽभिरभोगननुर्ननुः ।

वल्गु-विद्वान् मनुष्य उपाय को सोचता हुआ क्षपाय (क्षानि) को भी पहिले
 ही सोचे । क्षपाय का विचार न करने से ही उम मूर्ख पगले के देवते हुए ही
 प्राणने नैबडों ने उनकी प्रजा (सन्तान) का डाली थी ॥ ११ ॥

बगुर ने पूछा कि—यह कथा कैसे है ? । ये दोनों कहने लगे—

नहर दिशा में गृध्रमूट नामक पर्यंत पर एक बडामारी पीरल का वृक्ष है । उसपर
 ही से बगुले रहते थे । और उस वृक्ष के नीचे बिल में एक डाला सौर भी
 था । और वह सदा उनके वषा को ला जाता था । एक दिन उन दुःखी
 जो का रोना सुन कर किसी बगुले ने कहा कि—ऐसा उपाय करो, तुम लोग
 ‘द्विती को साहर नेबले के बिल से लहर यहाँ सौर के बिल तक कारण पंच-
 रण दो । फिर उसके लाने के लोभ से नेबले यहाँ तक आ जायेंगे । और
 ही को देर कर स्वामानिक घेर के कारण उसे मार डालेंगे । तब बगुलो

१ ‘अत्युत्तरापये’ । २ ‘बकाः’ इति, ‘मुताः’ इति च पा० । ३ ‘गृध्रमूटो नाम
 । ४ ‘तस्य पत्न्या’ । ५ ‘तत्रः
 । ६ ‘केनचिद्ब्रह्मेना’ । ७ ‘भिहितम्-एवं’ । ८ ‘मत्स्यानादीद’ । ९ ‘विषरि ।

तयाऽनुष्ठिते मनि^१ तद्गृह्यम् ।

अथ ननुलैरुत्तोरपरि यकशावकानां रायः भूतः । पश्चात्तैरुत्तमादह्य,
यकशावकाः ग्राहिताः । अत आयां प्रथः—'उपायं चिन्तयन्'—
इत्यादि ॥ • ॥

आयाभ्यां नीयमानं त्वामवलोक्य^२ लोकेः किञ्चिद्व्यव्यमेव । यदि
त्वमुत्तरं^३ दास्यासि, तदा त्वन्मरणम् । तत्पर्ययाऽत्रैव स्थीयताम् ।

शूर्मो पदति—'किमहमप्राप्तः^४, नाऽहमुत्तरं दास्यामि । न किमपि
मया यच्छब्दम् ।' 'तयाऽनुष्ठिते तयापिचं शूर्ममालोक्य, सर्वे गोरक्षकाः
पश्चादावन्ति, पदन्ति च । अहो ! 'महदाश्चर्य ! पक्षिभ्यां शूर्मो नीयते ।

तद्गृह्यं=नकुलैः सर्वमद्यत्तं कृतम् । पविशावकानां=पविष्टिमानाम् । रायः=
आयः । उपायः । लीः=नकुलैः ।

किञ्चिद्=उचितमनुचितं, विषमविषयं वा । सर्वथा=सर्वतोभावेन । (पुनः)

के देगा करने पर मैगा हो हुआ । अर्थात् मद्भिर्वा रत्नने पर मेवले वहाँ काप
कीर मौर को वहाँ देगकर उन्हेने उमे भाग कात्रा । परन्तु उसी वृत्त पर नेरहो
ने वगुहो के वयो वा उध भी गुन क्षिपा । वगे उन्हेने वृत्त पर पद कर उन
वगुहो के वयो को भी गा क्षिपा । इभीक्षिये में कहना है कि—'पविशत को
कादिर कि पर उपाय को लोभत हुआ अगार (क्षानि) को भी लोभे' इत्यादि ।

आः हम भोगी (ईश्वर) के साथ आशय मार्ग के जो हुए हमको
देग कर लोभ हुए उन्हे ही कहेंगे । उमे गुनवर जो गुन उपाय दोगे, तो उगी
भगव गिर वदंगे कीर पर काद्योने । आः सब प्रकार के दुःखग वरो रहना ही
ठीक है । वगुहा कोत्रा कि—'वदा में मूर्ख हैं, जो उपाय दूंगा । मैं उपाय ही नहीं
दूंगा । मैं कुछ भी न केदूंगा । तर वे वगुहो को उगी प्रकार (वगुहाग)
से जाने लगे । वगुहो को दोगे ले जो हुए देगकर, गर गा-उं नीधे मे उगादे

१. क. प. ३. 'नकुलैः' । २. 'वगुहो' इत्यत्र, तदा तदा मार्ग
मत्तय' । ३. 'नकुलैः' । ४. 'नकुलैः' । ५. 'नकुलैः' । ६. 'मदरेवधवे,
वदरेवधवे' इति ।

‘कश्चिद्ददति—‘यद्ययं कूर्मः पतति, तदाऽप्यैव पस्त्वा खादितव्यः’ ।
 ‘कश्चिद्ददति—‘सरंसन्तारे दग्ध्या खादितव्योऽयम् ।’ कश्चिद्ददति—‘गृहं
 रीत्या मत्तलीयः’ इति । ३ तद्वचनं श्रुत्वा स कूर्मः कौपाऽऽविष्टो विस्मृत-
 रुरसंस्करः प्राह—‘युष्माभिर्भस्म भक्षितव्यम्’ ।—इति ४ वदन्नेव पतितस्तै-
 र्नापादितश्च । अतोऽहं मवीमि—‘सुहृदां हितवामानाम्’ इत्यादि ॥ ० ॥
 ॥ अथ प्रणिधिर्यथैतत्राऽऽगन्वोवाच—‘देव ! प्रागेव मया निगदितं,
 दुर्गशोचनं हि प्रतिज्ञायं कर्त्तव्यमिति । तत्र युष्माभिर्न कृतं, तदनवधान-
 त्तय कनमिदमनुभूतम् । ‘दुर्गदाहो मेघवर्णनं वायसेन गृध्रप्रयुक्तेन
 ह्यः ।’ राजा निःश्रव्याऽऽह—

बात होकर) । अतः = मूर्खः । तद्वचन = परपरवचन, श्रुत्वाक्यानि । विस्मृत-
 क्तकार = विस्मृतस्वदशः, विस्मृतस्वप्रतिज्ञो वा ।

दुर्गशोचनं = दुर्गपरीक्षणम् । तदनवधानस्य = मदुक्तोपेक्षणस्य । इदं =
 प्रायमत्रादिदम् ।

दीर्घदे दीर्घते हुए वो बात करने लगे । किसी ने कहा कि—‘जो पर कष्टुआ
 में पड़े तो यहाँ ही हम इसे पका कर खा जायें । कोई बोला—‘इसे हम हमी
 शरीर पर भून कर खावेंगे । कोई बोला—‘हमें पर ले जाकर रातना खादिये’ ।
 उनही के सब बातें सुनकर पर कष्टुआ शीप में भरकर पहली बात भूलकर
 रंका कि—‘तुम सब खाऊ खाओ । वो कहते ही मुझ में से लड़को लूट जाने में
 पर गिर पडा और उनसे मारा गया । हमीलिये मैं कहा हूँ कि—‘जो मनुष्य
 दीर्घकाले शत्रु मित्रो ॥ यवन नही सुनता है, पर कष्ट से गिरे कष्टुर के समान
 तीव्र ही जाता है’ इत्यादि ।

गिर शूद्रान् वगुणे मे यदां श्वाभ्यं कदा हि—हे देव ! पहले ही मैंने कहा था,
 कि मित्रे ॥ शोचनं प्रतिज्ञायं करना चाहिये । जो श्रावने नहीं किया, उन्को कसि-
 कर का पर छट (पराभव) हुआ है । गिद के भेजे हुए मेघवर्ण नामक शीरे

१ ‘एव कश्चिदाह’ । २ ‘कोर्त्तव्यं निगदति—इह नेउपयः । कश्चिद्दति-
 क्तव्यं पतति ॥’ । ३ ‘तद्वचनवचनमाहस्यं शोपाऽऽविष्टोऽयम्’ । ४ ‘कूर्मोऽऽह’ ।
 ५ ‘यः श्रेयं कश्चिद्विदो गोरक्षः व्यापदितव्यः’ । ६ ‘कस्तमनुभूति’ । ७ ‘दुर्गदाहभाषं
 कस्तमनुभूति’ ।

‘प्रयादापकाराद्वा यो विश्वसिति शत्रुषु ।

स मुप्त इव पृचाऽप्राप्तवितः प्रतिबुध्यते’ ॥ १२ ॥

अथ प्रणिपिक्याप—इतो दुर्गन्दाहं विधाय, यदा गतो मेपवर्णस्तदा
पित्रयर्णन प्रसादितेनोक्तम्—‘अयं मेपवर्णोऽत्र कर्पूरक्रीपराम्येऽभिपि-
च्यताम्’ । तथा चोक्तम्—

‘कृतकृत्यस्य मृत्यस्य कृतं नैव प्रणारायेत् ।

फलेन, मनसा, वाचा, दृष्ट्या चैनं प्रहर्षयेत्’ ॥ १३ ॥

प्रवचार्=स्नेहात् । उपकारार्=द्विवाचरत्नाद्वा, भ्रात्राः सन् वा शत्रु
विश्वसिति, स पूर्वे पृचासे मुप्तः—यथाप पृचाप्राप्तवितः सन् प्रतिबुध्यते । पृचासे
मुप्तस्य पत्रनिपि कस्य विनाशो भुव इत्यर्थः ॥ १२ ॥ प्रसादितेन = परिमोक्षितेन ।
अभिपिच्यतां = शत्रुये शपायान् । कृतकृत्यस्य = साध्यादित्यभिवाच्यस्य । कृतम्
= उपकारम् । न प्रणारायेत् = न विमनेत् । कृत्य फलेन = पारितोषिधारिणा ।
मनसा = हृदयेन, श्रोत्रेण । वाचा = प्रसंगमात्रस्यैव । प्रहर्षयेत् = तं कृतकार्यं
भयं क्षीयते ॥ १३ ॥

ने ही विले मे अर्धिन सगर्दे यो ।

तव वर रात्रा (रात्राम) क्षत्री यान् तं वर योऽत्रा वि—

अत्र मे वा उपकार करने मे जो शत्रुओं पर विभाग करता है, तव वर की
रात्रा पर भोजने वाले की तरह नहीं (वृष) से गिर करने पर ही जगता है ।
कार्यरूप ही उद्योग के लिये ही वर मागवान होता है ॥ १२ ॥

इसके अन्वय यह हुआ है—जब मेरा कार्य यहाँ मे दुर्ग जगता पर विभ-
वर्ण के वर रात्रा तव प्रणम होकर विवरणों मे कहा कि इस मेरा कार्य यहाँ
वर्णों के रात्रा पर शत्रुओं के वर देना कर दे ।

अर्धिन वर यो है—अर्धिन वर यो क्षत्री तरह से दुर्ग दिया
है, उम भय रात्रा के वर को उद्वेग यही यही वरनी कर दे । कृत्य जो
वन, प्रदत्तान्न और इतरदि कार्य मे दुर्ग जगता वरना कर दे ॥ १३ ॥

चक्रवाको मते-‘देव ! श्रुतं यत्प्रणिधिः कथयति’ ? । राजा ‘प्राऽऽह-
स्ततः ? ।’ प्रणिधिरुवाच-‘ततः प्रधानमन्त्रिणा गृध्रेणाऽभिहितम्-‘देव !
सुचितं, प्रसादाऽन्तरं किमपि क्रियताम्’ । यतः—

“अग्निचारयतो युक्तिकथनं तुपस्यद्वनम् ।

नीचेपूपकृतं राजन्वालुकास्विव ‘मूत्रितम्’ ॥ १४ ॥

महातामास्पदे नीचः कदाऽपि न कर्त्तव्यः । तथा चोक्तम्—

तवस्ततः=अग्ने किं जातं, यज्ज्ञानं तद्वद । प्रसादान्तरम्=अभिप्रेक्षाति-

न्तिकमनुमहान्तरम् । तुपस्यद्वन=तुपाश्रयानः, वृथा प्रयत्न इति यावत् । यानु-
बालु मूत्रितनिगाश्चिरयिनाशित्याशयः । अत्र-‘अधिकारेण यो मुक्तः कथं तस्या-
वस्थासि कथयन्तम् । नीचेपूपकृतं शम्भु बालुकारिणव मुद्रितम्’ । इति क्वचि-
त्तदा । तत्र य=यूयो राजादिः । तस्य-स्यद्वन=प्रत्याख्यानम् । राम्याश्वरो-
पजन् । मुद्रितम्=प्रापितम् । मुद्राप्रदानम् । बालुकायां मुद्राचिह्नं नैव स्यापि
मार्ति, निशीर्गत्वात्तस्याः ॥ १४ ॥ आस्पदे=स्थाने ।

तब यह प्रधान मन्त्री चक्रवाक राजदूत से बोला—महायम ! धारने गुप्त
दूत बगुले की बात (मेघवर्य की कर्तव्य आदि) सुन ली जो यह गुप्तदूत कह
ता है ।

तब यह राजा बगुले से बोला—हाँ हाँ, कहो—निर क्या हुआ ? । तब यह गुप्त-
दूत बोला—तब प्रधान मन्त्री गिद्ध ने निर कहा कि—हे देव ! यह उचित नहीं
है । इस मेघवर्य को ध्यान कीर्त दूसरा ही पुरस्कार दीजिये ।

क्वोचि-निवार रदित पुरष के लिये कोई मुक्तिगन्त वात कथना द्यु (..
संज्ञने के समान ही निरर्थक है, और नीच पुरष पर उपहार करना भी
दूय करने से समान ही निष्फल (धर्याती) है ॥ १४ ॥

और बड़ो के स्थान में नीच को कभी नहीं स्थापित करना चाहिये
या स्थान नीच पुरष को कभी नहीं देना चाहिये ।

१. ‘प्राऽऽह’ । २. ‘अधिकारेण यो मुक्तः कथं ..
द्वितम्’ ।

आदितुमुपधावति । तमवलोक्य मूपिकस्तस्य मुनेः प्रांठे प्रविचेरा । ततो मुनिनोच्छम्—'मूपिक ! त्वं मार्जारो भव ।' ततः स निहालः कुम्हुरं दृष्ट्वा पलायते । ततो मुनिनोच्छम्—'कुम्हुराद्विभेषि, त्वमेव कुम्हुरो भव' । स च कुम्हुरो व्याघ्राद्विभेति । ततस्तेन मुनिना कुम्हुरो व्याघ्रः कृतः ।

अथ तं व्याघ्रं मुनिर्मूपिकोऽयमिति पश्यति । अथ तं मुनिं, व्याघ्रश्च दृष्ट्वा सप्रेषं वदन्ति—'अनेन मुनिना मूपिको व्याघ्रतां नीतः' ।

एतन्प्राप्त्या 'सव्यथो व्याघ्रोऽचिन्तयत्—'यावदनेन मुनिना स्थायते, तावदिदं मे स्वरूपाऽऽख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते' ।—'इत्यालोच्य मूपिकम् मुनिं हन्तुं गतः । ततो मुनिना तज्ज्ञात्वा 'पुनर्मूपिको भवे'—'सुख्वा मूपिक एव कृतः । अतोऽहं मवीमि—'नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य'

बन्धकी । सःदितः = पालितः । स = मूपिकः । सव्यथः = दुग्धितः । स्वरूपाख्यानम् = मन्तररिचापकमाख्यानम् । अकनिका = अथयस्वरम् । विरीरि =

दीदा । यह देलकर यह चूरा हरके मारे उस मुनि की गोद में जा गुमा । तब मुनि बोले कि—'घरे चूरे ! तू बिलार हो जा । तब यह निहाल हो गया । अन्तार में ही यह कुत्ते को देलकर हरके मारे भागने लगा । तब मुनि बोले कि—'जो कुत्ते से डरता है, तो तू भी कुत्ता हो जा' । तब यह कुत्ता हो गया । तब यह कुत्ता अपने (बाप) से डरने लगा । तब फिर मुनि ने उस कुत्ते को व्याघ्र बना दिया । परन्तु मुनिकी दृष्टिमें तो यह व्याघ्र चूरा ही था । इसके बाद उस मुनि को व्याघ्र बना दिया है । यह मुनकर उस व्याघ्र (चूरे) ने व्यथित होकर बोना कि—'तब तब यह मुनि अन्ते रहेंगे तब तब मेरे इन व्याघ्र रूप का अथय करने तथा यह अथय भी कभी दूर नहीं होगा । यह सोचकर यह चूरा (जो अब मुनि की दृष्टि में व्याघ्र दोनों में था) उस मुनि को ही मारने दीदा । तब मुनि ने अथय कर—'तू फिर चूरा हो जा' ऐसा कहकर उसे फिर चूरा हो बना दिया । अन्तः फिर मैं बरता हूँ कि—'नीच पुरुष प्रयसनीप पद पाकर भी अरने रामी को

१ 'स व्याघ्रः स व्यथोऽचिन्तयत्—'यावदनेन मुनिना 'जीरि'व्य तावदिदं मे स्वरूपाऽऽख्यानमकीर्तिकरं न पलायिष्यते' । २ 'इति समालोच्य मुनिं हन्तुं समुत्पन्नः । मुनिदृष्ट्वा विरीरि शान्ता मूर्तिर्भो मर' वा० ।

इत्यादि ॥ ७ ॥

अपरत्र देव'—'सुध्रमिद'मिति न मन्तव्यम् । शृणु—

'भवयित्वा बहुन्मत्स्यानुचमाऽधममप्यमान् ।

'अतिलोमाद्रकः पथान्मृतः कर्कटकप्रदात्' ॥ १६ ॥

पित्रवर्णः पृच्छति—'कथमेतत् ? । मन्त्री कथयति—

६. दक-कर्कट-कथा ।

अत्रि^३ मानवविषये पद्मगर्भाऽभिधानं सरः । तत्रैको^४ वृद्धो बहूः
सामर्थ्यहीन उद्विग्नमिवाऽऽजमानं दरांपित्या स्थितः । स च केनचित्पुत्री-
रेण दूरादेशे^५ दृष्टः, पृष्टत्र—'किमिति भवानग्राऽऽहारत्यागेन विवृति' ? ।

मनोरथम् । इदं=देवर्षांश्च राज्ये स्थानम् । उच्यते=मदन्तः । अथमाः=
पुत्राः । पादान्तरे—अतिशोभनाम्=अतीशोभादित्यर्थः । कर्कटकप्रदात्=कर्कट-
प्रदात् । (केकड़े को पकड़ने से) । पादान्तरे=कर्कटप्रदात्=कर्कटप्रदान-
दापयः ॥ १६ ॥

विवृते = देवो । पद्मगर्भाऽभिधानं = पद्मगर्भनामपेक्षम् । सरः = शरीरः ।

ही मानना थारा है' इत्यादि । और भी 'इसको राजा बना देना पर बात सही
है',—देगा कभी नहीं मानना थारिए । क्योंकि सुनिए, देगा करने पर इमार
वही दृष्ट होगा जैसे एक बगुना बड़ी लगे एवं मयम प्रकार को बगुना ही
मदृष्टियों को लक्ष्य भी धारिःश्रोन से केकड़े के हाथ से मारा गया था ॥ १६ ॥

पित्रवर्णं ने पूछा कि—'यह कथा कैसे है ?' । मन्त्री बहने लगा ।

अन्तर देव से कथनं नाम का एक गीतर है । वहाँ एक बूढ़ा बगुना
कामर्षादि होने से दुर्गो के गन्तव्य उदाग होकर पुराण टंग बनाकर देता
था । उसे लगे केकड़े ने दूर से ही देखा और पूछा कि—क्या वहाँ इतना लक्ष

१. 'अतिशय' । २. 'अतिशोभना' । ३. 'वृद्धो बहूः' । ४. 'मन्त्र-
देव' । ५. 'दूरादेशे' । ६. 'कथयति' । ७. 'पुत्रीरेण' ।

• इतोपदेशे सन्धिः •

बधेनोक्तम्—'मत्स्या मम जीघनहेतवः । १ते 'कैवर्ते'रागत्य व्यापाद-
 वितव्या'—इति वार्त्ता नगरोपान्ते मया धृता । २अतो 'वर्त्तनाऽभावादेवा-
 ऽमन्भरणमुपस्थितमिति द्वात्वाऽऽहारेऽप्यनादरःकृतः । ३ततो मत्स्यैरालो-
 चितम्—इह समये सावदुपकारक एवाऽयं लक्ष्यते, तदयमेव यथा-
 कर्त्तव्यं वृत्तव्यताम् । तथा चोक्तम्—

'उपकर्त्राऽरिष्या सन्धिर्न मित्रेणाऽपकारिष्या ।
 उपकाराऽपकारो हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः' ॥ १७ ॥

(भोज) । समाप्यंशनः=मोजनोपार्जनयक्तिरहितः । कुलीरकः=कर्मन्तः । कैवर्तेः=
 वीरैः । वर्त्तनाऽप्यारम्भ=भोजिदानिच्छेदात् । उपकारकः=साहायकः । यथाकर्त्त-
 व्यम्=अपत्तरोचितं करणीयम् ।
 बलिषा=शत्रुपा । सन्धिः=मेतन्न (मेल) । हि=यतः, एतयोः=
 शत्रुभिन्नयोः । लक्षणं=विद्वम् । लक्ष्यं=उपेयम् । उपकर्त्ता हि-मित्रापदाभिप्रेयः,
 अपकर्त्ता च शत्रुत्वोचयः ॥ १७ ॥

जन छोड़कर क्यों बैठे हैं ।। तब यह बगुदा बोला कि—'मदनी ही मेरे जीवन
 का पार है, और उन्हें पीर लोग कब यहाँ आकर मारेंगे, यह बात मैंने नगर
 के पास मातुरों की बातों से सुनी है । इसलिए तुलिके (मदलियों के) न रुद जाने
 से मेरी भी मृत्यु उपस्थित हुई है, यही जानकर मैंने धनी से भोजन छोड़ दिया
 । तब मदलियों ने सोचा कि—'इस समय तो यह उपकारी ही दीनता है,
 कबिये इसी से इन पूछे कि—इसे क्या करना चाहिये ।

दीना कहा है भी कि—उपकारी शत्रु से भी सन्धि करे परन्तु अगुहारी मित्र
 । भी कभी सन्धि न करे । क्योंकि इन दोनों (मित्र और शत्रु) के उपकार और
 अकार दे ही दो पान्थ में लक्षण हैं ॥ १० ॥

१ 'मत्स्याभाऽप्यारम्भेव कैवर्तेऽप्यनादरिणा इति नगरोपान्ते कैवर्तेऽप्यार-
 म्भे' । २ 'लक्ष्यं लक्षणं' । ३ 'ततः सर्वमप्ये' । ४ 'सद्वृत्तेऽप्यारम्भ' ।

मत्स्या ऊचुः—'भो बह ! कोऽत्र 'अस्माकं रक्षणेपायः' ? । यद्ये-
 प्रते—'अस्ति रक्षणेपायो जलाऽऽरायान्तराऽऽश्रयणम् । तत्राऽहमेकै-
 करो युष्माप्रयामि' । 'मत्स्या आहुः—'पयमसु ।' ततोऽसौ 'दुष्ट-
 वरुणाऽमत्स्यानकैश्चरो नीत्वा' ग्रादति । अनन्तरं कुन्तीरस्तमुपाष-
 'भो बह, मामपि तत्र नय ।' ततो यकाऽप्यपूर्वकुन्तीरमांसाधी साऽऽदरं
 तं नीत्वा गन्ते घृतयान । कुन्तीरोऽपि मत्स्यकण्टकाऽऽरीर्युं "ताम्यलमा-
 लोऽस्याऽऽपन्नपत्—'दा हनोऽस्मि मन्दमाग्यः । मयतु । इदानीं समयो-
 पित 'द्यवहरिष्यामि' । यत—

'ताम्यलयेन' भेतव्यं पापद्वयमनागतम् ।

आगतन्तु मयं दृष्ट्या प्रहर्षव्यममीतवत् ॥ १८ ॥

मत्स्या = मत्स्यायते । मत्स्याऽऽरायान्तराऽऽश्रयणम् = मीनाऽऽश्रयणम् । मत्स्या-
 भयः = शयानः । अमी = निभयोभूया । प्रहर्षव्यं = प्रीत्यैव वरुणाः ॥

तव मत्स्यायो बोली—हे बह ! इस विषय से हमारी रक्षा का उपाय
 कौन मा है ? । तब वह बगवा बोला कि—'रक्षा का उपाय तो यहाँ मे बिनी
 दुगरे जगह में जाना ही है । और मैं तुम में से एक एक को यहाँ पहुँचा भी
 हूँगा ।' तब जब मत्स्यायो बोली कि—'मत्स्या, ऐसा ही करो । फिर वह बगवा
 उन मत्स्यायो में से एक एक को लें जाकर मारी में बसो लायागा या ।

कुन्तीमय के बाद एक दिन के बाद में भी उनसे बहा कि—'हे बह ! तुम भी
 यहाँ लो बसो ।' तब-दरसे बनी न लाया ऐसे के बड़े के माँग को पद-पत्रे
 उन बगवे में आऽऽदरं तम से जाकर उन रूप भूऽऽ में रगना । के बड़ा भी
 उन भूऽऽ में मत्स्यायो के बोली (हँसना) को दखर उधर वदे हुए देगवा
 बोली काय कि—'दाप ! मैं मत्स्यायो माग गया । कल्या लो हो गो हो, सब
 मत्स्या के दजुगा ही बरं (उगाव) बरिगा । बरुं कि तनो एक भय से दाना

१ 'कोऽत्र रक्षणेपायः' । २ 'अस्ति रक्षणेपायो जलाऽऽरायान्तराऽऽश्रयणम्' इति ।
 ३ 'ताम्यलयेन' इति । ४ 'मत्स्या आहुः—'पयमसु ।' इति । ५ 'दुष्ट-
 वरुणाऽमत्स्यानकैश्चरो नीत्वा' इति । ६ 'मामपि तत्र नय ।' इति । ७ 'मन्दमाग्यः' इति ।
 ८ 'दा हनोऽस्मि मन्दमाग्यः । मयतु । इदानीं समयो-
 पित 'द्यवहरिष्यामि' । यत—

द्विध—

‘अभियुक्तो यदा परत्येन्न किञ्चिद्गतिमात्मनः’ ।

युष्यमानस्तदा प्राज्ञो श्रियेत रिपुणा सह’ ॥ १९ ॥

—इत्यालोच्य स कुलीरकस्तस्य ३कस्य प्रीवां चिच्छेद । ४अय स
रुहः पद्मस्य गतः । अतोऽहं प्रवीमि—‘भक्षयित्वा बहून्मस्यान्’
इत्यादि ॥ ६ ॥

‘तत्रश्रियणोऽवदत्—‘शृणु तावन्मन्त्रिन् ! मयैतदालोचितम्—
(-अस्मिन्-) यद्—अप्राप्तव्यतेनाऽनेन मेघयर्णेन राक्षा यावन्ति
बन्तुनि कपूर्वोपायोत्तमानि तावन्त्यरमाकमुपनेतव्यानि । “तेनाऽस्माभि-
र्महासुरेण विन्ध्याचले स्यात्त्रयम्’ । दूरदर्शी विहस्याऽऽह—‘देव !

अभियुक्तः = परेऽगन्तः ॥ १९ ॥ आलोचित = विनारितम् । अत्र = कपूर्व-
रिते । उपनेतव्यानि = उपदौकितव्यानि । (‘मेघ दिया करेगा’, ‘मेघता रहेगा’) ।

रहित, जब तक भय आवे नहीं । परन्तु भय को छिर पर आवा हुआ देखकर
) पुनः निर्भव चित होकर उस पर प्रहार (मनीहार) हो करना चाहिए ॥ १९ ॥

और भी—जब आक्रान्त मनुष्य अपने दुखी गति न देखे तो शत्रु से
आ हुआ ही अपने प्राण त्याग करे—इसी में बुद्धिमानी है ॥ १९ ॥

पर सोच कर के देखे ने उस बगले को गर्दन काट डाली, जिससे वह बगला
मरा । इसलिये मैं कहता हूँ कि—‘बहुत सी महलियों को साहर भी खोम
र बगला के देखे के हाथ से मारा गया’ इत्यादि ।

तब पर विषयपूर्ण बोला कि—दे मन्त्रिन् ! मुनिवै, मैंने तो यह सोचा है कि—
पर मेवर्णं वरों का साथ करता हुआ जिननी उत्तम उत्तम बल कपूर्वद्वय को
देने, उन सबको हमारे पास पहुँचाया करेगा, इससे हम विन्ध्याचल में बड़े मुक्त
हो देंगे । तब दूरदर्शी होकर बोला कि—दे देव !

१ ‘अपरं च’ । २ ‘किञ्चिद्विदितमात्मनः’ । ३ ‘तस्य प्रीवां’ । ४ ‘अयेति’
‘रिपुः’ । ५ ‘ताः पुनरपि स रात्रा विषयणोऽवदत्—शृणु तावन्मन्त्रिन् !’ ।
द्विध । ७. ‘तेन महत्त विन्ध्याचलेन आस्मान्निन्ध्याचले’ ।

‘अनागतवर्ती चिन्तां कृत्वा यस्तु प्रहृष्यति ।

स तिरस्कारमाप्नोति भ्रमभाण्डो द्विजो यथा’ ॥ २० ॥

राजाऽऽह—‘कथमेतन् ?’ । ‘मन्त्री कथयति—

७ ब्राह्मण—सक्तुशराव—कथा ।

अस्ति^१ देवीकौटुनाम्नि नगरे देवशर्मा नाम ब्राह्मणः । तेन महा-
 विपुषःसम्पन्नान्यां^२ ‘सक्तुपूर्णशराव’ एकः प्राप्तः । ‘तत्तत्समादायाऽसी
 ‘कुम्भकाराय भारहपूर्णमण्डपैकदेशे रीत्रेणाऽऽवृत्तितः सुमः । ततः
 सक्तुशराव इत्ये ‘दरहमेकमादायाऽचिन्तयत्—‘यथाहं सक्तुशराव
 विस्तीर्य दूरा कर्षकान्प्राप्त्यामि, ‘तदाऽप्येव तीः कर्षकैर्षटशरावादि-
 क्तनागतवर्तीन=अनागतिविहीनम् । प्रहृष्यति=सोऽने ॥ २० ॥ ‘देवकौटे’
 पाठान्तरम् । महाविपुषःसम्पन्नान्ती=प्रायो वैद्यायभागे, मेरुसम्पन्नान्तिने ।
 (मनुष्याभारतान्ति) । शराव=शरंनानकः । (‘सरह’ ‘वरह’ ‘पुरा’) । भारहपूर्ण-
 मण्डपैकदेशे = भूलापकपूर्णरहभोसे । रीत्रेण = पण्डेय । ‘रीत्रो पण्डे रणे, शरत्प
 षी, तीरे तीरले विपु’ इति मेदिनी । (गीह=‘रीश’ ‘पाम’ ‘भूर’) । कर्षक-

जो मनुष्य भक्ति की विन्ता करके मनोमोहको से ही प्रसन्न होता है, वह
 उगी तरह अन्तर कीर श्रेष्ठ पाया है, धिमे कुम्हार के वांन गूट जाने से उस
 ब्राह्मण ने अनागत पाया था ॥ २० ॥

राजा बोला कि—वह कथा कैसी है ? मन्त्री बहने लगा—

देवीकौट नामक नगर में देवशर्मा नाम का एक ब्राह्मण रहता था । उसने
 मेरु की संज्ञा की मनु में भग हुआ एक मिश्री बनेरा पया । वह उसे लेकर
 एक कानो में भी हुए कुम्हार के घर के एक कोने में धूल में सपुष्ट होकर
 बसकर सो गया । फिर मनु की सहा के लिए हाथ में कपडा लेकर वह सोपने लगा
 कि—जो मैं इस मनु के मिश्री को देवकर दण्ड बोड़ी काटूँगा, तो उन को दिसी

१ ‘दूरदली कर्षक’ । २ ‘देवकौट’ । ३ ‘मनु कौट’ । ४ ‘दरहः प्रम’ ।

५ ‘भारहपूर्ण’ । ६ ‘भारहपूर्ण—कुम्भकारस्य मण्डपैकदेशः’ । ७ ‘दरहमण्डप’ ।
 ८ ‘पण्डेय’ ।

मुपक्रोयाऽनेरुषा पृथैतद्धनैः पुनः पुनः पूगवज्रादिकमुपक्रोय, विक्रीय, सप्तसद्वपानि घनानि कृत्वा, विवाहचतुष्टयं करिष्यामि^३ । अनन्तरं तामु स्वपत्नीषु या रूपयौवनवती तस्यामधिकाऽनुरागं करिष्यामि । सपत्न्यो यदा द्वन्द्वं करिष्यन्ति, तदा क्रोपाऽऽकुतोऽहं ताः सर्वां लघुदेन शक्यिष्यामीत्यभिधाय तेन लघुदः प्रक्षिप्तः । तेन सक्षरारायश्रुणितो, माण्डानि च यद्दानी भ्रमानि । तत्तस्तेन शब्देनाऽऽगतेन कुम्भकारेण तथात्रिपानि भाण्डान्यवलोक्य, मादणुस्तिररह्यतो, मण्डपाद्मद्विष्टवम् । प्रतोऽहं प्रवीमि—अनागतवतीं चिन्ताम् इत्यादि ॥ छ ॥

३. = शक्तिः । (कौडी) । अनेरुषा = वारं वारं-प्रयत्निकादिभवनहारेण ।
 दनैः = तन्मूल्यसन्धैर्धनैः । पूगवज्रादिकं = द्वीगान्तराणीपूगोणसप्तवज्रादिकम् ।
 लघुदं वक्रादिकमिति वाच्यं । द्वन्द्वं = क्लृप्तम् । चूर्णितः = ममः । माण्डानि =
 कुशाक्षमाण्डानि । (वस्त्रं) । तेन शब्देन = मममाण्डशब्देन । विसर्पेण
 दः । तथात्रिपानि = भानानि । तिरस्कृतः = कटुवाक्य भावितः । विरहृतः ।

से वारी ही से पने, सकोरे छादि लीद लूँगा, और उन्हे बेच-बेचकर उससे अनेक
 प्रार से बड़े हुए इन्व से बारबार मुगरी, कपड़े आदि लेकर, उसे बेचकर छानो
 पने बनाकर चार विगार करूँगा । फिर उन वारीं त्रिषो में से जो रूपरती तथा
 सुशी होगी, उससे ही मैं अधिक प्रेम करूँगा । और जब ये सब सपत्नियाँ (और)
 कपुष में लड़ाई करेगी, तब मैं शीघ्र में भरकर उन्हें छाडी से मारूँगा, ऐसा
 विचारर ग्यो ही ठमने छाडी मारी, त्यो ही यह सत्तु का कभोरा चूर चूर हो गया
 र कुःकार के बहुत से बर्तन भी फूट गये । इसके बाद उस शब्द की मुनकर
 तार मो वारीं आ गया और इस प्रकार अपने बर्तनों को टूटा हुआ देल कर
 त मणप का अनादर कर उसे मण्डप से बाहर निकाल दिया । इणत्रिदे में
 है कि—‘मविष्य की हया चिन्ता को जो करता है—इत्यादि ।

१. 'दैनैः' । २ 'वाचिन्व इत्या सप्तसद्वपनान्दुषाप' । ३ 'करोमि' ।
 ४ 'माण्ड पा' । ५ 'अनन्तरं सञ्जातेभ्योऽपि सपत्न्यो यदाऽऽनेन' । ६ 'ता
 न' । ७ 'ततो मममाण्डशब्दभरणदाग य कुम्भकारेण गते शर्तं दग
 ८ 'मण्डपाद्मद्विष्टवम्' ।

तत्रो राजा रहसि शूद्रमुखाप—‘वात ! यथा कर्त्तव्यं सधोपदिश !’
शूद्रो मूते—

‘मदोद्धतस्य नृपतेः प्रकीर्णस्येव दन्तिनः ।

गच्छन्त्युन्मागयातस्य नेतारः खलु वाच्यताम्’ ॥ २१ ॥

‘शृणु देव ! किमस्माभिर्यत्सदृशं दुर्गं भग्नम् ? उत^१ तव प्रतापा-
ऽपिष्टिवेनोपायेन ?’ राजाऽऽह—‘भवतामुपायेन ।’ शूद्रो मूते—‘दत्त-
स्मद्वेषनं क्रियते, तदा स्वदेशे गम्यताम् । अन्यथा^२ वर्षाफाले प्राप्ते
‘पुनस्तुल्यवशेन विमदे सत्यरमाकं परभूमिष्ठानां स्वदेशगगनमपि दुर्लभं

रहसि = पहाते । उपदिश = पद । मरोद्धतस्य = उन्मत्तस्य । प्रकीर्णस्य =
मदाकुलस्य, मद्रमिषमदहरपक्षस्य । मरोन्मत्तस्य । उन्मार्गयात् = कुपयप्रवृत्ताय ।
दन्तिनः = दन्तिनः । नेतारः = उपदेशागो मन्त्रिणी, महाभाषाक्ष (महावत) । वाच्यता =
निन्दनीयताम् ॥ २१ ॥ बह्वर्षात् = पराकर्मोत्सर्गम् । प्रतापाभिष्टिवेन =
प्रतापोऽभिष्टिवेन । वृत्त्यवशेन = समानवशेन । विमदे = मुदे । परभूमिष्ठानां =

एव राजा दक्षिण में गिद्ध से बोला—हे तात ! तो फिर यहाँ पैसा क्यों
काटिये, पैसा काट ही ठगरेछ बरिद । तब वह गिद्ध बोला कि—

मरगे मावले मर के उपरुव करने पर येने उगके महावत ही रोती ही है,
उगी लव मलु हाती के समान मर में ठहर, कुपार्ग में जाने जाने राजा के
भी मावक (पत्नी काट) बरु में निधव ही नि दा को जाने है ॥ २१ ॥

और हे देव ! मुझे । क्या हमने करने बर के पन्दर में ही हम विने को
लोहा है ? वा चरके पन्दर में कबिडा उपर में ही लोहा है । राजा
बोला कि—‘आपके उपाय से ही यह विश्व दुग है ।’ तब गिद्ध बोला कि दत्त
वषन वष मर है, तो हम राजा में कर्षव बरके लदेछ (करने नर) को
बरिद । श्री लो वर समव में समानव वरु में मुद होने पर वर भूमि में

परितुष्टः 'सन् 'वरं धरयतम्' इत्युवाच । अनन्तरं तयोः 'कण्ठा-
र्षसिद्धिवायाः सरस्वत्याः प्रमाणात्तावन्यद्वृक्षकामावन्यदभिहितवन्ती-
'पापशोभंवात्परितुष्टस्तदा स्वप्रियां पार्वतीं परमेश्वरो वदामु ।'

अथ भगवता क्रुद्धेन धरदानस्याऽऽवरपकृतया, 'विचारमूढयोः
'वृद्धी प्रदत्ता । सततस्या रूपलावण्यलुब्धाभ्यां, जगद्धाविभ्या, मनसो-
'नुहाभ्यां, पापतिमिराभ्यां, 'ममे'त्यन्योन्यं फलहायमानाभ्यां 'प्रमाण-
'पुरः कश्चिन्मृच्छपता' मिति मती कृतायां, स एव भट्टारको वृद्धद्विजरूपः

दितम् । भगवान् = परमेश्वरः । धरवतं = एहीनम् । वाचेयामिति वा । स्वप्रियां =
मनसोऽम् । मूढतया = विद्वत्सम्पन्नितुष्टतया । विचारमूढयोरिति पाठे - मूर्खयोरित्यर्थः ।
कण्ठाऽर्षा = जगन्वीरुकाभ्यां दैत्याभ्याम् । उल्लुकाभ्यां = श्रीरजालामोक्ष-
'लिनम् । पापतिमिराभ्यां = पापान्धकारद्वतलोचनाभ्याम् । पारमतिभ्यामिति
'ममे'त्यर्थः । 'ममेव'मित्यन्योन्यं फलहायमानाभ्याम् । प्रमाणपुरः =
'पुरः कश्चिन्मृच्छपतयः । वृद्धपता = निर्णयार्थं वृद्धपतान् । सः = भगवान्
'दित एव । भट्टारकः = परमेश्वरः । 'राजा भट्टारको देवः' इत्यमरः । स्ववलेन =

(इत्या) की । उसके उन दोनों के ऊपर भगवान् शङ्कर ने प्रसन्न हो कहा कि—
'अभी' । तब उनके बायीं में स्थित सरस्वती ने उनकी बुद्धि को फेर दिया
और अन्य ही बुद्ध करने की इच्छा करने वालों से भी शीर हो बुद्ध बरहा दिया
'उ' भगवान् धार हम पर प्रसन्न हैं, तो अपनी प्रिया भार्वा पार्वती को
'व' दे दिये ।' ऐसी बात सुन कर क्रोधित होकर भी भगवान् शिवजी ने परधान
'उ' अपने स्वयं के पावन के लिए उन दोनों मूर्खों को पार्वती दे दी । फिर उसके
'उ' शरणा के छोड़ी, जगत् पाती और मन से उल्लुक ये दोनों पानी दे-व 'वह
''पर मेरी है' ऐसे श्रापुस मैं कष्ट (भगदा) करने लगे । और इस प्रकार
'दूर उन्होंने 'कभी प्रनादिन पुरुष से दूतना पा'दिये'-वेया निभय दिया ।
'उ' व' ही शिवजी बूढ़े शास्त्र के रूप में उनके पास आए । तब उन

'दो वर' । २ 'समरिद्धितया सरस्वत्या तावन्वद्' । ३ 'तदा कश्चिन्मृच्छपता'

- (३) 'धार्मिकस्याऽभियुक्तस्य सर्व एव हि युध्यते ।
प्रजाञ्जुरागाद्धर्माच्च दुःखोच्छेद्यो हि धार्मिकः' ॥२९॥
- (४) 'सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विनाशे समुपस्थिते ।
विना तस्याऽऽश्रयेयाऽऽर्यो न कुर्यात्कालयापनम्' ॥ ३० ॥
- (५) 'संहतत्वापथा वेणुर्निषिद्धैः कण्टकैर्यतः ।
न शस्यते समुच्छेत्तुं, भ्रातृसद्भातवांस्रया' ॥ ३१ ॥

नीयताम् । नापानि = न प्रपदि ॥ २८ ॥ अभियुक्तस्य = आक्रान्ताय ।
एव = सर्वत्रोऽपि सोऽहः । प्रजाञ्जुरागात् = प्रजातज्जानात्, धर्मात् = धर्माभिव्यक्त्या
दुःखोच्छेद्यः = दुःखहरः ॥ २९ ॥

विनाशे = शाखादिनाशे । अश्रयेण = श्लेषदादिनाऽपि । सम्य = अनापराध
आभवेण = कृपानेन । काययापनम् = समपयापनम् । (दिन पिता) ॥ ३० ॥
संहतम् = निश्चितम् । निषिद्धः = धनः । कण्टकैः = पार्श्वदुरवस्था
गतापर्याप्तौ । वेणुः = पंथः । (पाण) । तथा = दुःखहरः ॥ ३१ ॥

अनापराध (नीचरते) को प्रण नहीं होते हैं, दर बाउ रत है ॥ २८ ॥

श्रीर धर्मिक राजा पर टुड की पढ़ाई होने पर उस के द्विये गमी प्रना निधय
करते प्रदानदमे खबनी है, अशः प्रया के प्रेम में श्रीर भर्मे के बह में वर
धर्मिक राजा बहो बर्तनई में ही वर में होगा है ॥ २९ ॥

श्रीर अना विम्वर उरिदर हो देगवर अनाप (नीच) में भी मंग
बो, कबेक उगके अश्रय के विना अर्य (गजवन राजा) भी काःश्रये
(अनाः निर्य) नहीं वर गवत है ॥ ३० ॥

श्रीर धीमे अशेक बानी के वर वर दर रूप ही उगने वरवा श्रीर बानी के
गवत में वः ॥ दुःख बर, अश्रय बानी में अ दुग में निदरे रने के वरव, टोव
प्रव व श्रीर बानी नहीं का गवत है, देने ही अश्रयो का गवत रने का
राजः भी टोव हो वरव नई का गवत है ॥ ३१ ॥

‘अथ राजा हिरण्यगर्भश्चक्रवाकं पृष्टवान्—‘मन्त्रिन् ! अर
कति ? ताच्छ्रोतुमिच्छामि ।’ मन्त्री प्रुते—‘देव ! कथयामि’ । २

‘बालो, वृद्धो, दीर्घरोगी, तथा ज्ञातिवहिष्कृतः ।

मीरुको, मीरुकजनो, लुब्धो, लुब्धजनस्तथा ॥ ३५ ॥

विरक्तप्रकृतिश्चैव, विषयेष्वतिसक्तिमान् ।

अनेकचित्तमन्त्रस्तु, देव-त्राक्षण-निन्दकः ॥ ३६ ॥

द्वयोपहतकथैश्च, तथा देवपरायणः ।

दुर्मिष्यस्यसन्तोषतो, बलव्यसनसङ्कुलः ॥ ३७ ॥

मन्त्रेणगुणैः । उपेयः = सहितः । अरजम = पुनर्वाहि । अमन्त्रेणा = मन्त्रानाऽ-
दातिवहिष्कृतः = अशुभप्रवृत्तमित्यर्थः । जातिवहिष्कृतः । मीरुक = मीरुका
मीरुकजन = मीरुकीन्यः । मीरुकरः । लुब्ध = शोभी । लुब्धजनः = लुब्धानुचरः ।

विरक्तप्रकृतिः = अनुरागमयः । विषयेषु = कामिण्यादिभोगेषु । अतिसक्ति
= आगच्छचित्तः । अतोसनी । अनेकचित्तमन्त्रः = पञ्चतचित्तः, पञ्चतचित्त
परिग्रह । देवोपहतकथैः = दुर्मिष्येणैः । देवपरायणः = देववादी । अगु

अथ तो तूम जाओ । अरना कावं करो । निर जाना । उग दू के जाने के
राता मे अरने मे दुःख दि दे मन्त्री । विन्ने मनुष्य मन्त्रि करने के योग्य मरी
उन्हें भी मैं मुनना पावता हूँ । मन्त्री केना दि—दे देय । मैं बरता हूँ, मुनि

(१) बालक, (२) वृद्ध, (३) बहुत दिनों का रोगी, (४)
भारी शरीर, (५) लुब्धो मे अरर निराशा दुःख, (६) शोभी, (७)
(८) शोभी मे निक मुण्डल अर्थात् मुण्डलो काग, (९) शोभी, (१०) शोभी इ
काशा । अर्थात् शिगरे मे एक शोभी ही ॥ ३५ ॥

श्री (१) शिगरे शोभी अर्थात् उगमे विरक्त हो, (२०) विरक्त
अगु रोग दुःख, (२१) पञ्चत चित्त काशा, पञ्चत मन्त्र (अतिव) का
(२२) देव का अर्थात् देवोपहत कथैः शिगरे करने काशा ॥ ३६ ॥

श्री (३३) देव अर्थात् देव का अर्थात् दुःख, (३४) मन्त्र ही को मुन्त्र म
१ 'अथ हिरण्यगर्भ' । २. 'अरज' । ३ 'देवविषयक एव च' ।

अदेशस्थो, बहुरिपुर्युक्तः कालेन यथ न ।

सत्यधर्मव्यपेतश्च, विशतिः पुरुषा अमी ॥ ३८ ॥

एतैः सन्धि न कुर्वीत, निगृह्णीयात्तु केवलम् ।

एते निगृह्यमाणा हि चिप्रं यान्ति रिपोर्वशम् ॥ ३९ ॥

१) बालस्याज्यप्रमारत्यान्न लोको योद्घुमिच्छति ।

युद्धाऽयुद्धफलं यस्माज्जातुं शक्तो न बालिशः ॥ ४० ॥

अन्वयः । दुर्निश्चयसन्तोरेणः = दुर्निश्चयवदतराष्ट्रः । बलव्यसनसङ्कुतः = सेनाविरोध-
बहुतः ॥ ३७ ॥ अदेशस्थ इति । दूरदेशस्थिनः । बहुरिपुः, अनुपपन्नदेश-
स्थिनः, सत्यधर्मव्या रहितधेत्यमी पुरुषा न सन्धेयाः, किन्तु एभिर्मुदमेव

२) एत एते निगृह्यमाणाः = युद्धयमानाः सन्तः । चिप्रं = अरितमेव, शत्रुवशमा
गच्छन्ति ॥ ३९ ॥

३) 'अपनेते चिप्रं पराजिता भवन्ती'ति विशदं प्रदर्शयति—बालस्येति । लोडः =
४) बालः = पतः । बालिशः = बालो, मूर्खः । युद्धाः युद्धफलं = युद्धयुद्ध-

५) (१५) जिसके राज्य में दुर्निश्चय पदा हुआ हो, (१६) तथा सेना जिसको न
हो ॥ ३७ ॥

६) (१७) अयोध्या स्थान में रहने वाला, (१८) बहुत शत्रुओं वाला,
अन्वय पर युद्ध करने वाला और (२०) सत्य धर्म से विमुख रहने वाला,
सत्य पुरुष (राजा) हैं—॥ ३८ ॥

७) अपने कभी मेल न करे, किन्तु इनसे तो वेयस युद्ध ही करे, क्योंकि वे
(राजा) युद्ध करने से शीघ्र शत्रु के वश में हो जाते हैं ॥ ३९ ॥

८) दूर-दूर अन्तर्देश वसित पुरुष अन्तर्देश क्यों है, और इनका पराजित स्थिति
से ही है, यह कहते हैं—

९) 'बालक अल्पवयस (अल्प पराक्रम) होने से उसके सहानुभूति से
बुरा टोका टोका युद्ध करना नहीं चाहते हैं, क्योंकि युद्ध और अयुद्ध के फल
में ही बालक में सामर्थ्य ही नहीं होती है ॥ ४० ॥

१०) 'युद्धयमाना पराजिते' इति तु बालस्येति पाठः ।

- (२) 'उत्साहशक्तिहीनत्वाद्बुद्धो, दीर्घाऽऽमयस्तथा ।
 (३) स्वरेव परिभूयेते द्वाप्येतावसंशयम्' ॥४१॥
 (४) 'सुरोच्छेद्यो हि भवति सर्व-ज्ञानि-बहिष्कृतः ।
 त एवैतं विनिमन्ति ज्ञातयस्त्वात्मसात्कृताः' ॥४२॥
 (५) 'मीर्युद्धपरित्यागात्स्वयमेव प्रणश्यति' ।
 (६) तथैव भीरुपुरुषः संग्रामे तैस्मिन्मुच्यते' ॥४३॥
 (७) 'लुब्धस्याऽसंनिभागित्वाच्च युष्यन्तेऽनुजीरिनः' ।
 (८) 'लुब्धाऽनुजीवी तैरेव दानमिदं निह्न्यते' ॥४४॥

प्रमत्तव्यतारणम् अत्रुममनयः ॥ ४० ॥ उन्मादशक्तिहीन तार = उन्माद-र
 रिह्यन्तार । दीर्घाऽऽमयः = दीर्घरोगी । स्वैः = आत्मीयैश्चादिभिः । परिभू
 त्तिरिहयेते ॥ ४१ ॥ सुरोच्छेद्यः = सुगमगुणवीर्यः । अतमगाह्याः = अत
 नीताः, रत्नधे रणादिभिः । एत = ज्ञानिविभूतम् । विनिमन्ति = उपदेश
 ॥ ४२ ॥ मुदप्रतिपन्नम् = मुदकारणम् । वीः = भीरुभिः घेनिह्ये ॥ ४३ ॥
 असांभवात्तार = अविश्वस्यमाणव्यतिरास्यत्वात्, पारितोषिकदानात्

- (२, ३) 'बुद्ध' उन्मादशक्ति के न होने से, और बहुत दिनों का रोगी-वै-
 ही करने ही अनुपत्ती से अत ही अनादर (पराधन) पाते हैं—तार विधि है ॥
 (४) अरुनी ज्ञानि से बरत निश्चय हुआ युद्ध भी गुण से नाट किता
 गुण है, उसे क हनु दूरे उमारे ज्ञानि अरुपों का करने पक्ष में करते तो वे
 से निश्चय ही ही उगे भार देते हैं ॥ ४२ ॥
 (५) भीरु युद्ध—युद्ध के हर में करने ही उगे ही जाता है । (६)
 हीरे ही निहने से नक भी हाथीक है, पर हाथ भी अनादर के समय करने ।
 उन बरते ही नक ही (अरुनी से) हीरे ही जाता है ॥ ४३ ॥
 (७) लुब्धी के अमुपत्ती (लोभ)-अवधी प्रवृत्त अरुद हीना म देते
 (रुपों के वन वन देते, अत अरुद से लेते से) हीरे-हीरे युद्ध नहीं करते ।
 १. 'उन्मादशक्ति' । २. 'अविश्वस्यमाणव्यतिरास्यत्वात्' । ३. 'अरुदव्यतिरास्यत्वात्'
 ४. 'अमुपत्ती' । ५. 'लुब्धस्याऽसंनिभागित्वाच्च युष्यन्तेऽनुजीरिनः' ।

- (६) 'सन्त्यज्यते प्रकृतिभिरिक्तप्रकृतिर्युधि ।
 (१०) सुखाऽभियोज्यो भवति विषयेष्वतिमक्तिमान् ॥४५॥
 (११) 'अनेकचित्तमन्त्रस्तु द्वेष्यां' भवति मन्त्रिणाम् ।
 अनवस्थितचित्तत्वात्कार्यतः स उपेक्ष्यते' ॥४६॥

द्वारकालिककृतान् । अनुजीवन = मै नरा । ते = वृत्तीः अनुजीविभ, दान-
 नै = शत्रुदोषोच्यतीभूतैः । पाठान्तरे—एष = नृ । ॥ ४५ ॥
 मन्त्रिणि = अमलादिभिः । अतिमक्तिमान् = 'त्यज्यते' । काभिन्यादि-
 न्त्वि । मन्त्राभिरिक्त = अनायासमात्र ॥४५॥ अनेक चित्तमन्त्र = चित्तं चत ।
 चित्तमन्त्रः । शत्रुणा सह सन्धार मन्त्राभिरै, स मेघ = उच्यते । ११-
 = राजा, उपेक्ष्यते—मन्त्रिभिरिति ज्ञेय । उद्व—म = न्या । का न = कां
 उद्व, कां दद्यात् । उपेक्ष्यते—तदुक्तमन्त्राननुशानादुपेक्ष्यते राजा । अतो मन्त्र-
 कानुशानैः स राजा मेघो विनाशयथ भवति ।

- (६) जिस राजा के सेवक लोभी हैं, वह राजा भी उनके मन हारक
 वड़े दण्डों प्रकार न देने से उन्दी लोगों से मारा जाता है ॥ ४५ ॥
 (१०) जिस राजा से मन्त्रिण तथा प्रजा अप्रमत्त हैं, उस राजा से मन्त्री
 प्रजा आदि ही युद्ध में छोड़ देते हैं । (१०) और ११ श्रुति में शत्रु वंशा
 वह भी युद्ध से पराजित हो सकता है, क्या कि उद्वेग में राजा वंशा
 डीक-डीक युद्ध नहीं कर सकता है ॥ ४५ ॥
 (११) और जिसका चित्त चञ्चल हो, और जिसकी सहायक न भवत हो,
 उसे मन्त्रियों से ही परित्याग कर दिया जाता है, उस उषका अन्वये
 ही जाती है । कर्त्तव्य—अनवस्थित (चञ्चल) चित्त होने से
 ही कां के मन उद्वेग ही करते हैं ॥ ४६ ॥
 मन्त्रिणाम्, 'मेघो मन्त्री' न व वा० । २. 'का' नै ।

- (१२) 'सदा घर्मबलीपस्त्वाद्देव-त्राक्षण-निन्दकः ।
 (१३) 'निशीर्यते स्वयं 'क्षेप, दैवोपहतऋस्तथा' ॥ ४७ ॥
 (१४) 'सम्पत्तेश्च, विपत्तेश्च दैवमेव हि कारणम्' ।
 इतिदैवपरो ध्यायन्नात्मना^३ न विचेष्टते' ॥ ४८ ॥
 (१५) 'दुर्मिचव्यसनी चैव स्वयमेव^४ त्रिषीदति ।
 (१६) 'बलव्यसनमक्तस्य^५ योद्धुं शक्तिर्न जायते' ॥ ४९ ॥
 (१७) 'अदेशाम्यो हि रिपुणा स्वल्पकेनाऽपि हन्यते ।
 ग्राहोऽप्रीयानपि जले गजेन्द्रमयकर्मति'^६ ॥ ५० ॥

अधर्मपत्नीवन्तान् = पापव्य बह्व्यावन् । त्रिषीदति = त्रयमेव मरवति ॥ ४७
 स हि धरति तिरासोर्भाष्यमेव हेतुरिति निन्दयस्य कथ्ये घर्मवत् प्रयाते ॥ ४८
 त्रिषीदति = त्रिनश्यति । व्याकुलो भवति ॥ ४९ ॥ अदेशायः = अदुर्गदेशयि
 अदुर्गिभिरभयमित्यर्थ । स्वल्पकेन = दुर्बलेन, सामान्येन । अहरीयन् = मर

(१२) अधर्म के बलवन् होने से ही देवता और ब्राह्मणों की निन्दा करने का काम भरा ही नष्ट हो जाय है ।

(१३) देव ही प्राणिक से मारा हुआ हयमाय्य पुरुष भी स्वयं मावरीय ही मर ही जाय है ॥ ४७ ॥

(१४) 'सम्पत्तेश्च और विपत्तेश्च का कारण भाग्य ही है' ऐसा सदा धर्मव्य ब्रह्मा, भाग्य को दुर्बल माननेवाला अदुर्बल भी टीक टीक प्रयत्न नहीं करण । एतद्वदेव ही नष्ट हो जाय है ॥ ४८ ॥

(१५) दुर्मिच से बड़ा हुआ शत्रु भी धार ही दुर्बली रहण है ।

(१६) और त्रिषीदो दुरी होने वाले शत्रु से मुक्त करने की सम्पत्त ही नष्ट होने है ॥ ४९ ॥

(१७) अदेश्य और अहरीयान से रहने वाला पुरुष भी दुर्बले से अदुर्बल ही मरत मरत है । क्योंकि अदुर्बल ही प्रयात होय है, अदुर्बल के बल से देवे ही

१. '५०' । २. 'अदुर्बलवर्ति' 'अदुर्बल' ५० । ३. 'अदुर्बलवर्ति' ।

४. 'अदुर्बलवर्ति' । ५. 'अदुर्बलवर्ति' ।

(१८) 'बहुशत्रुस्तु सन्त्रस्तः श्येनमध्ये कपोतवत् ।
येनैव गच्छति यथा तेनैवाऽऽद्यु' विपद्यते' ॥५१॥

(१९) 'अकालयुक्तसैन्यस्तु हन्यते कालयोधिना ।
कीशिकेन हतज्योतिर्निशीथ इव वायसः' ॥५२॥

(२०) 'सत्यधर्मव्यपेतेन' सन्दध्यान्न कदाचन ।

॥ सन्धितोऽप्यसाधुत्वादचिराद्याति विक्रियाम्' ॥५३॥

तेनैव, मराकाय इति राजमपि आश्रयति ॥ ५० ॥

कपोतः = शत्रुगणसमस्तः सन् । येनैव मार्गेण गच्छति तेनैव गच्छन् स हन्यते ।
कपोतः = कपोतः । (बाग-पक्षी) ॥ ५१ ॥ अकालयुक्तसैन्यः = अनाऽनुनिवारमरे-
निशिता । अकालयोधिना = अनुकूलायसरेण शत्रुणा-हन्तते । कीशिकेन = उलू-
कः । हतज्योतिः = हतनेत्रशक्तिः । निशीथे = मन्त्राथे । वायसः = वाक इव ।
'व्यपेतेन' इति क्वचित् पाठः ॥ ५२ ॥ सत्येति । अमरार्थेनेन, अघा-
त्येन । न सन्दध्यात् = सन्धि न कुर्वन् । असाधुत्वात् = दुष्टत्वात् ।
विक्रिया = विकारः, शिरोघ्नम् ॥ ५३ ॥

(१८) भी बल में बड़े बड़े हाथियों को भी रींच लेता है ॥ ५० ॥

(१९) बहुत शत्रुवाला पुरुष भी अनेक बाजों के बँच में पड़े हुए बहुरंग
की डरता हुआ जिस मार्ग से जिधर भी जाता है, वही वह रींच ही मारा
करे ॥ ५१ ॥

(१९) जो राजा असमन में ही दूसरे पर चढ़ाई करता है वह राजा समन
के बाजों से अपने उस शत्रु से उसी प्रकार में मारा जाता है, जैसे अर्धरात्रि
की श्मशने के कारण उलूक से बीया मारा जाता है ॥ ५२ ॥

(२०) जो सत्यधर्म से विरुद्ध हो उसमें भी कभी सन्धि नहीं करे, कर्तों पर
अनेक भी असमन होने के कारण ही घड़े ही समन में बिगड़ जाता है ।
सन्धि को लौट देता है ॥ ५३ ॥

१. 'तेनैव वाज्यी' । २. 'न सन्दध्यात्' ।

अपरमपि कथयामि,—सन्धि-विग्रह-याना-ऽऽमन-संभय-द्वेषीभाष्य
 पाठगुण्यम् । (१) कर्मणामारम्भोपायः, (२) पुरुष-त्रय्य-सम्प
 (३) देशकालविभागः, (४) विनिपातप्रतीकारः, (५) कार्यसिद्धिश्च (६)
 पद्माङ्गो मन्त्रः । साम-दान-भेद-दण्डाश्रित्यार उपायः । (१) वृत्साहर्षा
 (२) मन्त्रराशिः (३) प्रमुराष्टिश्चेति शक्तित्रयम् । एतत्सर्वमालोच्य वि
 विजिगीषयो मथन्ति महान्तः । यतः—

‘या हि प्रागुपरित्यागमून्वेनाऽपि न लम्पते ।

सा श्रीर्नीतिविदं परम चञ्चलाऽपि प्रधावति’ ॥ ५४ ॥

सन्धिः=गन्धानम् । विग्रहः=पुष्टम् । यानं=यत्रुं प्रति यानम् (यद्वा) । आत
 दुर्गाती तन्मन्त्रारिषिः । संभयः=सञ्जात आभयदम् । द्वेषीभाष्यः=द्वेषा भजन
 एते नीतेः पदद्वय भवति । आरम्भोपायः=कार्यशारम्भय उपायः । पुरुषात्
 उदापकानो रैव्यःदीनो, इत्यस्य=पनपात्वादेभ, मन्त्र=सगृहीतः । देश
 विभागः=कला, कुत्र, किं कार्यं करणीयमिति देशकालभेदेन कर्मपरिनिर्णय
 विनिर्णयः । पद्माङ्गः=सर्वविधविनिर्णयः । विजिगीषवः=विजयवेगुक्ताः ।

परम-वा हि=वा लज्जु । लम्पतेः-भीः । प्रागुपरि-यातमून्वेनारि=अप्यस्यै
 प्रार्थनायाः शक्तिः । नीतिविदं=नीतिज्ञानम् । प्रधावति=स्वयमेवेति

देशान् । (१) शक्तिः कीर्तिः भीष्मक २ वा ३ मी आरम्भे कला हूँ वि-दीन, स्व
 मन्त्र (यद्वा), मन्त्र की प्रतीका में बैठना, दुष्टों का आशय लेना कीर्ति
 भाष्य (कुलीभाष्य) के अन्तर्गत के लः गुण है । कीर्ति मन्त्र के भी लक्ष्य
 होते हैं । ये लक्ष्य के आशय का उपाय, मन्त्रक मन्त्रों का कीर्ति आशयक
 (इत्य) का लक्ष्य, देश कीर्ति का विभाग, तथा मन्त्राः क का उ
 पार्थना का लक्ष्य, कीर्ति कार्य की शक्ति, इन लक्ष्य लक्ष्योत्पत्ता ।
 (यद्वा) होता है । मन्त्र, यान, मी कीर्ति इत्येके पर उपाय है । लक्ष्य
 लक्ष्य, मन्त्रलक्ष्य, कीर्ति लक्ष्य के लक्ष्य लक्ष्य की लक्ष्य है । इन लक्ष्य
 लक्ष्य लक्ष्य में विभाग कर ही मन्त्रलक्ष्य कीर्ति पर लक्ष्य लक्ष्य है कीर्ति
 लक्ष्य के लक्ष्य की लक्ष्य करने है ।

परम-वा हि=वा लज्जु । लम्पतेः-भीः । प्रागुपरि-यातमून्वेनारि=अप्यस्यै

वया चोष्टम्—

‘वित्तं सदा’ यस्य समं विभक्तं,
गूढधरः, संनिभृतश्च मन्त्रः ।
न चाऽप्रियं प्राणिपुत्रो ब्रवानि,
स सागरान्तां पृथिवीं प्रयास्ति ॥ ५५ ॥

‘द्विन्दु देव’ ! यद्यपि महामन्त्रिणा गूढधर सन्धानमुपन्यस्त, तथापि
नेन राजा सम्प्रति भूतजयदर्पान्न मन्तव्यम् । (देव) तदंश क्रियता—
‘निदलद्वीपस्य महापत्तो नाम सारसा राजाऽऽमन्मिय जम्बुद्वीपं कोप
नयतु । यत’—

१=द्विन्दुदेव ॥ ५५ ॥
२=राजेश्वर ॥ ५५ ॥

स=समुद्रान्तर्गतं पृथ्वीं शास्ति = स चक्रान्तो गंगा भवत ॥ ५५ ॥
सपानं = सन्धिः । उन्मूलनं = इतन्मन्त्रेणोक्तम् । भूतजयदर्पान् = पूर्व
क्रिय विजयस्य दर्पण । न मन्त्रस्य = म न मन्त्रेण । (यह नहीं मन्त्रेण) ।
सो बहरी किमी को नहीं मिलती है, बही लक्ष्मी—वचन होने पर भी नति
नेत्रो के पास तो स्वर्ण हींदर आती है ॥ ५५ ॥

१. और जो मायाभाव को कभी छत्रिय वचन नहीं करता हो, वह राजा समुद्र
को प्राप्त कर सकता है । अर्थात् उसके पास राजदरनी स्वर्ण
हींदा है । यद्यपि महामन्त्री गिद्ध ने अपने राजा चित्रदर्प से छत्रि
य हींदा को प्राप्त कर सकता है, तभी वह राजा छत्रिय होने के पन्तर से उस वच को
प्राप्त करेगा । अतः दे देव ! देमा उवाच कं ज्ये कि सिंहद्वीप वा राजा
‘दास्य’ । २ ‘गूढधरः, निम्बध मन्त्रः’ पाठा० । ३. ‘द्विन्दु-
५ इति’ । ५. ‘आमन्मिय सिंहद्वीपस्य’ ।

‘सुगुप्तिमाधाय, सुमंहतेन
 बलेन वीरो विचरन्नरातिम् ।

सन्तापयेयेन समं सुतप्त-

स्तप्तन मन्धानमृपैति तप्तः’ ॥ ५६ ॥

राजा ‘पयमम्बु’ इति निगद्य विपिप्रनामा वक्रः सुगुप्तलेखं ।
 सिद्धलक्ष्मीं प्रदिनः^१ ।

अथ प्रणिधिः पुनरागयोगात्—‘देव ! भयनां तापसाप्रत्यप्रान्ता

कोट = सुहादिनोदरम् ॥ सुगुप्तिमाधाय = सुगुप्ति विधाय । निगां प्रयत्नप्र
 ने वर्यः । सुमहतेन = परम्यमगुच्छेन, अभयेन, बलेन = पी-येन, विषा
 दानात् प्रदान् । (सुक विरह लक्षणा माया कृष्णा) । अराति = अशु ।
 एतेरुत्पीठेरे । देन म गर्भं = गुह्यमेव । रातमय म्बुत्पुर्ण । सन्तप्तः = दु
 मरेत् । यत्—गेन क्षोदादिना महत्पमेः क्षोद^२ इत्क सन्धानमेति । त
 कृष्णा हि लामेः पचादिकं लमेः क्षोदादिना कल्पने मर्त्य ॥ ५६ ॥

सुगुप्तलेख = गुह्यं वर्षं दत्तम् । प्रदिनः = वेदिताः । प्रणिधिः = गुणवत्प्रथा
 लक्षणात्प्रायः = अशुत्पुर्णमर्त्यम् ।

श्लोक—नेत्राती शीर—अग्नी गुप्त (रक्षा) गृह्य वरने, अमुरग मे
 मरु को लेख मनु की धेना मे विनाश कृष्णा, अन्ते प्रकाश मे अग्ने क
 वरपर गुण दे ग रहे । अन्ते अमुरा उपर उभर मे हयला कर्मा रं दे की
 माया मर्त्य करे कि विगये मरु को अग्ने ही वरपर लक्षणा हा जाय ।
 मर्त्य ही मर्त्य के जाग कृष्णी लक्ष मे विज्ञ मर्त्य है । गर्भं क्षोदा इ
 क्षोद मे विज्ञाया या मर्त्या है, दवहा क्षोदा कर्मी - ही गुह्य है ।
 पयमम्बु कृष्णा कृष्णी ही मरु मे मर्त्य कर्मा है ॥ ५६ ॥

सव मर्त्या ने ‘पय म्बु’ की है’ देना वरकर विचरन्नामर वनु
 गुप्त पर देना सिद्धलक्ष्मी को देना दिया ।

५०४ के व द लक्ष्मी विज्ञाने काकर कर्मा-देना म्बुत्पुर्ण वा क

१. ‘सन्तप्तः’—‘सन्तप्तः’ । २. ‘इति निगद्य’—‘इति’ मर्त्य व
 ३. ‘विपिप्रनामा’ । ४. ‘अथ’—‘अथ’ । ५. ‘पुनराग’—‘पुनराग’ ।
 ६. ‘मर्त्य’—‘मर्त्य’ ।

—एवं तत्र गृध्रेणोक्तं—'देव ! 'मेघवर्णस्य चिरमुपितः, स चेति किं सन्धेयगुरायुको हिरण्यगर्भो राजा, न वा' ?—इति । ततोऽसौ मेघवर्ण-
 द्वित्रवर्णेन राजा समाहूय शृष्ट—'वायम ! कीदृशोऽसौ हिरण्यगर्भो
 राजा, ?। चक्रवाको मन्त्री वा कीदृशः' ?। 'वायस उवाच—'देव ! 'स
 हिरण्यगर्भो राजा युधिष्ठिरसमो महारायः, 'सत्यवारु । चक्रवाक-
 'समो मन्त्री न काऽप्यलोक्यते ।' राजाऽऽह—'यद्यं तदा कथमसौ
 भूता वद्विनः ?। 'विदस्य मेघवर्णः प्राह—'देव !

'विधासप्रतिपन्नानां वञ्चने का विदग्धता ? ।
 अद्भुमारुह्य मुमं हि हत्वा किं नाम पौरुषम्' । ॥ ५७ ॥

तत्र = यमुदुगो । कीदृशः = कीदृशगुणकः । महारायः = उदारारायः । एवम् =
 'दुन्दुभाली, महारुदः ।

'विधासं प्रतिपन्नानाम्' = विधामनुनगानाम् । वञ्चने = प्रारणे । कि नाम
 = कायम् । विदग्धता = शौर्यम् । अद्भु = शौक्यम् । चक्रवाक = चक्रवाक ।

... भी मुनिने—तब यम ने कहा कि—'देव ! मेघवर्ण भी वहाँ बहुत समय तक
 ... नुप है । अतः वह भी जानता है कि—'हिरण्यगर्भ गण्य स-व करने के योग्य
 ... से कुछ है, या नहीं । तब राजा ने उस मेघवर्ण को बुझाकर पूछा कि—
 ... से कीने ! वह हिरण्यगर्भ राजा कैसा है ?। और उसका मन्त्री कैसा है ?। शौका
 ... का कि—'देव ! हिरण्यगर्भ राजा युधिष्ठिर के समान सत्कामी और धेरे है,
 ... के बंधने के समान मन्त्री भी अन्त्य वही नदी देग पढ़ा है ।' तब मुन कर
 ... का कि—'तो देखी बात है, तो तूने उस कैसे टगा ?। मेघवर्ण हँस
 ... का कि—'दे देव !

सत्यवर्ण शिवाय हुए लोगों का टगना का वही बात है ।। क्यों-क गोः मे
 ... कर केने हुए की मारने में बरा पुरुषार्थ है ।। अर्थात् वह तो वही
 ... से ही मारा जा सकता है ॥ ५७ ॥
 'मेघवर्णः' । २ 'राजेंद्र वचिनः । ३ 'मेघवर्णो ब्रूते' । ४ 'देव ! हिरण्य-
 'वचिनः' । ५ 'हिरण्यः' । ७ 'मेघवर्णो निरग्य ब्रूते' ।

शृणु देव ! तेन मन्त्रिणाऽहं प्रथमदर्शने एव विज्ञातः । वि
मद्वारायोऽसौ राजा, तेन मया विप्रलब्धः' । तथा चोक्तम्—

‘आत्मौपम्येन यो वेत्ति दुर्जनं मत्प्रवादिनम् ।

‘स तथा वञ्च्यते धूर्त्तब्राह्मणरद्धानो यथा’ ॥ ५८ ॥

राजोवाच—‘कथमेतत् ? । मेघवर्णः कथयति—

१ ब्राह्मण—व्याग—धूर्त्तत्रय—कथा ।

असिद्ध मीतमस्याऽरूप्ये प्रस्तुतपद्मः कश्चिद् ब्राह्मणः । स च यत्
‘प्रामाण्यराज्यागमुपधीय, इच्छे नोत्था, गच्छन्धूर्त्तत्रयेणाऽवसांक्षि

(गोद मे) । गुणं जनें हता किं नाम पौत्रम्, न किमतिरथः ॥ ५७ ॥ ते
वदन्तेषु । प्रथमदर्शने = आदायेव दर्शने । (देगो ही) । विदातः = तत्
ज्ञातः । मदारुणः = उदारप्रवृत्तः । विप्रलब्धः = वञ्च्यः । आत्मौपम्ये
आत्मवत् (अन्तो ही ताह), तो दुर्जनमपि सादृशत्वेन जानाति, ग
बन्धने । तथा हागमगत्रेण त गच्छो ब्राह्मणो धूर्त्तत्रयः ॥ ५८ ॥

आद्यावतः = विदातः, उदात्तगो वा । लक्ष्म्यं = अत्रम् (बरदा

श्रीर गुणये महाराज ! उम प्रधान मन्त्री ने गो वरसे ही दर्शन में (दे
ही) मुझको परिचय दिया था, वल्लु वर गंगा बहा उदार हृदय श्रीर
है, हभी वारण से मेरे से वह उमा गता ।

देगा बरदा भी है—तो दुहा को करने समान ही मया जानता है, वर
मे ऐसे ही गता काता है, धीमे उन धूर्त्तों ने वरसे के विप्र मे एक ब्राह्मण
उम क्षिण वा ॥ ५८ ॥

राज मे बरदा—उह वरदा मेरे है । मेरसे करने उमा—

मीत्रम मन्त्रि के वन में किसी ब्राह्मण ने एक करने वा विचार कि
श्रीर उम वर के शिर दूरो काय मे बरदा दोउ सेहा कये वर विदे को
उमे हीन धूर्त्तों (उम) मे देगा । एवं उन धूर्त्तों मे गोवा कि—एक वरों

१. 'न एव वचने नृप' । २. 'अस्मिन् नृप' ।

तन्मते धूर्ताः—'यद्येव च्छागाः केनाप्युपायेन लभ्यन्ते, तदा मतिप्रकर्षो' भवतीति समाबन्धेन, 'वृक्षप्रयत्ने क्रोरान्तरेण तस्य प्राक्षणास्याऽऽगमनं प्रवीर्य, 'पथि स्थिताः ।

तत्रैकेन धूर्तेन गच्छन्स प्राक्षणोऽभिहितः—'भो प्राक्षण ! किमिति तथा वृक्षप्रयत्नः कृन्वेनोद्यते' ? । विप्रैणोक्तं—'नाऽयं श्वा, किन्तु यहश्छागाः ।' 'क्याऽन्तःस्थितेनाऽन्येन धूर्तेन तथैवोक्तम् । तदाकार्यं प्राक्षणरक्षां भूमौ कृत्वा, दीनायमानमतिश्रलितः । यतः—
'मतिर्दोलायते 'सत्यं सतामपि खलोक्तिभिः ।
तामिर्विधासितथाऽसौ' प्रियते चित्रकर्णवत्' ॥ ५९ ॥

वृक्षप्रयत्नः=मूल्येन शरीरम् । मतिप्रकर्षः=बुद्धिदोषकम् । (हम लोगो की बुद्धि-
पत्नी प्रकट हो । 'तमी हमारी हिम्मत हो) । वृक्षप्रयत्नः=ममशय्यायां वृक्षाणां
पथे । (कोय २ मर के अन्तर पर वे तीनों ठग वृक्षों के नीचे लड़े हो कर उसकी
द देगने लागे) । ऊद्यते=नीचते । अनन्तरस्थितेन=निकटस्थितेन । द्वितीयेनापि ।
[=पुनः । दीनायमानमतिः=सद्यथाऽऽवृक्षचित्रः । तसोक्तिभिः=दुष्टोक्तवाक्यैः ।
तमं सत्यं—मतिः दोषापने=मूलं चञ्चला भवति । तामिः=तसोक्तिभिः ।

लोग किसी उपाय से हस्तसे हीन सड़ें तो हमारी बुद्धि की कुशलता सिद्ध होगी ।
यह जो बकर वे तीनों ठग तीन वृक्षों के नीचे कोय कोय मर के अन्तर पर
। अलग उम प्राक्षण की बात देखते मार्ग में बैठ गये । तब एक धूर्त ने जाते

। प्राक्षण से पूछा कि—'भई ! यह कुशा नहीं है, किन्तु यह तो यह का पशु
रक्षा है । फिर दूसरे दूर बैठे हुए धूर्त ने भी यों ही कहा । यह मुन कर प्राक्षण
शरीर को रक्ष कर, बार-बार देखकर, फिर ठसे कर्ण पर रखकर, मन ही मन मन्देह
। प्राक्षण से पूछा कि—'भई ! यह कुशा नहीं है, किन्तु यह तो यह का पशु
रक्षा है । फिर दूसरे दूर बैठे हुए धूर्त ने भी यों ही कहा । यह मुन कर प्राक्षण
शरीर को रक्ष कर, बार-बार देखकर, फिर ठसे कर्ण पर रखकर, मन ही मन मन्देह

धूर्तों के बहने से सजनों की बुद्धि भी सचमुच विचलित हो जाती
'मतिप्रकर्षः' पा० । २ 'प्रा-तरं वृक्षप्रयत्नः' । ३ 'अनन्तरं पुनर्द्वितीयेन धूर्तेन क्रोर-
'रतेन उदेवोक्तम्' । ४ 'दूत' । ५ 'विधासिता बोधो' ।

‘राजऽऽह—कथमेतन् ? । स कथयति—

१०. चित्रकर्ण-काकादि-कथा ।

अग्नि कश्मिश्चिद्वनोद्देशे मदोत्कटो नाम सिंहः । तस्य सेषफालपः
काको, व्याघ्रो, ३ जम्बुक्षत्र । अथ तैर्धर्मद्विः ‘सार्धधृष्टः कश्चिदुग्रो ह्य
पृष्टश्च—‘कुनो भवानागतः सार्धाद् धृष्टः’ ? । स आऽऽमृतान्तमकथयत्
तत्तस्मैर्नोत्या मिहायाऽसौ समर्पितः । तेन आऽभयवार्धं दत्त्वा, ‘चित्रकर्ण’
इति नाम कृत्वा, स्थापितः ।

‘अथ कदापिनिमिदस्य शरीरपैपल्याद्भूरिवृष्टिकारणायाऽऽहारमसम्
मानास्ये व्यथा यम्बुः । ‘तत्तस्मैरासौचितम्—‘चित्रकर्णमेव यथा

विधायिनः—विशेषात् मरिचः ॥ ५६ ॥

वनोद्देशे = वनोद्देशे । सार्धाद् = बन्धुसमूहार् ।

तत् ५ = उग्रध । शरीरपैपल्याद् = शरीरगन्ध्यालप्यार् । आहारं = भोग्य

(टिकार) । ते = ध्याःप्रायः । व्यथाः = चिन्ताः, व्याकुलाय । स्याताः यति =

हे । कोर उग्र पर विधाग करके उनमें भोग्या दिया हुआ मनुष्य भी उ

चित्रकर्ण को तब ही जान्य ही जाना है ॥ ५६ ॥

तत्र रात्रौ कोण वि—‘एव कथा विने हे । ।’ एव वीथ करने लग्य—

विगी वन में मरिच नाम का एक सिंह रहता था । उसके बीस, स्या
कोर शूलत्र में तीन मीठ थे । एक समय यूनो हुए उग्रोंने किी उँट के
देना कोर उग्रों पूजा कि—कुम करने मरुट में लूट कर वहाँ वहाँ में चर्
हो । । तब उग्र उँट में कचना गठ वृष्ण्य करा । फिर उग्रोंने जो ले जल
दि को मीठ दिया । उग्रों उग्रों कथय वचन दे, चित्रकर्ण नाम मनुष्य, कथने
एव दिया । कथन विगी दिनदि का शरीर कथय होने के कारण कोर वृ
वृष्टि होने के कारण कोहन म चिन्ते के में लीने वृष्ट वृष्ट्यः हुए । तब उग्रों
कोण वि कीने वरनी विर हय चित्रकर्ण को मने, देना ही उग्रों वरना चर्चिदे

१. ‘सर्वं दुष्कृतं’ । २. ‘कथयन्त्येव’ । ३. ‘गृह्यते’ । ४. ‘चित्रकर्ण’

५. ‘तत्र कने मरुटि वरुणदे’ । ६. ‘तत्र कथयन्त्येव’ ।

स्वामी व्यापादयति तथाऽनुष्ठीयताम् । किमनेन 'कष्टकमुत्राऽऽमाहम् ? ।

व्याघ्र स्याच—'स्वामिनाऽभयवाचं दत्त्वाऽनुगृहीतोऽयं, सत्कथनेषं
प्रमथति' ? । काको व्रते—'इह समये परित्सीणः स्वामी पापमपि
दृष्टिपति' । यतः—

त्यजेत्तुघाऽऽर्त्ता महिला^१ स्वपुत्रं,

सादेत्तुघात्ता भुजगी स्वमण्डम् ।

पुमुषितः किं न करोति पापं,

घीणा नरा निष्करुणा भवन्ति' ॥ ६० ॥

अन्वय—

'मत्तः, प्रमत्तश्चोन्मत्तः, थान्तः, 'कृद्वो, पुमुषितः ।

तुघो, भीरुस्त्तरापुक्तः, कामुकश्च न धर्मवित्र' ॥ ६१ ॥

रति । कष्टकमुत्रा—वर्षादि कष्टकभोगिना । हि—हिममाहं प्रवोजनम् ।
न हिमरत्नैः । अनुगृहीतः—अनुकम्पितः । इह—भीषनाभ्रामानमरे ।
घीणाः—रिपवः । पापम्—अनुनितमपि ।

तुघात्ता—पुमुषिता सती । महिला—स्त्री । त्यजेत्—जहात् । भुजगी—
मत्तः । कष्टकम्—प्यायटं, स्वपुत्रम् । घीणाः—रिपवस्ताः । निष्करुणाः—
निर्दयः ॥ ६० ॥

मत्तः—मत्तः । प्रमत्तः—अनरतिनः । (अमररथान) । उन्मत्तः—रिपवः,

तो इह इस काली के लाने वाले से हमारा साम ही क्या है ? । स्वामि बोला—'स्वामी
ने मेरे प्रमथ दबन देकर इस पर कृपा की है, अतः पर अब देना देगे पर तुम्हारा
। बीस बोला हि—इस समय तुम्हारी और भूया गायत्री पार भी कर मरेगा ।

कष्टक—भूमी को अपने पुत्र को भी छोड़ देनी है, भूमी करिन्दो अपने
तो को भी ला जानी है, भूया आदमी बीनमा पार नहीं करता है । । वर्षादि
नी व घीण (भूया, दृष्टि) मनुष्य निर्दयी हो जाते हैं ॥ ६० ॥

और भी—मत्त (पनरही), प्रमत्त (अमररथान), उन्मत्त (पापव),

१ 'कष्टकमुत्रा । स्वामी व्रते' । २. 'मरिटाऽपि' । ३ 'अर्थी' ।

—इति 'सद्भिन्त्य सर्वे सिद्धाऽन्तिकं जग्मुः । सिद्धेनोत्तम्—'आहाराऽयं
 विद्भिन्त्यानम्', ? । तैत्तम्—'देव ! यत्रापि न प्राप्तं किञ्चिद् !'
 सिद्धेनोत्तम्—'कोऽपुना जीवनोपायः ? !' काको वदति—'देव !
 रथाधीनाऽऽहारवस्त्रियागात्सपेनासोऽयमुपस्थितः' ? । सिद्धेनोत्तम्—
 'अत्राऽऽहारः कः रथाधेनः ? !' काकः पत्नौ कथयति—'चित्रपर्णः' इति
 सिद्धो भूमिं गृह्णा, पत्नीं गृह्णाति : । 'अमयीन्त्य—'अमयवर्षं दत्त्वा
 शृणोऽयमागाभिः, तन्कथमेव सम्भवति' ? । "तथा हि—

(पाठः) । अनाः=रथिभ्यः (पदा दुष्ठा) । कुटः= कुत्रिजः । पुमुपितः=
 पुत्राः । भीदः=भयानुरः । स्वामुष्टः=स्वामान् । काकुटः=कानी । एते
 धने न प सपनीययः ॥ ६१ ॥

गिराणि=गिरिगणम् । जीमोतायः=ग्राह्यस्योपायः । रथाधीना
 ऽऽहारवस्त्रियागात्=रथधेनोत्तम्-वस्त्रात् । सपेनासः=सपेनासमाकं सिद्धो
 मयः । अत्राः=अत्रम् । भूमिमिति । अत्रिषारस्वापन्तमनीषितं रथविष्ट
 भूमि विष्टः । अमयीन्त्य=अमयवर्षम् । एत्=तामात् । एषं=एतत्पः ।

पदा दुष्ठा, भीदी, भूमा, कानी, ककुट, (अहवाम) कौर कानी,
 ये कौम धने को नदी जानते (देवो) हे ॥ ६१ ॥

एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि । उदेदेव एतत्स्वामि एतत्स्वामि ।
 के हिवे कुट्तिना । वे वेवे हि—'एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि ।
 गिरि वेवा हि—'एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि । एतत्स्वामि एतत्स्वामि ।
 एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि । एतत्स्वामि एतत्स्वामि ।
 एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि । एतत्स्वामि एतत्स्वामि ।
 एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि । एतत्स्वामि एतत्स्वामि ।
 एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि एतत्स्वामि । एतत्स्वामि एतत्स्वामि ।

१. 'एतत्स्वामि' । २. 'एतत्स्वामि' । ३. 'एतत्स्वामि' । ४. 'एतत्स्वामि' ।
 'एतत्स्वामि' । ५. 'एतत्स्वामि' ।

‘न भृशदानं, न सुवर्णदानं,
 न गोप्रदानं, न तथाऽन्नदानम् ।
 यथा वदन्तीह महाप्रदानं,
 सर्वेषु दानेष्वभयप्रदानम्’ ॥ ६२ ॥

अन्यत्र—

‘सर्वकामसमृद्धस्य अश्वमेधस्य यत्फलम् ।
 तत्फलं लभते सम्यग् रचितं शरयाऽजाते’ ॥ ६३ ॥

काहो मृते—‘नाऽसौ स्वामिना ज्यापादयितव्यः, क्षित्त्वामाभिरेष
 तथा कर्तव्यं, यथाऽसौ स्वदेहदानमङ्गो करोति’ ।
 सिद्धलक्ष्म्युत्था तूष्णीं स्थितः । ततोऽसौ सत्त्वाऽवकाराः कृत्वा कृत्वा,

कथेति । सर्वोत्पत्त्यर्गभृश्यादिदानापेक्षयाऽपि अमयप्रदानं महाप्रदानं वदन्ति
 निर्दोषः ॥ ६२ ॥
 सर्वकामसमृद्धस्य = मर्गमीटप्रदानोत्पत्त्यस्य । शरयाजाते = शरयाजाते । रचिते =
 रचिते मति । सम्यक् = परिपूर्णम् ॥ ६३ ॥ अश्वी = उग्रः । सुवर्णमिति ।
 अनुनीचवनाय मोनम् । ‘मौनं संनतिहृद्य’ भिषुकेः ।
 अश्वी = काहः । कृत्वा = कर्तव्यं । (पदप्लव) । मर्गम् = व्यापजभूतेन्द्रादीन् ।

श्रीर विभी ने कहा भी है कि—न देना पूर्ण का दान है, न सुवर्ण का दान
 है, न गो का दान है, श्रीर न देना अन्न का दान ही है, येना कि सब दानों में
 वही अन्न दान है ॥ ६२ ॥
 श्रीर भी—सब कामनाओं को पूर्ण करने वाले अश्वमेध वद से जो फल होगा
 है, वही अन्न शरया में प्राये हुए ही अश्वी प्रकार रखा करने से भी प्राप्त होगा
 है ॥ ६३ ॥
 शेष बोलो कि—अन्न उसे माँगा लिये । पान्थ इनमें ही देना उचित करेगा ।
 कि शिल्पों वर उँट अन्नने शरीर को रख ही अन्नको देना सोकर वर लेगा ।
 वर वर इन पुर हो रहा । उसके उपरान्त वर बीघा अन्नकर पाकर दृष्ट करके

सयांनादाय^१ मिहाऽन्निक गतः। अथ षाषेनोक्तं—'देव ! यत्नादप्याह
न प्राप्त, अनेकोपवामक्तिष्ठश्च^२ स्वामी, तदिदानीं मदीयगांसमुपभु
ताम्'। यतः—

'स्वामिमूला भवन्त्येव' मर्वाः प्रकृतयः श्लु ।

ममूलेष्यपि पृथेषु प्रयत्नः सफलो नृणाम्' ॥ ६४ ॥

सिद्धेनोक्तम्—'भद्र^३ ! वरं प्राणपत्न्यागो, "न पुनरीदरो कर्म
प्रवृत्तिः ।' जग्मुदेनाऽपि सयोक्तम् । ततः सिद्धेनोक्तं—'मैवम्' । अथ 'व्या
गोक्तं—'मद्देन जीयतु स्वामी ।' सिद्धेनोक्तं—'न कदापि देवमुचितम्

अथ—१ः नृणाम् । २ः नान्=हृदेऽपि । आहारः=भोग्यं वायु । अनेकोपव
प्रिः=अनेकदिनानुभवात्, वृत्तम् । स्वामी=देवः । स्वामीति । अमर्या
क्याः सर्वा अत्रि प्रवृत्तयो रागाभिगात्रम्बूला अथ भवन्ति । समूलेषु अ इति
सन्धेय ताः कस्यया मर्वाः, लक्ष्मणापं अथ नभ गाम्ने मर्वाः ॥ ६४ ॥

वरं=किञ्चिच्छ्रेयः । ईदरो=आभिरिच्छितभोजनप्रवृत्तिरूपे । जग्मुकेन
शृगलेन । लक्ष्णे ई=मद्देन प्राणवाया वरकोदेवपुत्रम् । जीयतु=प्राणान् प

गवो लेहर मिह के पास गया और बोला कि-हे देव ! यत्न करने में भी भोग
(दिवार) नहीं लिया। और आज भी बहुत दिनों से भोजन बिचे बिना दुः
खे से ही, आज अब आज ऐसे ही भोजन को खाकर अपना प्राण बचाए।

६४-६ अथ इ गाम् (श्लु) की भी एक तो मानी (राधा) ही होगी ।
और श्लु (गङ्गा) यन्ने पृथ में ही मनुष्योका वन गच्छ होगा है । (उभी
पथ की आटा की ता गन्ती है) ॥ ६४ ॥

एव सिद्ध बोला कि—'नाना अमर्वा है, पर देवता का भवना (अनेक
की भवना, वरुह मन्त्र गाम्ना) ले कभी अमर्वा नहीं है । एव शृगाल ने भी को
बता । मिह बोला कि-देव! अब बतों । मैं देवता बनी नहीं था मरता हूँ ।

१. 'नृणाम्' । २. 'नान्' । ३. 'भद्र' । ४. 'मद्देन' । ५. 'अविव
व' । ६. 'श्लु' । ७. 'गाम्ना' ।

अथ विप्रकण्ठोऽपि 'जातविश्वासस्तथैवाऽऽत्मदेहदानमाह' ।
 'तत्सद्वचनान्तेन व्याघ्रेणाऽसी बुद्धि विदार्यं, व्यापादिनः, सर्वभक्ति-
 घ्न । अतोऽहं प्रवामि—'मतिर्दोलायते सत्यम्' इत्यादि ॥ ६॥
 'तत्समृतीवभूत्तवचनं श्रुत्वा, स्वमतिभ्रमं निश्चित्य, द्वागं त्यक्त्वा,
 ब्राह्मणः गतात्वा, गृहं ययौ । 'द्वागश्च तैर्भूत्तनीत्या भक्तिघ्नः । अतोऽहं
 प्रवामि—'आरामीपम्येन यो वेत्ति'—इत्यादि ॥ ७॥
 राज्ञाऽऽह—'मेघवर्य ! कथं शयुमभ्ये त्यया मुचिरमुपितम् ? कथं
 वा तेषामनुनयः कृतः ?' । मेघवर्य उवाच—'देव । स्वामिकायांऽर्धितया,
 वर । ज्ञानवत्ययः = 'स्वामी न मां मद्यविषयती'त ज्ञानविभागः । तथैव=काश्च-
 दिवदेव । नददभेव=भदेहदानगता कथयन्नेव । द्वीशिना=पामेण । निश्चिन्य=
 'इन्द्रोऽपि, न तु बद्वाग' इति निश्चिन्य । स्वादिनः=भक्तिः ।
 मुचिरं=बहुदालम् । उचिं=निगमः कृतः । अनुनयः=प्रनुत्तनम् ।
 अथ मे भी कथा कि—दे स्वामी, मेरे शरीर मे ही प्राप्त करना जंगल धारण
 के लिए ।' निह बोला कि—'यह कभी ठिक नहीं है ।' यह सुनकर निगम वाहर
 कर विचक्षण भी देने ही करना शरीर देने को करने लगा । उसके करने पर दुल्ह
 भी उम स्वाम ने उस ऊँट का घेः पाड़ कर उसको मार हाका और सन्ने ला
 बना । एतत्तिर मीने कहा कि—'दुष्टों के करने से विश्वास में आकर बुद्धिमानों को
 ही क्षति हो जाती है' इत्यादि ॥ आगे कुछ दूर जाने पर तीमरे भूँ ने भी
 ही बन रही । तब उसका बचन सुन, अरनी पुँद का ही भय जानकर (अर्थात्
 ही बुला ही है' ऐसा निश्चय कर), उम बहरे को छोड़कर, स्वान कर वह ब्राह्मण
 ने पर चला गया । तब उम बहरे को ले जाकर उम भूँ ने ला दिया ।
 उम मीने कहा कि—'जो दुष्टों को भी करने समान मया ही समझता है,
 ही से टगा जाता है' इत्यादि ॥
 राजा बोला कि—दे मेघवर्य ! तू बहुत दिनों तक शत्रुओं के बंध में रहने
 पर किम प्रकार तूने उनसे मेल-मिलाव किया ? । मेघवर्य बोला कि—
 'शत्रुवचनः' । २. 'आत्मदानमाह' । ३. 'तददभेवाऽपी म्यावेद' ।
 'इन्द्र-भूतीव' । ४. 'भू-या स विनी भयं निश्चिन्य, द्वागं त्यक्त्वा
 ही तूने-या इत्यादिः' ।

स्वप्रयोजनयथाशा किं किं न क्रियते' । पर्य—

'लोको वहति किं राजन्न मूर्खानां दग्धुमिन्धनम् ।

घालयन्त्यापि 'वृचाङ्घ्रिं नदीवेला निठन्तति' ॥ ६५ ॥

कथा चोष्टम्—

'स्कन्धेनाऽपि 'वहेच्छत्रून् कार्यमासाद्य बुद्धिमान् ।

यथा वृद्धेण सर्पेण मण्डूका विनिपातिताः' ॥ ६६ ॥

रानाऽऽह—'कथमेतन् ? । मेघवर्षः कथयति—

११. मन्दविष—मण्डूक—कथा ।

अग्नि जीर्णोष्ठाने मन्दविषो नाम सर्पः । सोऽतिजीर्णवया ११

(सुतामर) । आभिनवादीभिः ॥ राजराजसिद्धयर्थं प्रथमानेन । स्वप्रयोजन
वृत्तात्—राजसिद्धयर्थं । हे मन्त्र—हे मन्त्र । लोकोः—इत्यन्तं—दग्धुम्—प्रगल्भयि
।। भाष्यविशेष, किं मूर्खानां—छात्रानां न गहति । किन्तु बह देव । वृचाङ्घ्रिं—एषु
वृचाङ्घ्रिं । वृचाङ्घ्रिं—मृच्छगी, मण्डूकपत्नी च । नदीवेला—नदीतटः । (वेष्ट
वत्) । वृचाङ्घ्रिं निठन्तति—उन्मत्तव देव ॥ ६५ ॥ कार्यमासाद्य—कार्यमासाद्य
राजसिद्धयर्थं ॥ ६६ ॥

जीर्णोष्ठाने—सुतामरे छात्रोष्ठे । (सुतामरे कर्णोष्ठे मे) । अग्निजीर्णोष्ठा

देव । मन्त्रो के काम के सिद्ध और करने प्रयोजन के वृत्त से क्या ११ नहीं वि
काय है । देवित्त—हे मन्त्र । वरा प्रदाने के सिद्ध इत्यन्त को प्रयुक्त क
रिए पर नहीं प्रयुक्त है । और नदी को वाग भी वृषों के देवों (नद) को भी
भी वृष्टि कर देती है ॥ ६५ ॥

और वरा भी है—कुर्वन्तु मन्त्रुष्य काम वहने पर करने मन्त्रुष्यो को करने
भी जानने, जैसे उस वृद्धे मन्त्र ने मन्त्रो को करने पर बहावर हो गच्छ था ॥११
मन्त्र ने वृद्ध वि—वृद्ध कथा देवे है । 'मेघवर्षं कथयति—

वृष्टि सुतामरे कर्णोष्ठे मे अग्निजन्म एव मन्त्र मन्त्र वा । पर वृद्ध वृद्ध

१. 'वृचाङ्घ्रिं वृचाङ्घ्रिं नदीवेला' वा० । २. 'दग्धुम्' । ३. 'मन्त्र'

ऽऽहारमप्यन्वेष्टुमद्यमः सरस्तीरे पतित्वा स्थितः । ततो दूरादेव केनचि
 न्मरुद्वेन दृष्टः, शृष्टश्च—'किमिति 'त्वमाहारं नाऽन्यिष्यसि' ? । 'सर्पो-
 ऽनरत्—'गच्छ भद्र ! किन्ते मम मन्दभाग्यस्य वृत्तान्तप्रभेन' ? ततः
 सञ्जातचौतुकः स च भेकः 'सर्वया कर्यताम्' इत्याह । १ सर्पोऽप्याह—
 'भद्र ! "ब्रह्मपुरवासिनः भोजियस्य कौलिटिन्यस्य पुत्रो विरातिवर्षदेशीयः,
 'मवंगुणसम्पन्नो, दुर्देवान्मया नृशंसेन दृष्टः' । ततस्त्वत्* सुराज्ञानामानं
 पुत्रं श्रुत्वमवलोक्य, शोकेन मूर्ध्नितः कौलिटिन्यः पृथिव्यां लुप्तोऽ* ।
 अनन्तरं ब्रह्मपुरवासिनः सर्वे धान्यवास्तत्राऽऽगत्योपविष्टाः । तथा चोष्णम्-

दग्निद्वत्वा । अन्वेष्टुम् = अर्जयितुम् । मन्दभाग्यस्य = मन्दप्रारब्धस्य । सञ्जात-
 चौतुकः = आश्चर्याविष्टः । सर्वया = अवरुपमेव । भोजियस्य = वेदात्पाविना ।
 कौलिटिन्यदेशीयः = ईषदसमाप्तविद्यतिवर्षः । दुर्देवान् = दुर्भाग्यात् । नृशंसेन =
 शंसेन । लुप्तोऽ = मृतः । ('पक्षाद् लाङ्घ गिरा' 'जमीन पर छोडने लगा') । तत्र =

जहाँ वे अपने द्विप मोहन हँडने में भी अममयं होकर नदी के किनारे पर आकर
 आ दुआ था । उसे दूर से ही किमी मेटक ने देगा और पूछा कि—'तुम करना
 मन क्वी नही हँडते हो' ? । सॉन बोला कि—माई ! जाओ, मुझ मन्दागो
 - इच्छा को पूरने से भी तुमको क्या लाभ है ? । तब चौतुकपूरक उग मेटक ने
 पूरा पूरा कि—'नहीं २ जरूर कहिय, क्या बात है ।' सॉन बोला—माई ! ब्रह्मपुर
 के निवासी विद्वान् की इच्छा नामक वेदपाठी के प्रायः बीस वर्षों की अज्ञानता वाले
 ब्रह्मपुर को अपने दुर्भाग्य से और अपने स्वभाव की चटोरता से ही मैंने बात
 की है । तब मुर्ध्नि नामक अपने पुत्र को मरा हुआ देना कर मूर्ध्नि होकर यह
 कीर्तन पूजा पर छोड गया । अनन्तर ब्रह्मपुर के रहने वाले उसके मर
 चुके शवको वहाँ आया ।

१ 'मानाहारं नाऽन्यिष्यति' । २ 'सर्वो ब्रूने-नद्र । मरुद्व मम मन्दाभाग्य
 सञ्जातमेव किन्' । ३ 'इति तं सर्वमह' । ४ 'मर्तो ब्रूते' । ५ 'एव ब्रह्मपुरे
 मन्दागोः भोजियस्य पुत्रो विरातिवर्षेशः' । ६ 'शृष्टसर्वमात्रदृष्टः' ।
 ७ 'पुत्रं श्रुत्वा मम मन्दाभाग्य' । ८ 'पृथिवीगले' ।

‘उत्तमवे, व्यमने, युद्धे, दुर्मिवे, राष्ट्रमिप्लवे ।

राजद्वारे, श्मशाने च यस्तिष्ठति, न बान्धवः’ ॥ ६७ ॥

‘तत्र कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्—‘अरे कीरिदन्व । मूढोऽसि
येनेरं बिलपति’ । शृणु—

‘ऋटीकरोति प्रथमं यदा ज्ञातमनित्यता ।

घात्रीय, जननी पश्चात्, तदा शौरस्य कः क्रमः’ ? ॥ ६८ ॥

‘तथा च—

‘कः गताः पृथिवीपालाः नसैन्ययत्नगहनाः ।

रियोगनाचिगी येषां भूमिगघापि तिष्ठति’ ॥ ६९ ॥

कीरिदन्वदत् । व्यमने = विरदि । राष्ट्रमिप्लवे = राष्ट्रमिप्लवे । (राष्ट्रमिप्लवे में)
राजद्वारे = राजद्वारे । (कनहरी में) । तिष्ठति = उपविष्टो भवति ॥ ६७ ॥ स्नातकोऽवदत्
कपिलो नाम स्नातकोऽवदत्, मूढोऽसि । मूढः = मूर्खः । एवम् = इत्यम् । बिलपति =
बिलपति ॥ घात्रीय-यत्न = उत्तम बान्धवम्, भावी = उपमातेव । अभिनवः प्रथमं
घात्रीयः = घात्रीयः भाष्ये भाष्यति, छ भवति । पश्चात् जननी = माता, तं
कीरिदन्वदत् । तदा शौरस्य क्रमः एव कः ॥ ६८ ॥

प्राप्यते वा = गतः । की-यत्नगहना = यत्नगहना = यत्नगहना-गहनाति ॥ ॥

वदा नी हे—उत्तम में, व्यमने में, युद्ध में, दुर्मि में, राष्ट्र के
उत्तम युद्ध में, राजद्वारे (बंधवों) में कीरिदन्वदत् (मूढ) में कीरिदन्व
दत्, बिलपति ॥ ६७ ॥

कीरिदन्वदत् ! तू बड़ा मूर्ख है, बिलपति तू तू हम लाल मोग है ।

तथा—घात्रीय । उत्तम युद्ध व पक्ष की प्रथम ली पक्ष की लाल अभिनव ही
घात्रीय में ही है कीरिदन्वदत् में मूढोऽसि मूढोऽसि मूढोऽसि में ही है, बिलपति
मूढोऽसि (बिलपति के ली में) मूढोऽसि मूढोऽसि मूढोऽसि ॥ ६८ ॥

कीरिदन्वदत् ! तदा शौरस्य क्रमः एव कः ॥ ६८ ॥

‘तथा च—

‘जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ।
अथ वाऽद्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्रापिनां ध्रुवः’ ॥७०॥

परञ्च—

‘कायः संनिहिताऽप्यायः, सम्पदः पदमापदाम् ।
समागमाः साऽप्यगमाः, सर्वस्युत्पादि मजुरम्’ ॥ ७१ ॥
‘प्रतिक्षणमयं कायः क्षीयमाणो न लक्ष्यते ।
आमकुम्भ इवाऽम्मःस्यो निशीर्यः सन्निमाव्यते’ ॥७२॥

देशे विभोगसाक्षिणी = विभोगं सूचयन्ती । देशे विभुक्ता । भूः = भूषिणी । अकारि =
रक्षणीति ॥ ६९ ॥ प्रुवः = निधिः । वै-इति निधये । प्रादिनां = तन्निनाम्
॥ ७० ॥ आयः = गरीरम् । संनिहिताऽप्यायः = संनिहयतिनायः । निशयोन्मुत्प
त् । आरतां = निरदाम् । पदं = स्थानम् । समागमाः = मृदुशक्तिभिः यत्नमाः,
विज्ञाः । सागमाः = सविषोमाः, विभोगपर्यवसानिनः । उन्वादि = उत्तरयमानम् ।
दूरं = निधरम् ॥ ७१ ॥
प्रतिक्षणं = प्रतिपलम् । आमकुम्भ = अरको पत्रः । अम्म ग्यः = अह्नियः ।

एव कर्तव्ये, त्रिनके विभोग की साक्षिणी पर भूनि आय भीषिण है ॥६९॥
और भी-जन्मे हुए प्राणी की मृत्यु निधि है, और मरे हुए वा पुनः जन्म
निधि है । और आय, वा सौ वर्ष के बाद भी प्राणियों की मृत्यु निधि
॥ ७० ॥

और-उपरि ही प्रतिक्षण नाशमान है, सम्पत्तियों भी अकारितो का क्षीयमान
हो भी विभोग के साथ है, और उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ नष्ट होने
के होते हैं ॥ ७१ ॥

और-पर उपरि प्रतिक्षण क्षीय होता हुआ भी लोग नहीं पढ़ता है, पण्डित
एव वे सभी हुए कथे पढ़े के समान गत्र जाने पर ही दिग्दर्श देता है ॥ ७२ ॥

‘आसन्नतरतामेति मृत्युर्जन्तोर्दिने-दिने ।

आपातं नीयमानस्य वष्यस्येव पदे-पदे’ ॥ ७३ ॥

यतः—

‘अनित्यं यौवनं, रूपं, जीवितं, द्रव्यमक्षयः ।

गंधर्ष्यं, प्रियसंयासो, मुहोचत्र न पण्डितः’ ॥ ७४ ॥

‘यथा काष्ठश्च काष्ठश्च समेपातां महोदधौ ।

गमेत्य च प्यपेपातां, तद्द्रव्यसमागमः’ ॥ ७५ ॥

‘यथा हि पयिकः करिचच्छापामाश्रित्य तिष्ठति ।

विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्द्रव्यसमागमः’ ॥ ७६ ॥

श्लोकाः = श्लोकः (पूरने पर हो मन्त्रम हो ॥ ७२ ॥ आसन्नतरताम् =

असन्नतरताम् । आपातः = आघातम् । नीयमानस्य = आसन्नतरताम् ॥ ७३ ॥

अनित्यं = अस्थायी । यौवनं = शरीर । रूपं = आकार । जीवितं = जीवन । द्रव्यं = पदार्थ ।

अक्षयः = अशून्य । गंधर्ष्यं = गंधर्व । प्रियसंयासो = प्रियसंयास । मुहोचत्र = मुहोचत्र ।

पण्डितः = पण्डित । यथा काष्ठश्च काष्ठश्च = यथा काष्ठश्च काष्ठश्च । समेपातां = समेपातां ।

महोदधौ = महोदधौ । गमेत्य च = गमेत्य च । प्यपेपातां = प्यपेपातां ।

तद्द्रव्यसमागमः = तद्द्रव्यसमागमः । गमेत्य च = गमेत्य च । प्यपेपातां = प्यपेपातां ।

तद्द्रव्यसमागमः = तद्द्रव्यसमागमः । गमेत्य च = गमेत्य च । प्यपेपातां = प्यपेपातां ।

यथा हि पयिकः करिचच्छापामाश्रित्य तिष्ठति । यथा हि पयिकः करिचच्छापामाश्रित्य तिष्ठति ।

विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्द्रव्यसमागमः । विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्द्रव्यसमागमः ।

यथा हि पयिकः करिचच्छापामाश्रित्य तिष्ठति । यथा हि पयिकः करिचच्छापामाश्रित्य तिष्ठति ।

विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्द्रव्यसमागमः । विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्द्रव्यसमागमः ।

यथा हि पयिकः करिचच्छापामाश्रित्य तिष्ठति । यथा हि पयिकः करिचच्छापामाश्रित्य तिष्ठति ।

विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्द्रव्यसमागमः । विश्रम्य च पुनर्गच्छेत्तद्द्रव्यसमागमः ।

अन्यथ—

'पञ्चभिर्निमित्ते देहे, पञ्चत्वं च पुनर्गते ।

स्वां स्वां योनिमनुप्राप्ते, तत्र का परिदेवना' ? ॥ ७७ ॥

'यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान् ।

तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः' ॥ ७८ ॥

'नाज्यमत्यन्तसंवासो लभ्यते येन केनचित् ।

अपि स्वेन शरीरेण, किमुताऽन्येन केनचित्' ॥ ७९ ॥

पञ्चभिः=पृथिव्यादिपञ्चभूमी । पञ्चत्वं=त्रिनाशम् । स्वां=स्वकीयाम् । योनिः=

वरा, पृथिव्यादिकम् । अनुप्राप्ते=गते सति । परिदेवना=त्रिधापः, शोकः ॥७७॥

जन्तु = प्राणी । मनसः प्रियान् = हृदयान् । शोकशङ्कवः = शोकरीलकाः ।

निखन्यन्ते = धारोप्यन्ते । प्रियप्रियोगे शोकस्याऽन्वयपश्चादित्यात् ॥ ७८ ॥

संवासो लभ्यते = संयोगो लभ्यते, न लभ्यते, अन्येन

से ही वैदता है, और फिर निभाम करके आगे चला जाता है, इसी प्रकार इस

द्वय में भी प्राणियों का यह समागम है ॥ ७६ ॥

और भी—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश—इन पाँच भूतों से ही यह

शरीर बना है । और फिर अरुणी २ योनि में अर्थात् ५ तत्वों में तत्वोंके मिश्र जाने

पर (मर जाने पर) इसमें शोक क्या करना है ? ॥ ७७ ॥

और पर शरीरप्राणी जो मन को प्रिय वस्तुओं (बन्धु-बन्धुओं) से मिलना

भी मन्यकर स्वीकार करता है, उतनी ही शोक की क्षीलें इसके हृदय में गहती

है । अर्थात्—एकदिन ठगी प्रियवाचकों के श्रिय उसे शोक भी करना पड़ेगा ।

क्योंकि एक दिन वे सब नष्ट होने ही ॥ ७८ ॥

और किसी के साथ भी इस प्राणी का समागम (मिश्र) बहुत दिन तक नहीं रह

सकता है । रटना ही नहीं, छिट्टु कर्दे भी प्राणी अपने शरीर से भी बहुत समय

तक अलग-थलग नहीं रह सकता है, वह शरीर भी नष्ट होगा ही, फिर दूसरों से सदा

अलग-थलग ही रहना ही क्या है ? ॥ ७९ ॥

१. 'दृश्यते' ।

अथ च—

‘मंयोगो हि त्रियोगस्य संयुचयति सम्मयम् ।
 अतन्निग्रमणीयस्य जन्म मृत्योरिवाञ्जगमम्’ ॥ ८० ॥
 ‘आपातरमणीयानां मंयोगानां प्रियैः मह ।
 अथध्यानामिवाञ्जानां परित्यामोजनिदाहृतः’ ॥ ८१ ॥

अथरक्षा—

‘प्रजन्ति, न निरर्चन्ते क्षोर्नांसि सरितां यथा ।
 आपुगदाय मर्त्यानां तथा रात्र्यहनी ‘सदा’ ॥ ८२ ॥

महत्तु विदुः = गुरामेव न सस्य इत्यर्थः ॥ ८० ॥ मंयोगः = सम्मयः । जन्म मृत्यु = उत्पत्तिम् । यथा जन्म—अनुसृजनीयमाहुः मृत्युमहम् ॥ ८० ॥ प्रियैः मह—आपातरमणीयानां = एवमन्वयमपुगदा, वर्धने प्रोत्थप्रदानम् । अतिशयम् = भीरुः, वनेतरः ॥ ८१ ॥

मतिर्नामनीमान् । क्षोर्नांसि = वरणाः । प्रजन्त्येव = उत्पद्यन्ते । न निरर्चन्ते = न प्रार्थयन्ति । (कभी वे वरिष्ठ नहीं होते हैं) । तथा अनुष्णालामाहुः = अतिशयान्, आशय, रात्र्यहम् मर्त्याः, न य मे पुननिवर्त्ते ॥ ८२ ॥

क्षीरक्षी—यह भद्रेण (विष्णु) होना है, गनी यह गुणों के होने का सूचना को बना है । जैसे मनुष्य का जन्मही उसकी अक्षरसंभोगी मृत्यु के कारणों को भी मृत्यु कराना है ॥ ८० ॥

क्षीर विरहनों के लिये विचार करना परम मे देगने से ही बहुत मजबूती प्राप्त है, वास्तु जन्म अक्ष के जीवन के समान उनका परिणाम हमारे पर हो रहा है (वास्तु) होना है ॥ ८१ ॥

क्षीरक्षी—जैसे मर्त्या के उत्पन्न होने का प्रयोग करते हैं, पर वे कभी नहीं होते हैं, (कभी वे वरिष्ठ नहीं होते हैं), जैसे ही वे मृत्यु को प्राप्त होते हैं, जैसे मनुष्यों की वास्तु को लेकर करने होते हैं । इसका परिणाम वास्तु कराने ही कराने है ॥ ८२ ॥

‘सुखाऽऽस्वादपरो यस्तु संसारे सत्समागमः ।

स वियोगाऽवसानत्वाद् दुःखानां धुरि युज्यते’ ॥ ८३ ॥

‘अथ एव हि नेच्छन्ति साधवः सत्समागमम् ।

यद्वियोगाऽसिलूनस्य मनसो नास्ति भेषजम्’ ॥ ८४ ॥

‘सुकृतान्यपि कर्माणि राजमिः सगरादिभिः ।

अथ तान्येव कर्माणि, ते चाऽपि, प्रलयं गताः’ ॥ ८५ ॥

यः सती=पञ्चनानी समागमः=मेलनम्,—स एव सुखाऽऽस्वादपरः=सुखाऽऽस्वादात्परः
[पर्यायम्] । निवृत्तः सुखाऽऽस्वाद इति यावत् । स एव च वियोगावसानोपा-
नोरा दुःखजनक इत्यर्थः । धुरि=धाम्ने ॥ ८३ ॥

साधवः = सत्समागममवि नेच्छन्ति । यत्कर्माणि वियोग उप-धाम्निः =
[धाम्निः, तेन लूनस्य क्षिप्रम् मनसो,—भेषजम्=अपिपमेर नानि ॥ ८४ ॥

समागमिभिः पुरुषकर्माभिर्योगादीनि कृतानि सुकृतानि कृतानि, परं कृत्वा वासेन ते
सुकृतानि च तेषां कर्माणि सर्वास्ववि नानि । प्रलयः = विनाशः ॥ ८५ ॥

और संगम में जो ठाढ़ सुखाऽऽस्वाद का देने वाला सत्समागम है,
वह भी धाम्ने में वियोगमद ही होने से, दुःखों को धाम्ने में मरते धाम्ने ही गिना
जाता है ॥ ८३ ॥

इसके बाद मनु लोग धाम्ने के विचार को भी नहीं करते हैं, क्योंकि उनके
विचार की लक्ष्मण में साधव हुए मन के धाम्ने के लिए धाम्ने में धाम्ने भी
संगम नहीं है ॥ ८४ ॥

और राजा सगर, मनु, ययाति आदि ने वध, धाम्ने कृतानि सुकृतानि
कृतानि, परं कृत्वा वासेन धाम्ने भी धाम्ने ही नष्ट हो गये । धाम्ने
नष्ट हो जानेका भी धाम्ने नहीं है ॥ ८५ ॥

‘सञ्चिन्त्य मञ्चिन्त्य तमुग्रदण्डं,
मृत्युं मनुष्यस्य विचक्षणस्य ।
यथाञ्जुसिक्ता इव चर्मपन्थाः,
सर्वे प्रयत्नाः शिथिलीभवन्ति’ ॥ ८६ ॥

‘यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति
गर्भं निवासं नग्वीरलोकः ।
ततः प्रमृत्पस्त्रालितप्रयागः,
स प्रत्यहं मृत्युममीपमेति’ ॥ ८७ ॥

अथ गंगारं निपात्य, गोरोड्यमग्नान्तस्य प्रपन्नाः । पर्य—
‘अज्ञानं फारगं न स्याद्, रिपोगो यदि फारगम् ।
शोरो दिनेषु गच्छन्सु यद्वतामपयानि रिम्’ ॥ ८८ ॥

उपारहं = लीकृतः परहं । निपात्यन्व = निपात्यः । चर्मपन्थाः = चर्मपर
दण्डिचर्मपन्थि । प्रयत्नाः = मनोभयाः । प्रयागम् ॥ ८६ ॥ गनीतमनराविमता
प्रयत्नं मनुष्यो यं पुनः नोपैति । अज्ञानं फारगं = अज्ञानपदवर्तिः ॥ ८७ ॥

गंगारं = गंगारकात् । अज्ञानं = अज्ञानपदः । शोरो गनीतः =
शोरो शोरो गनीतः न शोरो मनु विवेकशून्यः अज्ञानः प्रपन्ते (शोरो, पुमानो

शोरो विद्वन्मनुष्यो के शोरो न उम उपारहं मृषु (कण) को ।
कारे, शोरो के शपसे मति दुर धारहे के कथनी को लर हो, नि निष्ठ (शोरो)
हो शोरो है । अज्ञानं रिपो के भी शप विद्वत् नही कारे शोरो उम मर
मृषु को मरुत करहे हो विद्वन्को के शोरो मर । दिविष हो शोरो है, य
के मरुत मरुत को हो शोरो उम मर उपारहं अमर को है ॥ ८६ ॥

शोरो दे शोरो । मनुष्य विम वदि गो मरि को शोरो से शोरो है, (मरुत
हो से शोरो है), शोरो से मरुत मरुत, रिपो मरुत दुर ही, मृषु मरुत शोरो
मरुत मरुत है ॥ ८७ ॥

शोरो उम मरुत को अज्ञान को विषयो । शोरो मरुत शोरो
मरुत वा हो शोरो है ।

८६ के शोरो—शोरो मरुत शोरो वा मरुत न हो, शोरो विवेक ही उम

'तद् भद्र ! तद् आत्मानमनुसन्धेहि, शोकचर्षां च परिहर' । यतः-

'अकारणपातजातानां, शात्राणां मर्ममेदिनाम्' ।

राडशोकप्रहाराणामचिन्तैव महौषधम्' ॥ ८६ ॥

तवत्वद्वयनं निराम्य, प्रवुद्ध इव कीदृङ्म्य उत्थापाऽमबीन्—
'वद्वल्लिदानो गृह-नरक-यासेन, वनमेव गन्द्धानि ।'

विपत्तौ शोकेऽपि बद्धां, किं तु न वदंते, अतो भेदमन्वैराडव शोको, ननु विदोष-
प्रमत्त इत्याशयः ॥ ८६ ॥

अनुसन्धेहि=अमाहितं बुद्ध । अकारणपातजातानान्=अप्रतिपादितमराणां । म-
नाम् । शात्राणां = शत्रुगणां, मर्ममेदिनाम् = अल्पप्रदानम् । ग-शोकप्रहाराणाम्=
गुणशोभप्रदानमाशागतान् । अचिन्तैव=विनाशम् । ८६ । महौषधम् =
अमर्षनीयवत् ॥ ८६ ॥

१ तद्वचनं=कृत्वाऽप्युत्थापाऽमबीन् । निश्चयः=भूता । अतः=न प्रदीप्यन् ।
२ अनेन नरकं, तत्र यासेन=सिखा ।

अथ ही लो तिर कुट्ट दिन बीने पर, पुराना वरने पर, पर शोक पड्या करी
है, वदता क्यों नहीं है । क्योंकि विदोष लो उम समय भी है ही ॥ ८६ ॥

अतः अनेन प्राणा का अनुसन्धान करो । अर्थात् विचार करो, हीर
दुर शोक ही इस विदोष चर्षां को दूर करो ।

क्योंकि—जिना समय में अल्पमार् प्राद दुर हीर मर्मपक्ष का भेदन
करने व ने बने ० शोके प्रहारी को भी अंतर्नि-उनकी विन्ना नहीं करना
ही है ॥ ८६ ॥

इस प्रकार उम करित के वचन मुनवर उम कीदृङ्म्य को कुट्ट अर्थ दुरा
हीर वा उठकर बोला कि—अनुद्ध, लो अब इस तरहकी नरक में रहना ही उचित
ही है, अतः अब मैं वन को ही गंगा हूँ ।

१. 'तद्वचनमनु' । २. अकारणः कश्चिद् । ३. 'अकारणपातजातानां' ।

कपिलः पुनराह—

‘वनेऽपि दोषाः प्रमथन्ति रागिणां,
 गृहेऽपि पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
 अहृत्मिते कर्मणि यः प्रवर्त्तते,
 निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्’ ॥ ९० ॥

याः—

‘दुःखितोऽपि चरेद्धर्मं, यत्र कुप्राऽऽश्रमे रतः ।
 समः सर्वेषु भूतेषु, न लिङ्गं धर्मकारणम्’ ॥ ९१ ॥

रागिणां = विदवाऽऽगच्छभोगिणान् । वनेऽपि दोषाः = कामदोषादयो दोष
 प्रमथन्ति = मथयन्तीत्यर्थः । जापने एव । वनेऽपि पुनः—पञ्चेन्द्रियनिग्रहः
 पञ्चसुखीनामिन्द्रियाणां, निग्रहः=मंसय एतन्मनः—इत्युं शक्यते । यः विल-प्रकृ
 =मनसिऽऽ, साऽऽहृत्मिते, विविधेषु, विदवाऽऽगच्छे, कर्मणि रागं वि
 मथन्ती, तस्य दहमनि तपोवनमेव तपः ॥ ९० ॥

दुःखितोऽपि = तपसोऽपि । ‘दुःखितोऽपि’ इति वाटा-यन् । द्योमनसो
 विदवाऽऽगच्छभोगिणान् इति तपः । यत्र कुप्रा-श्रमे = तद्विदवाऽऽगच्छभोगिणान् । त
 न लिङ्गं धर्मकारणम् = प्रायतरेवेव । तपः = साधनानि विदवाऽऽ

वक्तव्य—

‘धृज्यर्षं भोजनं येषां, सन्तानार्थं च मैथुनम् ।
वाक्सत्यवचनार्याय,’ दुर्गाण्यपि तरन्ति ते’ ॥ ६२ ॥

तथा हि—

‘आत्मा नदी संयमपुण्यतीर्था,
सत्योदका, शीलतटा, दयोर्भिः ।
तत्राऽभिपेकं कुरु पाण्डुपुत्र !

न वारिणा शुष्यति चाऽन्तरात्मा’ ॥ ६३ ॥

१ धर्मभारत्यं = नैव धर्मदेवः ॥ ६२ ॥

दृज्यर्षं = प्राण्यपारणार्थम् । सन्तानार्थं = सन्तानोत्तये एव, —नष्ट रागेण—

तं मैथुनं = मुरत्नम् । सत्यवाक्यार्थं येषां वाक् प्रवक्षन्ति ते, महानो जनाः—
तप्यन्ति दुर्गाणि—दृष्ट्याणि । तरन्ति = समुत्तन्ति । तत्रार गच्छन्ति ॥ ६२ ॥

संयम एव पुण्य तीर्थं वनामी—मयमपुण्यतीर्थां=मनोराकायसयमरूपवक्षिततीर्थं—
॥ तीर्थं शान्ताग्ररक्षेत्रोपायोपाध्यायनन्त्रपु । योनी ब्रह्मात्तारे चोत्पत्तयः । (तीर्थं

अन्ती) । मयमेव उदकं = जलं वर्षां मा । शीलं = मन्ममाय—सदान्तरध, तटं
पत्ता. छा तथा । दयोर्भिः—उभयं = गच्छा येषां छा तथा—भूता । अभिपेकं=भानान् ।

मनेऽभिपेकः । हे पाण्डुपुत्र = पुत्रिदिर । केननेन वारिणा = ग्राह्येन जनेन ।
धर्मो तो वादे जहाँ रहकर भी दिवा जा सकता है ॥ ६२ ॥

क्यों कि वहाँ भी है—केवल जीवन (शरीर धारण) के लिए ही जिनका
भोजन है, मन्त्र के लिए ही जिनका मैथुन (स्निग्धत्व) है, और सत्य वचन

के लिए ही जिनकी वाक् है, वे महापुण्य दुर्गों विरहितों में भी अपनापन
ही प्राप्त कर सकते हैं ॥ ६२ ॥

भीष्मपुत्र ने पुत्रिदिर में कहा है, हि—धन, निपमक्य पुत्र्य लोभं वली,
कदर्य जहासी, शीतक्य हारकणो, इस प्रामाण्यी नदी में स्नान करो ।

हे पाण्डुपुत्र पुत्रिदिर ! केवल जल के स्नान में ही कामना शुद्ध नहीं हो पाई ॥ ६३ ॥

१ ‘वचनार्थं’ ।

विशेषतश्च—

‘जन्म-मृत्यु-जरा-भ्याधि-वेदनामिरुपद्रुतम्’ ।

संसारमिममुत्पन्नमसारं त्यजतः सुखम् ॥ ६४ ॥

गतः—

‘दुःखमेवास्ति, न सुखं, यस्मात्तदुपलक्ष्यते ।

दुःखार्थस्य प्रतीकारे सुखमंशा निधीयते’ ॥ ६५ ॥

श्रीलिटिन्यां व्रते—‘पयमेव’ । ततोऽहं संन शोकाऽऽशुक्लेन प्राप्स्येन
रागो, यद्—‘अद्यावन्मय मत्पूजानां पादनं भविष्यति’—इति । कपिलो व्रते—

सम्प्रत्युपदेशाऽसहिष्णुर्भवान्, शोकाऽऽविष्टं ने हृदयम् । तथापि
 त्वं शृणु—

‘सद्गः सर्वाऽऽत्मना त्याज्यः, न चेन्न्यक्तुं न शक्यते ।
 स सद्भिः सह कर्त्तव्यः, सतां मद्रो हि भेषजम्’ ॥ ९६ ॥

अन्यत्प—

‘कामः सर्वाऽऽत्मना ह्येयः, न चंद्रानुं न शक्यते ।
 स्वमायां प्रति कर्त्तव्यः, सैव तस्य हि भेषजम्’ ॥ ९७ ॥

एवमुक्त्वा स कौत्सिहृदय, कर्पिलोपदेशाऽनृणपरशान्तशावाऽन-
 विधि दण्डमदर्शं कृतवान् । अनो मद्राणांशापान्सात्कृता-श्रोतुम

दान = परानोरकारणम् । उपदेशाऽसहिष्णु = उपदेशात्सहिष्णुत्व-
 दर्शितं = शोकसन्नातम् । हृदयं = नानामन । मद्रः = मद्रः ॥ ९६ ॥
 स = सद्गः । हि = यथा । भेषजं = समागमोत्तरीयम् ॥ ९७ ॥
 कामः = निरपात्रमिच्छायाः । न = शान । चंद्रानुं = चंद्रानुं मे-
 न्वेव । तस्य = कामस्य । भेषजं = शमनीयम् ॥ ९७ ॥
 कर्त्तव्योपदेश एव कर्त्तव्यं = वीर्य, ज्ञान, मेन प्रकृतं शोके १२ मे
 विद पुनः शोका हि-वपि एव मनस्य एव १२४ न मान १२५ न १२६

१२५ इति इति समय कावसा हृदय शोक से मन है, ते १२६ नरः
 १२६ इति इति समय कावसा हृदय शोक से मन है, ते १२६ नरः
 पुदिमान् पुत्र को छत्र सर्वेषां श्रेष्ठ देना चाहिये । शत्रु यदि न मरे
 मृत रहे, तो वह (मद्र) केवल मद्रो मे ही बना चाहिये, व-“६ अतो
 शरी श्रेष्ठतः (दिनशरक) है ॥ ९६ ॥
 पुत्र को काम (निरपन्नेय) भी श्रेष्ठ देना चाहिये ।
 १२६ इति इति समय कावसा हृदय शोक से मन है, ते १२६ नरः
 १२६ इति इति समय कावसा हृदय शोक से मन है, ते १२६ नरः
 १२६ इति इति समय कावसा हृदय शोक से मन है, ते १२६ नरः
 १२६ इति इति समय कावसा हृदय शोक से मन है, ते १२६ नरः
 १२६ इति इति समय कावसा हृदय शोक से मन है, ते १२६ नरः

तिष्ठामि' । अनन्तरं तेन मरुदकेन गत्वा मरुदकनाथस्य जालपाद-
नान्नोऽप्ये तादृशितम् । ततोऽसावागस्य मरुदकनाथस्तस्य संप्रस्य पृष्ठ-
मात्स्रयान् । न च मपेस्तं पृष्ठे पृथ्या विप्रपदकमं वभसाम् ।

परेद्युशमिगुमसमर्थं तं मरुदकनाथोऽथदत्- 'रिमश' भयान्मन्द-
गतिः । मरुो प्रणे- 'देव ! आहारविरहादसमर्थोऽसिम् ।'

मरुदूरनाथोऽथदत्- 'अस्मदाशया मरुदकान्भक्षय ।' ततः 'गृहीतोऽप्ये
मदाप्रसाद' इत्युक्त्वा, क्रमरो मरुदकान् ग्यादितवान् । अथ निमंरुदके

तादृशी तयाभूत् । यथाविधि = विविधैश्च । दददमर्त्त = मन्वातमर्त्तम् ।
नेदु = शान्तशान्तान्तरं नेदुम् । क्रम = क्रमशः । मरुदकनाथस्य = मरुदकनाथस्य ।
अभिवादनम् = आदरोद । तं = मरुदकनाथम् । आतोऽप्ये = पृष्ठे तादृशम् ।
(५२८ पर शदाहर) । विप्रपदकमं = विप्रपदकमिति ।

५२८ = क्र-प-वि-म-इ-नि । आहारविरहात् = भोजनाश्रयणम् । मदाप्रसादः =

सतो विलोक्य मण्डूकनायोऽपि तेन व्यादितः । अतोऽहं ब्रवीमि—
 'कथ्येनाऽपि बहोऽध्वरून्' इत्यादि ॥ • ॥

देव ! याग्विदानीं पुरावृत्ताऽऽख्यानकथनं, 'सर्वथा' मन्थेयोऽयं
 द्विरण्यगर्भो राजा, सन्धीयता'मिति मे मतिः । राज्ञोवाच—'कोऽयं
 भवतो विचारः ? । यतो जितस्तावदयमस्माभिः । ततो यत्परमत्सेषया
 भवति, तदाऽऽस्ताम्, नो चेद्विगृह्यताम्' ।

अथाऽन्तरे जम्बूद्वीपादागत्य शुभेनोक्तं—'देव ! सिद्धलद्वीपस्य सारसो
 राजा सम्प्रति जम्बूद्वीपमाक्रम्याऽऽनिष्ठते । राजा "समुम्भनं प्रूते—
 'किं हिम्' ? । शुक्रः पूर्वोक्तं कथयति ।

यात्र=यात्रां तत्र (जाने दीजिए) । पुरावृत्तान्तं=पुराकथाप्रसंग-
 कथनम् । कितः=परकितः । नैरायाम्=अनदायने । आत्मा=चित्तु रादेने ।
 विद्वन्=पुण्यताम् । अचरितवृत्ते=चरितवृत्ते । समग्रम्=सम्पूर्णम् । ("द्वीपे ते) ।

दोरे धरे उसने उस सरोवर को मेंढकों से रदित कर दिया । निर मेंढक रदित
 तोर को देलकर मेंढकों के सामो को भी यह ला गया । इसी कारण मैंने कहा कि
 अन् पदने पर अशु को कथे पर भी चढ़ाया जाता है" इत्यादि ।

और दे देव ! अब विद्वन्नी बातों के कहने से क्या प्रयोजन है ? । राजा द्विरण्यगर्भ
 प्रभार से सन्धि करने योग्य है, अतः उन्मते सन्धि अन्वय को जिते' यही मेरी भी
 है । तब रामा बोला कि—अग्राह्य यह विचार ठीक नहीं है । क्योंकि इस
 देश को तो हमने पहले ही जीत लिया है । इसलिये अब यह हमारी सेवा
 रहे तो रहे, नहीं तो इसके साथ कुछ ही करना चाहिये, हमने सन्धि करने
 की कोई आवश्यकता नहीं है ।

इसी बीच में जम्बूद्वीप में आकर एक लोग बोला कि—देव ! द्विरण्यगर्भ के
 कारण ने अब जम्बूद्वीप को पर जीत है । और सेना सन्धि पदार्थ बाह्य कर
 पड़ा हुआ है । तब रामा पन्हा कर बोला कि—दे, है क्या क्या, क्या
 'प्रांता' । २. 'उ स समन्वय' ।

ग्रभः स्वगतमुवाच-‘साधु रे चक्रवाक मन्त्रिन् ! [सर्वज्ञ !, साधु] साधु ।’ राजा सकोपमाह-‘आस्तां तावदयं, गत्वा तमेव समूह-
मुन्मूलयामि’ । दूरदर्शी विद्वस्याऽऽह-

‘न शरन्मेपयत्कार्यं वृथैव धनगञ्जितम् ।

परम्याऽर्धमनयं वा प्रकाशयति नो महान्’ ९८ ॥

अपरश्र-
‘एकदा न विगृहीयाद्वाहू राजाऽगमियातिनः’ ।

सुदर्पोऽम्बुरगः फीटैर्षड्भुमिनारिपते ध्रुवम् ॥९९॥

‘देव ! किमिहो विना सन्धानं गमनमिति ? । अथराजदाऽस्मात्
अर्थं=दिएरनगमं । आसी=विष्णु ताहू । (इहे लोको) । तमेव=गारमगेव
वृथैव=निर्भरन् । धनगञ्जितं=मुद्रणो धनिः । वापव=उचोति
अर्थं=उचिन् । अनर्थं=अनुनि, महान्=धनशी । न प्रकाशयति=

शरणा प्रकीर्तयेत् ॥ ९८ ॥ एवम=एवमने । वदन् विचारितः=विद्वान्
न विगृहीयात् । अर्थः=मन्त्रः । उगः=ध्रुवः ॥ ९९ ॥ इति=अन्त
कदा । तव लोके ने परमे वरा दुष्टा यथन तिर भी वर दिया । तव लोके
अनो मन मे वरा दि-गद सर्वे मन्त्री यथावत्, पर । तुमने अकदा वा
दिना । राजा सोच कर बोला कि अब तब वरा मुझे कद रहे, परमे जाकर वा
राज की ही मे मद मे उपादय है । तब वर दूरदर्शी राजा वर बोला कि-
दुर्जनान् मन्त्रु को काटने के लोको की तरह वृथा ही लोको लक्ष्मीना बर्ष
नरी बानो बर्षिदे, बर्षे बर्षे लोको वाने अर्थ वा अनर्थ को (दुष्ट लोको लोको
को) अर्थे धन मे बनी प्रक नरी बाने है ॥ ९८ ॥

श्रौ-९९ ही राजा राजा बरने के लोके अर्थो मे राजा की बनी
अर्थे नरी प देवे । बर्षे बराने मन्त्रु लोको की वदुन की बर्षे लोको मे एव
एव अर्थे अर्थे उग उग है ॥ ९९ ॥

श्रौ दे देव । वरा मे लोके विदे विद्वान् अथ अन्वय वा ही लोको लक्ष्मी है,
[अर्थे बर्षे बर्षे । ९. लोको लोको । [अर्थे अर्थे]

पश्चात्प्रकोपोऽनेन कर्त्तव्यः' । अपरथा—

'योऽर्ष्यतत्रमवित्राय क्रोधस्यैव वशं गतः ।

स तथा तप्यते मूढो, ब्राह्मणो नकुलाघया' ॥१००॥

'राजाऽऽह—'कथमेतत् ?' । दूरदर्शी कथयति—

ब्राह्मण-नकुल-कथा ।

अस्त्युज्ज्विन्यां माषयो नाम रिमः^२ । तस्य ब्राह्मणी प्रसूता^३,
[सा^४] बालाऽपत्यस्य रक्षाऽर्ष्यं ब्राह्मणमथस्याप्य, स्नानुं गता । अथ
ब्राह्मणाय राक्षः पार्वणभ्रातृं दातुमादानमागतम् । तन्नुत्वा ब्राह्मणोऽपि
सहजदारिद्र्यपादचिन्तयन्—'यदि सत्वरं न गच्छामि, तदाऽन्यः कश्चि-
त्पुत्र्या^५ भ्रातृं प्रहीष्यति । यतः—

रिम् । सन्धानं = सन्धि—रिना । अलि=किं सम्भवति । न सम्भवति । पश्चात्=
पश्चात् । प्रकोपः = आक्रमणम् । अर्थान्तरं=वस्तुतः, परिहसिष्य । सन्धिः=
दान समवे ॥१००॥

ब्रह्मणी = भार्या । प्रसूता = कुमारं सुपुत्रे । ब्राह्मणत्वस्य रक्षाऽर्ष्यं = पार्ष्ण-
वपा यह राज्ञः हमारे ऊपर पीड़े से आक्रमण कर देगा ।

श्रीरमी—'ओ कर्ष के उत्तर को न जानकर कैवल्य शोध के ही पट में हो
गई, यह सूर्य ठीकी प्रकार दुःखी होता है कि—'इसे यह बाल्य नेत्रों के
दुःखी हुआ था ॥ १०० ॥

तथा ब्रह्मणि—'यह क्या किने दे ? । दूरदर्शी करने लगा कि—
ब्रह्मिणी नगरी ने माषय नाम का एक ब्राह्मण रखा था । उसकी छोटी
पत्नी उदरपुत्रा । श्रीर यह ही बालक को रक्षा के लिये लग ब्राह्मण को

। दान करने के लिये नदी पर गई । उसी समय राजा के पास से उम ब्राह्मण
य भाव की वस्तुएं देने के लिये कुछना आया । उसे सुझाकर वह ब्राह्मण

उस करने के लिये नदी पर ही रोवने लगा कि—'यदि मैं ही नहीं हो पाई
। उम करने के लिये नदी पर ही रोवने लगा कि—'यदि मैं ही नहीं हो पाई

१ 'तथा पुत्र्या' । २ 'ब्राह्मण' । ३ 'प्रसूता' । ४ 'सा' । ५ 'पुत्र्या' ।

सौ नकुलो ब्राह्मणमायान्तमंबलोस्य, रक्षविलिप्तमुत्पत्तः, सत्वरमुप-
 गन्त्य, त्वरणयानुलोठ । 'ततः स विप्रस्तयाविधं तं दृष्ट्वा 'मम 'यातको-
 न्नेन सादित' इत्यवधार्येनकुलं व्यापादितवान्' । अनन्तरं यावदुपसृत्या-
 न्त्यं पर्यति ब्राह्मणस्तावद्बालकः सुस्यः स्वपिति, सर्पश्च व्यापादित-
 न्दृष्टि । 'ततस्तमुत्पत्तकारकं नकुलं निरीक्ष्य, भावितचेताः स ब्राह्मणः
 रं विपाद्मगामत् । अतोऽहं प्रवीमि—'योऽर्थवत्त्वमविज्ञाय'—
 यदि ॥३॥

तरङ्ग—

'कामः, क्रोधस्तया' मोहो, लोभो, मानो, मदस्तया ।

पद्मर्गध्वस्तुजेदेनमस्मिस्त्यक्ते मुग्धी 'नृपः' ॥ १०२ ॥

२=भीमम्, अनापासेन । रक्षविलिप्तमुत्पत्तः=रक्षिराक्ष्यमुत्पत्तचरणः ।
 ३=रक्षविलिप्तमुत्पत्तम् । अथवार्थं=निमित्तम् । उपवृत्त्य=निष्ठे गत्या ।
 ४=मुग्धी । भावितचेताः=निम्नमानसः ।
 ५=रिपुण्ड्वर्गम् । तायजेन्=त्यजेत् । अस्मिन्=रिपुण्ड्वर्गम् ॥१०२॥

५म और देरी में दून से सना हुआ, वह नेत्रों भः उस ब्राह्मण को धावा
 देकर, उसके देरी में सोटने लगा । अनन्तर उस ब्राह्मण ने उसे इस प्रकार
 लड से रघुन देर कर 'इसने मेरे बाहक को ला लिया है' ऐसा जानकर, उस
 नेते को मार बाधा । इसके बीजे अब समीप जाकर ब्राह्मण ने उस बाहक को
 देगा, तब उस बाहक को रात्री मुग्धी एने हुए देखा और धरि को दरी पर मरा
 दया देगा । बाद में उस ठण्डी नेरले को पाद करके वह ब्राह्मण पहा रिपु
 द्या । इतिदे में पदथा है हि—'अर्थ के सार (तत्त्व) को बिना जाने ही
 को व करता है, वह अन्त में मुग्धी होता है' इत्यादि ।

और की—राधा को पारित हि—जान, क्रोध, मोह, लोभ, अभिमान
 २=५, इन ही को लेद दे । इनको छोड़ने से ही राधा मुग्धी होग है ॥१०२॥

१ 'दोषो ब्राह्मणसं तपसिषि दृष्ट्वा' । २ 'मन पुत्रेणैव मदिः' ।
 ३ 'अन्वदिपन्' । ४ 'दुग्धव परवति' । ५ 'उत्पत्तो ब्रह्मणः परं
 दुग्धवः' । ६ 'लोभो ह्यो मनो' । ७ 'मुग्धी नरो' ।

देव ! यदीदानीमस्मद्वचनं क्रियते, तदा सन्धाय गम्यताम् ।

स—

‘यद्यप्युपापाश्चत्वारो निर्दिष्टाः साध्यसाधने ।
 संख्यामात्रं फलं तेषां, सिद्धिः साम्नि व्यवस्थिता’ ॥१०५॥
 यथाऽऽह—‘कथमेवं सत्वरं सम्भाव्यते’ ? । मन्त्री ब्रूते—‘देव !
 सत्वरं भविष्यति’ । यतः—

‘सृष्टयन्तस्तु सभेयो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
 सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्मेघश्चाऽऽशु सन्धेयः’ ॥ १०६ ॥

सन्धायार्थं = कर्तव्यसाधनं । चत्वारः = सामदानदण्डभेदाख्याः । सद्गुण-
 यथाऽऽह—‘कथमेवं सत्वरं सम्भाव्यते’ ? । मन्त्री ब्रूते—‘देव !
 सत्वरं भविष्यति’ । यतः—
 सृष्टयन्तस्तु सभेयो, दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति ।
 सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्मेघश्चाऽऽशु सन्धेयः’ ॥ १०६ ॥
 सन्धायार्थं = कर्तव्यसाधनं । चत्वारः = सामदानदण्डभेदाख्याः । सद्गुण-
 यथाऽऽह—‘कथमेवं सत्वरं सम्भाव्यते’ ? । मन्त्री ब्रूते—‘देव !
 सत्वरं भविष्यति’ । यतः—

दुःसन्धानं = दुःसन्धानं । कनकघटवत् = स्वर्गकलशवत् ।
 दुर्मेघः = दुर्मेघः । सन्धेयः = भद्रति सन्धेयश्च । (जल्दी ही
 सन्धिः । कर्तव्य—

दुर्मेघः कायं ही सिद्धि के लिए साम, दान, दण्ड (मुद्र) भेद—ये चार
 यथाऽऽह—‘कथमेवं सत्वरं सम्भाव्यते’ ? । मन्त्री ब्रूते—‘देव !
 सत्वरं भविष्यति’ । यतः—

दुर्मेघः कायं ही सिद्धि के लिए साम, दान, दण्ड (मुद्र) भेद—ये चार
 यथाऽऽह—‘कथमेवं सत्वरं सम्भाव्यते’ ? । मन्त्री ब्रूते—‘देव !
 सत्वरं भविष्यति’ । यतः—

दुर्मेघः कायं ही सिद्धि के लिए साम, दान, दण्ड (मुद्र) भेद—ये चार
 यथाऽऽह—‘कथमेवं सत्वरं सम्भाव्यते’ ? । मन्त्री ब्रूते—‘देव !
 सत्वरं भविष्यति’ । यतः—

दुर्मेघः कायं ही सिद्धि के लिए साम, दान, दण्ड (मुद्र) भेद—ये चार
 यथाऽऽह—‘कथमेवं सत्वरं सम्भाव्यते’ ? । मन्त्री ब्रूते—‘देव !
 सत्वरं भविष्यति’ । यतः—

‘अग्नः सुरामाराध्यः, सुपतरामाराध्यते विशेषतः ।

ज्ञाननरदुर्दिग्धं अन्नागपि तं नरं न रक्षयति’ ॥ १०७ ॥

‘विरोधप्रशङ्कं’ धर्मसो राजा, सर्वसो मन्त्री च । ज्ञातमेतन्मया
पूर्वं नैष्यन्त्यपनात्तत्तु नकार्यसन्दर्शनाच्च’ । यतः—

‘कर्माञ्जुमेयाः सर्वत्र परोक्ष-गुण-शृचयः ।

तस्मात्परोक्षशृचीनां फलैः ‘कर्माञ्जुमाप्यते’ ॥ १०८ ॥

श्रीदा मा गवतां हे) ॥ १०६ ॥

अह=दूः । गुणम्=मनापाठेन । आराध्य=प्रगृह्यविष्णुं शक्यः । विरो-
धः=विरोधित् । विद्वान् । गुणप्र=भक्ति येन । ज्ञानत्र=दुर्दिग्धं=राजानो-
मं-
शतु । विद्वान्नगरे=द्वन्द्वु । न रक्षयति=नाशुशुचिविष्णुं शक्येति ॥१०७॥ तद्व-
कार्यं=सर्वत्र=गण-मन्त्रिषु शृचयः(संज्ञाघनपेक्षी)वशा यथा शो क्यवः ॥

सर्वत्र=सर्वत्र शोकेषु । परोक्षगुणशृचयः=गणनीतिगणो विद्वान्-अहवपः
परिह वरप=विष्णुः विष्णुः शृचयः (वशाद्यथ सेवाम्) । गणनी-
ति-
शो क्येति ‘परोक्षगुणशृचि’ परेन न ददा । तदुपशो, वदुर्दिग्धं तम सो वशा-
वन्तो विर कश्चिन्ना मे हे ॥ १०६ ॥

श्रीदा मा गवतां (श्रीं) को भी ज्ञानाद्यग ही मन्त्रमया आ गवतां हे, यानी भी
विना वन के (वही मन्त्रमये) ही अशुभ्र श्रीर वद्य मे विद्या या गवता
हे । अर्थात् श्री दा को मन्त्रमया अशु ही ज्ञानान होय हे । अर्थात् श्रीदा ज्ञान
श्रीर श्रीदा विद्या मन्त्रीसारे वदिते त्व को (अवश्यायाम, पत्तरी, मं हे वही
दूः को) लो क्ये तं भी अहव नरी कर गवती हे ॥ १०७ ॥

श्रीर विष्णु काके वर मया अहा ही अर्थात् श्रीर इत्या अन्तो अर्थात्
मे वा ही श्रीर वर मन्त्र है । यानी श्रीर वर के वदने मे श्रीर अहके
विदे दूः वन्तो के हेमये मे अहव ही मन्त्र विद्या या ।

श्रीर=दूः (अ-दूः, अर्थात् अह) को श्रीरानी (वशा) लो
अहव ही मन्त्री है, हे लो सर्वत्र गुणो के वन्तो मे ही अहव न ददा मन्त्री

१. ‘मन्त्रो’ । २. ‘वन्तो विद्वान्दे’ ।

राजाऽऽह—'अलमुत्तरोत्तरेण, ययामिप्रेतमनुष्ठीयताम्' । एतन्मन्त्र-
निगमृशो महामन्त्री—'तत्र ययाऽहं फर्त्तव्यम्' इत्युक्त्वा, दुर्गाऽभ्यन्तरं
पत्न्यः । मन्त्रः प्रणिधिष्यकेनाऽऽगत्य राज्ञो हिरण्यगर्भस्य निवेदितं—'देव !
इत्थि कर्त्तुं महामन्त्री गृशोऽस्मात्समीपमागच्छति' । राजहंसो म्रुते—'मन्त्रिन् !
तुनामिसन्धिना केनचिदत्राऽऽगमनम्' ? । सर्वज्ञो विद्वत्याऽऽह—'देव !
नरदृष्टाऽऽपदमेतन् । यतोभ्रतो महारायो', दूरदर्शी । अथवा स्थिति-
रिति मन्दमनीनाम्, कदाचिच्छब्देन न म्रियते, कदाचित्सर्वत्र राज्ञा ! ।

एतन्न योजनः । कर्मण्युत्तरेण = कर्मण्यनुमानव्याः । पत्नी = परिणामिः । कर्म =
कर्त्तुं । रिमापदेन = उच्येत् ॥ १०८ ॥ उत्तरोत्तरेण = उत्तरप्रत्युत्तराभ्याम् ।
कर्म = न प्रयोजनं । ययामिप्रेतं = यथा म्रुते रोचते तथैव । यपेदम् । तत्र =
मन्त्रिणे । यय इहं = यथायोग्यं मया कर्त्तव्यम् । अमिसन्धिना = कपटेन । छुत्तेन ।
दृष्टान्द = दृष्टावोभ्यः । महाशयः = उदारचरित्रः । मन्दमनीनां = मूर्खानाम् ।
कर्त्तुं इति, — सामवाचमरसरथायम् ।

शरीरं है । इमलिए परोक्ष हित माशो (राजनीतिशो) के कार्य वो चल देल कर ही
मनुमान विष्ट जाने है ॥ १०८ ॥

राजा केना—दृष्ट्या, अधिक उत्तर प्रयुक्त से क्या साम है । वैसी चारकी
दृष्ट्या हो, वैसा ही करिए । वह सञ्ज्ञा करके महामन्त्री गृश 'हमने जेठा योज्य
होना, देना हो दिया जायगा'—यह वह कर राजहंस के पास मन्त्रि काने के
द्विरे मन्त्रि के करके यज्ञा । तदनन्तर मुनदूत मगुने ने आकर राजा हिरण्य-
गर्भ से निवेदन किया कि—'देव ! गी.व महामन्त्री सन्धि करने के द्विष्ट हमारे
पास आ रहा है ।' वह मुनदर राजहंस बोला कि—'मन्त्रिन् ! वह गृश भी ठस
कीर भी तार हो बिशी दूर अभिभाव से (छुत्र करने के वाते) ही यहाँ आया
होगा ।' तब वह महामन्त्री सर्वेष्ट हंसकर बोला कि—'देव ! यहाँ शब्दा करने की
आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह दूरदर्शी बड़ा हो भेद स्पष्टि है । और मन्द-
दृष्टि की तो यहाँ निर्या होगे है कि कभी तो ये शब्दा करते ही नहीं है, और
कभी कभी अगर शब्दा करने लगते हैं ।

१. 'दृष्टान्दमन्त्र' । २. 'यतो महाराजोभ्यो' ।

गया दि—

‘सरसि पद्मस्ताराच्छायेवद्यात्परिवर्धितः,

कुमुदविटपाञ्चेषी हंसो निशास्वविचक्षणः ।

न ददाति पुनस्ताराशङ्की दिवाऽपि सितोत्पलं,

कुङ्कुमवर्धितो लोरुः सत्येऽप्यपायमपेक्षते’ ॥१०६॥

‘दुर्जनदूषितमनसः मुञ्जनेऽपि नाऽस्ति विश्वासः ।

पालः पापसदृशो दृश्यपि फूत्कृत्य भवयति’ ॥११०॥

एव देव ! यथासक्ति तत्पूजाार्थं रत्नोद्गारादिसामग्रीं मुसन्मीक्रिय

मासीति । सरसि = सरोवरे । निशासु—ताम्रश्यायेवद्यत् = पशुनि तादा
प्रतिविम्बानि कुमुदः कुमुदनि दृशु, कुमुदविटपाञ्चेषी = कुमुदविटपाञ्चेषीऽपि विचक्षणं
शुभो हंसो, कुमुदः = कुमुदः, विचक्षणं = विचक्षणं । दिवाऽपि—गितोत्पलं = धेनुमत्तमशुभं
लास्यदृशु = तादाशुदृशु, न ददाति = नाऽऽप्ते । न मुदृष्टे । कुङ्कुमवर्धितः = वरः
परिवर्धितः । लोरुः = मनः । सत्येऽपि = सत्येऽपि विषये । अपायम् = अनिष्ट
विनाशम्, अपेक्षते = दृष्टे ॥ १०६ ॥

दुर्जनं = दुर्जनमनसः = न सत्येऽपि । विश्वासः = विश्वासः । पापसदृशः = पापसदृशः
दृश्यः । (पापसदृशः) । फूत्कृत्य = फूत्कृत्य । (दुर्जनं देव) ॥११०॥

देव ! यथासक्ति—यथासक्ति मुमुदनी को हंसोत्पलं दूषणं हंस सरोवरं
कुमुद मे तादाशु को दृशु को देव ! और कुमुद कुमुद कुमुद कुमुद को दृशु
है, वह धेनु दृशु ही दृशुमत्तम से दृशु बना है । न ददाति दिवाऽपि सितोत्पलं
लास्यदृशु को दृशु से लक्ष्ये हंसो कुमुदो को भी नहीं लास्य है । देवो ही वरः
दृशु को दृशु को दृशु से भी वरः ही देवो है ॥ १०६ ॥

दुर्जनं = दुर्जनमनसः । मुञ्जनेऽपि = मुञ्जनेऽपि । विश्वासः = विश्वासः ।
पापसदृशः = पापसदृशः । दृश्यपि = दृश्यपि । फूत्कृत्य = फूत्कृत्य । भवयति = भवयति
देव ! (दुर्जनं वरः) विश्वासं नहीं लास्ये है । देवो जैसे दृशु वरः कुमुद दृशु मे
वरः कुमुद कुमुद दृशु को भी दृशु ही देवो है ॥ ११० ॥

दुर्जनं देव ! यथासक्ति तत्पूजाार्थं रत्नोद्गारादिसामग्रीं मुसन्मीक्रिय

वाम् । तयाऽनुष्ठिते सति स गृध्रो मन्त्री दुर्गद्वारायकत्राकेऽपोगम्य,
सत्कृत्याऽऽनीय, राजदर्शनं कारितो, दृष्टाऽऽसने शोषविष्टः^१ । अथप्राक्
उवाच—मन्त्रिन् ! सुध्मदापत्तं सर्वं, स्वेच्छयोपमुष्पतामिदं राग्यम्^१ ।
राजहंसो व्रते—‘एषनेष’ । दूरदर्शी कथयति—‘एषनेषैतत्, किन्त्विदानीं
बहुपपद्मपपनं निःप्रयोजनम्’ । यतः—

‘सुध्ममर्थेन गृहीयान्, स्तब्धमञ्जलिर्मणा ।

मूलं छन्दानुगोपेन, यायातध्येन पण्डितम्’ ॥१११॥

तपूनापं = मन्त्रिपूनापंम् । उपगम्य = अगम्यर्थे, भिक्षया । सुध्मदापत्तं =
भारतधीनम् उपमुष्पनाम् = सेवकताम् । बहुपरन्वयवचनं = विभक्तौ प्रसंगान्-
वाक्यपरिव्याप्तः ।

सुध्मं = धनसुध्मम् । अर्थेन = पनेन । दृष्टीपारु = अनुपशब्देत् । स्तब्धं =
चञ्चलम् । अञ्जलिर्मणा = अञ्जलिपत्रेण । विनया । दृष्टानुगोपः = अनुपश-
परणम् । यायातध्येन = तपसापत्तेन ॥ १११ ॥

रथ आदि भेद देने की मागकी पैवार कराइये । यह शुनकर बैठी व्यवाया करने
पर बचने ने रथ मन्त्रीके नाम जाकर, उठे भेद आदि देकर मन्त्री तरह से उगवा
स हार करके, उठे दिने के द्वार पर से छन्द से जाकर, धमा धा टटन कराना ।
द्वीर पर भी दिने हुए आसन पर आकर बैठ गया । फिर मन्त्री बचने ने उनसे कहा
कि—‘पर बपूर् द्वार का राग कर सब छानके छपीन है, छाः छात छपनी
इत्या मे कर हम राग को भेजिदे । राजहंस ने भी कहा कि—‘ठीक है ।’ यह
शुनकर वह दूरदर्शी बचने लगा कि वह ठीक ही है, परन्तु इस समय बहुत मन्त्र
की बर्ते (राजकीनी की लम्बी चौड़ी व्याख्या, तथा परम्य प्रसंगः नर कर्ते)
सेवना ले निरपेक्ष ही है । अपेक्षि—

द्वीनी मनुष्य को घन देकर अनुपशब्द बरना करिदि । द्वीर मन्त्रीकी को
राग जोड़ना, मूर्ख को उनकी इत्या के अनुपशब्द बर्ते करके, अन्तर् उठके बचन
मन्तर, द्वीर पण्डित को मन्त्रीकी का करकर ही अनुपशब्द (पर दे) बरना
करिदि ॥ १११ ॥

अन्यथा—

‘मद्भायेन हरेन्मित्रं, सम्भ्रमेण तु षान्धवान् ।

सो-भृत्यौ ‘दान-भानाम्यां, दाधिष्येनेतराञ्जनान्’ ॥११२॥

तद्विदानीं मन्धातुं गम्यताम् । ‘महापतापश्चित्रवर्णो राजा ।’

शतयाचो मृते—‘यथा मन्धानं धार्यं, तदप्युच्यताम्’ । राजर्षो

मृते—‘कर्म प्रकाराः सन्धीनां सम्भयन्ति’ । मृषो मृते—‘कथयामि ।

शयतान्’—

‘पत्नीपमागमियुक्तस्तु नृपो नाऽन्यप्रतिक्रियः ।

आपन्नः, सन्धिमन्विच्छेद्दुर्याणः कालयापनम्’ ॥ ११३ ॥

सत्कारेण—मनुष्यावधारणे, शीतारेण च । हरेत् = अनुसूदेत् । सम्भ्रमेण

सह राशिद्वयसंज्ञेन । दाधिष्येनेन = मालाया, धानुसूदेन वा । इतान् =

साधारणान् ॥ ११३ ॥

मन्धातु = मन्धि वस्तु । मन्धान् = चित्रवर्णं निश्चये भवति सम्भ्र

मन्धान् । महापतापः = दशसुमंहापतापः । यथा-धेन प्रकारेण । (किम प्रका

शो मन्धि धार वस्तुना गतौ च, वदित्) ।

- ‘कपाल, उपहारश्च, सन्तानः, सद्गतस्तथा ।
 उपन्यासः, प्रतीकारः, संयोगः, पुरुषाञ्तरः ॥ ११४ ॥
 अदृष्टनर, आदिष्ट, आन्माऽऽदिष्ट, उपग्रहः ।
 परिक्रमस्तयोच्छिन्नस्तथा च परभूषणः ॥ ११५ ॥
 स्कन्धोपनेयः सन्धिय, षोडशैते प्रकीर्त्तितः ।
 इति षोडशकं प्राहुः सन्धि सन्धिविचक्षणाः’ ॥ ११६ ॥
 (१) ‘कपालसन्धिविज्ञेयः केवलं समसन्धितः’ ।
 (२) सम्प्रदानाद्भवति य उपहारः स उच्यते’ ॥ ११७ ॥

न्यासभावे । प्रतीकारात्परहितः सन् । आन्माः=आत्ममयादिनिर्वासिभ्यः ।
 परान्यासः । कालवापनं=समवापनं, कुर्वाणः=विधीयुः । सन्धिसन्धियुः ।
 ॥ ११३ ॥ सन्धिविचक्षणाः=तद्विदाः । इति=इत्यं । षोडशकं=षोडशविधं,
 सन्धिनाहुः ॥ ११६ ॥ अमानसं सन्धिः=कालसन्धिः । अनादिधमनानात्-
 उपाय उद्यमे कल्पने वा नही हे, तव आरति मे पदा कुदा राधा, समप विः
 १ लिखे, यद्यु से सन्धि करने की इच्छा करे ॥ ११३ ॥
 कीरके सन्धि १६ प्रकार की होती हैं, जैसे—१ कर, २ उपहार, ३ सन्तान,
 ४ सम्पत्ति, ५ उप-वस्त्र, ६ प्रतीकार, ७ संयोग, ८ पुण्यलक्षण, ९ अदृष्टनर, १०
 आदिष्ट, ११ आन्मादिष्ट, १२ उपग्रह, १३ परिक्रम, १४ उपभूषण, १५ परभूषण,
 १६ स्कन्धोपनेय । इस प्रकार सन्धि कल्पनेवासे विद्वानो ने अष्टौ १६ प्रकार
 की सन्धि बरी है ॥ ११४-११६ ॥

पर ठन सन्धियों के लक्षण भी मैं ज्ञान से बरता हूँ—बाराबर बहकाली की
 तस्मिन्ने की है सन्धि की ‘कपालसन्धि’ बरते है । कर, उपहार आदि से बरते
 १ सन्धि (विद्यत) विद्या काया है, उसे ‘अपमानसन्धि’ बरते है ॥ ११० ॥
 १. ‘समसन्धितः’ ।

- (३) मन्वानसन्धिर्विज्ञेपो दारिकादानपूर्वकः ।
 (४) सद्भिस्तु सद्गतः सन्धिर्मग्नोर्पूर्वं उदाहृतः ॥ ११८ ॥
 यावदायुःप्रमाणस्तु समानाऽऽर्घ्यप्रयोजनः ।
 सम्पत्तौ वा, विपत्तौ वा, काररौप्यं न भिद्यते ॥ ११९ ॥
 मङ्गलः सन्धिरेवाऽयं प्रच्छेत्त्यात्सुवर्गमन् ।
 तथाऽन्यैः सन्धिकृशलैः 'काशनः' 'समुदाहृतः ॥ १२० ॥
 (५) 'आत्मकार्यस्य सिद्धिं तु समुद्दिश्य क्रियेत यः ।
 स उपन्यासकृशलेऽप्यन्यास उदाहृतः ॥ १२१ ॥

- (६) 'मयाऽस्योपकृतं पूर्वं, ममाप्येष करिष्यति' ।
 इति यः क्रियते सन्धिः प्रतीकारः स उच्यते ॥ १२२ ॥
 'उपकारं करोम्यस्य, ममाप्येष करिष्यति' ।
 अयं चाऽपि प्रतीकारो राम-सुग्रीवयोरिव ॥ १२३ ॥
- (७) 'एकार्या सम्पनुद्दिश्य क्रियां यत्र हि गच्छति ।
 सुसंहितप्रपाणस्तु' स च संयोग उच्यते ॥ १२४ ॥
- (८) 'आवपोषोषमूल्यैस्तु मदर्थः साध्यतामिति-
 -यस्मिन्पणस्तु क्रियते, स सन्धिः पुरुषाऽन्तरः' ॥ १२५ ॥

इति=हापमिश्राणम् ॥ १२२ ॥ अयम्=अय सन्धिः,—रामसुग्रीवयोर्वया—
 'प्रतीकार'—रामुभ्यते ॥ १२३ ॥

एवेति । एकवचनानां यात्रादिश्य वचनान्तरः । सुसंहितयोः = शररबाप-
 निरेण्येय विक्रियेण्ये, प्रदानं यथासौ तादृशः—सुसंहितप्रपाणः—सन्धिः
 संयोगान्यः ॥ १२४ ॥

वोपयुक्तैः=मुनैः । मदर्थः=महापणम् । पणः=पण्युक्तः (शतं) ॥ १२५ ॥

और मैंने पहले इसके ऊपर उच्यते लिखे हैं, उगटिर मेरे बाप के हाथ पर
 पर वह भी मेरा उगी प्रदान उच्यते बरेण,—इस सन्धिनाम मे ओ सन्धि की जाती
 है, उगे 'अर्ण'हापमि' बरते हैं ॥ १२२ ॥

और मैं इस समय हमेशा उच्यते बरता हूँ, अयः पर भी आगे—मम पर देने
 पर—वही मेरा भी उच्यते बरेण—इस सन्धि (विचार) मे राम और सुग्रीव के
 समान प्रपाण मे की हुई सन्धि को भी, उगे 'अर्ण'हापमि' बरते हैं ॥ १२३ ॥

और समान प्रपाण सन्धि बरतेवाली क्रिया (यात्रा, यथा) को उच्यते मे
 उच्यते, उगी अन्ते प्रपाण मे मेरा लेख, यही बरने के द्वि, मेरा विना
 यथा है 'वह संयोगान्य' बरता है ॥ १२४ ॥

और उच्यते और उच्यते उच्यते के अन्ते उच्यते उच्यते मे उच्यते उच्यते

(६) 'त्यैकेन मदीयोऽर्थः सम्प्रसाप्यस्त्यसा'रिति-।

—यत्र शत्रुः पगं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ १२६ ॥

(१०) 'यत्र भूम्येकदेशेन परोन सिपुरुजितः ।

गन्धीयते मन्धिनिद्धिः, 'स चाऽऽदृष्ट उदाहृतः' ।

(११) 'म्यमन्येन तु मन्धानमान्माऽदृष्ट उदाहृतः ।

(१२) 'त्रियते प्राणरघायं सर्वदानादुपग्रहः' ॥ १२८ ॥

(१३) 'कोशांज्जोनार्थकोशेन, सर्वकोशेन वा पुनः ।

शिष्टस्य प्रतिरघायं, परिक्रय उदाहृतः' ॥ १२६ ॥

सोमो स्यात् ॥ मदीयमन् ॥ पगं = पगवन्मन् ॥ १२६ ॥ ऊर्मिताः = वपुःशत
 मूर्धनि । मदीयदेशेन मदीयः ॥ १२७ ॥ मन्धि-नि दानमन्-पानम्—आत्मादिभ्यः
 मन्धिनिद्धिः मन्धिनिद्धिः मन्धिनिद्धिः—मन्धिनिद्धिः ॥ १२८ ॥ मन्धिनिद्धिः, मन्धिनिद्धिः

को चात्पठना पदमे परमं दे, देगा त्रिगने निधय विवा जाता है,—
 'पुत्रपत्न्यामन्धि' वरपा ॥ १२५ ॥

श्री १ 'यद् देगा व पं शत्रुके शत्रुके ही वरना देगा, देगावर्ती शत्रु प
 वरना है, तुमे 'मन्धिनिद्धि' (मन्धिनिद्धि) मन्धि वरने दे ॥ १२६ ॥

श्री १ 'मन्धिनिद्धि' (मन्धिनिद्धि) का एक तुल्य भाग देकर वरपा शत्रु मे मन्
 धी वरने दे, तुमे मन्धि वरने देके पुत्रपत्न्यामन्धि वरने दे ॥ १२७ ॥

शत्रुके मेमः देकर को देत विवा काव वर 'मन्धिनिद्धि' है । शं
 कावे मन्धि की वर के लिए मन्धि (मन्धिनिद्धि) देकर को को मन्धि की व
 र 'मन्धिनिद्धि' है ॥ १२८ ॥

श्री १ 'शत्रु के शत्रु के मन्धि के वरने देकर मन्धि की वर के लिए देत, काव
 मन्धिनिद्धि देकर को मन्धि की वरने दे, तुमे मन्धिनिद्धि वरने दे ॥ १२९ ॥

(१४) 'सुवां सारवतीनां तु दानाद्बुच्छिन्न उच्यते ।

(१५) भूम्युत्पत्त्यफलदानेन सर्वेण परभूषणः' ॥ १३० ॥

(१६) 'परिच्छिन्नं फलं यत्र प्रतिस्कन्धेन दीयते ।
स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धि सन्धिविचक्षणाः' ॥ १३१ ॥

(१-४) 'परस्परोपकारस्तु, मैत्री, सम्बन्धकस्तथा ।
उपहारश्च विज्ञेयायत्वारथैव सन्धयः' ॥ १३२ ॥

१५ दत्ता केवलं सम्परिष्ठाप्यं-परिष्ठाप्यः ॥१२६॥ सावर्तानां=गुप्तवतीनां, सुवां=
दृषीनां, दानात्सन्धिः-उच्यते । भूम्युत्पत्त्यफलदानात्-परभूषणः ॥१३०॥

परिच्छिन्नं=परिनिर्णय । नियमम् । फलं-पनधान्यादिकम् । प्रतिस्कन्धेन=
परिष्ठाप्यः । सुवा ('द्विस्कन्धी से' 'गन्धी से') । 'दीयते' इत्यत्र 'दीयते'
इति वाचः ॥ १३१ ॥

स्कन्धेः षोडशमेऽनुक्तम्, संज्ञेनेय सन्धेऽनुसन्धिं च दसंपति-व्यापरोक्ति ।
परस्परोपकारः, मैत्री=नियमः, सम्बन्धः=शिक्षादिसम्बन्धः, उपहारः=पना-
दिकम् । इ देऽनुत्पत्त्यफलदानात्परभूषणं च विज्ञेयायत्वारथैव सन्धयः ॥ १३२ ॥

श्रीर सारवती (सर्वं रत्न, सुवर्ण, धन इति से परिपूर्ण) दृषी के देने से
को कल्पि हो, उच्यते 'उच्यते' कहते हैं । श्रीर भूमि से उत्पन्न फल
'समान, दान्य, १३० सुवर्ण-फल-द-दि) के देने से को कल्पि हो उसे 'परभूषण-
' कहते हैं ॥ १३० ॥

श्रीर परिच्छिन्न फलं इ-विच्छिन्नपरिच्छिन्नं फल (पन इति) इति विज्ञे
से निरूपण पर दिन वाग है, उसे कल्पि को करने से सुवर्ण संज्ञ
'परभूषण' कहते हैं ॥१३१॥
श्रीर संज्ञे से परस्पर से सं-प्रत्यय से एक दूसरे का उपहार, नियम,
सम्बन्ध श्रीर उपहार—के बात ही उपहार को कल्पि कहते हैं ॥ १३२ ॥

(१) 'एक एवोपहारस्तु सन्धिरेव मतो मम ।

उपहारविमेशस्तु' स रे मैत्रियिजिताः ॥ १३३ ॥

'अभियोक्ता पत्नीयस्त्वादलब्ध्या न निवर्तते ।

उपहारादते सस्मात्सन्धिरन्यो न विद्यते' ॥ १३४ ॥

शताऽऽह—'मयगतो महान्तः, पण्डिताश्च । तदप्राप्तमाद्यं
यगारायंमुपदिश्यताम्' । दूरदर्शी मते—'आः ! किमेवमुच्यते ?—

'आभिनव्याधि-परीतापादय' शो या किनारिने ।

फो हि नाम शरीराय घर्माऽपेतं समाचरेत्' ? ॥ १३५ ॥

एव कामन्दकाचार्यः समनमर-एक एवेति । उपहारप्रधानात्-उपहार
एव एवः सन्धिरिति मम माम् । फो हि मैत्रियिजिताः सर्वे सन्धय उपहार-
एवोपहारः एवेवाद्यतः ॥ १३३ ॥ आः-अभियोक्ता = आक्रमणकारी । विभि-
न्नुः । सहायता = उपहारमहात्म्यम् । आः-उपहारोऽयं सन्धिरनाशयति काम-
न्दकाचार्यम् ॥ १३४ ॥ यथाचार्यं = कार्यमनुश्रुय । आधिः = मानसी मया ।

श्रीर हमरे (कामन्दकाचार्यं) मम मे तो एक उपहार सन्धि ही है, क्योंकि,
कभी के निम्ने भी सन्धियों के मते हैं, वे मते, एक निज सन्धि को छोड़कर,
एक उपहारसन्धि के ही मते हैं ॥ १३३ ॥

क्योंकि दुर्भाग्य बड़ाई करके आज हुआ शत्रु मानवही होने के कारण मे
कुत्त न कुत्त निम्ने किना तो बंदे क्षीण नहीं है । उमे तो कुत्त न कुत्त देना ही
करना है । श्रीर हमरे मे वह उपहार सन्धि ही वास्तव्यम् । सन्धिर ही तो मानव
है कि उपहार होने के लिए व कुत्त को ही मते है ही नहीं ॥ १३४ ॥

आज केवल कि आज केवल बने है श्रीर बन्दना है । आः हम मानव हम
कोई को व. कामन्दकाचार्य, वह बन्दे के उपहार-तो बनेग वि-आः । उप-
हार ही वास्तव्यम् है ।

आज के श्रीर हमरे के मानवस्य कुत्तों श्रीर = मते मे आज का वड मे

१. 'उपहारः सन्धिरिति' । २. 'मैत्रियिजिताः' । ३. 'अभियोक्ता' ।
४. 'सहायता' । ५. 'यथाचार्यं' ।

जलान्तश्चन्द्रचपलं जीवितं सलु देहिनाम् ।
 तयामिधमिति ज्ञात्वा शश्वत्कल्याणमाचरेत् ॥ १३६ ॥

‘वाताऽश्रुविभ्रममिदं वसुधाधिपत्य-
 मापातमात्रमधुरो विषयोपमोगः ।
 प्राणास्त्रुपाग्रजलविन्दुसमानलोला,
 धर्मः सखा परमहो ! परलोकर्याने’ ॥

रीराव. = सन्ताप. । अश्रुः = अचिरादेव । (आनन्द में ही) । शरीराव =
 शरीरार्थम् । अमिधमिति = अमिधमिति ॥ १३५ ॥ जलान्तश्चन्द्रचपलं = अलपनि-
 मितश्चन्द्रचपलम् । जीवितं = जीवनम् । शश्वत्कल्याणं = शुभकर्म । शश्वत् =
 भरन्दारम् ॥ १३६ ॥ वाताऽश्रुविभ्रमः = वातवाहितपनस्यैवपरिष्पत्तिः । वसुधा-
 धिपत्य = भूमिपतित्वम् । आपातमात्रमधुरः = अचिरातरमणीयः । परिणाम-
 रिरमाः । (देहने मात्र वो सुन्दर) । विषयोपमोगः = विदयास्वादाः, वाधोपमोगः ।
 प्राणास्त्रुपाग्रजलविन्दुसमानलोलाः प्राणाः । धर्म एव शश्वत्. = परलोकर्यानेवा
 इहापमूः ॥ १३७ ॥

(बुद्ध ही वाच में) अक्षय मात्र होने वाले इस शरीर के लिये, अर्थात् शुद्ध
 भोगों के लिये, बोन स्वयं दुःख धर्म के लिये आचार्य बरेगा, अर्थात् शरीर
 भी नहीं बरेगा । अ. १. एको धर्म वा ही आचार्य करना चर्हिदे ॥ १३५ ॥

और भी—एक के धर्म पर पमान चन्द्र के प्रसिद्धि की तरह ही
 शरीरार्थियों वा पर शरीर चन्द्र है । इन्द्रियों के मन की इन्द्रिय चन्द्र पर
 चन्द्र का ही आचार्य करना चर्हिदे ॥ १३६ ॥

और भी—बुद्ध के लिये मे मरे हुए लोगों के मन्त्र ही पर मात्र एवम्पर
 है । निनी वा उन्नीय मा उन्नीय में ही अक्षय होने व आ है, परिणाम में
 टो पर भी शुद्ध ही है । और अक्षय भी—शुद्धि पर चर्हिन्दु के मन्त्र
 पाचर है । अतो ! चर्हिदे मन्त्र में ही एवम्पर धर्म ही मन्त्र है ॥१३७॥

‘गृहपुण्यासमं वीक्ष्य मंसारं घणमदुरम् ।

सज्जनैः सद्गतं वृथादिमांषं च, मुखाय च’ ॥ १३८ ॥

तन्मग संमतेन तदेष क्रियताम् । यतः—

‘अथमेयमहत्यादि, सत्यं च तुलया घृतम् ।

अथमेयमहत्यादि सत्यमेवाऽतिरिच्यते’ ॥ १३९ ॥

यतः सत्याऽभिधानदिव्यपुरःसरमनयोर्भूषाश्रयोः^१ वाद्यनाभिधान
सन्निर्वाणीयताम् । सर्वतो मते—‘एवमस्तु’ । ततो राजहंसेन राजा

गृहपुण्यासमं = गृहमणीविषयद्वयम् । भिषा । घणमदुरं = घणनिघरं ॥
संसारं दृष्ट्वा, सत्यं—सत्यं = मेयीम् । सद्गतमावर्कं सन्धि वृथादि । घमांषं =
घमांशं वा । मुखाय = मुखायम् ॥ १३८ ॥

तदेष = सद्गतमावर्कं काश्चनारनामकं सद्गतमेव । मेयीमेव ॥

अथमेयमहत्यादि = अथमेय, अथमेय, अथमेय, अथमेय । अथ मेयमेव अथिकं वाच्यम् ।
सन्निर्वाणीयताम् = सन्निर्वाणीयताम् । यतः ॥ १३९ ॥

अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।
अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।

अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।
अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।

अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।
अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।

अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।
अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।

अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।
अथमेयमहत्यादि = अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि । अथमेयमहत्यादि ।

वक्रतुण्डोपहारैः स मन्त्री दूरदर्शी पूजितः प्रहृष्टमनाश्चक्रयाकं गृहीत्वा,
'राशो मयूरस्य मंनिधानं गतः ।

तत्र चित्रशैलेन राज्ञा सवशो गृध्रवचनाद्गुह्यमानदानपुरःसरं
सम्भाषितसन्धायिष्यं सन्धिं स्वीकृत्य, राजहंससमीप प्रस्थापितः ।

दूरदर्शी व्रते—'देव ! सिद्धं नः समीहितम् । इदानीं स्वस्थानमेव
विन्ध्याचलं व्यावृत्त्य प्रतिगम्यताम्' ।

अथ सर्वे स्वस्थानं प्राप्य, मनोमिलपिनं फलं प्राप्नुवन्निति ।
विष्णुसामं लोच्यम्—अपरं किं कथयामि, 'तदुच्यताम् ।'

राजपुत्रा ऊचुः—'आयं ! तव "प्रसादारसकृत्ताराज्यव्ययद्वाराऽहं

रिष्यः । सम्भाषितः=सम्भाषणेन परिशीलितः । 'सम्भाषित' इति पाठे सत्कृत-
रित्यर्थः । समीहितम् = इष्टम् । विजयकीर्तिमपलाभादिरुन्ममभिरुपिगम् ।

सकृत्ताराज्यव्ययद्वाराऽहं = राजोचितसन्धिप्रदायिसकृत्ताराज्यव्ययद्वारेण देवदत्तमर्षनीति
कृतम् । वक्रा-राजध्वजद्वाराऽहं सन्धिप्रदायिसकृत्ताराज्यव्ययद्वाराऽहं । (अरा=घोर भी) ।

यनहस मे यत्र घोर गाने-रज आदि की भेंट देकर उम दूरदर्शी मन्त्री का सञ्चार
दिया । घोर इस प्रकार यह दूरदर्शी मन्त्री प्रसन्न मन हो, पहले की साथ लेकर,
उक्त मन्त्र राजा के पास गया । उन्ही समय राजा विजयनी ने भी महामन्त्री गोब के
बहने से वाच्यन नामक मन्त्री मंथि की मानकर, सारंग का रत्न आदि दानपूर्वक
बहुत शोभा करके उसे वाचिक राजहंस के पास भेज दिया । यह दूरदर्शी राजा
विन्दे देव । हमारी इच्छा पूर्ण हो गई । अब करने स्थान विन्ध्याचल को छोड़
कर देव । हमके अन्तर के सब करने २ स्थान को पहुँच कर करने मनोरथों के
अनुसार ही बनेपुत्र वरों (वरुण आदि) को प्राप्त करने हुए ।

एव विष्णुसामं राजपुत्रा मे वेदे वि—दे राजपुत्रो ! वरुणे, अब मैं आरंभितो
को घोर वक्रा गुहाई । एव राजपुत्र वेदे वि—'घरकी कृता मे राजा के

१ 'मनुराज्य राजः मन्त्रि' । २ 'उ' । ३ 'मन्त्री' 'गुह्यमानदानपुरःसरं' ।
'सकृत्ताराज्यव्ययद्वाराऽहं' पा० । ४ 'इष्टम्' । ५ 'घोर' 'वक्र' ।
६ 'नागराज्य' ।

शाठम् । ततः सुगिनो भूता वयम् ।'

विष्णुरामोवाच—'यद्येष तथात्पराधीरमन्तु—

'सन्धिः सर्वमहीभुजां विजयिनामन्तु, प्रमोदः सदा,

मन्तः सन्तु निरापदः, मुहुनिनां कीर्तिशिरं वर्द्धताम्

नीतिर्वारविलासिनीय मननं वचःम्यले संस्थिता

यत्रं चुम्बतु मन्त्रिणामदरहर्भूपान्महानुत्तरः' ॥१४०

अन्यथाञ्जु—

'प्रालेपाद्रेः सुगापाः प्रगपनिवमतिधन्द्रमौलिः स याव-

द्यावद्वचमीर्षुगरेर्गलद इव तडिन्मानसे रिम्पुरन्ती ।

पावत्प्यर्गाचलोऽयं दसदहनममो यस्य धर्यः स्फुलिङ्ग-

दनाऽद्यागघतेन घनरत रचितः संघटोऽयं कथानाम्' ॥१४१

चित्र—

‘उर्वीमुदामसस्यां जनयतु विसृजन् वामनो वृष्टिमिष्टा-
 पिष्टैस्तैरिष्टयानां विदधतु विधिपत्नीगुणं विप्रमुख्याः ।
 आकल्पान्तञ्च भूयात्ममुपचितसुतः सद्गमः सज्जनानां,
 निरशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया वज्रलेपाः’ ॥१४२॥

[‘सर्वे भवन्तु सन्धिः, मर्यं सन्तु निरामया. ॥
 सर्वे भद्राणि पर्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभागभवेत्’ ॥] ॥

कवीविति । इष्टा वृष्टिं दुर्जन इन्द्रः प्रथितां सस्यरिती करोतु । विप्र-
 मुख्या-स्तैः = धान्यादिभिः, वृष्टे इष्टे = यज्ञे, रिष्टयानां = देवानाम्, प्रीगुणं =
 वृष्टिं, विदधतु = दुर्यन्तु । सज्जनमद्गमः कन्यानां यान्तु महदाः गुणान्वितो
 भूयात् । दुर्जया वज्रभेरायनानां दुर्जितः-निरशेषं = समूह, शान्तिं = प्रथमं,
 यान्तु = गच्छन्तु ॥ १४२ ॥

विराट्काल है, और जब तक दोनों में विद्वानों के समान ही भंतिवतु मगपत् के
 हृदय में लक्ष्मी निवास करती हैं, और विमकी विनगरी के समान पर पूर्व है,
 देगा दातानन के समान मेदपरां जब तक निया है, अब एक नागपत् पदिहत्
 का बनाया हुआ पर दितोपदेशनामक कपाटों का मगद दूरी पर प्रवर्द्धन
 रहे और विद्वानों में छाटा होना रहे ॥ १४१ ॥

अपरश्र—

श्रीमान्धरलचन्द्रोऽमी जोयान्माण्डलिको रिपून् ।

येनाज्यं संग्रहो यत्नाल्लेखयिष्या प्रचारितः ॥ १४३ ॥

इति द्वितीयदेशे मन्धिर्नाम चतुर्थः कथासंग्रहः ।

समाप्तञ्चाज्यं द्वितीयदेशः ।

माण्डलिकः = मण्डलपालः । प्रादेशिको भूमीः । अक्षरचन्द्रा = गुर्वे
प्रदेशस्यो माण्डलिक-राजमित्येव । श्रीवत् = विजयवान् ॥ १४३ ॥

इति श्रीपट्टिहन्ताराज-प्रवरह-भक्त-हल मण्डल-शास्त्राचार्य-

श्रीमन्दिवाकरास्त्रिजुं वीरेण, पट्टिहन्ताराजप्रतिवादिमयदूर-

स्वाकरान्तर-संग्रह-श्रीशिवनारायणसाम्प्रदाय-पुराण-

संग्रह-संग्रह-श्रीशिवनारायणसाम्प्रदाय-पुराण-

संग्रह-संग्रह-श्रीशिवनारायणसाम्प्रदाय-पुराण-

इति श्रीपट्टिहन्ताराज-प्रवरह-भक्त-हल मण्डल-शास्त्राचार्य-

संग्रह-संग्रह-श्रीशिवनारायणसाम्प्रदाय-पुराण-

